5.5

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
207

*****

CITRAMĪMĀṀSĀ

OF

APPAYA DĪKṢITA

With the 'Sudhā' Sanskrit Commentary

OF

DHARĀNANDA

Edited with the Exhaustive 'Bhāratī' Hindī Commentary

By

JAGADĪŚA CHANDRA MIŚRA
B. A. (Hons.), M. A. (Sanskrit-Hindī), Dip. In. Ed.
Research Scholar, Sāhityāchārya.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VĀRANASI-1
1971

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1971
Phone : 63145

First Edition
1971
Price Rs. 15-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN.
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

ज्योतिर्विदं व्याससमानकीर्ति
श्रीकीर्त्तिनाथं विदुषां वरेण्यम् ।
यशोऽवशेषं 'पितरं' प्रणम्य
श्रद्धानतोऽयं 'जगदीशचन्द्रः' ॥
काव्यान्तस्तत्त्वसरसं भावकिञ्जल्ककर्बुरम् ।
समर्पयति भाषाढ्यं 'काव्यपुष्पाञ्जलिं' मुदा ॥

शुभाशंसा

डॉ॰ जयमन्तमिश्र, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰

(व्याकरण-साहित्याचार्य, संस्कृत-विभागाध्यक्ष : बिहार विश्वविद्यालय)

श्रीमदप्पयदीक्षितेन अलङ्कारशास्त्र-समीक्षकेण विरचितायाः 'चित्रमीमांसायाः' विद्वत्समाजे समादरो वरीवर्ति । अनेकेषु विश्वविद्यालयेषु पाठ्यग्रन्थेषु निर्धारितस्याप्येतस्य ग्रन्थरत्नस्य हिन्दीभाषायां प्रामाणिकं व्याख्यानं नोपलब्धमासीत् ।

पण्डितवरेण एम॰ ए॰ साहित्याचार्येण कृतभूरिपरिश्रमेण श्रीजगदीशचन्द्रमिश्रेण ग्रन्थस्यास्य हिन्दीभाषायां भारत्याख्या व्याख्या कृता । एषा च 'भारती' व्याख्या विद्यार्थिनां विपश्चितामन्येषां च जिज्ञासूनां भृशमुपकाराय भवेदिति मे विश्वासः ।

परगुणश्लाघापरा विद्वांसो व्याख्याकारस्य मिश्रमहोदयस्य मनोरथं सफलयिष्यन्तीति शुभं कामयते—

नागपञ्चमी, वि॰ सं॰ २०२८ — जयमन्तमिश्रः

भूमिका

काव्य-स्वरूप-विमर्श

'चित्रमीमांसा' में यद्यपि काव्यसामान्य के लक्षण की आलोचना नहीं है, फिर भी प्रकृतोपकारक होने के नाते और अलङ्कारों के भी उत्कर्षाधायक होने के कारण इस संदर्भ में इस पर विचार करना अप्रासंगिक प्रतीत नहीं होता। भारतीय विद्वानों के काव्यस्वरूप का अनुशीलन समृद्ध, प्रौढ़, सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। इसके पीछे असंख्य मनीषियों की साधना छिपी है। विश्व के सर्वाधिक पुरातन ग्रन्थ वेद में भी वेद को काव्य ही कहा गया है। निःसन्देह वहाँ यह 'काव्य' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" यहाँ काव्य को अजर-अमर कहकर कला के तत्त्वों को एक स्थान में समाहित कर दिया गया है। 'काव्य' शब्द की इससे अधिक मौलिक एवं स्पष्ट व्याख्या और क्या हो सकती है। वेदों में इतनी पुष्ट व्याख्या के साथ-साथ काव्य शब्द का प्रयोग असन्दिग्ध रूप से इस बात का ज्ञापक है कि वैदिक ऋषि काव्य के स्वरूप से पूर्णतः परिचित थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओं में भी उत्कृष्ट कोटिका काव्यत्व प्राप्त होता है। फिर भी संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार 'काव्य' अपने व्यापक अर्थ में सर्जनात्मक साहित्य (Creative Literature) का पर्याय है। किन्तु, आधुनिक युग में वह मात्र छन्दोबद्ध रचना का वाचक रह गया है। फिर भी, काव्य के स्वरूप-निर्धारण के लिए उसे पूर्वोक्त व्यापक अर्थ में ग्रहण करना ही उचित होगा। मानव मन की रागात्मक चेतना को प्रभावित करने के कारण काव्य को अनादिकाल से ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। क्योंकि जगत में जहाँ जीवन है, वहाँ किसी न किसी रूप में नैतिकता को प्रश्रय देने वाला काव्य भी है। जीवन की नैतिकता का यह सम्बन्ध किसी भी काव्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है। फिर भी कोई काव्य अपने नैतिक आदर्श की महानता के कारण ही महत् नहीं हो जाता। जीवन की क्रियाएँ उसमें प्रधान हैं। जहाँ एक ओर जीवन की कमजोरियाँ रहती हैं, वहाँ दूसरी ओर शक्तिशालीनता भी। इसी अशक्ति और शक्ति के द्वन्द्व में काव्य का विधान किया जाता है। काव्य के इसी स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए मनीषियों ने काव्य के विभिन्न लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं। फिर भी कविता की स्थिति ऐसी सहज चिक्कन शिला के समान है, जिस पर परिभाषा जैसी ठोस वस्तु ठहर नहीं पाती। वस्तुतः काव्य का स्वरूप यद्यपि इस

लक्षणों में बँध नहीं पाता, किन्तु इनके परीक्षण से उसे विविध दृष्टिकोणों से परखने में सहायता मिलती है।

युग की सामाजिक चेतना का विशेष प्रभाव साहित्य शैली के विकास पर पड़ता है। अतः युग का वातावरण, सामाजिक रूढ़ियां एवं तत्कालीन साहित्यिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में काव्य की युगीन परिभाषाएँ परिलक्षित होती रही हैं। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम उल्लेखनीय परिभाषा पाँचवीं-छठी शताब्दी में आचार्य भामह की है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है। किन्तु इससे परिभाषा में अतिव्याप्ति का स्वरूप उभरता है। अपनी काव्यमीमांसा में राजशेखर ने 'सहित' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव ही 'काव्य' है। इस परिभाषा में 'यथावत्' शब्द के द्वारा काव्य के व्यावर्त्तक धर्म को स्पष्ट किया गया है कि काव्य में शब्द और अर्थ का ऐसा सहभाव रहता है जिसमें इन दोनों का महत्त्व समकक्ष हो। 'वक्रोक्तिजीवितकाव्यम्' का उदात्त उद्घोष कर कुन्तक ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि कविप्रतिभा से प्रदीप्त, सहभाव से व्यवस्थित, वक्रोक्तिगर्भित काव्य ही आस्वादक होता है। यद्यपि कुन्तक की इस परिभाषा में भी शब्दार्थ को अधिक महत्त्व दिया गया है फिर भी उसे उसके रूप में स्वतन्त्र नहीं छोड़ दिया गया है। प्रत्युत् उसके लिये कहा गया है कि 'बन्ध में व्यवस्थित' शब्दार्थ ही काव्य है। अर्थात् इनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य काव्य के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसके बाद इस सन्दर्भ में आचार्य वामन का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनका स्थितिकाल ७५० ई० से लेकर ८०० ई० तक के बीच माना जाता है। इन्होंने बड़े ही साहस के साथ अपने समय के प्रचलित सिद्धान्त के विरुद्ध 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उदग्र उद्घोषणा की है। विशिष्ट पदरचना को ही इन्होंने 'रीति' कहा है। यहाँ पदरचना की विशेषता का तात्पर्य इनकी गुणमूलकता से है। अर्थात् ओज, माधुर्य आदि गुण जिसकी प्रकृति हो ऐसी पदरचना को ही ये विशिष्ट पदरचना मानते हैं। तात्पर्य यह है कि वामन प्रत्येक प्रकार के काव्य को ग्राह्य नहीं मानते। उनकी मान्यता के अनुसार गुण (Diction) और अलङ्कार (Embellishment) से सुशोभित शब्द और अर्थ ही वस्तुतः काव्य की पदवी प्राप्त करने योग्य है। यों इनसे पूर्व शब्द और अर्थ को काव्य कहने की प्रथा प्रचलित थी। किन्तु, इनकी दृष्टि में लोक में व्यवहृत होने पर भी काव्यशास्त्र से स्वीकृति पाने योग्य नहीं समझकर ही अग्राह्य कहा—माना है।

इसके बाद इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रतिभा आचार्य रुद्रट की सामने आती है। इनका स्थितिकाल ८२५ से लेकर ८७५ के बीच मान्य है। यद्यपि डाक्टर व्यूलर ने अपनी कश्मीर रिपोर्ट में रुद्रट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है।

फिर भी यह मत सर्वमान्य नहीं है। इन्होंने लक्ष्य और लक्षण निर्माण में अपनी अखण्ड मौलिकता का परिचय दिया है। इनका काव्य-विवेचन पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। इन्होंने रस की महत्ता विशेषरूप से स्वीकृत करते हुए लिखा है—'तस्मात्तत्कर्त्तव्यम् यत्नेन महीयसा रसैर्भुक्तम्'।

नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' की रचना के कारण काव्यशास्त्र के इतिहास में युगान्तर पैदा हो गया। अभिनवगुप्ताचार्य ने इस पर 'लोचन' नाम की टीका लिखकर ग्रन्थ के गौरव में चार चाँद लगा दिये। 'ध्वन्यालोक' का रचनाकाल ८६० ई० से ८९० ई० के बीच स्थिर होता है। कुन्तक ने जिनकी चर्चा संदर्भ की दृष्टि से पहले एक बार की जा चुकी है तथा जिनका स्थितिकाल ९२५ ई० से १००० ई० तक कहा जाता है—ध्वनि या व्यङ्ग्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। इन्होंने ध्वनि को भी अपनी वक्रोक्ति की सर्वव्यापिनी सीमा में बिठाने की चेष्टा की है।

ध्वनि के परवर्त्ती आचार्यों में आचार्य मम्मट भट्ट की काव्य-परिभाषा विशेषरूप से उल्लेखनीय है :—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतिः क्वापि।" अर्थात् काव्य वह शब्दार्थ है जो दोषरहित और गुणयुक्त हो तथा जिसमें कहीं-कहीं अलङ्कारों की भी योजना हो। स्पष्ट है कि मम्मट ने काव्य में गुणों को सर्वथा आवश्यक माना है। किन्तु अलङ्कारों के विषय में वे निरपेक्ष हैं। इनका काव्यस्वरूपनिरूपण अलङ्कार शास्त्र की काव्यविषयक प्राचीन और नवीन धारणाओं का समन्वय है। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कह दिया है—'Mammata's definition of poetry is a synthesis of earlier definition.' तात्पर्य यह कि जहाँ मम्मट के पूर्ववर्त्ती आचार्य काव्य-लक्षण का अन्त करते हैं, वहीं से मम्मट का काव्यलक्षण प्रारम्भ होता है।

अस्तु, अब प्रश्न यह उठता है कि वे वस्तुतः काव्य में दोषों के पूर्ण बहिष्कार के पक्षपाती थे ? यदि उन्हें यह मत मान्य था तो इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। विश्वनाथ ने इस पर टिप्पणी देते हुए यह मत व्यक्त किया है कि कोई भी कृति सर्वथा दोषरहित ही हो, यह संभव नहीं। दोषाभाव को ही यदि काव्य का अनिवार्य लक्षण मान लिया जाय तो आज हम जिन रचनाओं को काव्य की परिधि में रखते हैं, उनमें अनेक का गौरव क्षीण हो जायेगा। यदि उनका अभिप्राय यह था कि जिस रचना में दोष रसाभिव्यक्ति में बाधक हैं वहाँ वे त्याज हैं; और जहाँ उनकी विद्यमानता में भी सहृदय रसग्रहण कर सकें वहाँ वे अचिन्त्य हैं—तो उपर्युक्त आक्षेप व्यर्थ होते हैं। मम्मट की अदोषता काव्यालोचन की प्राचीनतम मान्यताओं में से एक है। आचार्य मम्मट के लक्षण में प्रयुक्त 'दोष' शब्द मात्र गुण का विपर्यय नहीं है प्रत्युत कविविवक्षित अर्थ का अपकर्ष होने से भावरूप पदार्थ है। इसी दृष्टि से उन्होंने सर्वप्रथम काव्य में 'अदोषता' का निरूपण किया है।

महापात्र विश्वनाथ ने इनके लक्षण में प्रयुक्त 'सगुणौ' शब्द पर भी आपत्ति प्रकट की है। उनका कथन है कि जब मम्मट ने 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा:' कहकर उन्हें रस का धर्म माना है तो फिर वे शब्दार्थ के विशेषण कैसे हो सकते हैं ? मम्मट ने यदि इसका प्रयोग 'गुणाभिव्यञ्जकौ' के अर्थ में किया है तो फिर लक्षण में इसका उल्लेख ही निरर्थक है। क्योंकि रस के अभाव में गुणों में सार्थकता रहती ही नहीं है। वस्तुतः मम्मट ने 'रसवत्ता' या 'सरसता' को शब्दार्थ साहित्य की विशेषता न बताकर सगुणता को जो उसका वैशिष्ट्य बताया है—वह इसी दृष्टि से कि रसादि रूप उत्तम काव्य के अतिरिक्त मध्यम और अधम काव्य भी इससे लक्षित हो सकें। अतः इनके अनुसार शब्द और अर्थ की 'सगुणता' की विशेषता शब्द और अर्थ की रसाभिव्यञ्जकता है। क्योंकि अन्ततोगत्वा गुण अभिव्यङ्ग्य रस के धर्मरूप से सहृदय-हृदय में अभिव्यङ्ग्य हुआ करता है।

मम्मट के 'अनलङ्कृतिः क्वापि' की अलङ्कारवादी आचार्य जयदेव ने आलोचना करते हुए कहा है—यदि कोई काव्य को अलङ्कारविहीन मानता है तो फिर वह आग को उष्णताविहीन क्यों नहीं मान लेता। जयदेव अलङ्कारों को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं और विश्वनाथ उन्हें रसास्वादन में सहायक धर्म मानते हैं। वस्तुतः यदि मम्मट अलंकारों को वैकल्पिक मानते हैं तो उन्हें लक्षण में स्थान नहीं देना चाहिए था। क्योंकि लक्षण में केवल भावात्मक विशेषताओं का उल्लेख ही अपेक्षित होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके 'शब्दार्थौ' पर भी आपत्ति की है। उनके अनुसार काव्य शब्दरूप होता है, अर्थरूप नहीं। इस प्रकार मम्मट की परिभाषा अनेक आक्षेपों के कारण आदर्श परिभाषा नहीं बन सकी। इनका समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है।

इनके परवर्ती आचार्यों में महापात्र विश्वनाथ का नाम विशेषरूप से समादरणीय है। ये उत्कल के राजा के सान्धि-विग्रहिक थे। इनका समय १४ वीं शती का मध्य भाग अर्थात् १३०० ई० से १४५० ई० तक माना जाता है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट और जगन्नाथ के ही समान विश्वनाथ का भी स्थान काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्व-पूर्ण है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण में रस को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए लिखा है—'वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्'। रससम्प्रदाय में रस को पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह कि विभाव और अनुभाव से परिपक्व स्थायीभाव ही रस है। इस परिभाषा में ध्वनि एवं अलंकारादि उपेक्षित ही रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है कि क्या काव्य में रसपरिपाक अनिवार्य है ? अगर हां, तो यह स्थिति काव्य में सर्वत्र दुर्लभ ही नहीं, असंभव है। क्योंकि अनेक स्थानों में भाव उद्दीप्त होकर ही रह जाते हैं और ये उद्दीप्त भाव वाली रचनाएँ

तो किसी भी दशा में इस परिभाषा की कोटि में आ नहीं सकतीं। अतः यह लक्षण भी सर्वमान्य घोषित नहीं हो सकता। हाँ, अगर विश्वनाथ महापात्र रस की अपेक्षा 'अनुभूति सौन्दर्य' पर बल दिये होते तो उनकी परिभाषा अन्य आचार्यों की परिभाषा की अपेक्षा अधिक ठोस, अधिक समर्थ और अधिक सराहनीय हो पाती।

संस्कृत साहित्याकाश के प्रभापुञ्ज नक्षत्रमण्डलों के बीच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण किन्तु अन्तिम प्रतिभा के रूप में पण्डितराज जगन्नाथ का प्रादुर्भाव १६२० ई० से १६६० ई० तक हुआ। सुदूर प्रान्तवासी इस तैलङ्ग ब्राह्मण ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर शाहजहाँ के वैभवशाली मुगल दरबार में संस्कृत साहित्य के रस को प्रवाहित कर सम्राट् को चकित कर दिया था। विपरीत परिस्थितियों में भी संस्कृत भाषा के माधुर्य की ध्वजा को फहराने वाले पण्डितराज अपनी तुलना में अकेले हैं। 'रसगङ्गाधर' इनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में इन्होंने काव्यस्वरूप का निर्धारण इन शब्दों में किया है :—"रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य है। इस लक्षण में रस के स्थान पर 'रमणीय' शब्द का प्रयोग है, जो अधिक ग्राह्य है। क्योंकि रमणीय रूप में अभिव्यक्त होने पर भाव, ध्वनि और अलङ्कार आदि भी काव्य की परिधि में आ सकते हैं। पण्डितराज ने शब्दार्थ की जगह केवल शब्द का प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार काव्य मूलतः उक्तिरूप है, अर्थ तो शब्द का विशेषण है। History of Sanskrit Poetics में श्री सुशील कुमार डे ने पण्डितराज की प्रतिभा की प्रशस्ति में लिखा है— 'Jagannatha's style is erudite and frightens the students by its involute language, its subtle reasoning and its unsparing Criticism of earlier writers.........He shows himself conversant with the poetic theories of endeavours to harmonise with the new currents of Thought. Alongwith some other important writers of the new school, Jagannath marks a reaction in this respect, and the school of Mammata and Ruyyaka does not receive from him unqualified homage'. तात्पर्य यह कि अपनी पाण्डित्यपूर्ण शैली, जटिल भाषा और सूक्ष्म विवेचन के द्वारा प्राचीन लेखकों की निर्मम आलोचना के कारण छात्रों के लिए ये भय प्रद हैं। प्राचीन और नवीन में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए प्राचीनों के सिद्धान्तों में अपनी निपुणता दिखाते हैं। मम्मट और रुय्यक के सम्प्रदाय ने इनसे विशिष्टता प्राप्त की है।

काव्य के सम्बन्ध में इनका स्पष्ट मत है कि सामान्य शब्द काव्यपद का वाचक नहीं हो सकता, उसके लिए निश्चित रूप से रमणीयार्थप्रतिपादक होना शब्द के लिए आवश्यक है। वाङ्मय के अन्य भेदों की सापेक्षता में इसका व्यावर्त्तक धर्म भी स्पष्ट

हो जाता है। शास्त्रादि में शब्द को प्रधानता नहीं दी जाती और अर्थ में भी भावना की अपेक्षा मुख्यतः ज्ञान का समावेश रहता है। इस प्रकार पण्डितराज की परिभाषा काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में पूर्णतया समर्थ है। समन्वितरूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृतसाहित्य के दृष्टिकोण के अनुसार काव्य सरस, रमणीय अर्थ के भावन में सक्षम, कलासम्पन्न और दोषविहीन होना चाहिए।

किन्तु दुर्भाग्य से संस्कृत भाषा में काव्यविवेचन की यह परम्परा पण्डितराज के बाद चल नहीं सकी। अबतक हिन्दी और संस्कृत के विभेद की खाई काफी चौड़ी पड़ गयी थी। हिन्दी के आचार्यों पर भी साम्प्रदायिकता ने अपना रंग जमाना शुरू कर दिया। अतः दृष्टिगत संकोच और भाषागत सहानुभूति के अभाव में इसके बाद संस्कृत में किसी प्रभावशाली ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकी। दूसरे युग की बढ़ती हुई बौद्धिकता और दासता ने संस्कृत भाषा के क्षितिज को संकुचित कर दिया और जनता ऐसे विवेचन की अपेक्षा हिन्दी में करने लगी। इस तरह संस्कृत साहित्य की यह शानदार विवेचन-परम्परा हिन्दी के आचार्यों के लिए स्थान रिक्त कर स्वयं लोकजीवन के रंगमंच से तिरोहित हो गयी।

हिन्दी के विभिन्न आचार्यों ने इस परम्परा में काव्य के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया है; जिनमें आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने व्यवस्थित रूप से इसपर प्रकाश डाला है—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की इसी साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।' इत्यादि।

हरिऔध जी ने 'भावुकता को कविता की रीढ़ और प्रसाद जी ने कविता को आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति माना है। दिनकर जी ने काव्यस्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—'कविता न तो कोमल भाषा, न गेय छन्द और न कोरी भावुकता में है। वह मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम है जो वस्तुओं के उन आभ्यन्तर रूपों को देखती और दर्शाती है, जो रूप विज्ञान में देखे नहीं जा सकते।

इस सन्दर्भ में कुछ पाश्चात्य आलोचकों का दृष्टिकोण भी विचारणीय है। १७ वीं १८ वीं शती के उल्लेखनीय कवि ड्राइडन ने कविता को भावात्मक और छन्दोबद्ध भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण कहा है—'Poetry is an imitation of nature by pathetic and numerous Speech.' ड्राइडन की इस परिभाषा के 'भावात्मक और छन्दोबद्ध' विशेषण काव्य के सीमित रूप कविता के व्यावर्त्तक धर्म को स्पष्ट करते हैं किन्तु, साहित्य के पर्यायवाची 'काव्य के स्वरूप' पर कोई प्रकाश

नहीं डालते । तत्कालीन अन्य साहित्यकारों में मिल्टन ने काव्य में प्रत्यक्षता और रागात्मकता को आवश्यक माना है और जानसन ने काव्य में छन्द निर्वाह की आवश्यकता पर बल दिया है—'Poetry is a metrical composition.' किन्तु, छन्द को काव्य का व्यावर्त्तक धर्म नहीं होने के कारण यह परिभाषा भी चिन्तकों के बीच चिन्त्य मानी जाती रही। रोमांटिक काव्यधारा के प्रवर्त्तक वर्डस्वर्थ की दृष्टि में मुख्यतः काव्य मनःशान्ति की अवस्था में स्मृतिरूप में भावित विविध भावनाओं को कहा गया है—किन्तु, यह परिभाषा भी काव्य के स्वरूप-निर्देश में निर्दुष्ट नहीं कही जा सकती। क्योंकि मनोवेगों की अभिव्यक्ति तो प्रसन्नता की तरह दुःख और क्रोध के रूप में भी हो सकती है और उस स्थिति को काव्य तो किसी भी दशा में नहीं कहा जा सकता। 'Poetry is the spontaneous overflows of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility.' कॉलरिज ने काव्य में शब्दविधान की चारुता अथवा उत्तम शब्दों के उत्तम क्रम पर बल दिया है—'Best words in best order'. शेली ने काव्य में कल्पना की अभिव्यक्ति को सत्य माना है—'Poetry in general is the expression of imagination.' ली हण्ट ने भी शेली की भाँति ही कविता को कल्पनात्मक मनोवेग की संज्ञा दी है—'Poetry is imaginative passion.' एडगर एलेन पो के अनुसार कविता सौन्दर्य की लयात्मक अभिव्यक्ति है—Poetry is a rhythmic creation of beauty.' लेकिन ये सारी परिभाषाएँ अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से दूषित हैं। क्योंकि इन सवों में किसी न किसी रूप से भावतत्त्वों की अवहेलना की गई है। जहाँ तक लय का प्रश्न है उसका माध्यम तो संगीत एवं नृत्य आदि कलाओं में पाना स्वाभाविक है। हाँ अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड की इस परिभाषा में जिन्दगी अवश्य मिलती है—'Poetry at bottom is a criticism of life'. इसमें प्रकारान्तर से लोकमंगल की भावना को स्वीकृति दी गयी है। किन्तु, यह निष्कर्ष भी 'आलोचना' शब्द की व्याख्या पर ही निर्भर करता है।

अन्ततः पौर्वात्य और पाश्चात्त्य दृष्टिकोणों की व्याख्या के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य रसात्मक होता है। फलतः उसमें जीवन के नीरसपक्ष की भी सरस अभिव्यक्ति रहती ही है क्योंकि इसमें अनुभूति का स्पष्टीकरण रहता है। पूरब और पश्चिम की विभाजक रेखा कविता को बांध नहीं सकी। अपनी संवेदनीयता में काव्य चिरन्तन है। युग, भाषा या व्यक्तिविशेष के स्पर्श से उसकी बाहरी रूपरेखा में चाहे कितना भी अन्तर क्यों न हो, उसकी संवेदनीयता उसके भावपक्ष में एकरस एवं समानरूप से अक्षर है। किसी भी जाति की विचार-सरणि, भाव-पद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण प्रभृति उसकी संस्कृति प्रसूत होते हैं। अतः किसी भी काव्य

की बाहरी आकृति या भाषागत भेद चाहे जो हो किन्तु मूलतत्त्व की दृष्टि से वह एक रस है। क्योंकि कोई भी कवि जीवन की गहराई में पैठकर ही काव्य की रचना करता है। अतः किसी भी रचना में मानव-व्यवहार के ही विविध रूपों की व्याख्या रहती है। जिस काव्य में जीवन की जितनी ही उपेक्षा रहती है, वह काव्य उतना ही अयथार्थ होता है। वस्तुतः काव्य जीवन का पर्यायवाची है। काव्यगत रस और सौन्दर्य के अभाव में जीवन अगर नीरस है तो जीवन के मूल्यों से रहित होने पर काव्य भी महत्त्वहीन है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार काव्य जीवन की व्याख्या है, भले ही पाश्चात्य जगत में इसका महत्त्व कला के लिए उद्घोषित क्यों न हो। सत्य तो यह है कि जो कवि जितनी स्पष्टता के साथ जीवन की वास्तविकता को अपने काव्य में अभिव्यक्त करता है, कला का उतना ही सहज विकास उसके काव्य में स्वतः सम्पन्न हो उठता है। टॉलस्टाय ने 'कला क्या है' नामक अपनी पुस्तक में अपने पूर्ववर्त्ती सभी पाश्चात्य मतमतान्तरों की समीक्षा करते हुए लिखा है—'To evoke in ourself a feeling one has once experienced, and having looked it in oneself, then, by means of movements, lines, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that is the activity of art.' —Tolstoy : What is art ? P. 50.
इनके विचार से कला का उद्देश्य एक मनुष्य के हृदय में उठे हुए भावों को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि और शब्द के द्वारा दूसरे हृदय में अनुभव कराना है। वस्तुतः यह मत भारतीय साहित्य की रसपद्धति से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। विधि-निषेध दोनों का वर्णन करते हुए इन्होंने अपनी स्थिति बड़ी साफ रखने की चेष्टा की है।

काव्य में सामान्य लौकिक सत्य से भिन्न अलौकिक सत्य की स्थिति रहती है। इसी सत्य का कवि जब आश्रय ग्रहण करता है तो जड़ प्रकृति क्या मील के पत्थर (mile stone), भी उससे बातें करने लगते हैं। काव्य का सत्य चिरन्तन होने के कारण अविनाशी है। हमारे व्यक्तित्व की सीमा का विस्तार करना अवश्य ही बुद्धि का काम है, किन्तु प्रत्येक भाव का नियन्त्रण बुद्धि ही नहीं करती। काव्य में बहुत से स्थल ऐसे हैं, जहाँ बुद्धि की अग्राह्यता पर ही हमें आनन्द मिलता है। वैचित्र्य या चमत्कार की बातें कभी-कभी बुद्धि के लिए अग्राह्य होते हुए भी काव्य के लिए युक्तिसंगत होती हैं। यही युक्तिसंगति काव्य का सत्य है और इसी सत्य पर आधारित रचनाओं में युगीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब झलकता है। इसी प्रतिबिम्ब से हम जीवन की प्रेरणा पाते हैं। इसी में लोकहित तथा शिवम् का समावेश रहता है। फिर भी इसके प्रति प्रत्येक कवि की अलग-अलग धारणाएँ होती हैं। काव्य सत्य के प्रति प्रत्येक कवि की दृष्टि सापेक्ष रहती है। यद्यपि पश्चिमी काव्यक्षेत्र में लोकहित की भावना को

अधिक महत्त्व नहीं है, फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र में लोकमंगल की भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है।

काव्य में प्रकृति-चित्रण का महत्त्व भी अनादि काल से सम्मान्य है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आजतक के प्रायः सभी भारतीय कवियों ने प्रकृतिश्री को अपने काव्य में यथास्थान अभिव्यक्ति प्रदान की है। हाँ, प्रकृति के भीतरी और बाहरी जगत के तारतम्य में एक सौन्दर्य है। यह सच है कि जो बाहरी है, वह भीतरी नहीं। किन्तु, वे दोनों एक दूसरे से प्रभावित रहते हैं। अन्ततः हम कह सकते हैं कि कविता संसार की विभिन्न भावधाराओं में एकता स्थापित कर लोकभावना का प्रतिनिधित्व करती है। यह मानवीय सत्य तथा सौन्दर्य की उपयुक्त उद्भावना कर सीमा में निःसीम, और विशेष में निर्विशेष के दर्शन करती है। मानव की विभिन्न भावनाओं के सम्यक् विकास के लिए ही काव्य सृष्टि आवश्यक होती है। इसमें जीवन के मनोरम सत्य का उद्घाटन रहता है। इससे जहाँ स्वान्तःसुखाय की तृप्ति होती है, वहीं सहृदयों को लोकोत्तरानन्द की अनुभूति भी मिलती है। यही किसी काव्य की सार्थकता है।

श्री अप्पय दीक्षित और उनकी चित्रमीमांसा

श्री अप्पय दीक्षित तमिल ब्राह्मण थे। इनका स्थितिकाल १५५४ ई० से १६२६ ई० के बीच माना जाता है। ये साहित्यशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने शताधिक ग्रन्थों की रचना की है। उनमें 'वृत्तिवार्तिक', 'कुवलयानन्द' और 'चित्रमीमांसा' ये तीन ग्रन्थ काव्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। चित्रमीमांसा' विशेषरूप से आलोचनात्मक एवं गम्भीर शैली का ग्रन्थ है। पण्डितराज जगन्नाथ दीक्षित जी के समसामयिक थे। इन दोनों में बड़ी अनबन थी। इसका कारण इनका कुल-जातिगत वैमनस्य भी कहा जाता है। दीक्षित जी अपने समय में काँची के अलौकिक दार्शनिक तथा प्रतिभाशाली द्रविड़ कवि माने जाते थे। इनका पण्डितराज जगन्नाथ के साथ विरोध के सम्बन्ध में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं :—

"कहा जाता है कि पण्डितराज जगन्नाथ का दीक्षित जी के साथ व्यक्तिगत विरोध भी था। पण्डितराज ने तैलंग से आकर जयपुर में एक पाठशाला खोली थी। संयोगवश वहाँ उन्होंने एक 'काजी' को विवाद में परास्त किया था। दिल्ली लौटकर उस काजी ने बादशाह के सामने इनकी प्रशंसा की। बादशाह ने इन्हें दिल्ली बुलाकर काफी सत्कार किया। वहाँ ये किसी यवन-कन्या पर आसक्त हो गये और उससे इन्होंने शादी भी कर ली। वृद्धावस्था में जब ये उस यवनी के साथ काशी आये तो अप्पय दीक्षित ने यह कहकर कि 'यह तो यवनी के संसर्ग से दूषित है' इनका तिरस्कार कर इन्हें पण्डित-समाज से बहिष्कृत कर दिया। अतः पण्डितराज उसी दिन से दीक्षित जी के विरोधी बन गये।"

कुछ लोगों का कहना है कि—पण्डितराज वृद्धावस्था में जब उस यवनी के साथ काशीवास कर रहे थे तो एक दिन अचानक एक घटना घटी। प्रभात का समय था। पण्डितराज घाट पर ठंढ से मुँह ढक कर सो रहे थे। इनकी पत्नी युवती यवनी बगल में बैठी थी। संयोगवश अप्पयदीक्षित गंगास्नान के निमित्त उधर से ही गुजरे। पण्डितराज की वह दशा देखकर दीक्षितजी के मुँह से सहसा ये शब्द निकल पड़े—"किं निश्शङ्कं शेषे, शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ"—अर्थात् "अपने निकट आई हुई मौत को देखकर भी इस शेष अवस्था में क्यों निःशङ्क होकर सो रहे हो।" यह सुनते ही पण्डितराज ने ज्यों ही मुँह पर से कपड़ा हटा कर दीक्षित जी की ओर देखा तो दीक्षित जी ने उसका शेष अर्द्धांश भी सुना दिया—"अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः।" अर्थात् तुम सुख से सोओ, तुम्हारी रक्षा में भगवती भागीरथी जगी है।

यह तो हुई पण्डितराज के साथ व्यक्तिगत विरोध की किंवदन्तियाँ। किन्तु, दोनों की समसामयिकता पर विचारणीय प्रश्न यह है कि कुछ लोगों का विचार है कि ये दोनों समसामयिक नहीं थे। क्योंकि शाहजहाँ का राज्याभिषेक सन् १६२८ ई० में हुआ और सन् १६५८ ई० में औरङ्गजेब ने उसे कैद कर लिया। सन् १६६६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। पण्डितराज का यही समय है जो दीक्षित जी के साथ मेल नहीं खाता है।

किन्तु, इस संदर्भ में जो नवीन तथ्य उपलब्ध हुए हैं; उसके आधार पर यह विचार टिक नहीं पाता। पण्डितराज ने स्वयं लिखा है—

'दृप्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात् कुचं
निर्वंध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्यप्पयाद्यान् स्थितान्॥'

अर्थात् गर्वीले अप्पय दीक्षित के अत्यन्त दुराग्रह के कारण अत्यन्त आवेश में आकर मेरे गुरुद्रोही भट्टोजि दीक्षित ने भरी सभा में बिना कुछ विचार किये ही मुझे जो 'म्लेच्छ' कह दिया, उसे हमने अर्थात् पण्डितराज जगन्नाथ ने धैर्यपूर्वक सत्य कर दिखलाया क्योंकि हमने भी उनके सहयोगी अप्पय दीक्षित प्रभृति विद्वानों की उपस्थिति में ही उन्हें विवश कर उनकी मनोरमा का कुचमर्दन कर दिया है। तात्पर्य यह कि भट्टोजि-दीक्षित ने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी की 'मनोरमा' नामक व्याख्या लिखी है और पण्डित-राज ने उसका 'कुचमर्दिनी' नामक टीका लिखकर खण्डन किया है। कहने का निष्कर्ष यह कि जिसने मुझे 'म्लेच्छ' कहकर अपमानित किया, उसकी मनोरमा अर्थात् पत्नी का कुचमर्दन ('स्तनमर्दन') कर सबों के सामने हमने भी अपनी दबङ्गता अथच म्लेच्छता का उसे परिचय दे दिया।

'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' नामक ग्रन्थ का यह श्लोकार्द्ध भी इस सन्दर्भ में दर्शनीय है :—

'अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामायंद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान् ।'

मैं पण्डितराज जगन्नाथ उन गुरुद्रोहियों के भयङ्कर गर्वों को शान्त कर रहा हूँ, जिन (भट्टोजिदीक्षित) की बुद्धि अप्पय दीक्षित के दुराग्रह के कारण अपना विवेक छोड़ कर मूर्च्छित हो गई है ।

तीसरा श्लोक बालकवि का है। इसी श्लोक के आधार पर अप्पय दीक्षित के भ्रातृपौत्र ने इन्हें पण्डितराज का समकालिक सिद्ध करने के लिए अपने 'नलचरितम्' में प्रौढ़ विवेचन उपस्थित किया है ।

'यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता
भट्टोजिप्रमुखाः, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः ।
पूर्वेऽर्धे चरमे द्विसप्ततितमस्याब्दस्य सद् विश्वजिद्
याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज्ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥'

'अप्पय दीक्षित ने अपनी आयु के ६२ वें वर्ष के पूर्वार्द्ध में विश्वजित् यज्ञ करने के लिए, पृथ्वी के सब ओर घूमते हुए, भट्टोजि दीक्षित आदि सभी विद्वानों को पराजित किया और अन्त में उस ख्यातिप्राप्त पण्डितराज जगन्नाथ का भी उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्द्ध में विश्वजित् नामक यज्ञ किया और चिदम्बरं क्षेत्र में सभी सज्जनों के देखते हुए आप्तज्योति को प्राप्त हो गये ।'

इन श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित को पण्डितराज जगन्नाथ के साथ जातिगत विरोध ही नहीं था, प्रत्युत् उन दोनों के बीच यावज्जीवन विद्वेष की ज्वाला धधकती ही रही। यही कारण है कि पण्डितराज ने चित्रमीमांसा के सिद्धान्तों का स्थान-स्थान पर खण्डन ही नहीं किया, बल्कि विवेक छोड़कर अनावश्यक रूप से यत्र तत्र दीक्षित जी की खिल्लियाँ भी उड़ाई हैं। अपने रसगंगाधर नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में 'चित्रमीमांसा' की आलोचना करते-करते जब उनका मन नहीं भरा तो उन्होंने दीक्षित जी की इस प्रौढ कृति के खण्डनार्थ अलग से 'चित्र-मीमांसाखण्डन' नामक एक ग्रन्थ ही लिख डाला ।

ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से यहाँ एक बात और विचारणीय है। दीक्षित जी के समकालीन पण्डित भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण थे। शेषकृष्ण के पुत्र का नाम शेषवीरेश्वर था। यही शेषवीरेश्वर पण्डितराज के गुरु थे। विद्याभिमानी भट्टोजि-दीक्षित से शेषवीरेश्वर जला करते थे। यही कारण है कि ये 'मनोरमा' का स्वयं खण्डन न कर इस कार्य के लिए अपने सुयोग्य शिष्य को प्रेरित किया। इन सारी बातों

से यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित, भट्टोजिदीक्षित और पण्डितराज सभी समकालिक थे। किन्तु एक ऐसा भी तथ्य है जो पण्डितराज को अप्पय दीक्षित के समकालिक मानने में ऐतिहासिकों को भी भ्रमित कर देता है। वह यह है कि पूर्वोक्त नीलकंठ दीक्षित ने जो अप्पय दीक्षित के भ्रातृपुत्र थे अपने 'नीलकंठविजय' नामक चम्पू में लिखा है :—

'अष्टत्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतु:सहस्रेषु ।
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथित: किल नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥'

यह 'नीलकंठ विजय' कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है।'

ईसवी सन् के अनुसार यह समय १६३९ था जो शाहजहाँ का राज्यकाल पड़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पण्डितराज का समकालिक जब अप्पय दीक्षित का भ्रातृपौत्र हो सकता है तब फिर उनका स्थितिकाल उपर्युक्त कैसे ? दूसरी बात यह है कि नीलकंठ दीक्षित ने स्वनिर्मित 'त्यागराजस्तव' में अप्पय दीक्षित के विषय में लिखा है :—

'योऽतनुताऽनुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम्'

'जिन अप्पय दीक्षित ने अपने छोटे भाई के पौत्र अर्थात् मुझको अनुग्रह करके, अपने समान ही प्रभावशाली बना दिया।'

इस उक्ति से यह भी सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ ने अप्पय दीक्षित से अध्ययन भी किया था। इतना ही नहीं, उनका जन्म इन्होंने १५५० ई० सिद्ध किया है। इसका प्रमाण 'सिद्धान्तलेश' की अधोङ्कित भूमिका है :—

'ब्रह्मविद्यापत्रिकाकारास्तु—'नीलकण्ठविजयश्च कविना त्रिंशे वर्षे प्राणायि। कविश्च द्वादशवर्ष एव सप्ततिवयसा दीक्षितेनानुगृहीत: अतस्तेषामवतारकाल: कल्यब्दा: ४६५०, शकाब्दा: १४७१, सन् १५५०' इत्युदाजह्रु:।'

सिद्धान्तलेशसंग्रह की भूमिका में अप्पय दीक्षित का एक श्लोक है :—

'वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा,
न किञ्चिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्।'

तात्पर्य यह कि—'मेरी उम्र ७० से अधिक वर्ष की हो रही है। अब मुझे सांसारिक भोगविलासजन्य किसी वस्तु की कामना नहीं है। अब तो मैं केवल शंकर की शरण चाहता हूँ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित का जन्मकाल १५५० ई० था और मृत्युकाल १६२२ ई०। किन्तु यह समय शाहजहाँ के राज्यकाल से पूर्व पड़ता है। यहीं आकर इनके कालनिर्णय में ऐतिहासिक भ्रमित हो जाते हैं।

किन्तु, यह बात पूर्णतः निर्णीत नहीं कही जा सकती। क्योंकि अगर नीलकण्ठ ने ३० वर्ष की उम्र में ही 'नीलकण्ठविजय' की रचना की है तो उस समय भी अप्पय दीक्षित जीवित ही होंगे। क्योंकि कवि ने स्वयं भी दीक्षित जी की वन्दना में वर्तमान काल का प्रयोग किया है :—

'श्रीमानप्पयदीक्षितः स जयति श्रीकण्ठविद्यागुरुः।'

इससे इतना तो निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ समसामयिक थे। इन तीनों की उम्र में छोटाई-बड़ाई का अनुपात चाहे जो कुछ हो—कार्यकाल में चाहे जितना भी अन्तर पड़े, किन्तु तीनों एक दूसरे से परिचित थे। उस समय सामाजिक कट्टरता भी अपनी पराकाष्ठा पर थी। परिणाम-स्वरूप दीक्षित जी ने पण्डितराज को समाज से बहिष्कृत कर दिया था।

अप्पय दीक्षित द्रविड़, भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्री और पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। अतः इन तीनों के बीच विद्वेष का प्रसार तात्कालिक सामाजिक कट्टरता की दृष्टि से कोई अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अप्पय दीक्षित वृद्धावस्था में काशी आये थे। समाज में उनका सम्मान था। विरोधी होते हुए भी पण्डितराज ने खुले हृदय से इस तथ्य को कई जगह स्वीकृत किया है। यथा—'द्रविडशिरोमणिभिः' तथा 'द्रविडपुंगवैः' इत्यादि।

महामहोपाध्याय P. V. Kane ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ History of Sanskrit Poetics में यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है कि अप्पय दीक्षित, भट्टोजि-दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ समकालिक थे। A MS of the चित्रमीमांसा is dated Sambat 1709 (I. C. 1652-53 A. D.) Therefore both the रसगङ्गाधर and the चित्रमीमांसाखण्डन were composed before 1650 and after 1641 A. D. and they are the product of a mature mind. Therefore the literary activity of Jagannath lies between 1620 and 1660 A. D...... ।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित अपनी अन्तिमावस्था में काशी के विद्वत्समाज से सम्मानित होकर जीवन व्यतीत कर रहे थे और उन्होंने यवनी पत्नी के संसर्ग से दूषित पण्डितराज को अवश्य ही पण्डितों के तत्कालीन कट्टर समाज से बहिष्कृत किया होगा। भट्टोजिदीक्षित इनके सम्पर्की एवं समान विचार वाले थे। फलतः इन दोनों को पण्डितराज का कोपभाजन बनना पड़ा।

यह लोकप्रसिद्ध है कि 'चित्रमीमांसा' अप्पय दीक्षित की प्रौढ़ कृति है। अपने से पूर्व के अलंकार ग्रन्थों पर इनके समय जिस यथार्थ विमर्श की आवश्यकता थी, उसे बहुत अंशों में इन्होंने पूरा किया। दीक्षितजी संग्राहक ही नहीं, प्रवीण विवेचक भी थे।

अगर सच पूछा जाय तो आनन्दवर्द्धन की विचारश्रृङ्खला, मम्मटभट्ट की शैली और विश्वनाथ की अभिव्यक्ति का समन्वय लेकर ही अप्पय दीक्षित अलंकार शास्त्र के क्षितिज पर उदित हुए थे। दीक्षित जी विश्वनाथ से भी अधिक भावप्रवीण हैं तथा दण्डी या रुय्यक से किसी भी प्रकार कम पण्डित नहीं हैं। किन्तु जितने वे भावप्रवीण या पण्डित हैं, ठीक उसी अनुपात से पण्डितराज के विवाद में पीछे हैं। रुद्रट और वामन से निःसन्देह अप्पय दीक्षित में विवेचन का पलड़ा भारी है। पर, मम्मट की स्वस्थ आलोचना के आगे दीक्षित जी की विवेचना नीचे दिखाई देती है। फिर भी मम्मटभट्ट, महापात्र विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित में दीक्षित का स्थान अधिक श्रेष्ठ है। दीक्षित जी ने मम्मट की चित्रसम्वन्धी अभिव्यक्ति को और अधिक प्रौढ़ एवं प्राञ्जलरूप में उपस्थित किया है। पण्डितराज की तरह इनकी विवेचना में दार्शनिकता का पुट अधिक सशक्त रूप से भले ही न हो किन्तु, स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से अप्पय दीक्षित अपने क्षेत्र में अकेले हैं।

अलङ्कार के भावनापक्ष तथा उसके विवरणात्मक सौन्दर्य का सुन्दर उद्‌घाटन अप्पय दीक्षित ने जो किया है, वह उस युग की दृष्टि से बहुत कुछ अपूर्व ही था। समानधर्मी आलोचकों के विवेचनों का इन्होंने बड़े ही चमत्कारपूर्ण ढंग से खण्डन किया है। इनकी खण्डनात्मक शैली की ओर अनेक विद्वानों का ध्यानाकृष्ट हुआ। पण्डितराज जगन्नाथ को भी अपने विवेचनों और आलोचनाओं को माँजने और सँभालने की प्रेरणा प्रायः इन्हीं से मिली है। इस दृष्टि से दीक्षित जी की चित्रमीमांसा खण्डनात्मक आलोचना साहित्य के लिए भी कुछ कम उपादेय नहीं है।

महामान्य अप्पय दीक्षित जी शैवदर्शन के महनीय आचार्य थे। इनका 'वरदराजस्तव' अपनी मंजुल भावना तथा उदात्त दार्शनिक विचारों के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। इन्होंने इस पुस्तक में १०६ श्लोकों में भगवान् के रूप का वर्णन बड़ी ही कमनीय भाषा में किया है। ये नितान्त भक्त तथा उदात्त दार्शनिक थे। इस स्तोत्र में इनका दार्शनिक विचार और धारणायें तथा इनके ईश्वरवादी अभिनव दृष्टिकोण इनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे। आलंकारिक समीक्षा और स्तोत्रसाहित्य के बीच जिस अव्याहत दार्शनिक विचार के संतुलन की आवश्यकता थी, उसके समन्वय का अभाव खटकता है।

दीक्षित जी का खण्डनात्मक दृष्टिकोण भी अपने ढंग का अकेला है। लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ में इनका प्रमुख ध्यान प्रतिपाद्य विषय (matter) की ओर अधिक है; अलङ्कार विवेचन की अभिव्यञ्जना प्रणाली (manner) की ओर कम। किस अलङ्कार का कैसा प्रयोग होना चाहिए, इस सम्बन्ध में दीक्षित जी उतने चिन्तित नहीं हैं, जितना लक्षण के खण्डन-मण्डन की ओर। इनके ग्रन्थों में साहित्य और दार्शनिक वस्तु

(Theme) का ऐसा समन्वय है कि इनका विषय (matter) और विषय व्यञ्जना (manner) में विचित्र असमानता फूट पड़ी है। यही इनकी कमजोरी का वह स्थल है जिस पर पण्डितराज को बोलने या लिखने का अवसर उपलब्ध हुआ है।

'वरदराजस्तव' में उनकी शैली स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त वरदराज की स्तुति धाराप्रवाह से प्रवाहित हुई है। रूखे-सूखे दार्शनिक तत्त्व भी इस स्तोत्र में अनायास ही हृदयङ्गम हो जाते हैं। युक्तियों की अपूर्वता, उपमाओं की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की सुन्दरता तथा भाषा की मधुरता—इन सभी गुणों के कारण उनका यह स्तोत्रसाहित्य अधिक आकर्षक बन गया है।

'विश्वम् भूतम् भुवनम् चित्रम्'

वैदिक साहित्य में 'चित्र' शब्द का शताधिक बार प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। ऋग्वेदादि के अनुसार इसका अर्थ अद्भुत, आश्चर्य, विचित्र, अनेक, प्रभूत, उत्कृष्ट, नानावर्णयुक्त, दर्शनीय एवं आलेख्यपरक है। इसी प्रकार लौकिक साहित्य में भी चित्र पद से शबल, आलेख्य, चमत्कारजनक, उज्ज्वल, भास्वर, मधुर एवं उद्वेगपर अर्थ गृहीत है। इसका कोषगत अर्थ है :—कागज, कपड़े आदि पर बनाई हुई वस्तु की प्रतिमूर्त्ति, तसवीर, आलेख्य, तिलक, चित्रगुप्त एवं चित्रक। किन्तु, काव्यशास्त्र में चित्र शब्द का प्रयोग एक विलक्षण अर्थ में है। काव्यशास्त्र में इसके सर्वप्रथम प्रयोक्ता ध्वनि-मार्ग के आचार्य आनन्दवर्द्धन माने जाते हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक में लिखा है :—

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच् शब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥' ध्व० ३–४२, ४३

अर्थात् काव्य के दो भेद—ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य—व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर तो पहले से ही सिद्ध हैं। अब काव्य के इन दोनों भेदों से भिन्न अर्थात् जो काव्य व्यङ्ग्य अर्थ की विवक्षा से सर्वथा शून्य हो, उसे चित्र-काव्य कहते हैं। पुनः यह चित्रकाव्य शब्द और अर्थ के आधार पर दो प्रकार के होते हैं। शब्दचित्रकाव्य और अर्थचित्रकाव्य। इस प्रकार के काव्य में अन्तस्तत्त्व का अभाव रहता है। इससे किसी भी प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। फलतः आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थशून्य काव्य का ही नाम चित्रकाव्य रक्खा है। क्योंकि जिस प्रकार किसी वस्तु की प्रतिकृति में आत्मतत्त्व का अभाव

रहता है, उसी प्रकार इस तरह के काव्य में भी आत्माभिव्यंञ्जक तत्त्वों का अभाव रहता है। इसीलिए 'चित्र' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

'ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् ।'

तात्पर्य यह कि चित्रकाव्य में जहाँ एक ओर रसादितत्त्व का अभाव रहता है, वहीं दूसरी ओर व्यङ्ग्यार्थ की प्रकाशन शक्ति से भी यह काव्य शून्य रहता है। इसमें केवल शब्द और अर्थ की विचित्रता के आधार पर चित्र की तरह काव्य को सजाया जाता है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में इस प्रकार का काव्य मात्र काव्यानुकरण है न कि काव्यम्—'न तन्मुख्यं काव्यम्, काव्यानुकारो ह्यसौ' अन्त में इन्होंने चित्रकाव्य का स्वरूप अधोङ्कित रूप में निर्दिष्ट किया है :—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरः ॥'

'चित्रकाव्य का विषय वह अलङ्कार निबन्ध है जिसकी विश्रान्ति किसी भी प्रकार से रसभाव में नहीं होती है। किन्तु, अगर शब्द और अर्थ की विचित्रता में किसी भी प्रकार से रसादि भाव परिलक्षित हों तो निश्चय ही वह ध्वनि का विषय बन जाता है।'

इतना ही नहीं चित्रकाव्य की विशेषता की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने यहाँ तक कह दिया है :—

'एतत्तु चित्रं कवीनां विश्रृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शना-दस्माभिः परिकल्पितम् ।' ध्व० लो०

अर्थात् चित्रकाव्य में रसात्मकता का अभाव होने से केवल वाग्विकल्प की ही स्थिति मानी जाती है।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के लक्षण-लक्ष्य ग्रंथों में चित्रबन्धकाव्य का एक परम्परित इतिहास ही उपलब्ध होता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर अग्निपुराण, भामह के काव्यालंकार, दण्डी के काव्यादर्श, वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, रुद्रट के काव्या-लंकार, भोजराज के सरस्वतीकंठाभरण तक में अपने-अपने ढंग से चित्र और चित्रकाव्य की व्याख्या की गई है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में चित्रकाव्य का विवेचन करते हुए लिखा है :—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'

अर्थात् व्यङ्ग्यरहित अवर काव्य ही चित्रकाव्य है। यह शब्दचित्रकाव्य और अर्थचित्रकाव्य नाम से दो प्रकार का है। फिर 'चित्र' की व्याख्या करते हुए लिखा है :-

'चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्।'

अर्थात् यहाँ 'चित्र' शब्द का अभिप्राय है—गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ तथा अलंकृत शब्द और अर्थवाली रचना। इस प्रकार के काव्य का अव्यङ्ग्य होने का अभिप्राय है :—व्यङ्ग्य अर्थ की स्फुट प्रतीति का अभाव। इसे 'अवर' कहते हैं। क्योंकि यह काव्य निकृष्ट कोटि का होता है। इसके बाद इस सन्दर्भ में हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में, राजानक रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व में एवं कविकर्णपूर के अलङ्कार-कौस्तुभ में 'चित्रकाव्य' के विविध प्रकार की व्याख्या उपलब्ध होती है। साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ ने 'चित्र' पद की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

'पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते' अर्थात् 'चित्र' वह शब्दालंकार है जिसे वर्णों के ऐसे शब्दविन्यास की विचित्रता में देखा जाता है, जिसमें पद्म आदि की रूप-रेखा झलकती है। वस्तुतः विश्वनाथ की यह परिभाषा अलंकारसर्वस्व की इस परिभाषा से प्रभावित प्रतीत होती है—'वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्' किन्तु इसकी विशद व्याख्या प्राञ्जल भाषा में हमें सरस्वतीकण्ठाभरण में उपलब्ध होती है :—

'वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः। नियमस्तद्‌बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते"

अर्थात् 'चित्र' वह रचना है जो कि व्यञ्जन, स्थान, स्वर, पद्मादि आकृति, गति और बन्ध के नियम से आश्चर्यजनक हुआ करती है। इस व्याख्या के अनुसार 'चित्र' ध्वनिरहित वह रचना नहीं सिद्ध होती जो आलेख्य की तरह निर्जीव लगे।

वस्तुतः चित्रमीमांसाकार अप्पय दीक्षित का चित्रकाव्य से यही तात्पर्य है। इसे ही स्पष्ट करते हुए उन्होंने चित्रमीमांसा के ग्रन्थारम्भ प्रकरण में लिखा है—'यदव्य-ङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्'। यद्यपि इस ग्रन्थ में दीक्षित जी ने कोई नवीन उद्‌भावना नहीं की और न उस उद्‌भावना की आवश्यकता ही थी। किन्तु, प्रवीण विवेचक होने के कारण इन्होंने प्रतिपाद्य विषय पर बड़ा ही विवेकपूर्ण विमर्श उपस्थित किया है। चित्रमीमांसा में केवल अधोङ्कित १२ अलंकारों पर ही विचार किया गया है :—

(१) उपमा, (२), उपमेयोपमा (३) अनन्वय, (४) स्मरण, (५) रूपक, (६) परिणाम, (७) ससन्देह (८) भ्रान्तिमान्, (९) उल्लेख, (१०) अपह्नुति, (११) उत्प्रेक्षा और (१२) अतिशयोक्ति।

यों तो भारतीय चिन्तकों ने दीक्षित जी से पूर्व ही काव्य की आत्मा की खोज करने के लिए भगीरथ प्रयास किया और इस प्रयास में तर्क-वितर्क और ऊहापोह

के पश्चात् उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है—ऐसा समझा जाता है। किन्तु, दीक्षित जी से पूर्व चिन्तकों का यह अन्वेषक-मण्डल कई सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों पर अधोङ्कित रूप से अपना अभिमत व्यक्त किया है :—

'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्योऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृतत्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।'

अर्थात् विशिष्ट शब्द और अर्थ ही काव्य है। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता धर्म, व्यापार और व्यङ्ग्य इन तीन प्रकारों की है। यही तीन प्रकार काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक दृष्टि से तीन पक्ष हैं। इनमें अलङ्कार और गुण के भेद से धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार के हैं। फलतः धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादक दो सम्प्रदाय सत्ता में आये—(१) अलंकार सम्प्रदाय और (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। इसी प्रकार व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी वक्रोक्ति और भोजकत्व भेद से दो प्रकार का है। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' द्वारा काव्य में चमत्कार का प्रतिपादन किया है। अतः उनका यह मत 'वक्रोक्तिसम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भोजकत्व का अन्तर्भाव भरतमुनि के रससिद्धान्त के अन्तर्गत है। व्यङ्ग्यत्व विशिष्ट के समर्थक आचार्य आनन्दवर्धन हैं। उनका मत 'ध्वनि सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फलतः ये सिद्धान्त या सम्प्रदाय ५ रूप में हमारे सम्मुख आये—१–रससिद्धान्त, २–अलङ्कारसिद्धान्त, ३–रीति-सिद्धान्त, ४–वक्रोक्तिसिद्धान्त और ५–ध्वनिसिद्धान्त।

इनमें हमारा विवेच्य सिद्धान्त 'अलङ्कारसम्प्रदाय' है। जब से साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ, अलंकार की सत्ता उसी दिन से उपलब्ध है। वैदिक साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद में उपमा अलङ्कार का प्रयोग दर्शनीय है। यह सच है कि वैदिक साहित्य में अलङ्कारशास्त्र का उल्लेख नहीं है, किन्तु अलङ्कार का निर्देश स्पष्टरूप से है :—

उपमा—

'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनयेधनानाम्।
जायेवपत्य उशती सुवासा, उषा हंस्रेव न रिणीते अप्सः॥'—ऋ० १-१२४

अतिशयोक्ति—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

—ऋग्वे० १–१६४–२०

रूपक—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥'—कठोप० १. ३. ३.

वैदिक साहित्य के पश्चात् निरुक्तों में भी अलङ्कारों का वर्णन मिलता है। निरुक्त में अलङ्कार का पारिभाषिक अर्थ नहीं मिलता। किन्तु, गार्ग्य ने उपमा का लक्षण अवश्य निरूपित किया है। आगे चलकर यास्क ने तो उपमा का भेद निरूपण भी किया है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व पाणिनि के समय तक तो उपमा का शास्त्रीय विवेचन भी प्रारम्भ हो गया था। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमित और सामान्य जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने सूत्रों में उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक एवं साधारण धर्म उपमा के इन चारो अङ्गों का निर्देश किया है :—

(१) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्—२।३।७२। (२) उपमानानि सामान्यवचनैः। २।१।५५। उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५६।

इस विषय में वार्तिककार कात्यायन मुनि भी पाणिनि के अनुयायी हैं। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में उपमान शब्द की व्याख्या की है। उन्होंने 'गौरिव गवयः' का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। जो उपमा का श्रौती और आर्थी नाम से वर्गीकरण किया जाता है, उसका आधार भी पाणिनि के सूत्र ही हैं।

इसके पश्चात् सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अलङ्कारों का शास्त्रीय विवेचन किया है। किन्तु, शास्त्रीय विवेचनों में भी वैज्ञानिक विश्लेषण सर्वप्रथम आचार्य भामह के काव्यालङ्कार में ही उपलब्ध होता है। भामह के विवेचन से यह स्पष्ट पता चलता है कि उनसे पूर्व भी रसपरम्परा की भाँति अलङ्कारों की भी कोई एक निश्चित परम्परा थी और उसी के क्रमिक विकास के फलस्वरूप भामह ऐसा वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखने में समर्थ हो सके। भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य मेधाविन् प्रभृति का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस परम्परा का विकास भाषा की सूक्ष्म परीक्षा के साथ ही साथ होने लगा था।

भामह के समय में यद्यपि अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हुआ था। अनेकों संस्कृत विद्वानों ने भी अलंकारों पर अनेक ग्रन्थ लिखे; पर इस क्षेत्र में उनकी अपनी कोई मौलिक देन नहीं प्रतीत होती। जयदेव और विद्याधर के बाद अप्पय दीक्षित ने एक बार पुनः अपनी सारी शक्ति एकत्रित कर कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा की रचना की। किन्तु, इस दिशा में उनका यह सत्प्रयत्न भी अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने में सफल न हो सका।

इसके उपरान्त इस प्रयास की दृष्टि से एकबार संस्कृत साहित्य का गत्यवरोध प्रतीत होता है। भाषावरोध की दृष्टि से इसे अवरुद्ध माना जा सकता है, किन्तु अलंकार परम्परा की दृष्टि से इसके विकास में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई। संस्कृत से छूटते ही इस परम्परा को हिन्दी साहित्य में रीति-ग्रन्थकारों ने अपनाई। इन हिन्दी रीतिकारों ने संस्कृत काव्यशास्त्रों को ही अपने ग्रन्थों का आधार बनाया। यही कारण है कि हिन्दी रीतिग्रन्थों में किसी भी नवीन या मौलिक उद्भावना का परिदर्शन नहीं होता। फलतः हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों में नवीनता या मौलिकता का सर्वथा अभाव ही रहा। अलंकार के लक्षणों और उदाहरणों में भी अधिकतर स्थलों पर संगति और एकरूपता नहीं हो सकी। कई कवियों ने तो लक्षण और उदाहरणों की अभिव्यक्ति में बड़ी शिथिलता दर्शायी है।

अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जिस चित्रमीमांसा या कुवलयानन्द का पंडितराज जगन्नाथ ने इतना विरोध किया है, उसका प्रभाव प्रायः हिन्दी के सभी ग्रंथों पर परिलक्षित होता है। किसी न किसी रूप में इन दोनों का आधार लेकर ही हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों की रचना हुई है। हिन्दी के कतिपय ग्रन्थ तो ऐसे लगते हैं कि मानो अप्पय दीक्षित के ग्रन्थों के भाषान्तर मात्र हों। हिन्दी अलंकार के लक्षण तो इनके ग्रन्थों से प्रभावित हैं ही, कहीं-कहीं उदाहरण भी इस प्रभाव से वंचित नहीं रह पाए हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में आज भी दीक्षित जी जीवित हैं।

दीक्षित जी के अलंकार ग्रन्थों के द्वारा ही हिन्दी में मुक्तक-काव्य की श्रीवृद्धि हुई है। इतना ही नहीं, हिन्दी के काव्यशास्त्र की समृद्धि भी इस प्रभाव से असम्पृक्त नहीं कही जा सकती। बहुत संभव था, इसके अभाव में हमारे हिन्दी साहित्य का यह अंग अधूरा किंवा अपूर्ण ही रह जाता।

चित्रमीमांसा की महत्ता

इस ग्रन्थ के नामकरण के सम्बन्ध में दीक्षित जी ने प्रायः 'चित्र' शब्द को उसके अर्थगौरव की दृष्टि से ग्रहण किया है। क्योंकि यह शब्द ही ग्रन्थ की सम्पूर्ण उद्भावनाओं और सम्भावनाओं को प्रकट करता है। यों इस शब्द के कोषगत अर्थों में विचित्र, अनेक, प्रभूत एवं उत्कृष्ट जैसे अर्थों का ध्यान भी दीक्षित जी को अवश्य होगा। किन्तु अवरकाव्य चित्रकाव्य का अर्थ कहने में उनका लक्ष्य 'उत्कृष्ट' की ओर अवश्य होगा। क्योंकि यह ग्रन्थ के आन्तरिक धर्म को प्रकट करनेवाला अर्थ है। उत्कृष्टता इसका साधनापक्ष एवं अवरकाव्य इसका व्यवहारपक्ष है। अतः चित्रमीमांसा नाम की सूपयुक्तता स्पष्ट है।

परम्परा से संस्कृत-साहित्यालोचन में 'चित्र' और 'चित्रमीमांसा' की चर्चा बड़े रपटीले तौर पर चल चुकी है। किन्तु औसत दर्जे के विचारक और पाठक इसकी यथार्थ अर्थप्रतिपत्ति से परिचित नहीं हैं। चित्रकाव्य की परिभाषा, अर्थव्याप्ति और व्यपदेश निर्धारण कुछ कठिन इसलिए भी है कि इसकी व्यापकता की सीमाएँ संस्कृत साहित्य के कई सुप्रतिष्ठित ग्रन्थों में निर्धारित हो चुकी हैं; यद्यपि मेरी छोटी बुद्धि में अभी भी वह स्पष्ट नहीं है, दूसरे इस चित्र शब्द के अत्यन्त प्रचलन ने इसके प्रति हर-दर लोगों की जिज्ञासा कुण्ठित कर दी है। फिर भी 'चित्र' की परख आज के निकष-प्रिय युग में आवश्यक है। 'चित्र' को समझे बिना 'चित्रमीमांसा' की आलोचना करनेवाले श्रद्धालु मीमांसक तो विधेयाविमर्श के चक्कर में हैं ही। परीक्षापाठ्य में निर्धारित अंश को परीक्षा की वैतरणी संतरणार्थ ग्रहण करनेवाले जिज्ञासु पाठक तो उसका स्मरण भर ही कर लेते हैं। अतः प्रस्तुत भूमिका के अंश में चित्र और चित्रकाव्य के महत्त्व को कुछ सधे-बँधे ढङ्ग से समझने की कोशिश की गई है।

चित्रकाव्य के ५ मूल तत्त्व हैं :—

कल्पना, विचार, भावना, शैली या अलङ्कार और तोष।

१. कल्पनातत्त्व—

कल्पना 'सम' की अवस्था है। जब कोई काव्यकार संतुलन की तुला पर एक तार अनुस्यूत निवेदित यथार्थ को उपस्थित करता है, तब उसमें स्वाभाविक 'कल्पना' का आधान हो जाता है। काव्य सत्य के इस काल्पनिक स्तर को स्वायत्त करना प्रत्येक कवि के लिए स्पृहणीय है, क्योंकि जागतिक जीवन की दैनन्दिन उच्चावच स्थितियों में उच्छृङ्खल राग-द्वेषों को अनुशासित कर कूटस्थ तटस्थता का निर्वाह करनेवाला व्यक्ति ही विष पीकर अमृत दे सकता है। कल्पना ही किसी कवि की अमोघ शक्ति है और किसी भी कविकर्म में इसकी चरम सार्थकता है। चित्रशैली में बिम्बविधान इसका स्वाभाविक फल है, क्योंकि कवि-कल्पना द्वारा दृश्य-जगत को नव-नवरूप प्राप्त हुआ करते हैं। इसके आधार पर कवि अमूर्त्त को मूर्त्तरूप में और नीरस वातावरण को सरसरूप में उपस्थित करने में सफल होता है। इसी प्रकार कल्पना की सहायता से वह भूत अथवा भविष्य की घटनाओं को भी वर्त्तमानकालीन घटना की भांति चित्र रूप में उपस्थित कर देता है। चित्रकाव्य में उपमेय अथवा प्रस्तुत के लिए उपमान अथवा अप्रस्तुत की खोज इसी कल्पना की देन है। अतः स्पष्ट है कि 'चित्रसृष्टि' किसी भी काव्य का अनिवार्य धर्म है। इसके अभाव में ही काव्य की सरसता बाधित होती है। आमतौर पर भासित होनेवाली चतुर्दिक्व्याप्त यथार्थ के बीच एक छिपी हुई चिरन्तन कल्पना है, जहाँ मानव हृदय की उन्मुक्त अन्तरनुभूतियों का एकान्त निवास है। जो भी कलाकार इस वैयक्तिक अथवा वर्गीय परिधि से ऊपर एक व्यापक क्षितिज विस्तार

के आलोक को अपनी कृतियों में सन्निविष्ट कर सामान्य मानवता की भावभूमि में विचरण करता है, वह प्रथम कोटि की चित्र-सृष्टि का नियन्ता होता है।

चित्रसृष्टि के कल्पना-तत्त्व का दूसरा छोर परम्परा से सम्बन्धित है, क्योंकि प्रत्येक परम्परा के पास एक सुपरीक्षित और सुरक्षित पद्धति होती है, जिसके ग्रहण से चित्र की कल्पना सुलभ हो जाती है। किन्तु, इसी ग्रहण के साथ वर्जन का एक पहलू सटा है। जहाँ प्रत्येक चित्रस्रष्टा के लिए परम्परा से कुछ ग्रहण करना आवश्यक है, वहाँ कुछ अंशों में उसका परित्याग करना भी अत्यावश्यक है। वह इसलिए कि प्रत्येक परम्परा विगत युग की एक चित्रसृष्टि होती है। फलतः उसमें चिन्तन की नई विधाओं, देश और समाज की अत्याधुनिक आवश्यकताओं तथा जनमन की नवीन अभिरुचियों और प्रवृत्तियों का आकलन अथवा प्रतिफलन नहीं रहता है। चित्र-सृष्टि के लिए रूढ़ि और गतानुगतिकता सर्वाधिक बाधक हैं, क्योंकि किसी भी चित्र की सिसृक्षा सत्य के अनुद्घाटित क्षेत्रों का अन्वेषण है। उसके लिए चर्वितचर्वण के बल दे अनुसन्धित्सा की आवश्यकता है चित्र सृजन की प्रक्रिया ऋणात्मक और उधारशीला न होकर भावात्मक तथा निर्माणात्मक है। यही कारण है कि तथाकथित अवरकाव्य के नखशिख वर्णन, सरापा, षड्ऋतुवर्णन, कवि समय और कवि प्रसिद्धियों की लीक पर चलनेवाले माहिर कवियों की वागुरा में फँसकर कोई परम्पराचेतनाग्रस्त निम्नस्तरीय रसिक क्षणभर के लिए भले ही वाहवाह कह उठे, किन्तु, उससे किसी चित्र-क्षुत्क्षाम पाठक की अन्तर्वृत्तियों का उन्मेष कदापि नहीं हो सकता। इसलिए चित्रस्रष्टा शायर के लिए 'शूर' और 'सपूत' की तरह न्यूनाधिक मात्रा में 'लीक छोड़कर' चलना कदाचित् आवश्यक है। अतः जो आलोचक पुरानी परम्परा का एकान्त अनुसरण करता है, वह समाज के प्रगतिशील तत्त्वों का पक्षधर न रहकर प्रतिक्रियावादी और पुराणपन्थी हो जाता है। इस अभिशाप से बचने के लिए चित्रसृष्टि पर विचार के पूर्व आधार स्वरूप विचारतत्त्व का बारीक अध्ययन आवश्यक है।

२. विचारतत्त्व—

विचारतत्त्व से अभिप्राय चित्रकार की विशिष्ट चिन्तनधारा से है। इसके अभाव में चित्रकाव्य में स्थायित्व का समावेश संभव नहीं हो पाता। वस्तुतः कल्पना और चित्रण की भांति चित्रकाव्य में स्वस्थ चिन्तन का भी अनन्य महत्त्व है। चित्रकाव्य में विचारों का जिस रूप में समावेश किया जाता है, वह यथार्थ से किञ्चित् भिन्न होता है। जहाँ दर्शनशास्त्र में यह प्रतिपादन जटिल सूत्र शैली में होने के कारण प्रायः दुर्बोध रहता है अथवा तथाकथित उत्तम या मध्यम कोटिक काव्य में व्यञ्जना या लक्षणा का माध्यम रहने से अर्थग्राह्यता दुरूह रहती है, वहाँ चित्रकाव्य में बौद्धिक

चिन्तन का समावेश भी सरस चित्र में किया जा सकता है। इस विषय में यह भी द्रष्टव्य है कि विचारों को जनता तक पहुँचाने का सर्वोत्कृष्ट माध्यम भी यही चित्रकाव्य है, क्योंकि सरस चित्रकाव्य का सम्पर्क जटिल व्यङ्ग्यप्रधान तथाकथित उत्तम काव्य की अपेक्षा जनसामान्य से अधिक रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य के प्रभेदों में चित्रकाव्य का निजी प्रभाव होता है. किन्तु इसे भी यदि लक्षणा-व्यञ्जना के अनुस्यूत तारों से बोझिल बनाने का प्रयत्न किया जायगा तो स्वभावतः इसमें भी प्रेषणीयता का गुण कुछ अंशों में क्षीण पड़ जायगा। यह सरल-स्वाभाविक प्रेषणीयता ही चित्रकाव्य के शब्द और अर्थ को जोड़ने वाली श्रृङ्खलाएँ हैं। एक सारंग के लिए दिशाज्ञान के निमित्त जो महत्त्व मेरीनर्स कम्पास का है, वही महत्त्व चित्रकाव्य के लिए कवि के समक्ष उपयुक्त शब्दार्थ संकलन का है। अन्ततोगत्वा प्रत्येक चित्रस्रष्टा युगधर्म का प्रस्तोता होता है, अत एव युगानुरूप शब्दार्थ ज्ञान की उपेक्षा उसकी चित्रसृष्टि को पंगु और पाण्डुर कर देती है।

३. भावनातत्त्व—

कल्पना और विचार के बाद चित्रकाव्य में भावनातत्त्व विशेषरूप से ध्यातव्य है। यही वह स्थल है जहाँ चित्रस्रष्टा की क्रान्तदर्शिता प्रार्थनीय है। क्योंकि वह वर्त्तमान युग का वैतालिक होने के साथ-साथ आगत युग का हरकारा है। भावनाओं के आस्फालन से आशा का आविर्भाव होता है जो जीवन की मूरि है। इस आशा को जगानेवाली भावनाओं के माध्यम से अतीत अभिज्ञ और वर्त्तमान सजग चित्रस्रष्टा आगत के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक चित्रस्रष्टा कवि कुछ अंशों में 'यूटोपियन' होता है। भावनाओं के संकेत पर ही वह बाहर भीतर के मधुर, तिक्त यथार्थों को कुरेद कर संभावित सत्यादर्शों की ऐसी आड़ी तिरछी रेखाएं खींचता है, जिनके स्पर्श से अनुभूत सत्य का सम्पूर्ण सन्दर्भ ही बदल जाता है। तात्पर्य यह है कि भावनाओं के द्वारा ही चित्रस्रष्टा कवि हीन और जर्जर वास्तविकताओं का काया-कल्प करता है। तभी तो वह इस जीविकाविहीन युग में भी घनीभूत निराशा को चीर कर मनुष्य के शुभांशों पर आधारित रामराज्य का प्रसन्न आलोक पैदा करता है। इस प्रकार आत्मबोध और समाजबोध के स्वर पर सतत विकासशील मनुष्य के लिए भावनाओं के निर्देशन का मधुर महत्त्व है। भावनाओं के समीपी आकलन द्वारा ही चित्रस्रष्टा कवि वह युगपत्र तैयार करता है, जिसपर सम्पूर्ण समाज की विकासमान प्रवृत्तियां अनुशासन की श्रृङ्खला में बँधकर चलती हैं। इसलिये कोई भी चित्रस्रष्टा वर्त्तमान का विधेयवान ही नहीं होता, बल्कि वह एक वाक्वर्चस्वी नेता की तरह आगत-युग का मन्तव्य पत्र (मेनिफेस्टो) भी तैयार करता है।

४. शैली : अलङ्कार—

चित्रकाव्य के प्रमुख पाँच तत्त्वों में शैली या अलङ्कार का चौथा स्थान है। चित्र में काव्यात्मक संवेग का महत्त्व तब घटता है, जब उसकी शैली या आलङ्कारिता को हेतूद्देश्य का स्थान दे दिया जाता है। सचमुच चित्रकाव्य में शैली या अलङ्कार की केन्द्रीय सार्थकता नहीं, उसका पारिपार्श्विक महत्त्व है। वह इसलिए कि शैली और आलङ्कारिकता के अवलेप-आवेष्टन से चित्रकाव्य में ग्रथित अन्तर्वृत्तियों और राग रुचियों का उच्छृंखल निदर्शन नहीं, यथायोग्य नियमन हो जाता है। किन्तु, जब नैतिकता ही काव्य का निकष बन जाती है, तब सही चित्राङ्कन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, और उग्रतर भावसत्यों के आवेग संवेग की मार्मिकता पकड़ में नहीं आ सकती। जैसे युद्ध-वीर कर्ण के चरित्र पर लिखे गये काव्य पर विचार करते समय एक नैतिक विचारक कर्ण की कानीनता और युद्ध छलपर ही विचार करता रह जायेगा, जब कि युयुधान कर्ण की वंशगत आभिजात्य को चुनौती देने वाली ऐसी पौरुष समर्थ दर्पोक्ति :—

> 'सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
> दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥'

उसकी आंखों से यों ही गुजर जायेगी।

५- तोष—

चित्रकाव्य का अन्तिम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व तोष है। तोष में ही आनन्द का समावेश हो जाता है। इसी आनन्द तत्त्व के कारण चित्रकाव्य का माध्यम मधुर हुआ करता है। यहाँ ही 'कान्तासम्मित' उपदेश को सर्वाधिक महत्त्व मिलता है। चित्रकाव्य का उद्देश्य कभी कभी अलङ्कारमूलक होने के कारण, किञ्चित् कटु हो जाता है, किन्तु, उसका वाणी-विधान एवं आख्यान गठन सर्वदा रोचिष्णु और आकर्षक, अत: सुखद हुआ करता है। भारतीय अध्यात्म-चिन्तन में आनन्द तत्त्व का परम महत्त्व है और इसी तोष के सन्निवेश के कारण चित्रकाव्य के आच्छादन, प्रतीक-विधान अलङ्कार-योजना, विन्यास-कौशल, प्रेषणीयता और उदात्तीकृत भाव के समन्वित प्रभाव का आकलन पाठकों के लिए अधिक रोचक होता है।

काव्यात्मक चित्रसृष्टि के लिए संकेतित तत्त्वों के उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि चित्रसृष्टि का अन्तर्गत सम्बन्ध कारयित्री प्रतिभा की सौन्दर्यानुभूति से है। जिस कवि की सौन्दर्यानुभूति जितनी गहनतर, अतलस्पर्शिनी और सानुपातिक समवाय होगी, उसकी चित्रसृष्टि उतनी ही महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यबहुल होगी।

पाठक अथवा आलोचक के साथ चित्रकाव्य का अब तक सापेक्षिक महत्त्व रहा है।

चित्रकाव्य के मूल्याङ्कन में चित्रस्रष्टा कलाकार की तरह मूल्याङ्कनकर्त्ता के भी अनेक दायित्व हैं। वस्तुतः चित्र किसी वस्तु अथवा भाव के प्रति एक समग्र दृष्टि है। अतः दृष्टि की इस समग्रता को समझने के लिए मूल्यांकनकर्त्ता के पास समुचित रससंवेदना, काव्यवस्तु का अनुबन्ध सन्दर्भज्ञान, आकलन-कौशल, और अर्थछवियों की उद्घाटन-क्षमता का रहना नितान्त आवश्यक है। इसलिए चित्रकाव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए चित्रस्रष्टा और मूल्यांकनकर्त्ता की पटुता का तुल्य योग चाहिए। इसी द्विविध दायित्व के कारण चित्रकाव्य का महत्त्व अब तक कालिक और परिवेशसापेक्ष रहा है। परिवर्त्तित युगसत्य का पुरस्कर्त्ता पाठक उसी कृति के लिए एक नवीन प्रथित पथ पर चित्रकाव्य का ग्रहण अभियान करता है। एक इतर सांस्कृतिक स्तरस्थिति का व्यक्ति तदर्थ नवीन चित्रसरणियों का ऊहात्मक अन्वेषण करता है। सारांश यह है कि चित्रकाव्य के मूल्यांकन का मानदण्ड सर्वथा कालातीत, दृष्टिकोणनिरपेक्ष और स्थितिशील (static) नहीं होता है। उन्हीं कृतियों का मूल्य अपेक्षाकृत स्थायी महत्त्व रखता है, जिनमें आगत युगसत्यों का 'अग्रवादीमंगलस्तवन' रहता है अथवा मानव के मूल मनोभावों का रागात्मक स्तर पर सफल अंकन रहता है। यही कारण है कि वाल्मीकि की शिवैषणा और लोकभावना तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाव-वर्णना अद्यावधि सम्पूज्य है और रहेगी।

यह मान्यता उचित प्रतीत होती है कि चित्रकाव्य सर्वथा और सर्वदा सोद्देश्य होता है। इतनी बात अवश्य है कि केवल सोद्देश्यता, उपयोगिता और सामाजिक परिषद् को दृष्टिगत रखते हुए ही चित्र की सीमा निर्धारित कर 'इदमित्थम्' नहीं कहा जा सकता है। चित्रकाव्य की सत्ता अवर काव्य के अतिरिक्त भी है। इनके कई आयाम आधुनिक दृष्टि में मनोवैज्ञानिकता से सम्पृक्त हैं। क्योंकि, कभी-कभी इसका सम्बन्ध अलंकारपरक किसी बहिर्निष्ठ वस्तु की अपेक्षा छायावेष्टित रहस्थलों की निगूढ़ताओं से अधिक रहता है। ऐसी अवस्था में चित्र का आधार हमारी इस अन्तश्चेतना का निःश्रेयण है, जो हमारे मूल व्यक्तित्व की पीठिका बनी रहती है। किन्तु, कुछ आलोचक ऐसे हैं कि चित्र-काव्य के व्यावहारिक आलोचना के धरातल पर उतरते-उतरते अपने को कलापक्षगत सौष्ठव, अर्थविशदता, शब्द-विस्तार, उक्ति-चमत्कार और नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता तक ही सीमित कर लेते हैं। फलतः चित्रकाव्य का मूल तत्त्व उपेक्षा-लुंठित हो जाता है। वास्तविकता यह है कि चित्रकाव्य रूपी सिक्के के लिए चित्रसृष्टि ही Gold deposit है। जब कि उसके कलापक्ष और भावपक्ष का क्रमशः Cash Value और Intrinsic Value से अधिक महत्त्व नहीं है। यदि अलंकार समवेदनाओं की भूमिका में केवल कलापक्ष को महत्त्व दिया जाय, तो लोलिंबराज के वैद्यक की अनेक पंक्तियां उत्कृष्ट काव्य कही जा सकती हैं। किन्तु असलियत यह है कि सुष्ठु वाणीविधान और ऋजु पटु उपमा

उत्प्रेक्षा योजना से परे मूल्यवान चित्रकाव्य की स्थिति जागतिक तत्त्वों, आध्यात्मिक निष्ठाओं एवं नवोन्मेषशाली प्रेरणा केन्द्रों में निहित है। यही कारण है कि इन पंक्तियों—

'यद्भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति।
तं शंभुमभजन्मर्त्यश्चञ्चैव स्वहिता कृते॥'

—तथा वामन के अलंकार ग्रंथ में उद्धृत राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' के निम्नांकित पद्य—

'मा भैः शशाङ्क मम सीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।
प्रायो विदग्धवनिता नवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्॥'

—की अपेक्षा कालिदास की ये पंक्तियाँ चित्र-सृष्टि की दृष्टि से अधिक सम्पन्न हैं—

'उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे'॥

उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना में 'रघुवंश' के षष्ठसर्ग का प्रत्येक छन्द-वंध अधिक चित्रगरिष्ठ और सशक्त है। क्योंकि उसमें मनःसंवेदनाओं के कोमल-पोषण की सम्पीड्यता मात्र ही नहीं, बल्कि 'शिवेतरक्षति' का उदग्र उद्घोष भी है।

आत्मनिष्ठता का आग्रह रखने वाले आलोचक पंडितराज जगन्नाथ, आनन्दवर्द्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति चित्रकाव्य का संबन्ध आलंकारिक अनुभूति से जोड़ते हैं, किन्तु, वास्तव में उसका सम्बन्ध सौन्दर्यात्मक अनुभूति से है। चूँकि चित्र-साधन एक वस्तु सत्य है, इसलिए चित्र-सृष्टि 'अहम्' की अपेक्षा 'इदम्' से और 'स्वान्तः' की अपेक्षा 'परान्तः' से अधिक सम्पृक्त है। अतः वैयक्तिक कुण्ठाओं और अभिरुचियों से आयुक्त चित्रग्रहण की आतुरता व्यापक समाज-बोध के समक्ष पराभूत और मद्धिम हो जाती है।

प्रत्येक कवि चित्रस्रष्टा नहीं होता है। अधिकांश कवि अलंकार की पृष्ठभूमि पर समवेदनाओं तथा अंतर्वृत्तियों का द्रुति विस्तार तक ही कर सकते हैं। अतः चित्र-ग्रहण की अपेक्षा चित्रोद्भावन के लिए अधिक प्रातिभ-अर्हता, साधन और संश्लेषण शक्ति की आवश्यकता होती है। चित्र-सृष्टि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका 'अथ' विश्लेषण से निर्गत होता है और जिसकी 'इति' संश्लेषण में अन्तर्भुक्त होती है। अतः केन्द्रगामिता उसका धर्म है और प्रेरणामूलक प्रभावान्विति उसका लक्ष्य। वैचारिक प्रौढ़ि के साथ वह समरूप वेगवती है। प्रत्येक कलाकृति पर 'चित्र' का ऋजु प्रभाव पड़ता है। 'चित्रों' का ग्रहण-वर्जन ही जीवन-रुचि की परिष्कृति का नियामक है। वह चिकित्सा

से ऊपर विवेक और अभिनिवेश से परे संवरण का संस्थापक है। चित्र के ही संस्पर्श से कोई काव्य श्रेण्य और वरेण्य हो जाता है। और इन चित्र-सरणियों का भी अत्यधिक महत्त्व है, जिनमें सत्प्रेरणाओं की प्रोक्षित धारा है; जिनके ग्रहण से मनुष्य में शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने को विद्युन्निभ शक्ति जगती है। यही कारण है कि मुमुक्षु कवियों की आमुष्मिकता से परिप्लुत मरणकामी कविताओं से अधिक वे कवितायें आशंसनीय हैं, जिनमें 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' से मिलती-जुलती क्रियाशील जिजीविषा की सबलतम अभिव्यक्ति है।

निष्कर्ष यह है कि चित्रकाव्य व्यापक महत्त्व-दृष्टि की एक प्रचलित आख्या है, जिसकी लब्धि के लिए संतुलित परिप्रेक्षित, प्रेरणामूलक त्वरा एवं पूर्वग्रहमुक्त ग्राहिका शक्ति 'परम लिप्सितव्य' है।

अप्पय दीक्षित का काव्यात्मक धरातल

आचार्य दीक्षित का जन्म एक सुशिक्षित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अच्छे परिवार में जन्म ग्रहण करने के कारण ही उनकी शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया। दर्शन शास्त्र के गहन अध्ययन के पश्चात् वे काशी आकर साहित्य के गूढ़तम विषयों के सम्बन्ध में चिन्तन करने लगे। इसके लिए उन्होंने काशी को ही उपयुक्त चुना। यहाँ उनका अन्य लेखकों तथा कवियों से सम्बन्ध जुटा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे निश्चित रूप से अपने से पूर्ववर्त्ती साहित्य से अधिक प्रभावित हुए। विशेषरूप से वे तत्त्ववादी आलोचना से अधिक प्रभावित थे। 'चित्रमीमांसा' में दीक्षित जी का लक्ष्य पाठक को आनन्द देना ही नहीं, बल्कि उनके समक्ष अपने युग की पृष्ठभूमि में चित्रकाव्य की शुष्क समस्याओं के रहस्य का उद्घाटन करना था। यहाँ दीक्षित जी चित्रकाव्य की एकरूपता से विद्रोह करते दिखाई पड़ते हैं। एक ओर तो वे जिज्ञासु चित्रकार की तरह अपनी शक्ति का आयोजन करते हैं, दूसरी ओर अभिज्ञ की तरह अलंकार शास्त्र की दुरूह दुनियाँ में विचरण करते दिखाई देते हैं। उनकी चित्रमीमांसा में चित्रकाव्य की विवेचना स्पष्ट रूप से अंकित है। एक ओर वे चित्र की मीमांसा करते हैं, दूसरी ओर चित्रविधान की योजना करते दीखते हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि दीक्षित जी ने अपनी चित्रमीमांसा में चित्र-सौन्दर्य का ध्यान छोड़कर कठोर यथार्थवादी की तरह सारे चित्रों को ठोस रूप में रखने की कोशिश की है। चित्रमीमांसा में उन्होंने बहुत से ऐसे चित्रों की योजना की है, जो सामान्यतः पकड़ में नहीं आती। चित्र-विधान के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि एक चित्र दूसरे चित्र से इस प्रकार सम्पृक्त रहे कि पाठकों को उस कविता के विशेष स्वरूप की व्यवस्थित अवगति मिल सके।

चित्रमीमांसा को पढ़ते समय अलंकार के फलक पर उनके प्रत्येक चित्र-विधान को ध्यान में रखना पड़ता है। कोई भी पाठक ऐसा तब तक करता रहता है, जब तक उसे सारी चीजें पकड़ में नहीं आ जातीं। इस तरह चित्रमीमांसा की परीक्षा में साधा-रणतः पाठक भूल नहीं करते और अपने मस्तिष्क के जोर से वे एक ऐसी कड़ी का निर्माण करते हैं जिसके सहारे चित्रमीमांसा की गहराई तक पैठने में उन्हें बड़ी आसानी होती है।

दीक्षित जी की दृष्टि में चित्र-विधान उस रूप में होना आवश्यक है, जिससे कवि की विशद भावनाओं को एक व्यवस्थित अभिव्यक्ति मिल सके। विशेषकर उस भावना का स्पष्टीकरण तो चित्रों के द्वारा ही होना आवश्यक है, जो कवि का विशेष लक्ष्य रहा है।

यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि दीक्षित जी को चित्र-मीमांसा के कार्य में आशातीत सफलता मिली है। 'चित्र-मीमांसा' की योजना में कितनी गहराई तक वे जा सके हैं, इसे कोई भी तटस्थ आलोचक देख सकता है। प्रत्येक युग की परि-वर्तित भावनाओं, परिवर्त्तन की प्रक्रियाओं और बदलते हुए मापदण्डों का पूर्ण ज्ञान रख कर ही चित्रमीमांसा की रचना की गई है। चित्रमीमांसा में चित्र की व्याख्या दीक्षित जी ने इसी अर्थ में की है। उनकी विचारधारा विभिन्न फलक पर एक दूसरे के साथ इस तरह जुड़े हुए हैं कि हम दीक्षित जी की मीमांसा को तर्कपुष्ट कल्पना कह सकते हैं। इसी अर्थ में संस्कृत साहित्य के अन्य आलोचकों से वे भिन्न प्रतीत होते हैं, जो अपनी आलो-चनाओं में बहुतेरी भावनाओं को कल्पना-शक्ति की नमनीय भीड़ के सहारे एक सीध में बाँधने की कोशिश कर रहे हैं। वे अपनी कई प्रकार की संकर भावनाओं को बलपूर्वक एक साथ नियोजित करते थे।

आत्म-निवेदन

उपर्युक्त विवेचन में विषयपरिवर्तन के साथ ही साथ यत्र-तत्र शैली भी बदलती गई है इसका निदान—अवसर, स्थिति, मनोभावना एवं व्यवस्थाएँ रही हैं। एक बार एक साथ बैठकर यह भूमिकाखण्ड समाप्त नहीं किया जा सका—अवसर और परिस्थितियों के अनुकूल ही इसका निर्माण हुआ है। फलतः मेरी परिवर्तित परिस्थिति का प्रभाव भूमिका में परिलक्षित हो उठा है।

सुधा व्याख्या

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में चित्रालंकार को निम्नकोटि का अलंकार मानकर अप्पय दीक्षित विरचित 'चित्रमीमांसा' को निष्प्रभ करने की अथक चेष्टा की है।

उपर्युक्त समकालीन दोनों महाकवि सुरभारती के शिरोमुकुट कवि माने जाते हैं। भारतीय संस्कृत साहित्य दोनों से गर्वित है। दोनों में परस्पर अमर्ष होने का निदान अनेक सुनने में आता है (द्र० भू० पृ० १६)। वह स्वाभाविक भी हो सकता है। महाकवि भारवि ने भी इस स्वाभाविकता की पुष्टि की है—

'किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया।।'

—किरात

जोधपुर के महामनीषी कवितार्किक श्री धरानन्द पण्डित ने चित्रमीमांसा की अपनी 'सुधा' व्याख्या में अप्पय दीक्षित के मनोगत भावों की विशद रूप में व्याख्या करते हुए पण्डितराज के प्रायः सभी आक्षेपों का ननु—नच से निराकरण कर दिया है, यही इस व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता है।

'सुधा' व्याख्यायुत 'चित्रमीमांसा' का सम्पादन सर्वप्रथम वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित विद्वान् श्री पं० कालिकाप्रसाद जी शुक्ल ने भगीरथ प्रयत्न से किया है। यह उनका प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। प्रस्तुत संस्करण की 'सुधा' व्याख्या की मूलभित्ति शुक्लजी सम्पादित संस्करण ही है। इस महोपकार के लिए मैं उनका असकृत् आभारी हूँ।

हिन्दी व्याख्या

विश्व की भाषाओं में संस्कृत ही एक ऐसी विशिष्ट भाषा है, जिसमें शब्द-निर्माण की अपरिमित क्षमता और असाधारण योग्यता है। उपसर्ग और प्रत्ययों का भेद कर

वह एक मूल शब्द से सैकड़ों शब्द बना सकती है और सबसे एकरूपता बरत सकती है। यह आज की सभी समुन्नत भाषा-गंगाओं की गंगोत्री है। अतः इस भाषा में लिखित लक्षण ग्रन्थों की व्याख्या हिन्दी में करना कितना कठिन है; इसका कोई भुक्त-भोगी विद्वान् ही अनुभव कर सकता है। अनुवादक जिस ग्रन्थ का अनुवाद करता है, उसके सामने सबसे कठिन समस्या यह उपस्थित होती है कि वह जिस पाठकवर्ग के लिए अनुवाद करता है, उसके मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक धरातलों के उत्कर्ष में समन्वय स्थापित करे। 'कूपर' ने 'होमर' का अनुवाद करते समय कहा है—

"My Chief boast is that I have adhered closely to the original."

डॉ० माचवे के अनुसार—'अनुवाद एक कला है। वह निरा भाषान्तर नहीं। वैसा ही निरी भाव-छाया पर आधारित स्वतन्त्र रूपान्तर नहीं। वह तन्त्र विद्या के परकाय प्रवेश जैसा कठिन कार्य है। वह न निरा बहुरूपियापन और न निरा किसी अन्य भाषा का मुखौटा ओढ़ लेना ही है।'

संस्कृत में अप्पय दीक्षित के चित्रमीमांसा जैसे अर्थ-गर्भ ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या करते समय अर्थवत्ता बोध के अवस्थान की समस्या ही सर्वप्रथम अनुवादक के सामने उपस्थित होती है। येनकेनोपायेन यदि इस समस्या का निराकरण भी हो जाता है, तो मूल रचना के सर्वाङ्ग बोध के लिये, उसके सम्प्रेषण की समस्या उपस्थित होती है। इस समस्या के समाधान में शब्दों का पूर्णज्ञान, उनकी विशिष्ट-प्रवृत्तियाँ, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ और सशक्त संस्कार के ज्ञान की अपेक्षा होती है। रचना या रचनाकार के प्राणों को हृदयंगम करने के लिए भाषा के हर शब्दविन्यास और ध्वनि-प्रतिमान के समग्र संपेषण की सफलता मानी जाती है। पता नहीं, इस कसौटी पर प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या कहाँ तक खरी उतर सकी है।

भारती

काशी में रसगंगाधर अध्ययन के समय से ही दीक्षितजी की 'चित्रमीमांसा' पर पण्डितराज के आक्षेपों को पढ़कर उभय महाकवियों के विचारों का हिन्दी भाषा में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की भावना जाग्रत थी। इसके लिए मैं सतत अध्ययनशील रहकर कुछ लिखता भी रहता था। एक समय श्रद्धेय **डॉ० जयमन्त जी मिश्र,** अध्यक्ष संस्कृत विभाग, बिहार विश्वविद्यालय के समक्ष मैंने अपनी एक रफ पाण्डुलिपि उपस्थित की। डॉ० साहब ने सर्वतोभावेन उसका समर्थन किया और कहा— 'इसके प्रकाशन के लिए 'काशी मिथिला ग्रन्थमाला' के सुप्रख्यात सम्पादक, सुरभारती के अटल व्रती **श्री पं० रामचन्द्र जी झा** से मिलिये। अर्थविमुख उन तपस्वी विद्वान् का सारा जीवन इसीमें व्यतीत हो रहा है। 'चौखम्बा-प्रकाशन' के माध्यम से उन्होंने

सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन किया और करवाया है। तदनुसार मैंने झाजी से सम्पर्क स्थापित किया। झाजी चित्रमीमांसा की पाण्डुलिपि को देखते ही उत्फुल्ल हो उठे और उन्होंने अविलम्ब उस पाण्डुलिपि को प्रेस में देकर यन्त्रस्थ करवा दिया।

काशी में अध्ययन के समय से ही झाजी का स्नेह और वात्सल्य मेरे ऊपर व्याप्त रहा है। न जाने क्या समझ कर उन्होंने मेरी इस प्रथम कृति का नाम **'भारती'** (सरस्वती) रख दिया। चित्रमीमांसा के माध्यम से मैं झाजी के अधिक निकट होने लगा और उनके आदेशानुसार अनेकों वार मुझे काशीपति भगवान् शंकर के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और हो रहा है।

एक दिन झाजी का एक आकर्षक छपा निमन्त्रण पत्र मिला, उसमें लिखा था—

'श्रीमोहनांशुललिताज्जगदीशचन्द्रा-
श्चियंत्सुधासु वसुधा-सुषमासमृद्धो ।
'श्रीभारतीं' परिणयन् प्रियमैथिलीं नः
कल्याणमाकलयता**'मवधेश'** एषः ॥'

× × × ×

'बी. एस-सी. विख्यात वर तथा समधि समतूल ।
भेटत केकरहु पुण्य सँ वर वधूक अनुकूल ॥
बिना दहेजक पावि सुवर हर्षित मन हम सब ।
करब सुतक उपनयन सुता-परिणयन महोत्सव ॥
माघमास सित पक्ष सुतिथि दशमी भृगुवासर ।
अपने आबि सबन्धु सुशोभित करी हमर घर ॥'

मैंने मिथिलामही-मनीषी श्री झाजी के मनोरथ को अपना वरदान ही समझा। निमंत्रण पत्र के अनुसार ५ फरवरी १९७१ को मैं वाराणसी के प्रकाण्ड विद्वन्मण्डली के समक्ष झाजी की द्वितीया दुहिता सौ० **'भारती'** को अपनी प्रथम पुत्रवधू के रूप में पाकर कृतकृत्य हो गया।

आभार-प्रदर्शन

काशी के लब्धप्रतिष्ठ शाब्दिकप्रवर पूज्यचरण श्री पं० शुकदेव जी झा, प्रधानाचार्य—डी० ए० वी० संस्कृत कालेज वाराणसी, जिनके चरण-तल में बैठकर मैंने शब्द-शास्त्र का यथावत् अध्ययन किया है तथा साहित्यदर्पण, कादम्बरी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सफल व्याख्याकार महामनीषी महर्षि गुरुवर श्री पं० कृष्णमोहन शास्त्री अध्यक्ष, रणवीर संस्कृत विद्यालय—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, का मैं अतिशय कृतज्ञ हूँ, जिनके अमोघ आशीर्वचन और दिग्दर्शन से यह कार्य पूरा हुआ है।

इस ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण करने में मुझे स्व० श्री पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी तथा डॉ० 'हीरा' एवं डॉ० सत्यव्रत सिंह आदि अनेक विद्वानों की कृतियों से प्रचुर सहायता प्राप्त हुई है, इसके लिये मैं उन मनीषियों का विशेष आभारी हूँ।

'भारती' व्याख्या की पाण्डुलिपि तथा संशोधित प्रेसकापी तैयार करने में अपने ज्येष्ठ पुत्र चि० अवधेश कुमार (बी० एस-सी० के छात्र) ने जो सहयोग दिया है उसके लिए उसका भी आशिषाभिनन्दन करता हूँ। प्रस्तुत कृति के समापनपर मैं अपनी आत्मजा सौ० अपराजिता (कक्षा ११) का भी अभिषेक करना नहीं भूलूंगा, जिसकी हस्तप्रज्वलित दीप-शिखा के आलोक में तथा ईषद् उद्वेलित व्यजन के सुखद समीरण में एक माह के अन्दर ही इस कृति की 'अथ' से 'इति' हो गयी।

प्रकाशक बन्धुओं की कृपा का जितना भी उल्लेख किया जाय थोड़ा ही होगा। चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन के प्रमुख संचालक बन्धुद्वय श्री बाबू मोहनदास जी गुप्त तथा श्री बाबू बिट्ठलदास जी गुप्त की कृपा इसी तरह बनी रही तो निकट भविष्य में ही 'हिन्दी मुद्राराक्षस' और तदनु एक से एक दुर्लभ ग्रंथ प्रस्तुत करता रहूँगा।

अन्त में आज रक्षिकाबन्धन के इस पवित्र श्रावणी ब्राह्मण-पर्व पर मैं अपने विद्वान् पाठकों के करकमलों में रक्षासूत्ररूपी इस कृति को अर्पित कर शुभकामना प्रकट करता हूँ—

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे माचल मा चल ॥'

इत्यलम्।

'सन्त हंस-गुण गहहिं पय परिहरि वारि-विकार'

श्रावणी पूर्णिमा
वि. सं. २०२८

विदुषां वशंवदः—
—जगदीशचन्द्र मिश्रः

विषय-प्रवेशः

विषय-सूची

हिन्दी

चित्रमीमांसा

टीकाकर्तृ-मङ्गलम्

मन्दारहार-विगलन्मकरन्दमिश्र-
दानाम्बुपानरसिकालिकुलाङ्गनानाम् ।
गीतामृतेन सह मोदकमाददानो
मोदान्नवान् वितनुतां गणनायको नः ॥

(२)

अप्पय्यदीक्षितवचो नितरां गभीरं
अल्पश्रुतस्य मम दुर्ललितोऽभिलाषः ।
आहर्तुमिन्दुमवनीतलसंस्थितस्य
हस्तप्रसारणमिदं निगदन्ति सन्तः ॥

(३)

दुर्बोधदीक्षितगिरो रुचिरार्थभाने
भूयान् मनागपि नहि स्खलनं कदापि ।
इत्याकलय्य हृदि भारति ! सानुकम्पं
निष्कम्पमर्पय पदं मतिमन्दिरे मे ॥

(४)

निर्यद्-रसप्लवनपिच्छिलवर्त्म वाच-
श्चिन्वन्ति येऽपि कृतिनो निभृतं प्रयातुम् ।
तेषां शिरस्यखिलविघ्नमहातपस्य
बाधां विधूनयतु काचन मेघमाला ॥

(५)

चन्द्रन्ति चेतसि कला ललितानि सद्यो
यत्पादपङ्कजरजांसि रजोहराणि ।
अन्तःस्थितान्यपि तमांसि बहिः क्षिपन्ति
तं '**कृष्णमोहन**' गुरुं सततं नमामि ॥

हिन्दी

चित्रमीमांसा

व्याख्याकार

श्री जगदीशचन्द्र मिश्र

टीकाकर्तृमङ्गलम्

ॐ धीं धामप्रचेतिन्यै शब्दब्रह्मस्वयंभुवे ।
भगवत्यै सरस्वत्यै भूयो भूयो नमो नमः ॥

(२)

ज्ञान-विज्ञान-जीवन्ती सारिणी भयहारिणी ।
शरणं मे परं भूयाद् मतिमाता सरस्वती ॥

(३)

विद्याम्बुधिः क्व गम्भीरः क्वायं हीनप्रभो जनः ।
तरङ्गोत्तोलितस्य स्याः सहाया देवि मे सदा ॥

(४)

शिवाशिवतनूजोऽपि त्रिलोकीशिवकारकः ।
वक्रतुण्डोऽपि सुमुखो यस्तं वन्दे गणाधिपम् ॥

(५)

चन्द्रन्ति चेतसि कला ललितानि सद्यो
यत्पादपङ्कजरजांसि रजोहराणि ।
अन्तःस्थितान्यपि तमांसि बहिः क्षिपन्ति
तं 'कृष्णमोहन' गुरुं सततं नमामि ॥

॥ श्रीः ॥

चित्रमीमांसा

विमलविमर्शोपेत 'भारती' हिन्दीव्याख्याविभूषित-
'सुधा' व्याख्यासमलङ्कृता

अथ ग्रन्थारम्भप्रकरणम्

अभिवन्द्य चन्द्रशेखरमाद्यं गौरीसखं परं ज्योतिः।
वितनोमि विपुलविषयां विशदार्थामर्थचित्रमीमांसाम् ॥

(भारती)

सर्वप्रथम जिनके मस्तक पर चन्द्रमा हैं तथा जो गौरी के सखा हैं एवं परम ज्योति स्वरूप हैं, ऐसे भगवान शंकर की वन्दना कर विपुल विषयों से संवलित विस्तृत अर्थयुत 'अर्थचित्रमीमांसा' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

विमर्श—ग्रन्थ आरंभ करने के पूर्व ग्रन्थकार ग्रन्थपरिसाप्ति-प्रतिबन्धक विघ्नों का समूल उन्मूलन करने के लिए अपने एकमात्र आराध्य शंकर की स्तुति कर रहे हैं; जो ग्रन्थकारों और ऐसे काव्यात्मक ग्रन्थों की उपासना के सर्वथा योग्य हैं। कोई भी ग्रंथकार वस्तु अथवा भाव के सहारे काव्य-रचना करते देखे जाते हैं। अभिधा तो अभिव्यक्ति की सर्वसुलभ शैली है ही, लक्षणा की पहुँच भी अलङ्कारों को ही छूती है; भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति व्यंजना की अनिवार्यता पर निर्भर है। यों तो व्यंजना अभिव्यंजनामात्र को अलंकार के आवरण में सरस सुन्दर बना देने की क्षमता स्वतः रखती ही है। अलंकार उभयनिष्ठ है। अतः उसे आप वाच्य-वस्तु अलंकार कहें या व्यंग्य-वस्तु अलंकार। दोनों ही स्थिति में अलंकार की शक्ति ध्वनि की पृष्ठभूमि पर अधिक वेधक सिद्ध होती है। प्रस्तुत मंगलाचरण में इन तीनों का समावेश किया गया है, जिस कारण एकतालीस अक्षरों का यह छन्द अर्थचमत्कार में अलंकार की पृष्ठभूमि पर ध्वनि-प्रतिध्वनियों से परिपूर्ण संगीत-समारोह सा आकर्षक हो उठा है।

मूलस्थ 'चन्द्रशेखरम्' विशेषण से यह ध्वनित होता है कि भगवान शंकर स्वयं शृंगार-स्वरूप हैं। अतः रसोपयोगी हैं; क्योंकि चन्द्रमा का शृंगारी स्वरूप ही अभिव्यक्त होता है। 'आद्यम्' शब्द भी अपने अन्य पर्यायवाची शब्दों से अधिक भावप्रवण है, क्योंकि प्रथम कहने से 'शिव' की प्राथमिकता झलकती; प्रारंभ कहने से विघ्न-विघातक देवों के बीच विघ्न-

विनाशक ही समझा जाता; किन्तु आदि शब्द से सर्वकार्यों के आदि कारण स्वरूप लहराते अर्थ से जैसे केवल मूर्त्तिमान विघ्न-विघातक स्वरूप हीं आँखों में भासित हो जाता है। अर्थात् काव्य-स्वरूप के निरूपण में संभावित त्रुटि, ग्रंथ-प्रतिपादन प्रकार में शिथिलता तथा सिद्धान्तस्थापन में असमर्थताजन्य विघ्नों का समूलोन्मूलन करने के लिए उन्हें आदेश किसी ने नहीं दिया, विवश नहीं किया, वल्कि; लोक-मंगल की सहज इच्छा जैसे उनकी अपनी प्रकृति है, वैसे ही सभी कार्यों के आदि कारण होने के नाते ग्रन्थ परिसमाप्ति-स्वरूप कार्य में नियंत्रक आदि कारण के रूप में यहाँ अभिव्यक्त हुए हैं। भगवान शंकर के शृंगारी-स्वरूप के पोषक दूसरा विशेषण 'गौरीसखं' है। वैसे यह शब्द विशेष्य के समान जान पड़ता है। किंतु यहाँ यह विशेषण है। यह शब्द भगवान शंकर के अनेक नामों में से एकनाम मात्र की भाँति प्रयोग में नहीं आया है। इसका कुछ विशिष्ट तात्पर्य है। इसमें एक चमत्कारी ध्वनि है। काम देव का विध्वंस करने के वाद ही गौरी के साथ भगवान शंकर का पाणि-ग्रहण हुआ और उसके वाद ही शंकर का नाम गौरीसखा पड़ा। इस प्रकार यह (गौरीसखा) नाम अपने चार अक्षरों में एक सम्पूर्ण इतिहास समेटे हुए है। यहाँ इसके प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि लोक-मंगल के लिए भगवान शंकर ने महाशक्ति-स्वरूप गौरी को ग्रहण किया है। सखा कथन से दोनों के साथ अभेद सम्पर्क स्थापित होता है और साथ ही गौरी का स्वाधीनपति का स्वरूप भी अभिव्यंजित होता है। शिव-पुराण में गौरी को अखिल शब्दस्वरूप तथा भगवान शंकर को अर्थस्वरूप माना गया है—

शब्दस्वरूपमखिलं धत्ते शर्वस्य वल्लभा। अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते बालेन्दुशेखरः॥

महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त ने भगवती का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है—

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके सकल शब्दमयी किल ते तनुः।

कविकुल गुरु कालिदास ने भी अपनी अमर कृति 'रघुवंश महाकाव्य' के मंगलाचरण में शिव-पार्वती के इसी रूप का चिन्तन किया है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

आचार्य मम्मट ने भी शब्द और अर्थ को ही काव्य का स्वरूप माना है। अतः इसी अभिप्राय की रक्षा या निर्वाह करने के लिए इस मंगलाचरण में ग्रंथकार ने विघ्न विनाशार्थ शब्दार्थ-स्वरूप गौरीशंकर का ध्यान किया है। पारिभाषिक शब्दों में इसे 'अर्थशक्ति मूलक अनुरणन-रूप स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुध्वनि' कहा जायगा।

शंकर के इस शृंगारी रूप के अतिरिक्त उनके पारमार्थिक स्वरूप भी हैं, इसके लिए ग्रन्थकार ने अन्य विशेषण 'परम् ज्योतिः' का प्रयोग किया है। परम् अर्थात् दिव्य, ज्योति अर्थात् प्रकाश-स्वरूप भगवान शंकर हैं।

अर्थात् नित्य बोध-स्वरूप एक आत्मा की सत्ता से ही सम्पूर्ण जड़-वर्ग प्रकाशित होता है। यहाँ 'परं ज्योतिः' के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि परम दिव्य स्वरूप होते हुए भी भगवान शंकर ने लोक-मंगल के लिए यह पहली वार शृंगारी रूप धारण नहीं किया, प्रत्युत यह उनकी पुरातन प्रकृति है। सृष्टि संचालन के लिये युग के अनुरूप शृंगारी-रूप की अभिव्यक्ति में उन्हें अपनी महाशक्ति का विराट् प्रदर्शन करना पड़ता है। यह उनकी युग-युगकी कहानी है—**'संभवामि युगे-युगे।'**

ग्रन्थ के नामकरण के संदर्भ में शब्दचित्र का प्रायः नीरस होने के कारण ग्रन्थकार ने अर्थचित्र का ही उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट का अवर काव्य आनन्दवर्धनाचार्य का चित्र काव्य है। ध्वन्यालोक में चित्रकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते। काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥

अर्थात्, व्यंग्य अर्थ की विवक्षा से शून्य जो काव्य है, वही चित्रकाव्य है। इसके दो भेद हैं— पहला शब्द चित्र-काव्य, दूसरा अर्थ चित्र-काव्य। इसका चित्रकाव्य नाम इसलिए रखा गया है कि इस काव्य में अंतरतत्त्व का एकान्त अभाव ही रहा करता है। यह काव्य चित्र की तरह निर्जीव हुआ करता है। चित्र किसी वस्तु की प्रतिकृति मात्र है न कि उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में चित्रकाव्य के संदर्भ में लिखा है—

'ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।'

अर्थात्, रस और भाव के तात्पर्य से रहित तथा किसी प्रकार के व्यंग्य-विशेष के प्रकाशन में असमर्थ काव्य को ही चित्रकाव्य कहते हैं। यह केवल शब्द और अर्थ की विचित्रतामात्र के लिए चित्र की तरह निर्मित होता है। आचार्य आनन्दवर्धन इस प्रकार के काव्य को काव्य का अनुकारण ही मानते हैं।

'न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ' अर्थचित्र काव्य के उदाहरण स्वरूप आचार्य मम्मट इस श्लोक को उद्धृत किया है—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

इस श्लोक में कवि की उत्सुकता एकमात्र अमरावती को एक भयनिमीलितनयना नायिका के रूप में चित्रित करने में है। इस श्लोक में इन्द्र के उत्साह की अपेक्षा उनके शत्रु हयग्रीव का उत्साह ही अभिव्यक्त हुआ है। अतः इसे वीररस की अपेक्षा वीर रसाभास कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इस श्लोक में कवि का हृदय एकमात्र उत्प्रेक्षा में लगा है। इसमें वह चमत्कार कहाँ, जो एक उत्प्रेक्षा में होता है? इसलिए श्रोता सहृदय को इस श्लोक में अर्थचित्र की ही अनुभूति होती है।

ग्रन्थान्तर की अपेक्षा इस ग्रंथ में अधिकता या न्यूनताजन्य दोष निवारण के लिए 'विपुल विषयां' विशेषण का प्रयोग किया गया है। विपुल अर्थात् महान् विषयनिरूपणीय अर्थ है जिसका; ऐसा यह ग्रंथ है। व्याख्यातव्य विषय में संकीर्णता दोष निवारण के लिए ही विशद शब्द का प्रयोग किया गया है। इस श्लोक के अर्थसंदर्भ के भीतर से छेकानुप्रास अलंकार ध्वनित होता है। यथा—

वर्णसाम्यमनुप्रासश्छेकवृत्तिगतो द्विधा। सोऽनेकस्य सकृत्स [पू] र्वः।

'गौरीसखं' इससे अभिव्यक्त शिव-पार्वती के प्रति कविगत रतिभाव की देवताविषयक भाव ध्वनि प्रतीत होती है। इस श्लोक में प्रसाद गुण है और कोमला वृत्ति है। प्रकाशकार ने भी लिखा है—

'साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः। कोमला परैः वृत्तिः।

छन्द-शास्त्र के अनुसार इस मांगलिक श्लोक का छन्द गीति है। यथा—

आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः॥

यहाँ सुधा टीकाकार ने इसी मंगल श्लोक में अर्थभिन्नता के द्वारा अर्थचमत्कार का वर्णन किया है। उन्होंने इसी श्लोक में शब्द-शक्ति की महिमा से अर्थान्तर की ध्वनि का प्रतिपादन किया है तथा 'परम अभिवन्द्य' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि पिपर्ति अर्थात् पालयतीति की व्युत्पत्ति से परम का अर्थ परमेश्वर हुआ। पुनः ये परमेश्वर कैसे हैं ? ज्योतिः अर्थात् सूर्यादिवत् प्रकाश-स्वरूप हैं। और ऐसे ही परमेश्वर की प्रकृति के उपयुक्त—'गौरीसखं'—इस विशेषण की भी व्याख्या की है। गौरः वर्णो यस्याः सा गौरी, गौरादिपाठ से ङीप् प्रत्यय किया गया है। गौरी अर्थात् अत्यन्त गौरवर्ण। सुधाकार अप्पयदीक्षित ने चन्द्रशेखर की भी व्याख्या परमेश्वर के पक्ष में दूसरे ही ढंग से की है। यथा—

'स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ' अर्थात् चन्द्र के पर्यायवाची शब्द स्वर्ण को मानकर सुवर्णमय मस्तक का आभरण है जिनका, ऐसे दिव्य परमेश्वर की अभिवन्दना कर अर्थचित्रमीमांसा की रचना करता हूँ—ऐसा अर्थ दीक्षित ने प्रतिपादित किया है। दूसरे अर्थों में शृंगार को रसों का प्रधान मानते हुए उसे ब्रह्मस्वरूप मानकर **'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति—'** इस आधार पर शृंगार को ही कवि ने ब्रह्मस्वरूप में अभिवन्दना की है। इस पक्ष में 'आद्यम्' का अर्थ सभी रसों में प्रथम लिया गया है तथा परम का तात्पर्य प्रधान से है। गौरी को नायिका के रूप में चित्रित किया गया है। तथा उनके सखा भगवान शंकर को आलंबन-रूप में अभिव्यक्त किया गया है। चन्द्रशेखर विशेषण का प्रधान भूत अर्थ ही रखा गया है। ऐसे शंकर अभिवादन के योग्य हैं, अतः ज्योति विशेषण का प्रयोग हुआ है। ज्योति से तात्पर्य ब्रह्म का है। और ब्रह्म से सम्बन्ध रस का है। यद्यपि वाच्यार्थ की दृष्टि से शिव पक्ष ही अधिक प्रतिभासित होता है, फिर भी यहाँ व्यंजना शक्ति को नहीं भुलाई जा सकती। आचार्य अप्पयदीक्षित ने अलंकारशास्त्र के श्रीगणेश वाले इस अर्थ-चित्रकाव्य के प्रथम पद्य में ही, उपर्युक्त प्रकार से ग्रंथ भर में निरूपित होने वाली ध्वनि के तीनों रूप वस्तु, अलंकार और रस को प्रतिष्ठित कर दिया है।

इस ग्रंथ में निरूपणीय अलंकारों के आश्रयभूत काव्य का भेद ग्रंथकार ने लिखा है। किस विशिष्ट स्थिति में कोई वाक्य काव्य कहलाने का अधिकारी हो जाता है, इस पर पूर्ण विचार हो चुका है। कोरे वाक्य को कोई काव्य नहीं कहता। अलंकृत वाक्य को काव्य मान लेने पर भी अलंकार को लेकर चलने वाले वाद-विवाद की कोई कमी नहीं। क्योंकि अलंकार शास्त्र को ध्वनिशास्त्र की अपेक्षा है। अतः अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों की कथा—'हरि अनंत हरि कथा अनन्ता' की तरह सर्वविदित है। यही कारण है कि अप्पयदीक्षित ने काव्य की लक्षण, परिभाषा किए बिना ही उसके भेद कथन पर उतर आए हैं। जबकि सुधा व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में प्रसंगवश मम्मटोक्त परिभाषा की काली व्याख्या उपस्थित की है। अस्तु, यहाँ काव्य-भेद निरूपित करते हुए मूल में दीक्षित आगे लिखते हैं—

(सुधा)

यदर्द्धाङ्गं नारी विलसति परा कान्तिरुचिरा,
पराङ्गं पुंरूपं जयति च जटाजूटरुचिरम्।

सदा शृङ्गारित्वं वहति वपुषैवं त्रिभुवने,
नमस्तस्मै कस्मैचिदखिलविवर्ताय महसे ॥ १ ॥

नत्वा गुरुं कृपासिन्धुं पित्रोश्च चरणद्वयम् ।
करोमि चित्रमीमांसाव्याख्यां विद्वन्मुदे सुधाम् ॥ २ ॥

ज्ञात्वा मया विरचितं स्फुटलक्षणाना-
मर्थं यथामति गभीरतरं स्वबुद्ध्या ।
व्याख्या कृता यदिह काऽपि सदोषता स्यात्
तत्रापि भूषणकृतिः सुधियां विधेया ॥ ३ ॥

तत्रार्थचित्रमीमांसां करिष्यमाणोऽप्पयदीक्षितः प्रारिप्सितप्रतिबन्धकविघ्नविघाताय—

'शब्दस्वरूपमखिलं धत्ते शर्वस्य वल्लभा । अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते बालेन्दुशेखरः' ॥

इत्यादिनोक्तरूपं शिवयोरनुसन्धानात्मकं मङ्गलाचरणं विरचयन् स्वकीयग्रन्थस्य नाम निबध्नंश्च प्रतिजानीते—अभिवन्द्येति । चन्द्रशेखरमभिवन्द्यार्थचित्रमीमांसामहं वितनोमीत्यन्वयः । चन्द्रः शेखरे यस्य 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति व्यधिकरणबहुव्रीहेर्ज्ञापनात् समासः । अत्र चन्द्रस्य शृङ्गारे उद्दीपनविभावतया तदाश्रयतया शिवस्य शृङ्गारित्वं ध्वन्यते । एतस्य पदस्यापि परेभ्यस्तत्पर्यायेभ्यो नितरां रसोपयोगित्वञ्च व्यज्यते । तमभिवन्द्य=स्वावधिकोत्कर्षप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारविषयीकृत्य । एतेन नमस्कारात्मकं मङ्गलं सूचितम् । तत्त्वञ्च विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति प्रारिप्सितविघ्नध्वंसासाधारणकारणत्वम् । जन्यस्येव कार्यरूपतां प्रतिषेधयन् कारणतां प्रतिपादयति—आद्यमिति । सर्वकार्याणामाद्यं कारणमित्यर्थः । शृङ्गारित्वपोषकविशेषणमारचयति—गौरीसखमिति । गौर्याः सखा इति विग्रहे 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्ययः । सखित्वकथनेन द्वयोस्साहचर्यस्य सर्वदा सत्त्वाद् गौर्याः स्वाधीनपतिकात्वं व्यज्यते । पारमार्थिकतद्रूपकथनाय विशेषणान्तरमाह—ज्योतिरिति । द्योतत इति ज्योतिस्तद्रूपमित्यर्थः । औपाधिकभेदवत्त्वात्मन्यतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम्—परमिति । तद्राहित्ये तु लक्षणगमनं न दोषाय ।

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य नाम निबध्नाति—अर्थचित्रमीमांसामिति । मीमांसितुमिच्छा मीमांसा, स्वार्थसन्नन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इत्यप्रत्ययः । शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वादर्थचित्रस्य मीमांसा । 'षष्ठी' इति सूत्रेण समासः । अलंकृत्युपमादिप्राधान्येन तस्य चमत्कारोपयोगित्वात् । अत एव—'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् । ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती' ॥ इत्यादावुत्प्रेक्षाप्राधान्येनैवार्थचित्रत्वमिति प्रकाशकारा वदन्ति ।

रसगङ्गाधरकृतस्तु—उत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदात् काव्यं चतुर्विधमङ्गीकृत्य द्वितीयतृतीययोर्भेदयोर्जागरुकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरखिलालङ्कारप्रधानकाव्यस्य प्रविष्टतामाहुः । ग्रन्थस्येतरग्रन्थेभ्योऽधिकतान्यूनतादोषञ्च निराकरोति—विपुलविषयामिति । विपुलो महान् विषयो निरूपणीयोऽर्थो यस्यां सेति विग्रहः । व्याख्यातव्यार्थानामसङ्कीर्णतामाह—विशदेति । विशदोऽतिस्फुटोऽर्थो यस्यामिति विग्रहः । वितनोमि=विस्तारयामि । तनोतेरेव विस्तारे शक्तिः, विपदं द्योतकमेव, निपातानां प्रादीनामु-

पसर्गाणां च द्योतकत्वाभ्युपगमात् । छेकानुप्रासोऽत्र शब्दालङ्कारः, 'वर्णसाम्यमनुप्रासश्छेकवृत्तिगतो द्विधा । सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः'। इति तल्लक्षणात् गौरीसखमित्यनेनाभिव्यज्यमाना शिवयो रतिः कविगतां रतिं पुष्णातीति देवताविषयकभावध्वनिः। प्रसादो गुणः । 'अतिमात्रेण शब्दानां यत्रार्थप्रत्ययो भवेत् । साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः'॥ इति प्रकाशोक्तेः। कोमला वृत्तिः, 'कोमला परैः' इति लक्षणात्। गीतिरत्रच्छन्दः । 'आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः । दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः" ॥ इति लक्षणात्।

सगणस्य दुष्टफलत्वेऽपि भद्रवाचकत्वेन न दोषः।

'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' ॥ इत्युक्तेः।

किञ्च, अनेनैव श्लोकेन शब्दशक्तिमहिम्नार्थान्तरयोरपि ध्वनिः प्रतिपाद्यते । तत्र शृङ्गारस्य विष्णुदेवताकतया काव्यस्यैव वा तत्स्वरूपतया तमपि नमस्करोति । परमभिवन्द्येत्यन्वयः। पिपर्ति पालयतीति व्युत्पत्त्या परमेश्वरम्। कीदृशम् ? ज्योतिः= आदित्यादिप्रकाशकम् । तस्य प्रकृतोपयोगिविशेषणमाह—गौरीसखमिति। गौरो वर्णोऽस्त्यस्याः, गौरादिपाठात् ङीप् । रूढ्या पार्वतीपरत्वेऽपि ध्यानादौ लक्ष्म्या गौरवर्णस्य प्रसिद्धत्वाद्योगेन श्रीपरत्वेऽपि दोषाभावात् । तस्याः सखेति पूर्ववत्समासः। शोभाप्रत्यायकविशेषणमाह—चन्द्रशेखरमिति । 'स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ' इति चन्द्रः स्वर्णः सुवर्णमयः शेखरो मस्तकाभरणं यस्य तं परमेश्वरमभिवन्द्य नमस्कृत्यार्थचित्रमीमांसां वितनोमीत्यन्वयः ।

किञ्च शृङ्गारस्यापि रसस्य रसेषु प्रधानतया तस्य ब्रह्मरूपतया तदभिवन्दनमप्यावश्यकमित्यतस्तत्पक्षं प्रतिपादयति—आद्यं सर्वेषु रसेषु प्रथमं परं प्रधानम् , शृङ्गं प्राधान्यमियर्तीति व्युत्पत्त्या तस्य प्राधान्यात्। गौरी नायिका, तस्याः सखा, तदालम्बनत्वेन तदुत्पत्त्या सखित्वाभिव्यक्तिः । तथा चन्द्रः शेखर उद्दीपनतया प्रधानभूतो यस्येति । तस्याभिवन्दनयोग्यत्वद्योतकं विशेषणमाह—ज्योतिरिति ब्रह्मरूपमित्यर्थः, अलौकिकानन्दरूपत्वात् , 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति श्रुतेश्च। यद्यपि वाच्यार्थतया शिवपक्षः एव भासते तथापि व्यञ्जनया तदुपस्थितिः। 'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्" ॥ इति प्रकाशकृदुक्तेरिति दिक्।

(चित्रमीमांसा)

त्रिविधं तावत्काव्यम् , ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रभेदात् ।

(भारती)

प्रथम वाक्यालंकार में काव्य तीन प्रकार के होते हैं। काव्य का पहला भेद ध्वनि दूसरा गुणीभूत व्यंग्य तथा तीसरा चित्र काव्य है।

विमर्श—इसी ध्वनिकाव्य को मम्मट ने उत्तम-काव्य के रूप में प्रतिपादित किया है। क्योंकि यह वही काव्य है, जिसमें कवि की रसयोजना और सहृदय की रसभावना; दोनों का रहस्य स्पष्टतया संवेद्य हुआ है। शब्द और अर्थ के गुणीभाव और रसाङ्ग-भूत व्यापार प्रवणता

की पहचान इसी काव्य में की जाती है। मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य-काव्य को मध्यम काव्य माना है। किंतु आचार्य आनन्दवर्धन गुणीभूत व्यंग्य काव्य के सौन्दर्य-रहस्य से पर्याप्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में गुणीभूत व्यंग्य का सौन्दर्य काव्यसाहित्य का एक व्यापक सौन्दर्य है। काव्य के ध्वनि-रूप प्रकार में, रसादिरूप व्यंग्यार्थ की अनुभूति में और इसके गुणीभूत व्यंग्य प्रकार में रसादि रूप व्यंग्यार्थ से विशिष्ट वाक्य सौंदर्य के द्वारा रसानुभूति में सहृदयता का तारतम्य उचित या उपर्युक्त नहीं। रसविवक्षा से औचित्यपूर्ण अलंकार योजना तो ध्वनि काव्य का सौंदर्य है ही, किन्तु व्यंग्यांश संस्पर्श से अतिशय रमणीय अलंकार योजना भी एक अतिरिक्त ही सौंदर्य है और इस सौंदर्य की दृष्टि में गुणीभूत व्यंग्य-रूप काव्य प्रकार की अनुभूति सहृदयहृदयसंवेद्य है। आनन्दवर्धनाचार्य की दृष्टि में गुणीभूत व्यंग्य रूप काव्य-प्रकार मध्यम श्रेणी के कवियों की मात्र कृति नहीं है, बल्कि यह काव्य भी ध्वनि का ही एक निष्पन्द स्वरूप है। ध्वनि के निष्पन्द से यहाँ तात्पर्य यह है कि अनन्त-भेद-भिन्न काव्य-बंधुओं को गुणीभूत–व्यंग्य रूप काव्य में समन्वित करना काव्य–रसिकों और काव्य तत्त्व-मर्मज्ञों की एक संविदा है, क्योंकि बिना इसके सहृदयों और आलंकारिकों के लिए प्रत्येक काव्यबंध का पृथक्-पृथक् रूप से स्वरूपनिरूपण अशक्य ही है। ध्वन्याचार्यों की दृष्टि में जहाँ गुणीभूत काव्यों का इतना अधिक महत्व है, वहाँ मम्मट ने इसे मध्यम काव्य कहकर इसके लिए निम्नतर का बोध कराया है। संभवतः ध्वनिवाद की दृष्टि से काव्य की विभाग-व्यवस्था, ध्वन्यालोक में जो रहस्य सा रह गया था, या यों कहें इसमें जो काव्य-साहित्य के लाभ की दृष्टि से गुणीभूत व्यंग्य काव्य में ध्वनिकार का जो सौंदर्य-रहस्य तिरोहित था, काव्य-मीमांसा के लाभ के लिए मम्मट ने इस रहस्य को उत्तम और मध्यम काव्य के रूप में ही प्रकारनिरूपण करना उचित समझा। दूसरी बात; आलंकारिक आचार्यों ने भी इसी गुणीभूत व्यंग्य काव्य के रहस्य को व्यक्त करने के लिए रसवत् प्रेय आदि अलंकारों की कल्पना की है। एक बात और स्पष्ट प्रतीत होती है कि चित्र-काव्य के विषय-विभाग के स्पष्टीकरण हेतु ही मम्मट ने यह आवश्यक समझा कि गुणीभूत व्यंग्य काव्य को मध्यम काव्य का नाम दे दिया जाय। स्पष्ट है, आचार्य मम्मट ने विभाग-व्यवस्थापन के लिए उन्हें मध्यम काव्य कहा है।

जहाँ तक चित्र-काव्य का प्रश्न है, आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने इस काव्य में रस-विवक्षा का अभाव माना है और इन्हीं दोनों आचार्यों की मान्यता के आधार पर मम्मट ने चित्र-काव्य को अवर-काव्य की संज्ञा दी है। 'ध्वन्यालोक' तथा उसकी टीका 'लोचन' में इस अवर-काव्य का अवान्तर भेद कहीं निरूपित नहीं किया गया है। स्पष्ट है, ध्वनिकार और लोचनकार को चित्र-काव्य का यह प्रकार-परिच्छेद अभिमत नहीं था। किंतु आचार्य मम्मट ने इस काव्य के प्रकार निरूपण में समस्त शब्दालंकारों, अर्थालंकारों और उभयालंकारों का जो परिगणन और विवेचन किया है, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि इस सम्बन्ध में जितनी साफ थी; उतनी ही समन्वयवादी भी। जो वस्तु अवर होती है, वह निषिद्ध भी होती है; किन्तु चित्र काव्य किसी भी स्थिति में निषिद्ध नहीं। निषिद्ध तो दुरुपयोग है। किंतु औचित्य की परिधि में चित्र-काव्य का उपयोग है। संभवतः इसी उपयोग की दृष्टि से ध्वनिकार ने इसे अवर काव्य नहीं कहा है।

ग्रंथकार ने काव्य के इस त्रिविध भेद में उसका प्रथम भेद अर्थात् ध्वनिकाव्य का लक्षण मूल में इस प्रकार लिखा है—

(सुधा)

अथ निरूपणीयानामलङ्काराणामाश्रयभूतं यत्काव्यं तस्य विभागमाह—त्रिविधमिति । तावदिति प्राथम्येऽव्ययम् , वाक्यालङ्कारे वा । काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेरसाधारणं वर्णनात्मकं कर्म । तद् ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्रभेदात् त्रिविधमित्यनुषङ्गः । यद्यप्यत्र काव्यलक्षणमन्यत्र प्रसिद्धत्वान्न विचारविषयीकृतं तथापि सर्वोपकारकत्वात् प्रकृतोपयोगित्वादलङ्काराणामपि तदुत्कर्षाधायकत्वादस्माभिर्विचार्यते—शक्तिलक्षणाव्यञ्जनात्वावच्छिन्नान्यतमत्वविशिष्टोपनागरिकादिरीतिमत्वे सति, उत्कर्षाधायकगुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थत्वं काव्यत्वम् । 'घटं भिन्द्यात् , पटं छिन्द्यात्' इत्यादावतिव्याप्तिवारणायोत्तरदलम् , राधया कृष्णः क्रीडतीत्यादावतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तोपादानमिति ।

प्रकाशकारस्तु—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इत्याह । प्रागुक्तवर्णनात्मकलक्ष्यतावच्छेदकस्य शब्दार्थोभयाश्रितत्वाभावात् कविप्रौढोक्तिकल्पितत्वादेरर्थ एव सद्भावादेकत्र विनिगमनाभावादुभयोरेव काव्यत्वम् । तत्राजाद्यदन्तत्वादर्थशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेः, 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इति लौकिकप्रयोगाच्च शब्दस्यैव प्राथम्यम् । रसोद्बोधजनकतावच्छेदकत्वस्य दोषाभावगुणालङ्कारविशिष्टयोः शब्दार्थयोर्वृत्तित्वात्तादृशयोरेव तयोर्ज्ञाने रसोत्पत्तेः । लोकेऽपि काणत्वादिदोषाभावेन पाण्डित्यसौन्दर्यादिगुणैर्वस्त्रालङ्कारादिपरिच्छेदेन च शिष्टस्यैव दर्शनाच्चित्तचमत्कारः, न त्वेकदेशवैकल्येन । अत एव विशेषणत्रयमपि सार्थकम् । यच्चाग्निपुराणे व्यासैरुक्तम्—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् । रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिं च विन्दति' ॥ इति ।

काव्यं शब्दार्थयुगलं यतोऽदोषादिविशेषणत्रयविशिष्टमतो रसान्वितम् । नातस्तद्बलात् सदोषादेस्तत्त्वम् । एवं विशिष्टशब्दार्थयोः काव्यत्वे सिद्धे 'काव्यं पठति, शृणोति' इत्यादिव्यवहारः शब्दपरतया समर्थनीयः । काव्यं बुद्धमिति तु अर्थस्य तत्त्वसमर्थकः । 'अदोषौ' इत्यत्रापि दोषसामान्याभाव एव, तस्य विरलविषयत्वे इष्टापत्तेः । 'द्वित्राण्येव काव्यानि, द्वित्रा एव कवयः' इति ध्वनिकारोक्तेः । 'तथाभूताम्' इत्यादौ 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादौ च निर्दोषे तदेकदेशे योजनादिघटिते वा ध्वनित्वमव्याहतम् , यदवच्छेदेन यावद्दोषाभावस्तदवच्छेदेन काव्यत्वोपगमात् । दुष्टं काव्यमिति व्यवहारस्तु दुष्टो हेतुरितिवत् । न चैकस्य काव्यत्वमकाव्यत्वम्, उपाधिसङ्करे दोषाभावात् , जातावेव तद्दोषात् । सगुणपदं गुणव्यञ्जकवर्णपरम् , स्वव्यङ्ग्यास्वादसमवायेन परम्परया वा । तेन गुणानां रसनिष्ठत्वेऽपि नासम्भवः । अनलङ्कृतीति । अस्फुटत्वरूपमल्पत्वं नञर्थः । क्वापीत्यनेन सर्वत्र सालङ्कारत्वम् । 'सालङ्कारौ' इति पदोपादानन्तु अलङ्कारमात्रशून्यस्य न काव्यत्वमिति मतमिति प्रतिपादनार्थं न कृतम् । अस्फुटालङ्कारस्यापि रसादिस्फुटत्व एव काव्यत्वं न तु सर्वत्र । नीरसे तु तादृशे न तत्त्वम् , रसादेरलङ्कारस्य च चमत्कृतिहेतुत्वात् , काव्यस्य तत्सारत्वाच्च । तथा च स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वं विशेषणमिति भावः । निरलङ्कारे रसवति—"मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः । येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ" ॥ इत्यत्र काव्यत्वस्येष्टत्वात् । एकत्र चुलुके मत्स्यकूर्मदर्शनरूपस्य हेतोरुत्कर्षे सत्त्वेऽपि न काव्यलिङ्गम् , रसाननुगुणत्वात्तदभावे तद्दर्शनरूपार्थस्य तद्रस-

व्यञ्जकत्वात् 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ।' इत्यादावोजोगुणानुमानालङ्कारसत्त्वेऽपि न काव्यत्वं विभावाद्यर्थानुपस्थापकत्वात्, तदुपस्थापकशब्दार्थयोरेव तत्त्वौचित्यात् । तथा च रसप्रतिबन्धकदोषत्वावच्छिन्नात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नव्यङ्ग्यव्यञ्जकपरम्परासम्बन्धान्यतरसम्बन्धेन गुणविशिष्टचमत्कृतिहेतुत्वावच्छिन्नस्फुटालङ्काररसान्यतरवच्छब्दार्थत्वं तत्त्वमिति जयरामभट्टाचार्यमतानुयायिनः ।

केचित्तु यथाशक्ति दोषव्यावृत्तये दोषपदम्, दोषाणामपकर्षमात्राधायकत्वेन काव्यस्वरूपानुपघातकत्वात्, रत्नादौ कीटवेधवत् आस्वादवति दुष्टेऽपि तदङ्गीकारात् । अन्यथा दोषनिरूपणप्रकरणे अन्यूनपदत्वेन दूषितस्य काकुसहकृतार्थव्यङ्ग्यध्वनिता 'तथाभूताम्' इत्यादेस्तृतीयोल्लासे प्रतिपादिता विरुद्ध्येत । ध्वनिकृतामपि अविमृष्टविधेयदोषदुष्टस्य 'न्यक्कारो ह्ययम्' इत्यादेर्ध्वनित्वम्, 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारोऽपीत्थं सङ्गच्छत इत्याहुः । काणत्वादिदोषेण पुरुषस्येव स्वरूपहानेरभावेऽपि चमत्कृतिजनकत्वायोग्यत्वेनाकाव्यतापत्तेः, तस्य तदेकप्रधानत्वात् । तत्रापि दोषाणां निराकरिष्यमाणत्वाच्च । सुबुद्धिनाथमिश्रास्तु—स्फुटदोषराहित्यमदोषपदस्यार्थः । स्फुटत्वञ्च कविप्रतिभातिरोधानाशक्यत्वम् । अस्ति प्रतिभावतां काव्ये कश्चन विशेषो यत् सामाजिकांश्चित्रार्पितानिव कृत्वा दोषं न ग्राहयतीत्याहुः । तदप्यसत्, विशेषपरत्वे प्रमाणाभावात् । काव्यसामान्यस्य प्रतिभाजन्यत्वेन कुत्रापि दोषग्रहणानापत्तेः । एवञ्च 'न्यक्कारो ह्ययम्' इत्यादीनामुत्तमतया प्रतिभाजन्यत्वेन दोषाभिधानं विरुद्धमिति चेदत्र वदन्ति—अस्फुटानां तेषां रसोद्बोधाविरोधित्वेन तदभावस्य लक्षणाघटकतया स्फुटानामेव तद्विघातकत्वेन तदभाव एव लक्षणघटक इति दिक् ।

अत्र चण्डीदासमतानुयायिनो दर्पणकृतस्तु—दोषरहितस्यैव काव्यत्वे 'न्यक्कारो ह्ययम्' इत्यादावविधेयविमर्शसत्त्वेनाव्याप्त्यापत्तेः । क्वचिद् दोषवत्त्वे क्वचिददोषवत्त्वे काव्यत्वाकाव्यत्वाभ्यामाकृष्यमाणं किमपि न स्यात्, काव्यस्य विरलविषयत्वापत्तेश्च । सर्वथाऽदोषस्याभावेन निर्विषयत्वापत्तेश्च । नञ ईषदर्थे शक्तौ दोषाभाववति काव्यत्वानापत्तेः । सति सम्भवे 'ईषद्दोषौ, इत्यपि न वाच्यम्, उपचारतया रत्नादिस्वरूपस्य कीटादिवेधानामिव तत्स्वरूपस्य दोषैरव्याघातात् । तयोः सगुणत्वविशेषणमप्यसत् । 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेषां रसनिष्ठत्वप्रतिपादनात् । रसाभिव्यञ्जकत्वेन तत्सार्थक्यं न सम्भवति, गुणैस्तदन्वयव्यतिरेकनियमेन 'सरसौ इत्यस्य' आवश्यकत्वे तद्वैयर्थ्यत्वापत्तेः । 'प्राणिमन्तो देशाः' इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशाः इति कथनस्य व्यर्थत्वात् । अलङ्काराणामुत्कर्षमात्राधायकत्वेन स्वरूपानुपयोगात्तद्विशेषणस्यापि व्यर्थत्वाच्च । तस्मात् 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' इत्येव तल्लक्षणमिति वदन्ति । तदसत्; वस्त्वादिप्रधाने काव्येऽव्याप्त्यापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकविसंप्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्, जलप्रवाहवेगनिपतनादेः कपिबालादिविलसितानां च कविवर्णितत्वात् । तत्रापि परम्परया कथञ्चिद्रसाङ्गीकारे गौश्चलति इत्यादावतिव्याप्त्यापत्तेः ।

यत्तु दोषरहितस्यैव तत्त्वे 'न्यक्कारो ह्ययम्' इत्यादौ विधेयाविमर्शसत्त्वेन तत्त्वव्याघात इति, तन्न; अन्येषां पराभवो ममारिसम्बन्ध एव न्यक्कारः । बहुवचनेन बहवोऽस्य इत्यनुतापातिशयः । तापसपदोपादानेन तु तस्याशिक्षितास्त्रत्वव्यञ्जनात् । सोऽप्यत्रैव =

सकलराक्षसपरीतायां लङ्कायामेवेति तिरस्कारातिशयः। रक्षन्ति परानिति यौगिकार्था-भावेऽपि स्वस्यापि रक्षणेऽसमर्थो जीवतीति सोत्प्रासकाका स्वनामसङ्कीर्तनं वीर-रससञ्चार्यतिशयं पुष्णातीति प्रतिपदव्यङ्ग्यसत्त्वेन तत्सत्त्वात् स्वाधिक्यकीर्तनार्थं स्वसंज्ञो-च्चार एव दूषणसत्त्वात् । यत्तु—'क्वचित् दोषवत्त्वे' इत्यादि, तदपि न; एकस्यापि ज्ञानस्य भ्रमत्वप्रमात्ववदेकस्याप्युभयत्वाङ्गीकारसत्त्वात् न च सङ्करः, उपाधौ तस्येष्ट-त्वात्, जातावेव तदनङ्गीकारात्।

तद्विरलविषयत्वे त्विष्टापत्तेः, द्वित्राण्येव काव्यानीति ध्वनिकारोक्तेः । यत्तु दोषैर्न स्वरूपव्याघातः, तदपि न; तेषां रसापकर्षकत्वेन न्यूनत्वापत्तौ तत् सत्त्वात्, तत्रापि काव्यत्वे लक्षणस्य व्यर्थत्वापत्तेश्च। सगुणत्वविशेषणमपि आवश्यकम्, तेषां रसाभिव्यञ्ज-कवर्णपरत्वेन तेषामभावे स्वरूपव्याघातापत्तेः। अलङ्काराणामपि पृथक् चमत्कृतिजनकत्वेन तद्विशेषणस्याप्यावश्यकत्वात्, रसाद्यलङ्कारयोस्तज्जनकतायाः प्रदीपादिसम्मतत्वाच्चेति दिक्।

कविकर्म काव्यमिति यौगिकरूपसमाख्या बलाद्विभावादिद्योतकशब्दस्यैव तत्त्वं नार्थस्य, तस्य तत्कृत्यसाध्यत्वात् । अत एवाभ्यर्हितस्य तस्य प्राङ्निर्देशः । तथा चास्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम् । अथवा योजनायामेव तद्व्यापारेण 'इष्टार्थावच्छिन्न-तादृशयोजनाविषयशब्दावल्येव वा काव्यम्' 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्ड्युक्तेः । न चोभयपदार्थप्रधानकद्वन्द्वविरोध इति वाच्यम्, काव्यस्य व्यङ्ग्यापरामर्शणमृते चमत्कृत्यभावेन चित्तवशेऽहेतुत्वादुपदेशे पर्यवसानानुपपत्त्या व्यञ्जनाधीनव्यङ्ग्यपरामर्शावश्यकत्वात्। व्यञ्जनायाः शब्दार्थावाश्रयावित्येतावन्मात्रेण द्वयोः प्राधान्यमङ्गीकृत्य तत्करणादिति रसगङ्गाधरानुयायिनः, तदपि न; काव्यत्वप्रयोजकस्या-स्वादव्यञ्जकत्वस्य शब्दार्थयोरविशेषात् । अर्थेष्वपि व्यञ्जनावृत्त्यङ्गीकारात्। शब्दार्थयो-रुत्कर्षापकर्षाभ्यां तदुत्कर्षापकर्षव्यवहारात्। विभावाद्यर्थाविशिष्टेषु तेषु वा तत्त्वे विनिग-मकाभावाच्च। न च समाख्यैव विनिगमकम्, कविप्रकाश्यत्वेनैतदुपपत्तेः। इदं काव्यम-मुकेन कृतमिति व्यवहारोऽपि तत्पर एव; अन्यथा तन्नित्यत्वे मौनिश्लोकादौ च तदसम्भ-वात्। विभावत्वादिव्यवहारस्य शब्दार्थयोजनरूपकविव्यापारावलम्बकत्वाच्च।

रसगङ्गाधरकृतस्तु—शब्दार्थयोः काव्यशब्दवाच्यत्वे प्रमाणाभावः काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते इत्यादिसर्वसिद्धव्यवहारात् शब्दविशेषस्य काव्यत्वप्रतिपत्तेः। व्यवहा-रस्य शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीयतापि न; काव्यत्वेनाभिमतशब्दार्थयुगले तच्छक्ति-प्रमापकदृढतरप्रमाणस्यासत्त्वात्, विमतवाक्ये श्रद्धाया अभावाच्च। एवञ्च काव्यस्योभयत्र शक्तिग्राहकप्रमाणाभावे व्यवहाराच्छब्दवृत्तितच्छक्तेर्दुर्निवार्यत्वाच्च। तथा च विनिगमका-भावकथनमप्यसद्धेतुः। तथा च शब्दस्यैव तत्त्वे तल्लक्षणकथनमेव योग्यम्, न तु स्वकल्पित-काव्यपदार्थस्य।

आस्वादोद्बोधकत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वेन तस्य चोभयत्र सत्त्वाद्युगलमेव तदिति यदाहुः, तन्न। रागस्यापि रसव्यञ्जकतया सर्वसम्मतत्वेन काव्यत्वापत्तेः । एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र तत्त्वमित्यपास्तम् । सर्वनाट्याङ्गेषु तदापत्तेः । किञ्च काव्यत्व-मुभयत्र व्यासज्यवृत्ति, प्रत्येकपर्याप्तं वा । नाद्यः, एको न द्वावितिवत् श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तेः। नान्त्यः, एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्मा-

तस्य शब्दनिष्ठत्वमेव । लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न सन्, 'उदयमितश्चन्द्रः', 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावव्याप्तेः । चमत्कारस्य तज्जीवितस्यात्र सत्त्वेन तदभावस्य वक्तुमयोग्यत्वात् । अन्यथा तवाभिमतस्यापि तत्त्वापत्तेः, तयोस्तत्राननुगमाच्च । वृक्षः कपिसंयोगीतिवत् काव्यत्वस्याव्याप्यवृत्तिताया अभावात् मूले महीरुहो विहङ्गमसंयोगी न शाखायामिति प्रतीतेरिवेदं पूर्वार्द्धं काव्यं नोत्तरार्द्धं इति प्रतीतेरप्रसिद्धत्वात्, आत्मधर्माणां गुणानामुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च । तस्माद् 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' । लोकोत्तरह्लादजनकज्ञानगोचरत्वं रमणीयत्वम् । लोकोत्तरत्वञ्च–आह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेष एव । पुत्रस्ते जातः, धनं ते दास्यामीति वाक्यार्थधीजन्याह्लादस्य लोकोत्तरत्वाभावान्न काव्यत्वातिप्रसक्तिः । इत्थञ्च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्; स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारवत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितमित्याहुः । तदपि न । द्वयोरेव काव्यत्वस्येष्टत्वात्, कविव्यापारस्य तत्र समत्वात् । तत्त्वञ्च चमत्कारत्वावच्छिन्नाह्लादजनकज्ञानगोचरत्वमेव । मृगो धावतीत्यादौ तादृशव्यापाराभावान्न काव्यत्वम् । तस्य शब्दमात्रवृत्तित्वनियमे तु कविवक्तृप्रौढोक्तितन्निवद्धवक्तृप्रौढोक्तिरूपार्थशक्तिमूलत्वादेर्विलयापत्तेः । काव्यं श्रुतमित्यादेः शब्दशक्तिसाधकव्यवहारस्येव काव्यं बुद्धमिति व्यवहारस्यार्थे काव्यत्वप्रतिपादकत्वात् । एतस्यैव शब्दशक्तौ तन्नियमस्य प्रतिषेधकत्वात् । अलङ्कारादिविशिष्टस्य वर्णनाविशेषस्य वा तस्य व्यासज्यवृत्तित्वासम्भवात् । पर्याप्ते तु इष्टापत्तिरेव । न च काव्यद्वयव्यवहारापत्तिः, विजातीयैकचमत्कृतिजनकतया तद्व्यवहाराभावात् । शब्दस्य चमत्कृतिजनकत्वे तस्य, अर्थचमत्कृतौ अर्थस्य, उभयत्र चमत्कृतौ द्वयोरेव काव्यत्वव्यवहारात् । शब्दानन्त्यन्तु विजातीयैकचमत्कृतिजनकतया न दोषाय । किञ्च, शब्दार्थयोरौत्पत्तिकनित्यसम्बन्धत्वात्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाद् द्वयोरेव तत्त्वमुचितम् । जन्यजनकभावस्तु न सम्भवति, 'वागर्थाविव' इत्यादावननुगामित्वानापत्तेः । नाप्यभेदः, मुखदाहाद्यापत्तेः । कल्पितत्वे सम्बन्धानां नियमाभाव एव, सर्वेषां कल्पितत्वेन समानत्वात् । भेदाभेदस्य तु न सम्बन्धत्वम्, समवायस्तु गुणगुणिनोरेव । तस्मात्तयोः सम्बन्धस्य नित्यतया स्वाभाविकत्वेन पृथगेकस्यानुपस्थितिरेवेति कथं शब्दस्य तत्त्वमिति तयोः सव्येतरविषाणवत् समानकालिकत्वप्रतिपत्तेरिति दिक् ।

(चित्र०)

यत्र वाच्यातिशायि व्यङ्ग्यं स ध्वनिः ।

यथा—

'स्थिताः क्षण पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

(भारती)

जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर अथवा चमत्कार जनक होता है, उसे ही ध्वनि-काव्य कहते हैं ।

उदाहरण, यथा—'स्थिता' इत्यादि ।

(तपस्यारत समाधिस्थ पार्वती का यह वर्णन है) वर्षा की प्रथम बून्दें अर्धनिमीलित देवी की आँखों की पपनियों पर क्षण भर रुककर गालों पर ढुलक गईं। पुनः अधरोष्ठों को पार करती हुई, उनके दोनों स्तनों पर टपक पड़ीं। स्तनों की कठोरता के कारण चूर्णित ये बून्दें त्रिवली में समा गईं और इस तरह त्रिवली से निकलकर वे बून्दें अपने इस उच्चावच मार्गों को पार करती हुई देवी की गंभीर नाभि में प्रविष्ट हो गईं। कुमारसंभव काव्य के पार्वती-तपोवर्णन के प्रसंग से यह श्लोक उद्धृत है। इसमें परिकर अलंकार एवं वंशस्थ-वृत्त है।

(सुधा)

त्रिविधेऽपि काव्ये प्रथमभेदस्य ध्वनेर्लक्षणमाह—यत्रेति। यत्र काव्ये व्यङ्ग्यं व्यञ्जना-प्रतिपाद्यं वस्तु वाच्यातिशायि; वाच्यमित्युपलक्षणम्, वाच्यलक्ष्यावतिशेतेऽतिक्रामति एवं रूपं भवेत् स ध्वनिः। सर्वनाम्नां विशेष्यगतलिङ्गसंख्योपादानात् पुंस्त्वम्। वाच्यलक्ष्यवृत्तिचमत्कृतिगौणत्वाधायकचमत्कृत्यधिकरणव्यङ्ग्याश्रयत्वं तत्त्वमिति यावत्। अगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोरतिव्याप्तिवारणाय चमत्कृतीत्याद्यन्तम्। अपरवाच्यसिद्ध्यङ्गमध्यमेऽतिव्याप्तिवारणाय—वाच्येत्यादि। नव्यास्तु, शब्दार्थौ गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम्। एतस्यैव ध्वनिव्यवहार इत्याहुः। अत्रायं विशेषः—शाब्दिकमते स्फोटव्यञ्जकशब्दमात्रस्य ध्वनित्वम्। आलङ्कारिकमते तिरस्कृतवाच्यव्यङ्ग्यबोधकशब्दार्थयोस्तत्त्वमिति।

एतस्य ध्वनेरुदाहरणमाह—यथेति। स्थिता इति। कुमारकाव्ये पार्वतीतपोवर्णनम्। उदकस्य बिन्दवः। 'बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियः' इत्यमरः। 'मन्थौदन...' इत्यादिनोदकस्योदादेशः। प्रथमे उदबिन्दवः। प्रथमपदकथनेन तेषां विरलता, बहुवचनेन स्वकार्यसामर्थ्यञ्च ध्वन्यते। तथा च चिरपदस्य नाभिप्राप्तेश्च निर्वाहः। तस्या देव्याः पक्ष्मसु नेत्ररोमसु पक्ष्म सूत्रादि सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्ररोमसु' इति शाश्वतः। क्षणं मसृणतया स्थिताः सान्द्रत्वेनेति भावः। अनन्तरं ताडितो विद्धोऽधरो यैस्तथोक्ताः। ताडनोक्त्याऽधरस्य कोमलता ध्वन्यते। पयोधरयोः स्तनयोरुत्सेधे उपरि निपातेन चूर्णिता विशकलिताः काठिन्यादिति भावः। अथ वलीषु स्खलिता निम्नोन्नतत्वादिति भावः। इत्थं चिरेण न तु शीघ्रं प्रतिबन्धकाधिक्यात्, नाभिं प्रतिपेदिरे प्रविष्टा न तु ततो जग्मुः। तेन नाभेर्गाम्भीर्यम्। अत्र परिकरालङ्कारः, विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः' इति प्रकाशोक्तेः। वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति तल्लक्षणात्।

(चित्र०)

अत्र तपस्यन्त्या देव्या देहोपरि निपततां प्रथमवृष्टिबिन्दूनां क्रियास्वभाववर्णनेन देव्याः समाध्युचितावस्थानाभिव्यक्तिद्वारा चिरनिदाघतप्तदेहोपरि निपतनेन सुखपारवश्यसम्भ्रमहेतौ प्रथमवृष्टावप्यविहता समाध्यवस्था व्यज्यते। तथा हि—

'नासाग्रन्यस्तनयनः संवृतास्यः सुनिश्चलः।
ध्यायीत मनसा देवमुरो विष्टभ्य चाग्रतः॥'

इति समाधिमतामवस्थानमाहुः। तत्र पक्ष्मसु स्थिता इत्यनेन नासा-

ग्रन्यस्तनयनतारूपमर्धनिमीलनं व्यज्यते, सर्वथोन्मीलने पक्ष्मणामूर्ध्वाग्रत्वेन सर्वथा निमीलने तेषामधोग्रत्वेन च तेषु जलबिन्दूनां स्थित्यसंभवात्। पक्ष्मभ्यश्च्युतानां तेषामास्याप्रवेशेनाधरोष्ठे निपत्य ततश्च्युतिकथनेन संवृतास्यत्वं व्यज्यते, ततश्च्युतानां तेषां स्तनोत्सेधनिपतनादिवर्णनेन तूरोविष्टम्भः, अलसवदवनतावस्थाने हि स्तनयोरन्तःसंकुचिताकारतया तदुत्सेधयोस्तेषां पतनं न स्यात्। कथञ्चित्तयोः पतित्वा वलित्रयं प्राप्तानामपि वलीषु तिर्यगेव गमनं स्यात्, न नाभिदेशप्राप्तिः। नाभौ च संवृतायां प्रवेशो न स्यात्। पक्ष्माधरादिपतनक्रमकथनेन च निश्चलत्वं व्यज्यते। मुखादिचलने सति पक्ष्मपतितानां तेषामधरपयोधरादिक्रमेण पतनासंभवात्।

किं चैभिरेव विशेषणैर्देव्या लोकोत्तरं सौन्दर्यमभिव्यज्यते। स्थिता इत्यनेन पक्ष्मणामविरलतायाः, क्षणमित्यनेन तेषां मसृणतायाः, पक्ष्मपतनशिथिलवेगैरुदबिन्दुभिस्ताडनोक्त्या अधरस्यातिसौकुमार्यस्य, पक्ष्माधरपतनादिभिः शिथिलवेगानां तेषां स्तनोत्सेधे चूर्णीभाववर्णनेन तयोरतिकाठिन्यस्य, उरोविष्टम्भेऽपि वलीषु तेषां स्खलनोक्त्या वलीनां विस्पष्टतायाः, सर्वबिन्दूनां नाभावेव प्रवेशकथनेन नाभेरतिगभीरतायाश्चाभिव्यञ्जनात्।

एवं च वाच्यातिशायि व्यङ्ग्यमत्रेति ध्वनेरुदाहरणमिदम्।

(भारती)

इस श्लोक में तपस्यानिरत देवी के देह पर वर्षा की गिरी हुई प्रथम बून्दों के क्रिया-स्वभाव वर्णन से देवी की समाधि में अवस्थित उचित अवस्थाओं की अभिव्यक्ति के द्वारा ग्रीष्म की धूप में जलती हुई देह पर वर्षा की प्रथम बून्दों के गिरने के कारण सुखानुभूति का होना आवश्यक है। किन्तु इस स्थिति में भी अविचलित ढंग से उनका बैठे रहना ही उनकी समाधि अवस्था को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि समाधि-अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—आँखें नासिका के अग्रभाग पर टिकी हुई हैं। मुख बन्द है तथा शरीर निश्चल है। मन से हृदय में बैठे हुए प्रिय का ध्यानरत स्थिति ही समाधि-अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में चित्त एकाग्र हो जाता है।

यहाँ वर्षा की प्रथम बून्दें देवी के आँखों की पिपनियों पर कुछ क्षण रुक गईं (**स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु**)। इससे समाधि अवस्थागत देवी की अर्धनिर्मीलित आँखें नासाग्र भाग पर टिकी हुई ही अभिव्यक्त होती हैं। यदि आँखें नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर न होतीं तो पपनियों के नीचे-ऊपर होने की स्थिति में जल-बिन्दु का क्षण-भर उस पर टिक जाना असंभव ही होता। आँख की पपनियों से गिरी हुई बून्दें उनके अधरोष्ठों को पार करती हुई मुख में प्रवेश न पा सकीं। इससे यह स्पष्ट झलकता है कि उनका मुंह समाधि स्थिति के अनुकूल बन्द था। वहाँ से चू कर बून्दें उनके स्तनों पर गिरकर चूर्ण-चूर्ण हो गईं। इस वर्णन से यह स्पष्ट पता चलता है कि समाधिस्थ देवी के स्तनद्वय अंतःसंकुचिताकार होने के कारण बून्दों को कुछ क्षण तक रोक सके। किसी प्रकार स्तनद्वय से गिरकर ये जल-बिन्दु देवी की त्रिवली में घुस गईं। त्रिवली की गति तिर्यक् होने के कारण सीधे नाभि में प्रवेश असंभव था। उससे किसी तरह निकलकर जल-बिन्दु नाभि में स्थान पा सकीं। आँख की पपनियाँ, फिर अधर, स्तन, त्रिवलियों को क्रमशः पार करती हुई ही

नाभिदेश को प्राप्त कर सकीं, इससे तपस्यानिरत देवी के देह की निश्चलता ही प्रतीत होती है। यदि देवी का मुख खुला होता, पिपनियाँ हिलती-डुलती रहतीं, तो इस क्रम में जल-विन्दु का नाभि-प्रवेश कभी संभव नहीं था।

चमत्कारार्थक गूढ़ व्यंजना की अवतारणा करते हुए दीक्षित ने लिखा है कि ऊपर लिखित विशेषणों से देवी के लोकोत्तर सौंदर्य ही अभिव्यक्त होता है। वर्षा की बून्दें क्षणभर आँख की पिपनियों पर टिक गईं, इस कथन से पिपनियों की सघनता, मसृणता ही अभिव्यक्त होती है। पिपनियों से फिसलकर शिथिल वेग से ये वर्षा की बून्दें अधरोष्ठों को पार करती हैं, इस उक्ति से देवी के अधर की अतिसुकुमारता अभिव्यक्त होती है। यहाँ से अपने शिथिल वेगों में चूर्णित ये वर्षा की बून्दें स्तनदेश को प्राप्त करती हैं। इस चूर्णीभाव वर्णन से स्तन की कठोरता ही अभिव्यक्त होती है। स्तन से छूटकर त्रिवली भ्रमण त्रिवली की विस्पष्टता सूचक है। फिर यहाँ से छूटी हुई सारी बून्दों का नाभि में प्रवेश पा जाना नाभि का अतिगांभीर्य सूचक वर्णन है। फलतः हम कह सकते हैं : जहाँ इस वर्णन में केवल एक सामान्य वर्षाविन्दु का ही वर्णन है वहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा स्थितिक्रम से देवी-सौन्दर्य का ध्वन्यर्थक वर्णन ही प्रमुख है। इसी प्रकार वाच्यातिशायि व्यंग्यजन्य ध्वनि के कालिदास के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए दीक्षित ने काव्यप्रकाश के इस श्लोक की भी व्याख्या इस संदर्भ में की है—

(सुधा)

व्यङ्ग्यव्यञ्जनमवतारयति—अत्रेति। तपस्यन्त्या देव्याः प्रथमवृष्टिबिन्दूनां क्रियास्वभाववर्णनेन समाध्यवस्था व्यज्यत इत्यन्वयः। तपःशब्दात् क्यजन्ताच्छतरि कृते 'उगितश्च' इति ङीपि, 'आच्छीनद्योः' इति नुम्। प्रथमे वृष्टिबिन्दवः "विशेषणं विशेष्येण" इति समासः। अन्यत्र तत्क्रियास्वभाववर्णनं निषेधयति—देव्या देहोपरि निपततामिति। देवीपदेन शोभावत्त्वम्, समाधिश्चित्तैकाग्रीकरणम्, तत्रोचितं योग्यं यदवस्थानं स्थितिः, तस्याभिव्यक्तिः प्रकटता तद्द्वारेत्यर्थः। निदाघेन ग्रीष्मेण तप्तो देहस्तत्र यन्निपतनम्, तेन सुखपारवश्यरूपसम्भ्रमकारणप्रथमवृष्टावपि अविहता, अतिरस्कृतेति यावत्। विशेषोक्तिरलङ्कारः। 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः' इत्युक्तेः। प्रत्येकपदव्यङ्ग्यमवतारयति—तथा हीत्यारभ्यासम्भवादित्यन्तेन। नासाग्रेति। अग्रत उरो विष्टभ्य स्तम्भयित्वा। शेषं स्पष्टम्। समाधिमतां योगिनां योगावस्थितिमाहुः। पार्वत्यास्तद्याथात्म्यवर्णनेन स्वाभावोक्तिरपि; 'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेर्जात्यादिस्थस्य वर्णनम्' इत्युक्तेः। एतदेव प्रतिपदं प्रतिपादयति—तत्रेति।

पक्ष्मस्थितिकथनेनेति यावत्। व्यज्यते व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते। तत्र हेतुमाह—सर्वथेत्यादि। तेषां पक्ष्मणाम्, तेषु नेत्ररोमसु। ताडितेत्यादिगम्यव्यङ्ग्यमवतारयति—पक्ष्मभ्य इत्यादिना। पतितानां मुखे प्रवेशाभावकथनेन ततोऽधरोष्ठात् पतनकथनेन पयोधरेत्यादिव्यङ्ग्यमवतारयति। ततोऽधरोष्ठात् पतितानां बिन्दूनाम्। आदिना चूर्णीभाववर्णनमुरो विष्टम्भपदेन कथ्यते। इतरपदव्यङ्ग्यमाह—तयोरिति। ताभ्यामित्यर्थः। आदिपदमितरावयवपरम्। निश्चलत्वाभावे तादृशक्रमेण पतनं न स्यादिति दिक्। चमत्कारार्थं गूढव्यङ्ग्यमवतारयति—किञ्चेति। पूर्वोक्तैरेवेत्यर्थः। अङ्गानामिति शेषः। अलौकिकचमत्कृतिमत्त्वं व्यज्यते प्रत्येकपदव्यञ्जनया प्रतिपाद्यते। तदाह—स्थिता इत्यादि। अत्र षष्ठ्यन्तेषु अभिव्यञ्जनादित्यस्य प्रत्येकमन्वयः। स्थिता इति पदं नेत्ररोम्णां सघन-

ताम्; व्रणपदं स्निग्धताम्; तत्पतनशिथिलवेगजलबिन्दुताडनसधरातिसुकुमारताम्; द्वाभ्यां पतनेनातिशिथिलानां तेषां स्तनयोः उपरि पतनेन चूर्णता तदतिकाठिन्यम्; उरोविष्टम्भेऽपि वलिभ्यः स्खलनं वलीविस्पष्टताम्; सर्वबिन्दूनां नाभौ प्रवेशोक्तिस्तदति-गम्भीरताम्; व्यनक्तीति निष्कर्षान्वयः। व्याख्यानमुपसंहरति—एवमिति। वाच्यार्था-दतिशय आधिक्यमस्ति यत्र तद्व्यङ्ग्यम्। अत्र तद्ध्वनेरिदमुदाहरणं कथितमिति शेषः।

(चित्र०)

यथा वा—

'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥'

अत्र वापीं स्नातुं गतासि, न तु तत्सकाशमिति वाक्यार्थे स्थिते तत्सकाशमेव रन्तुं गतासीत्यधमपदेन प्राधान्येन व्यज्यते। तथा हि—अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति, नापि स्वापराधपर्यवसायिदूतीसंभोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कर्मणा, तादृशं च दूतीसंभोगात् प्राचीनं सर्वं सोढमेवेति नोद्घाटनार्हम्; अन्यथा स्वयं दूतीसंप्रेष-णानुपपत्तेः तदनन्तरं च स्वप्रेषितदूतीसंभोगरूपमेव स्वयं संनिहितचिह्नैर्ज्ञातुं शक्यं हीनकर्म संभवतीति तत्पर्यवसायिनाऽधमपदेन तस्यान्तिकमेव रन्तुं गतासीति व्यज्यते। 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादीनि वाच्यानि संभोगचिह्नोद्घाटनेन तत्र साहायकमाचरन्ति। कथम्? 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यत्र तावद्वापीं स्नातुमितो गतासीति वाच्यार्थमुपपादयितुमिहो-त्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निःशेष' विशेषणं कृतम्। ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम्। स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तव तु स्तनयोस्तटे=उपरिभाग एव दृश्यते, इयमाश्लेषकृतैवेति। तथा 'निर्मृष्टरागोऽधरः' इत्यत्र ताम्बूलग्रहण-विलम्बात्प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निर्मृष्टरागः' इति रागस्य निःशेषमृष्टतोक्ता। पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाट-नायाधर इति विशिष्य ग्रहणम्। उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैवेति। 'नेत्रे दूरमनञ्जने' इत्यत्र प्रातर्दत्तमञ्जनं कालविलम्बेन किञ्चि-द्विलुप्तमित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय दूरमित्युक्तम्। दूरम् = अत्यर्थमित्यापात-तोऽर्थः। कालतः स्नानेन वा सर्वतोऽञ्जनलोपः स्यात्, तव तु लोचनयोः क्वचित्प्रान्त एवानञ्जनत्वम्, इदं चुम्बनकृतमेवेति। 'पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः' इत्यत्रापाततस्तन्वीति सहजतानवकीर्तनेन पुलकितेति स्नानचिह्नोप-

२ चित्र०

न्यासः। पुलकिताऽपि तन्वी वर्तत इति हृदि स्थितोऽन्वयः। तेन च स्नानेन पुलकिता तनुः किञ्चिदुच्छ्वसिता भवति, इयं तु न तथेति रतिक्लेशजनितावेव तौ नवपुलकोद्गमाविति मर्मोद्घाटनम्।

एवमेभिर्वाक्यैरुपस्कृतेनाधमपदेन तस्यान्तिकमेव रन्तुं गतासीति व्यज्यमाने प्राग्वाच्यार्थतादशायां वापीं स्नातुं गतासीत्येतदनुगुणार्थतयाऽन्वितं मिथ्यावादिनीति संबोधनमपि व्यङ्ग्यानुगुण एवार्थे पर्यवस्यति। ततश्च न्यग्भावितवाच्यमस्यापि व्यङ्ग्यं वाच्यातिशायीतीदमपि ध्वनेरुदाहरणम्।

(भारती)

अथवा जैसे—

अरी झूठ बोलने वाली दूती! तू अपने बांधव की पीड़ाओं को जानकर भी न जानने वाली छली सखी—तू तो यहाँ से नहाने गई थी न! ये तेरे स्तनों के किनारे, जिनका चन्दन हट गया है; यह तेरा अधर जिसमें पान की लाली धुल गई है; ये तेरी आँखों की कोरें, जो अंजन-रहित हो गई हैं; यह तेरी दुबली-पतली देह जो रोमांचित हो रही है; बता, तू भला उस नीच के पास क्यों कर जाने लगी?

यहाँ वस्तुतः जो वाच्यार्थ है, वह है बावरी नहाने गई थी, न कि उसके पास। किंतु स्पष्ट अर्थ यह है कि तू तो उसी के साथ रति-क्रीडा करने गई थी। और यह अर्थ व्यंग्य-अर्थ है न कि वाच्य—अर्थ; जिसमें अधम पद विशेषतया व्यंजक है। इस पर दीक्षित जी का विवेचन इस प्रकार है—

'अधम' शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। फिर उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती। अब रही कर्म से हीनता; सो उसे भी दूती के संभोगादि जो अपने (नायिका के) अपराधरूप में परिणत हो सकते हैं, ऐसे कर्म के अतिरिक्त अन्य तो बता नहीं सकती। और वैसे कर्म भी जो दूती के भेजने के पहले हुए थे, वे तो सब सह ही लिए गए हैं, सो उनको उघारने की आवश्यकता नहीं। तब अंततोगत्वा सब बखेड़े के हटने के बाद दूती का संभोग ही सिद्ध होता है। श्लोक की व्याख्या करते हुए दीक्षित जी ने लिखा है कि स्तनों का चन्दन साड़ी की भी रगड़ से हट सकता है। इस कारण नायिका ने निःशेष कहा है; जिससे यह सिद्ध होता है कि सब चन्दन बिना मर्दन के साड़ी की रगड़ से नहीं हट सकता। पर नहाने से भी हट सकता है। इस कारण 'ऊपर के भाग का' कहा; जिससे यह सिद्ध होता है कि तू ने स्नान नहीं किया। क्योंकि यदि तू स्नान कर लिये होती तो सब स्थान का चन्दन उड़ जाता। पर तेरे तो केवल स्तन के ऊपर के भाग का ही चन्दन हटा है। यह स्थिति केवल आलिंगन से ही संभव हो सकती है। इसी प्रकार पान खाने में यदि कुछ देर हो जाती तो ओठों का रंग थोड़ा फीका पड़ सकता था। ऐसी बात नहीं है। इसे समझाने के लिए नायिका ने 'बिलकुल साफ हो गया' ऐसा कहा है। क्योंकि ऊपर के ओठ के रंगे हुए रहने पर नीचे का होठ बिना चुम्बन एवं अधरपान के किस तरह साफ हो सकता है। आँखों का काजल देर होने के कारण मलिन हो सकता है किन्तु बिल्कुल मिट नहीं सकता। इस अन्यथासिद्धि दोष परिहार के लिए 'दूर' विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'दूर' का अर्थ यहाँ अत्यर्थ या आपाततः किया गया है। देर से या स्नान करने के कारण सब तरफ से

आँखों का काजल मलिन या लुप्त हो सकता है; किंतु इस नायिका की आँखों का काजल कुछ अंश तक ही घिसा है या मिट गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इसकी यह स्थिति नायक के चुम्बन के बाद ही हुई है। दूती का शरीर रोम-रोम से पुलकित है और वह दुबली तो है ही! ऐसी स्थिति में स्नान करने से अगर उसका शरीर पुलकित होता तो उसकी सामान्य स्थिति होती। किन्तु, उसकी देह की यह स्थिति इस बात का प्रतीक है कि रति-क्लेश से उत्पन्न नव पुलक-युत उसकी यह देह स्नान से नहीं, रमण से इस स्थिति को प्राप्त हुई है। इस तरह के शब्दों से बने हुए श्लोक के अर्थ हैं, वे संभोग के अंग-आलिंगन, चुम्बन आदि के प्रतिपादन के द्वारा प्रधान व्यंग्य (संभोग के) व्यक्त करने में सहायता करते हैं। अर्थात् इस प्रकार के कथन से यह प्रकट होता है कि दूती की यह दशा संभोग से ही हुई—अन्य प्रकार से नहीं। इस श्लोक का वाच्यार्थ गौण है और व्यंग्यार्थक ध्वनि की प्रधानता है, अतः यह श्लोक ध्वनि का उदाहरण है।

विमर्श—दीक्षित के इस सिद्धान्त का खंडन पंडितराज जगन्नाथ ने किया है। उनका कहना है कि इस श्लोक की ऐसी व्याख्या सभी प्राचीन ग्रंथों के ध्वनि एवं अलंकारशास्त्र के सैद्धान्तिक तत्त्वों का प्रत्याख्यान मात्र है। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश के पंचम उल्लास के अन्त में इसी उदाहरण का विवेचन करते हुए लिखा है कि चन्दनादि का हटना संभोग की अपेक्षा अन्य कारणों से भी संभव है। क्योंकि इसी श्लोक में नायिका के स्नान की ओर भी संकेत किया गया है। वहीं पर उन्होंने 'व्यक्ति-विवेक'कार का यह मत उद्धृत किया है—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणई-कच्छ-मिकुडङ्ग-वासिणा दरिअसीहेण॥

इस श्लोक में हेतु से कार्य-ज्ञान होता है, हेतु से कार्य के ज्ञान होने का नाम अनुमान है। व्यंजना से भी यही बात सिद्ध होती है। अतः व्यंजना और अनुमान में कोई भेद नहीं माना गया है। इसका खंडन करते हुए व्यभिचारी और असिद्ध होने का जिन हेतुओं में संदेह है, उनसे भी अर्थ ध्वनित हो सकता है, पर अनुमान नहीं हो सकता;—ऐसा स्वीकार किया गया है। यहाँ प्राचीन आचार्य के मत में व्यंजना-वृत्ति अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तभी तो एक अभिसारिका द्वारा अपने अभिसारस्थान पर आने-जाने वाले एक पुजारी के प्रति यह उक्ति कही गई है—

'ओ पुजारी जी महाराज, अब तो यहाँ निर्भय होकर आप विचरण करें; क्योंकि आपको जिस कुत्ते का डर लगा रहता था, उसे गोदावरी नदी की कछार में डेरा डालने वाले उस दुर्दान्त सिंह ने मार डाला है।' यहाँ जो पुजारी का भ्रमण-निषेध रूप व्यंग्यार्थ है, उसे अनुमिति सिद्ध किया गया है, क्योंकि जो पुजारी कुत्ता से डरने वाला है, वह भला सिंह के रहते कैसे भ्रमण कर सकता। कहाँ तो भीरु-भ्रमण और कहाँ भय-कारण के अभाव-ज्ञान के विरुद्ध भय कारण के सद्भाव का ज्ञान। तब तो यही अनुमान हो सकता है कि गोदावरी का कछार भीरु-भ्रमण के अयोग्य है, क्योंकि वहाँ सिंह रहा करता है और वह स्थान, जहाँ ऐसी बात नहीं है अर्थात् जो भीरु-भ्रमण के अयोग्य नहीं है, जैसे कि घर। इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि जिन शब्दों अथवा अर्थों से अन्य अर्थ ध्वनित होते हैं, वे व्यंजक अर्थ साधारण ही होते हैं। अर्थात् वे व्यंग्य से भी संबंध रखते हैं और अन्यों से भी। आनन्दवर्धनाचार्य का भी करीब-करीब यही मत है। काव्य-प्रकाशकार ने इस संदर्भ में पंचम उल्लास के अंतिम अवतरण में **'निःशेषच्युतचन्दनम्'** की व्याख्या इस प्रकार की है—उसी अधम के पास रमण के लिए ही यह गई थी, यह व्यंग्य-रूप अर्थ सहृदयसंवेद्य हुआ करता है। अनुमितिवा-

दियों द्वारा व्यंग्य-व्यंजक भाव का अनुमाप्य-अनुमापक भाव माना जाना कदापि युक्ति-सिद्ध नहीं। क्योंकि यहाँ जिन चन्दन का मिटना, अधर की लाली का समाप्त होना आदि को संभोग के गमक अनुमापक हेतु रूप से माना जा सकता है, वे ऐसे हैं, जो वस्तुतः अनैकान्तिक व्यभिचरित सिद्ध हो रहे हैं। फिर इन्हें निश्चित रूप से संभोग का ज्ञापक कैसे मान लिया जाय, जब कि ये अन्य कारणों से भी संभव हैं। यहाँ तो अधम पद की महिमा से चन्दनच्युत आदि व्यंजक रूप से परे प्रतीत हो रहे हैं, जैसी कि ध्वनिवादियों की मान्यता है। अनुमितिवादियों का यह कथन कि अधम पद की ही महिमा से चन्दनच्युति आदि अनुमापक लग रहे हैं, सर्वथा अनुचित है। क्योंकि जब तक यहाँ नायक के अधम होने का निर्णय प्रत्यक्षतः अथवा अनुमानतः न हो जाय; क्रोध से आतुर नायिका के कथन मात्र का क्या विश्वास? तब तक तो अधमत्वरूप यह हेतु संदिग्धासिद्ध ही हुआ और संदिग्धासिद्ध हेतु से अनुमान कैसा? अस्तु; ये दोष तो प्राचीन ग्रंथों के विरोध से संबंधित हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका डटकर खंडन किया है। उन्होंने लिखा है कि व्यंजनावृत्ति वाली बात ऐसी होनी चाहिए, जो किसी विशेषवस्तु से सम्बन्धित हो। नैयायिकों के सिद्धान्त में व्याप्ति कहलाती हो तो वह निश्चय ही अनुमान के अनुकूल होगी और व्यंजना के प्रतिकूल अर्थात् उससे व्यंजना नहीं; अपितु अनुमान होता। जहाँ तक स्तनतट का प्रश्न है या समस्त चन्दन के हट जाने वाला अर्थ है, वह तो कोई असाधारण अर्थ है नहीं, क्योंकि गीले कपड़े से चन्दन पुछ जाने पर भी यह बात हो सकती है, तो फिर वापीस्नान मात्र को हटा देने से क्या लाभ हुआ? खींच-तानकर मात्र व्यंग्यार्थ निकालना तो क्लिष्टकल्पना भर ही है। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि यह व्यंग्य किन बातों पर निर्भर करता है? व्यंग्य-अर्थ की यहाँ प्रतीति मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करती है— एक तो उस अधम के पास ही तू गई थी और दूसरी बात वहाँ जाने का फल रमण। इस अर्थ के लिए विपरीत लक्षणा करनी पड़ेगी, तब उसका यह अर्थ सिद्ध होगा कि वापी में नहाने न गई थी, बल्कि उसके पास ही गई थी। अर्थात् वाच्यार्थ में जहाँ 'गई थी' कहा गया है, वहाँ 'नहीं गई थी' यह अर्थ करना पड़ेगा। अन्यथा बात ही ठीक नहीं बैठेगी, अर्थात् 'वाच्यार्थ के बाधित होने पर जो अर्थ प्रकट होता है; वह व्यंजना से बोधित होता है' यह कहना सर्वथा उचित नहीं। क्योंकि यह लक्षणा का विषय है, व्यंजना का नहीं।

चित्रमीमांसाकार, दीक्षित द्वारा ध्वनिकाव्य के उदाहरण में उद्धृत इस श्लोक के कथित अर्थ का प्रत्याख्यान करते हुए पंडितराज ने अर्थ ही बदल दिया है, उन्होंने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है—'अरी बांधवजनों की पीड़ा से अज्ञात स्वार्थतत्पर दूती! स्नान का समय न चूक जाय, इसलिए तू नदी और मेरे प्रियतम के पास न जाकर यहाँ से सीधे वापीस्नान करने चली गई। मेरी पीड़ा से अनभिज्ञ, मुझे दुःख देनेवाले, अत एव उस अधम नायक के पास तू नहीं गई। यह स्थिति तुझे देखकर ही प्रकट हो रही है, क्योंकि सरोवर में बहुत से युवक भी स्नान करने के लिए आया करते हैं। उनसे लज्जित होने के कारण तूने अपने हाथों को कंधे पर रखकर आँचल के भीतर स्नान के समय स्तनों को साफ किया है। फलतः अंचलावृत होने के कारण ही स्तन के ऊपरी तटों का चन्दन धुला और छाती का चन्दन ज्यों का त्यों लगा रह गया। ठीक इसी प्रकार कुल्ला करने के कारण और अंगुली से दाँतों को साफ करने के कारण ऊपर के ओठ में पान का रंग ज्यों का त्यों रह गया और अधर का रंग साफ हो गया। इसी तरह आँखों में पानी लगने के कारण थोड़ा अञ्जन हटा। तू शरीर से दुबली तो है ही और इस समय ठंढ भी पड़ रही है, फलतः स्नान से शरीर का रोमांचित हो जाना भी स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार पंडितराज ने उक्त अर्थ का ही प्रत्याख्यान कर दिया है। जहाँ तक अधम शब्द का प्रश्न है, नायिका ने नायक के द्वारा किए गए अपराधों को स्मरण करके ही उसे ऐसा संबोधित किया है।

(सुधा)

एवं कालिदासीयोदाहरणं व्याख्याय प्रकाशोक्तध्वनेरुदाहरणमाह—यथा वेति। उदाहरणान्तरमित्यर्थः। नायकानयनाय प्रेषितां तमुपभुज्यागतां दूतीं प्रति विदग्धोत्तमा। नायिका स्नानकार्यप्रतिपादनमुखेन सम्भोगचिह्नान्युद्घाटयितुमाह—निश्शेषेति। अयि मिथ्यावादिनि ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ! दूति ! इतो वापीं स्नातुं गतासि। पुनरेवार्थे। तस्याधमस्यान्तिकं नैवेत्यन्वयः। यतस्तव स्तनतटं निश्शेषच्युतचन्दनम्, तवाधरो निर्मृष्टरागः, तव नेत्रे दूरमनञ्जने, तवेयं तन्वी तनुः पुलकितेत्यन्वयः। मिथ्यावादिनि ! मया गत्वाऽनेकधा प्रसादितोऽपि नागत इति मिथ्याभाषणशीले ! बान्धवजनस्य मद्रूपस्याज्ञातः स्वार्थपरायणतया नाकलितः पीडागमो यया तथाभूते दूति न तु सखि ! तेन मिथ्याभाषणयोग्यता व्यज्यते। इतो मत्सन्निधेर्वापीं प्रति स्नानाय गतासि, तत्कालानतिक्रमलोभात्। तस्य बहुधा कृतापराधस्य, अत एवाधमस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखप्रयोजककर्मशीलस्यान्तिकं नैव गतासीत्यन्वयः। उक्तार्थे साधकमाह—निश्शेषेति। तवेत्यस्य सर्वत्रान्वयः। यतस्तव स्तनतटं निश्शेषच्युतचन्दनम्, स्तनयोस्तटं प्रान्तसमदेशः। निश्शेषं च्युतं चन्दनं यस्मात्तत् तथाभूतं न तु स्तनसन्ध्यादि। एवमधरो निश्शेषं मृष्टो रागो यस्य न तूत्तरोष्ठः, न्युब्जतया तत्र जलसम्बन्धाभावात्। नेत्रे उपरि भाग एवाञ्जनरहिते स्नाने मुद्रणात्। तत्र तन्वी तनुः पुलकिता पुलकाः सञ्जाता अस्यास्तथाभूतेत्यर्थः। अत्र व्यङ्ग्यमवतारयति—अत्रेति। वापीस्नानाय गतासि न तत्समीपमित्यर्थे वाच्ये सति तत्समीपमेव रन्तुं गतासीति व्यङ्ग्योऽर्थोऽधमपदेन मुख्यतया व्यज्यते। तन्मुख्यत्वमेव प्रतिपादयति—तथा हीत्यादि। जातिकर्मान्यतरप्रतिपादितापकर्षवत्त्वमधमत्वम्। तदेवाह—जात्या कर्मणा वापकर्षो द्विधा। उत्तमनायिका नायकस्य जात्यापकर्षं न वदति। स्वपदं नायिकापरम्। नायिकापराधे पर्यवसायो यस्यास्ति, तद् दूतीसंभोगादिहीनकर्मणोऽतिरिक्तं कर्म, तेनाप्यपकर्षो न सम्भवति। तस्य पूर्वमेव ज्ञातस्य कथनानर्हत्वात्। अन्यथा सहनाभावे। दूतीप्रेषणाभावापत्तेः। दूतीसम्भोगरूपकर्मणा इष्टापत्तिमङ्गीकरोति। सन्निहितानि निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटादीनि चिह्नानि, तैरात्मना प्रेषितदूतीसम्भोगरूपं हीनं कर्म ज्ञातुं शक्यम्, तन्निश्चयपरेणाधमपदेन नायकनिकटमेव क्रीडितुं गतासीति व्यञ्जनया वक्तृबोद्धव्ययोर्वैशिष्ट्यबलात् प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। अधमपदस्यैव व्यङ्ग्यव्यञ्जकतया सार्थकत्वेनेतरेषां पदानां वैयर्थ्यमाशङ्क्य तत्साहाय्यकथनेन तेषां सार्थकतां प्रतिपादयितुं ग्रन्थमवतारयति—निश्शेषेत्यादि। आदिपदेन निर्मृष्टराग इत्यादि गृह्यते। शेषवाक्यानि संभोगलक्ष्मकथनेनाधमपदे साहाय्यं प्रतिपादयन्ति तदाह—कथमिति। चन्दनच्यवनस्योत्तरीयाकर्षणेन सिद्धौ निश्शेषविशेषणं वापीस्नानप्रतिपादनार्थम्। तेन वाच्यार्थोपपादनं कृतम्। तस्याः स्नानसाधारण्यनिवृत्त्यर्थं सम्भोगलक्ष्मप्रकटनाय तटपदम्। स्नानेन सर्वत्र चन्दनच्यवने यत्तत्स्तनप्रान्त एव, इदम् आश्लेषपदं करस्पर्शपरम्, तत्कृतमेवेत्यर्थः। तत्रैव मर्दनाधिक्यादिति यावत्। मृष्टरागोऽधर इत्युक्ते तस्य ताम्बूलग्रहणविलम्बादपि सिद्धिः। अतो वाच्यार्थोपपत्तये निश्शेषार्थकनिरित्यस्योपादानम्। निश्शेषमृष्टरागतायाः

स्नानसाधारण्यं न । तत्संभोगव्यञ्जनार्थमधरपदोपादानम् । उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठस्यैव विशेष्यत्वम् । तत्र चुम्बनाधिक्यं व्यनक्ति। प्रातर्दत्ताञ्जनस्य कालविलम्बेन किञ्चिल्लुप्तत्वे सिद्धे वापीस्नानप्रतिपादनाय दूरमित्युक्तम् । अतिविलुप्तमित्यर्थः । तस्यापि कालस्नानाभ्यां सिद्धौ क्वचित्प्रान्त एवानञ्जनता चुम्बनमेव व्यनक्ति । तनुस्तन्वीत्येतावदुक्तौ स्वाभाविकतानवप्रतीत्या वाक्यार्थमुपपादयितुं पुलकितेति । तस्यापि तत्त्वनिषेधाय 'वर्तते' इति हृदि स्थितोऽन्वयः । स्नानपुलकिततनोः किञ्चिदुच्छूनता, अत्र तदभावात् । तानवपुलकोद्गमौ सम्भोगक्लेशजनितावेवेति व्यङ्ग्यव्यञ्जनम् । एतादृशैर्वाक्यैस्संस्कारवताऽधमपदेन तदन्तिकगमने व्यक्ते वापीस्नानगुणानुगुणतयाऽन्वितं मिथ्यावादिनीति सम्बोधनं पत्यन्तिकगमनव्यङ्ग्यानुगुण एवार्थे पर्यवसानं प्राप्नोति । ततो हेतोः तिरस्कृतवाच्यमस्य व्यङ्ग्यं वाच्यार्थादतिशययुक्तमिति हेतोरिदमपि उत्तमकाव्योदाहरणमस्तीति शेषः । अत्रान्यसम्भोगदुःखिता नायिका । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" इति वृत्तरत्नाकरोक्तेः ।

रसगङ्गाधरकृतस्तु—'तटादिघटितवाक्यार्थानां स्नानव्यावृत्तिमुखेन सम्भोगाङ्गानामाश्लेषादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्यङ्ग्यव्यञ्जने साहाय्याचरणम्' इति । तदेतच्छास्त्रानवबोधनिबन्धनम्, प्राचीनसर्वग्रन्थविरोधादुपपत्तिविरोधाच्च । तथा हि—पञ्चमोल्लासशेषे 'निश्शेषेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति। यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि' इति प्रकाशकृतोक्तम् । तथा तत्रैव 'भम धम्मिअ वीसत्थ' इत्यादौ लिङ्गलिङ्गिज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्तिं गतार्थयतो व्यक्तिविवेककारस्य मतं प्रत्याचक्षाणेन व्यभिचारिणाऽसिद्धत्वेन च सन्दिह्यमानादपि लिङ्गाद् व्यञ्जनं प्रकाशकृताऽभ्युपगतम् ।

तथा च व्यञ्जकानां साधारण्यं प्रतिपादयता प्रामाणिकग्रन्थेन तदसाधारण्यं प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोधः स्यात् । किञ्च निश्शेषेत्याद्यवान्तरवाक्यार्थैः स्नानव्यावृत्तिद्वारा व्यङ्ग्यसाधारण्यसम्पादनं किमर्थम् ? व्यङ्ग्यव्यञ्जनायेति चेन्न, असाधारणत्वस्य व्यञ्जनानुपात्तत्वात्, 'औण्णिद्दम्' इत्यादौ साधारणीनिःश्वासादीनां वक्त्रादिवैशिष्ट्यबलेनार्थविशेषव्यञ्जकत्वाङ्गीकारात्, व्याप्यपरपर्यायासाधारण्यस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिकूलत्वाच्च । अथ तटादिघटितत्वेऽपि निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारणत्वाभावः, सलिलार्द्रवसनप्रोञ्छनादिना तत्सम्भवात् । तर्हि वापीस्नानव्यावर्तनेन कोऽर्थः । एकस्मिन्निवानेकत्राप्यनैकान्तिकतया अनुमितिविरोधित्वात्, व्यक्त्यनुकूलत्वाच्च । किञ्चात्र तदन्तिकगमनं रमणफलञ्च व्यङ्ग्यशरीरम् । तत्राद्यस्य व्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, पूर्ववाक्यार्थानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वाद्विधिनिषेधप्रतिपादकाभ्याम् 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधविध्योः प्रतीतेरुपपत्तेः । न हि लक्षणीयेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता । न च तस्य तथात्वेऽपि रमणरमणांशस्य शब्दशक्तिमूलध्वनित्वमव्याहतमिति वाच्यम् । अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वेत्यादिसन्दर्भेणाधमत्वान्वयानुपपत्तिवेद्यताप्रतिपादनात्, अन्यलक्ष्यस्य शब्दार्थत्वानङ्गीकाराच्च । किञ्च तथात्वेऽपि वाच्यानां निश्शेषेत्यादि वाक्यार्थानामधमत्वस्य च त्वदुक्तरीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वेन रमणरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् विदग्धनायिकाप्रयुक्तनिश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितम् । अधमत्वोक्तिरपि प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसत्यतया दूतीं प्रति प्रतिपादयितुम्, न तु

सम्भोगम्, विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमतितमामनौचित्यादित्याहुः। तदप्याशयानवबोधात्, व्यङ्ग्यत-दितरकोटिसाधारणस्य वाक्यार्थस्य व्यङ्ग्यकोटौ भूयः सहचारग्रहस्य व्यञ्जनोपयोगात्, प्रायशः सम्भावनासमशीलस्य व्यङ्ग्यबोधस्यापेक्षितोत्कटव्यङ्ग्यत्वस्य वक्तृवैशिष्ट्या-दिवशेनापेक्षितत्वात्। प्रकृते च तटादिमात्रे चन्दनच्यवनादिकं सम्भोगेन भूयः सहचरित-मिति तेन तद्व्यञ्जनमिति तात्पर्यात्। सामान्यतश्चचन्दनच्यवनादिस्नानसाधारणं तटादि-घटितं न स्नानेन सहचरितं किन्तु सम्भोगेनेत्येवं साधारण्यस्य व्यावृत्तिरभिप्रेता, न तु सर्वथा स्नानव्यावृत्तिः, सम्भोगैकान्तिकता वा, येन प्रकाशमतविरोधः। व्याख्यान एव-कारोऽपि सम्भावनार्थकः प्राचुर्यबोधको वा बहुधा, देवदत्त एवायमित्यादिवत्। अस्तु वा, स्नानव्यावृत्तिः, तावतापि न संभोगासाधारण्यम्, आर्द्रवसनप्रोञ्छनादिनापि तादृशच्य-वनादेः सम्भवात्, नानुमानगतार्थत्वम्, तथा सति वापीस्नानव्यावृत्त्या कोऽर्थः? इति चेद्, व्यङ्ग्यबोध इति ब्रूमः। सम्भावितयोर्द्वयोरेकव्यावृत्तौ परोन्मेषहेतुताया अनुभवसिद्ध-त्वात्, वाच्यव्यङ्ग्योभयसाधारणो हेतुरेकत्र बाधितोऽन्यत्र पर्यवस्यतीत्येव ज्याय इति सुबुद्धिनाथोक्तेश्च।

यत्तु स्नानव्यावृत्तौ विरुद्धलक्षणया तदन्तिकं गतासीत्यंशस्य व्यवहारताहानिरिति। तत्रोच्यते—यदि स्नानव्यावृत्तिर्वाक्यार्थदशायामेव तदैवं भवेत्। वाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरन्तु प्रतीततया तया व्यङ्ग्योन्मेषे लक्षणानवकाशात्। नहि तटमेव तथाविधमिति प्राथमिकबोधः, तस्य 'व्यर्थं सत् किञ्चिज्ज्ञापयति' इति न्यायालोचनोत्तरभावित्वादिति तत्प्रयुक्तस्नानव्या-वृत्तिबोधः। अस्तु वा तदंशे लक्षणा, रन्तुमिति फलस्यैव ध्वनित्वात्। यत्तु रमणफल-स्यापि ध्वनित्वाभावः, अधमत्वमपकृष्टत्वमित्यादिना तस्याप्यर्थापत्तिवेद्यत्वप्रतिपादनादि-त्युक्तम्। तदप्यसत्। न हि तेन ग्रन्थेन सम्भोगमृतेऽधमत्वस्यानुपपत्तिः। किन्तु 'नोत्तमनायिकावनोद्धाटनार्हम्' इत्यादिना वक्तृवैशिष्ट्यप्रतिपादनेन व्यङ्ग्यपर्यवसानमात्र-त्वात्। एतेन सम्भोगरूपव्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिरित्यपि निरस्तमिति सङ्क्षेपः। तस्माद् विदग्धाया गूढोक्त्या साधारणेष्वेतेषु व्यङ्ग्येषु सम्भाव्य-मानासाधारण्येषु विदग्धत्वदुश्शीलत्वरूपवक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्यवलाद् दुःखप्रयोजककर्मशील-त्वरूपोऽधमपदार्थो वाच्यार्थो व्यञ्जनया दूतीसंभोगरूपतादृशकर्मशीलत्वाकारेण पर्यव-स्यति। एवं झटिति व्यङ्ग्यबोधकत्वादधमपदस्य प्राधान्यं चन्दनच्यवनादीनां स्नानकार्य-तया निबद्धानां योग्यतया सम्भोगभूताश्लेपचुम्बनादिकार्यताप्रतिसन्धाने तद्व्यञ्जनद्वारा सम्भोगगमकत्वम्, न तु तदसाधारण्यप्रतिपादनम्। अत्र त्वय्यकृतज्ञायां यद्बान्धव-बुद्ध्याविश्वासः, यच्च तत्रैवंविधेदृशोऽनुरागस्तद्युक्तमेव। एवंविधविविधवेदनाजनितसन्ताप-पात्रत्वं ममेति ईर्ष्याहेतुकविप्रलम्भसञ्चारिनिर्वेदध्वनिः, दूतीसंभोगस्य तत्रानुगुणत्वात्। वाच्यानां चन्दनच्यवनादीनां व्यङ्ग्यानाञ्च परिरम्भचुम्बनाद्यनुभावानां संभोगोत्कर्षद्वारेणे-र्ष्योत्तेजकानां निर्वेदोत्कर्षकतेति दिक्।

(चित्र०)

यत्र व्यङ्ग्यं वाच्यानतिशायि तद् गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

(भारती)

जिस काव्य में व्यंग्य चमत्कारजनक तो हो, पर प्रधान न हो; उसे गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक न हो।

विमर्श—आचार्य मम्मट का जो मध्यम काव्य है तथा आनन्दवर्धन और आचार्य अभिनवगुप्त की परिभाषा में गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है, उसी तरह आचार्य दीक्षित की भी गुणीभूतव्यंग्य की परिभाषा है। मम्मट ने भी इसे मध्यम काव्य केवल इसलिए कहा है कि इसमें व्यंग्यार्थ की अप्रधानता रहती है। ध्वनिमर्मज्ञों की दृष्टि में गुणीभूतव्यंग्यकाव्य चमत्कारजनक नहीं, अतः उन्होंने इसे ध्वनि का ही एक निष्पन्द रूप माना है **'ध्वनिनिष्पन्द-रूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः।'** रसगंगाधरकार ने चित्रकाव्य के गुणीभूतव्यंग्य पर भी थोड़ा विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि काव्य-प्रकाश के टीकाकारों ने **'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्'** इस गुणीभूतव्यंग्य के लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि गुणीभूतव्यंग्य उसी का नाम है जो चित्र अर्थात् अलंकारप्रधान काव्य न हो। पर यह उनका कथन ठीक नहीं। क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकार जिनमें प्रधान हों, उन काव्यों में अव्याप्ति हो जायगी और होना चाहिए अवश्य। क्योंकि सभी अलंकार शास्त्र के ज्ञाताओं ने उनको गुणीभूतव्यंग्य और चित्र दोनों माना है। अतः जो चित्रकाव्य होगा, वह गुणीभूत अवश्य होगा। दीक्षित ने गुणीभूतव्यंग्य का अधोऽकित उदाहरण दिया है—

(सुधा)

गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपमध्यमकाव्यस्य स्वरूपमाह—यत्रेति। यत्र काव्ये व्यञ्जनावृत्ति-गम्यं वाच्यार्थं नातिशेते = नातिक्राम्यति, तद्गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यर्थः। तथा च वाच्यार्थ-निष्ठचमत्कृतित्वावच्छिन्नप्रयुक्ततिरस्कारत्वावच्छिन्नाधिकरणव्यङ्ग्यत्वे सति शब्दार्थत्वं तत्त्व-मिति लक्षणम्। व्यङ्ग्यचमत्कृतिसमानाधिकरणत्वरहितवाच्यचमत्कारवत्त्वमेव मध्य-मत्वमिति गङ्गाधरकृतः। 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इति प्रकाश-लक्षणे तु व्यङ्ग्यपदमस्फुटतरातिरिक्तव्यङ्ग्यपरम्। तेनास्फुटव्यङ्ग्ये नाव्याप्तिः; न वाधम-काव्येऽतिव्याप्तिः; तत्रास्फुटतरव्यङ्ग्यसत्त्वादिति प्रदीपादयः। व्यङ्ग्यपदं स्फुटव्यङ्ग्यपरम्। तेनाधमकाव्ये नातिव्याप्तिरिति व्याख्यानन्तु भ्रममूलकमेव, अस्फुटव्यङ्ग्यस्यासंग्रहापत्तेः। केचित्पुनः, यथाश्रुतकाव्यप्रकाशीयलक्षणस्याधमेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्य चित्रान्यत्वे सति चमत्कारानाधायकव्यङ्ग्यवत्त्वमिति व्याचक्रुः। यत्तु गङ्गाधरकृता—'चित्रान्यत्वे सति' इत्युक्तौ पर्यायोक्तिसमासोक्त्यादिप्रधानकाव्येऽव्याप्तिः, तेषां गुणीभूतव्यङ्ग्यतायाश्चित्र-तायाश्च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वादिति। तन्न; 'गुणालङ्कारयुक्तस्यैव चित्रत्वम्' इति प्रकाश-कृता प्रतिपादितत्वात्, शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वेनार्थचित्रमीमांसाप्रस्तावस्याप्पय-दीक्षितेनात्र सूचितत्वेनालङ्कारिकसम्मतत्वाभावादिति दिक्।

(चित्र०)

यथा—

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुं गोपीं हरिः पातु वः॥

(भारती)

(यहाँ व्यंग्यार्थ के वैसा न होने का अभिप्राय है वाच्यार्थ से उसका अधिक चमत्कारजनक न हो जाना।) जैसे कि यहाँ नायिका का कथन है—"हे कृष्ण! मैं अब जाती हूँ। क्योंकि मात्र तुम्हें देखने भर से क्या तृप्ति मुझे मिल जाती है ? अर्थात् नहीं। किंतु, इस निर्जन वन में अर्थात् इस एकांत स्थान में हम दोनों को देखकर भला लोग क्या कहेंगे ? इस प्रकार आमंत्रित करती हुई अर्थात् इतनी देर तक तुम्हारे साथ रमण की इच्छा से रुकी हुई व्यर्थ ही समय बिताने के खेद से अलसाई हुई अंगड़ाई लेती हुई गोपी का आलिंगन करते हुए रोमांचित शरीर वाले भगवान कृष्ण तुम लोगों की रक्षा करें। (यहाँ व्यंग्यार्थ इस निर्जन वन में मिलने का संकेत देकर भी वह अभीप्सित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकी, यह व्यंग्य गौण रूप से है। क्योंकि इसकी अपेक्षा जो वाच्यार्थ है 'मैं जा रही हूँ' वही अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है।)

(सुधा)

तदुदाहरति—यथेति। तत्राप्यष्टधा भिन्ने मध्यमे वाच्यसिद्ध्यङ्गमुदाहरति—गच्छामीति। हे अच्युत! अस्खलितधैर्य! अहं गच्छामि, भवतो दर्शनेनालोकनमात्रेण किं प्रीतिरुत्पद्यते! अपि तु नेति। किन्तु हतजनो नष्टो लोकः एवं विजनस्थयोः जनसञ्चाररहितवनस्थितयोः आवयोरन्यथा सम्भावयति। एवमामन्त्रणमच्युतेति सम्बोधनम्, तस्य भङ्ग्या एतावत्कालं स्थितायां मयि त्वद्रमणाभाव एवेति विच्छित्त्या सूचितं वृथावस्थानम्, तस्य खेदेनालसामङ्गादिकं मोटयन्तीं गोपीमाश्लिष्यन् पुलकानामुत्करेण समूहेनाञ्चिता तनुर्यस्य स हरिः वः पातु इत्यन्वयः। अत्र वक्रोक्तिरलङ्कारः। वृथावस्थानखेदे अच्युतेत्यस्य पदार्थस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता' इति काव्यप्रकाशोक्तेः। परकीया नायिका। शार्दूलविक्रीडितम् 'सूर्याश्वैः……' इति तल्लक्षणस्योक्तेः।

(चित्र०)

अत्र गच्छाम्यच्युतेत्याद्यामन्त्रणेन त्वया रन्तुमेतावत्कालं स्थितम्, तन्न लब्धमिति व्यङ्ग्यम्। तत्तु 'इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्' इत्येतद्वाच्यस्य सिद्धिं करोतीति तदङ्गत्वान्न वाच्यातिशायि। अतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिदम्।

(भारती)

यहाँ 'हे अच्युत! मैं जाती हूँ' इस संबोधन से 'तुम्हारे साथ रमण की इच्छा से इतनी देर तक व्यर्थ रुकी रही' इस व्यंग्य की अपेक्षा आमंत्रणभंगजन्य व्यर्थ प्रतीक्षाजन्य खेद से अलसाई हुई वाच्यार्थ की प्रतीति ही अधिक चमत्कारजनक है। अतः यहाँ यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य हुआ।

(सुधा)

अत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वप्रतिपादनाय व्यङ्ग्यमवतारयति—अत्रेति। 'गच्छाम्यच्युत' इत्यामन्त्रणेन त्वया रमणाय एतावत्कालं स्थितं न तल्लब्धम्, अस्खलनार्थत्वात्। एतद्व्यङ्ग्यम् 'इत्यामन्त्रण' इत्यादिवाच्यस्य सिद्धिकृद् इति प्रकारेण तदङ्गत्वात् व्यङ्ग्यस्य वाच्याङ्गत्वान्न वाच्यात्तस्यातिशय आधिक्यम्, अत इदं काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

(चित्र०)

यथा वा—

प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथ वा
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि !
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥

अत्र सकलमहःपरमावधिः, ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोतीति तदङ्गत्वाद्वाच्यानतिशायि । अत इदमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।

(भारती)

उदाहरण देते हैं—हे प्रिय ! क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे अथवा दो पहर में या कि उसके भी बाद अथवा पूरा दिन बिताकर ही लौटोगे ? आँसुओं की धारा बहाती हुई ऐसी बातों से वह नवोढ़ा जहाँ सैकड़ों दिनों में वह पहुँचने वाला है, इतने दूर देश जाने वाले अपने प्रेमी के गमन का निषेध कर रही है अर्थात् उसे जाने से रोक रही है । इस पद्य में सारा दिन पूरी अवधि है । उसके बाद मैं न जी सकूँगी यह व्यंग्य है और वाच्य है प्रिय के जाने का निवारण । अब सोचिए कि प्रिय का न जाना तभी संभव है जब कि वह यह समझ ले कि वह एक दिन के बाद न जी सकेगी और यह वाच्यार्थ पूर्वोक्त व्यंग्य से ही सिद्ध होता है । अतः यह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य है ।

विमर्श—गुणीभूतव्यंग्य के इस उदाहरण पर पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में अपनी आपत्ति प्रकट की है । उन्होंने लिखा है—'साश्रुनयन उस बाला के इस कथन से, 'क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे ?' प्रिय का न जाना रूपी वाच्य सिद्ध हो जाता है, अतः व्यंग्य के गौण होकर उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । 'बातों से जाने का निवारण कर रही है' इस कथन में 'बातों से' यह तृतीया करण अर्थ में है । अतः स्पष्ट है कि वे 'बातें' जाने के निवारण के साधक हैं । यदि इसे यह कहें कि व्यंग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है तो ऐसा कहने पर 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' आदि में भी दूतीसंभोग आदि व्यंग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध करते हैं । फिर उन्हें गुणीभूतव्यंग्य मान लेने में क्या आपत्ति ? अतः व्यंग्य सहित होने पर ही प्रिय के जाने का निवारण सिद्ध हो सकता है । पण्डितराज जगन्नाथ ने उसके बाद 'न जी सकूँगी' इस व्यंग्य को वाच्यसिद्धि का अंग मानकर गौण समझ लिया है । पर 'नायक' आदि विभाव, 'अश्रु' अनुभाव, चित्त के आवेग को संचारी भाव मानकर उनके संयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलंभ शृंगार के कारण इसे ध्वनि-काव्य कहा है । किंतु, पण्डितराज के इस तर्क में कुछ अधिक तथ्य नहीं प्रतीत होता । क्योंकि बीच में प्रतीत होने वाले व्यंग्य के द्वारा भी ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य का व्यवहार होना काव्य-प्रकाश आदि प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों को सम्मत है । अतः अंत में पण्डितराज की दृष्टि में भी इस श्लोक में विप्रलंभ शृंगार की ध्वनि प्रतीत होती है, अतः इस काव्य को गुणीभूतव्यंग्य न मानना कुछ भी अभिप्राय नहीं रखता ।

(सुधा)

मध्यमकाव्यस्योदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। हे प्रिय ! प्रहरावसाने त्वमेष्यसि वा मध्याह्ने, अथवा मध्याह्नात् परत्र तृतीयप्रहरे, उत सकले याते ऽह्नि दिवसावसाने किं वा इह त्वमेष्यसि ! इति सबाष्पगलज्जलैरालापैर्दिनानां शतेन प्राप्तुं योग्यं देशं गन्तुमिच्छतः प्रियस्य बाला मुग्धा गमनं हरतीत्यन्वयः। विरहासहिष्णुतायाः प्रवासविप्रलम्भरसउत्कर्षे हेतुः। जातिरलङ्कारः। नवोढेयम्। हरिणीवृत्तम्, 'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' इत्युक्तेः।

अत्रापि वाच्यसिद्ध्यङ्गतां प्रतिपादयितुं व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति। परमावधिः सकलदिवसः। तदनन्तरं प्राणधारणमशक्यमिति व्यंग्यं गमननिवृत्तिरूपवाच्यसिद्धिकृद् इति वाच्यांगत्वाद् व्यंग्यं वाच्यार्थादतिशायि नेतीदमपि गुणीभूतव्यंग्यम्।

यत्तु गंगाधरकृता सबाष्पगलज्जलानां प्रियालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यंगतया व्यंगेथ न गुणीभावत्वम्, आलापैरिति तृतीयया हरणक्रियां प्रति करणत्वस्य प्रतिपत्तेः। तद्वाच्यसिद्ध्यङ्गतासम्भवमात्रेणोक्तौ 'निश्शेषच्युत' इत्यादावधमत्वरूपवाच्यसिद्ध्यंगत्वस्य दूतीसम्भोगादौ सम्भवाद् मध्यमत्वापत्तेः। अस्तु वा प्राणधारणाशक्यत्वरूपव्यंग्यस्य वाच्यसिद्ध्यंगतया गुणीभावस्तथापि नायकादेर्विभावस्य; बाष्पादेरनुभावस्य; चिन्तावेगादेश्च सञ्चारिणः; संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वस्य निवारणासम्भवादिति प्रतिपादितम्। तदसत्। तादृशालापानां तस्या मुग्धात्वद्योतनतात्पर्यतया वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वाभावाद्। मुग्धोपलक्षणे तृतीयाविभक्तेः सत्त्वाच्च, दूतीसम्भोगरूपहीनकर्मत्वाकारेण तत्पर्यवसाने साधकत्वात्, वाच्याङ्गत्वाभावाच्च। तादृशविप्रलम्भजन्यप्राणधारणाशक्यतायास्तन्निवारणे तात्पर्यस्य वक्तुं योग्यत्वाच्च। प्रथमोदाहरणे राजविषयकभावध्वनेरुत्तरत्र स्पष्टतया सङ्कीर्णत्वम्। उत्तरस्य तु शुद्धवाच्याङ्गत्वमिति भेदः।

(चित्र०)

यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्।

तत्त्रिविधम्—शब्दचित्रम्, अर्थचित्रम्, उभयचित्रमिति।

शब्दचित्रं यथा—

(भारती)

क्रमप्राप्त काव्य के तृतीय भेद—चित्रकाव्य—का लक्षण करते हुए दीक्षित ने कहा है कि गुणाभिव्यंजक शब्द और अर्थ तथा अलंकृत शब्द वाले मनोहर अव्यंग्य रचना को भी चित्रकाव्य कहते हैं। इस काव्य के अव्यंग्य होने का अभिप्राय है—व्यंग्यार्थ की स्फुट प्रतीति से रहित होना। फिर इसका विभाग करते हुए दीक्षित ने लिखा है—

वह चित्रकाव्य तीन प्रकार का होता है—(१) शब्दचित्र (२) अर्थचित्र और (३) उभयचित्र। इसमें सर्वप्रथम शब्दचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(सुधा)

क्रमप्राप्तस्य तृतीयभेदस्य चित्रस्य लक्षणमाह—यदिति। यत् काव्यमव्यङ्ग्यम्, अस्फुटतरातिरिक्तव्यङ्ग्यरहितं चारुगुणालङ्कारान्यतरचमत्कृतियुतं तच्चित्रमित्यर्थः। तथा चास्फुटतरातिरिक्तव्यङ्ग्यरहितत्वे सति गुणालङ्कारनिरूपितचमत्कारवत्त्वं तत्त्वमित्यर्थः।

केचित्तु—अव्यङ्ग्यम् = अस्फुटव्यङ्ग्यम्। स्फुटत्वन्तु कवितात्पर्यविषयविशेषवत्त्वम्। तथा चविशेषतः कवितात्पर्यरहितत्वे सति गुणालङ्कारनिरूपितचमत्कारवत्त्वमित्याहुः।

तद्विभागमाह—तदिति। तच्चित्रं काव्यं त्रिविधं त्रिप्रकारकमित्यर्थः। द्विविधमेव चित्रमिति प्रकाशादयः। ततो विशेषप्रतिपादकं त्रिविधमिति विशेषणम्। तदाह—शब्दचित्रमित्यादि। तादृशव्यङ्ग्यत्वे सति शब्दविषयकगुणालङ्कारचमत्कृतिविशेषवत्त्वमाद्यम्। अर्थोपयोगिगुणालङ्कारचमत्कारवत्त्वे सति तादृशव्यङ्ग्यवत्त्वं द्वितीयम्। उभयविषयकगुणालङ्कारचमत्कृतिमत्त्वे सति तादृशव्यङ्ग्याश्रयत्वं तृतीयमिति समुदायार्थः।

तत्राद्यमुदाहरति—शब्दचित्रं यथेति। माघकाव्ये वसन्तदर्शनं कृष्णस्येति।

(चित्र०)

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

(भारती)

यह श्लोक 'शिशुपाल वध' के षष्ठ सर्ग में वसन्त वर्णन से उद्धृत है। भगवान श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम वसन्त को देखा। उस वसन्त को जिसके कारण पलाशों के वन में नये नये पत्ते निकल आये थे, पराग से भरे हुए कमल खिल गये थे। धूप की गर्मी से लताओं के कोमल पत्ते कुछ मुरझा गये थे और विविध प्रकार के फूलों से मनोहर सुगन्ध निकल रही थी।

विमर्श—इस श्लोक को शब्दचित्र के उदाहरण में दीक्षित ने इसलिए रखा कि नव पलाशवन के वर्णन का चित्र 'प' शब्द की अधिकाधिक श्रुतियों में खींच रहा है, और पुष्प समृद्धियों की मादकता की प्रतिकृति 'लता' के बाद 'सुरभि' की आवृत्त ध्वनियों में दिखाता प्रतीत हो रहा है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यहाँ कवि ने वसन्त-वर्णन के प्रति अपना चमत्कार प्रदर्शित किया है; किंतु इस चमत्कार-प्रदर्शन में कवि की उतनी तन्मयता नहीं प्रतीत होती, जितनी कि शब्द-चित्रण के अपने विचित्र कौशल के प्रदर्शन में है।

(सुधा)

नवपलाशेति। स हरिः, पुरोऽग्रे प्रथमं वा नवानि पलाशानि पर्णानि 'पलाशः किंशुके पर्णे' इति विश्वः। येषां तानि। पलाशानां किंशुकानां वनानि यस्मिन् तम्। स्फुटानि विकचानि,परागै रजोभिः 'परागः सुमनोरजः' इत्यमरः। परागतानि व्याप्तानि पङ्कजानि कमलानि यस्मिन् तमित्यर्थः। अत एव मृदुला कोमला तान्ता आतपसमये किञ्चिन्म्लाना लतान्ताः पल्लवा यस्मिन् तम्। सुमनोभरैः पुष्पसमृद्धिभिः सुरभिं सुगन्धं मनोज्ञं वा, सुरभिं वसन्तम्, अलोकयत् अपश्यत्। 'सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः, सुगन्धौ च मनोज्ञे' इति विश्वः। इह प्रतिपदमक्षरत्रयावृत्तिरूपो यमकालङ्कारः। 'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः, यमकम्।' इति प्रकाशोक्तेः। वृत्त्यनुप्रासश्च, 'एकस्याप्यसकृत्परः' इत्युक्तेः। सजातीययोरेतयोः संसृष्टिः, 'सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः' इति तल्लक्षणात्। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, 'द्रुतविलम्बितमाह—'नभौ भरौ' इति वृत्तरत्नाकरोक्तेः। अत्र द्वयोः शब्दालङ्कारयोश्चमत्कृतिहेतुत्वेन शब्दचित्रत्वव्यवहारः।

(चित्र०)

अर्थचित्रं यथा—

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥

(भारती)

अर्थचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कवि ने लिखा है—

यह श्लोक रघुवंश के सप्तम सर्ग से उद्धृत है। इसमें रघु के रण का वर्णन है। इसका अर्थ इस प्रकार है—घोड़ों की टापों से युद्ध में जो रजकण उड़े थे, उसकी जड़ (पृथ्वी से सटा हुआ भाग) रुधिर ने काट दी और वह रजकण उस रुधिर के ऊपर ही ऊपर उड़ने लगे। वह धूलिकण ऐसे प्रतीत होते थे, मानो आग के केवल अंगारे शेष रह गए हैं और उससे जो पहले निकल चुका था वह धुँआ ऊपर उड़ रहा है।

विमर्श—यहाँ धूलिकण के बीच धूम की संभावना से उत्प्रेक्षालंकार है। यथा—**'भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मनः।'** इस श्लोक में अर्थचमत्कृति के कारण ही इसे अर्थ चित्र का उदाहरण माना गया है।

(सुधा)

अर्थचित्रमुदाहरति—अर्थचित्रं यथेति। स इति। रघुवंशेऽजसंग्रामवर्णनम्। क्षतजेन रुधिरेण च्छिन्नमूलो लूनभूतलसम्बन्धः, तस्य क्षतजस्योपरिष्टात् पवनेनावधूतः कम्पितः स रेणुः। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः' इत्यमरः। अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे दिदीपे। रेणुमध्ये धूमसम्भावनयोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति प्रकाशोक्तेः। 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः॥' इत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकशब्देषु सम्भावनार्थकेवशब्दस्य तद्वाचकत्वप्रतिपादनात्। इन्द्रवज्राच्छन्दः। 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति तल्लक्षणात्। अर्थालङ्कारभूताया उत्प्रेक्षायाश्चमत्कृतिहेतुत्वेनार्थचित्रत्वव्यवहार इति बोद्धव्यम्।

(चित्र०)

उभयचित्रं यथा—

वराहः कल्याणं वितरतु स वः कल्पविरमे
विनिर्धुन्वन्नौदन्वतमुदकमुर्वीमुदवहत् ।
खुराघातत्रुट्यत्कुलशिखरिकूटप्रविलुठ-
च्छिलाकोटिस्फोटस्फुटघटितमङ्गल्यपटहः ॥

(भारती)

उभय चित्र का उदाहरण दीक्षित ने अधोंकित रूप से प्रस्तुत किया है—

कल्पान्त में जब सागर अपनी मर्यादा भंग कर देता है और स्वतंत्र रूप से प्रलयंकर दृश्य करते हुए समुद्र के जल पृथ्वी को कंपित करते हैं, वैसी प्रकम्पित धरती को धारण करने वाले भगवान वराह तुम लोगों को कल्याण प्रदान करें। भगवान वराह की विशेपता का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—जिनके खुरों की चोट से बड़े-बड़े विशाल पर्वत के शिखर से शिला-

खंड टूटकर गिर रहे हैं और शिलाखंड टूटने से जो ध्वनि उत्पन्न हो रही है वह मानो मांगलिक नगाड़े बज रहे हैं।

विमर्श—यहाँ शब्दालंकार की दृष्टि से वृत्त्यनुप्रास है और अर्थालंकार की दृष्टि से रूपक है। अतः अनुप्रास और रूपक दोनों की चमत्कृति के कारण उभय चित्र का यह उदाहरण दिया गया है। स्पष्ट है कि इस श्लोक में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक ही साथ सम्पन्न हुआ है। श्लोक में पद-पद पर शब्दों से वृत्त्यनुप्रास की अधिकता और ओजगुण के प्रकाशित होने के कारण शब्द का चमत्कार है और प्रसादगुण युक्त होने के कारण शब्द सुनते ही ज्ञात हुए रूपक अथवा हेतु अलंकार रूपी अर्थ का चमत्कार हैं। अतः इस श्लोक में दोनों शब्द और अर्थ के चमत्कारों के समान होने के कारण दोनों की प्रधानता समान ही है। इस कारण इसे शब्दार्थोभयचित्रकाव्य कहना ही उचित है। ग्रन्थ के आरंभ में प्रकरण का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है—

(सुधा)

उभयचित्रमुदाहरति—वराह इति। कल्पविरमे कल्पावसाने, उदन्वत उदधेरिदम् औदन्वतम् 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः' इत्यमरः। उदकं जलम्, विनिर्धुन्वन् कम्पयन्, उर्वीं पृथिवीमुदवहत्। उदके प्रापयन् धारयन् वा स वराहो भगवान् वो युष्माकम् 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इति वसादेशः। कल्याणं मङ्गलं वितरतु ददात्वित्यर्थः। 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट्। कीदृशो वराहः खुराणां तैर्वा आघातस्ताडनं तेन त्रुट्यन्तो ये कुलपर्वतानां कूटाः शिखराणि तेभ्यः प्रविलुठन्त्यः शिलादृषदः, तासां स्फोटः स्फोटनम्, तदेव स्फुटं घटितो माङ्गल्यपटहो मङ्गलार्थं आनतो येन तादृश इत्यर्थः। वृत्त्यनुप्रासोऽत्र शब्दालङ्कारः, रूपकञ्चार्थालङ्कारः। 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इत्युक्तेः। शिखरिणीच्छन्दः 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति तल्लक्षणात्। अत्रोभयोरलङ्कारयोश्चमत्कृतिहेतुत्वादुभयचित्रत्वमिति बोध्यम्।

(चित्र०)

तदेवं त्रिविधे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरन्यत्रास्माभिः प्रपञ्चः कृतः। शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।

चिन्त्येऽत्र चित्रवर्गे प्रदर्श्ययोर्लक्ष्यलक्षणयोः।
प्राचीनानामेव श्लोकाः प्रायेण लिख्यन्ते॥

इति चित्रमीमांसायां ग्रन्थारम्भप्रकरणम्

(भारती)

इसलिए इस प्रकार ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य एवं चित्रभेद से त्रिविध काव्य में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का विस्तारपूर्वक वर्णन इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है। तीन प्रकार के चित्रकाव्य में प्रथम शब्दचित्र का नीरस होने के कारण व्यंग्य रहने पर भी अनुप्रास मात्र की

विशेषता के कारण ध्वनि एवं रस के मर्मज्ञ कविजन शब्द-चित्र काव्य को अत्यन्त आदर की दृष्टि से नहीं देखते । अतः शब्दचित्र को छोड़कर अर्थचित्र काव्य की मीमांसा अर्थात् जिस काव्य में अर्थालंकार का चमत्कार रहता है, उसका अत्यन्त विस्तारपूर्वक विचार इस ग्रन्थ में किया गया है ।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के संदर्भ में लेखक ने कहा है कि इसमें विचारणीय चित्रकाव्य के अलंकार समूहों में लक्ष्य एवं लक्षण के प्रदर्शन के लिए प्राचीन लोगों द्वारा लिखे गए प्रामाणिक श्लोकों को ही उद्धृत किया गया है। प्रायः शब्द से-अपने द्वारा भी रचित कहीं-कहीं श्लोकों का सन्निवेश भी किया गया है, यह मालूम पड़ता है ।

इति सविमल विमर्शोपेत 'भारती' हिन्दी व्याख्यायां ग्रन्थारंभप्रकरणम्

(सुधा)

अथारम्भप्रकरणमुपसंहरति—तदेवमिति । ध्वनिगुणीभूतचित्रभेदेन त्रिविधे काव्ये ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रपञ्चो विस्तररचनाविशेषोऽन्यत्र ग्रन्थे कृतः । त्रिविधे चित्रे आद्यस्य शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वात् ; तत्र व्यङ्ग्यसत्त्वेऽपि कविसंरम्भविषयत्वाभावात् प्राय इत्युक्तिः, अनुप्रासमात्रे तत्संरम्भात् कवयः = ध्वनिरसाभिज्ञाः, तत् = शब्दचित्रं नात्यन्तमाद्रियन्ते न तदादरनिरूपणे कुर्वन्ति । तत्र = शब्दचित्रे विचारणीयं विचारयितुं योग्यं वाऽतीव नोपलभ्यत इति शब्दचित्रमपहाय त्यक्त्वा, अर्थचित्रेऽर्थालाङ्करचमत्कृतियुते काव्ये मीमांसा = विचारणा, अत्यन्तं विस्तीर्णा विस्तृता प्रस्तूयते प्रारभ्यत इति समुदायार्थः । प्रकाशकारस्तु—'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' इति द्विविधमेव चित्रमाह । यत्तु प्रकाशमतमुद्दिश्य दर्पणकाराः—'अत्र केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति । तदाहुः 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' इति, तन्न; किमिदमव्यङ्ग्यत्वं नाम ? व्यङ्ग्यत्वाभाव इति चेत् ? अनात्मवत्त्वेन काव्यत्वहानिः, यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यं शून्यत्वमिति चेत् ? किमिदं यत्किञ्चिदिति ? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम् , नास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम् ? नाद्यः; पूर्वत्रान्तर्भावापत्तेः । नान्त्यः, दत्तसमाधानत्वात् । तदुक्तं ध्वनिकृता—'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते । उभे काव्ये तदन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥' इति दूषणं व्याचक्रुः । तन्न; अर्थचित्रप्रतिपादकोपमाद्यलङ्कारघटितकाव्यानां चित्रत्वेनालङ्कारिकसम्मतत्वात् तेषां काव्यत्वाभावप्रसङ्गात्, अव्यङ्ग्यकाव्यस्य चित्रत्वेन ध्वनिकर्त्तुरभिमतत्वाच्च; अव्यङ्ग्यपदस्यास्फुटतरातिरिक्तव्यङ्ग्यपरत्वस्य प्रदीपादिभिर्व्याख्यातत्वाच्च; प्रकृतग्रन्थस्य सर्वथानुपपत्तेरिति दिक् । रसगङ्गाधरकृतस्तु—यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमम् । यथा—'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे । गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' अत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृतौ लीना । अर्थचमत्कृतिसामान्यशून्यशब्दचमत्कृतिसत्त्वाद् अधमाधममपि काव्यं वक्तुं शक्यम् । यथा खड्गपद्मबन्धादि । तथापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वरूपकाव्यत्वलक्षणानाक्रान्ततया तत्र काव्यत्वाभावे तन्मध्ये गणनानौचित्यात् । केचित्तु—उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते । तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वं वक्तुमयुक्तम् , तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्', 'सच्छिन्नमूलः क्षतजेन

रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ—'इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात्। सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरीपदन्तरयोर्भिन्नभेदत्वे दुराग्रह इत्याहुः। तदपि न। मित्रेत्यादिपद्येषु शब्दोपयोग्यनुप्रासादेः सत्त्वादन्तर्भावः। अत एवात्र च शब्दचित्रत्वम्। सोऽलङ्कृतिश्च काव्यचमत्कृतिहेतुरिति सिद्धान्तस्य प्रदीपादौ दृष्टत्वात्, तयोरन्यतरसत्त्वे काव्यत्वं नास्तीति वक्तुमयोग्यत्वात्। यत्तु शब्दचित्रार्थचित्रयोर्विशेषवत्त्वेनाधमत्वमयुक्तम्, तदपि न; न वयं तयोर्विशेषो नास्तीति ब्रूमः, किन्तु गुणालङ्कारोपयोगित्वस्य चित्रत्वस्योभयत्र समानत्वादधमत्वमिति ब्रूमः। चित्रत्वरूपेण विशेषाभावसत्त्वात्, शब्दचित्रेष्वपि व्यङ्ग्यसत्त्वात् पामरश्लाघ्यत्वस्य त्वया वक्तुमयोग्यत्वात्। ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्व्यङ्ग्यवाच्यार्थचमत्कृतिरूपविशेषस्य महतः सत्त्वेन भिन्नभेदत्वमावश्यकमेव। न हि शब्दार्थालङ्कारयोरेकस्याचारुत्वमपरस्य चारुतेति काव्यवित्सम्मतम्। चमत्कृतिजनकत्वावच्छेदकताया द्वयोस्तुल्यत्वात्। 'यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया व्यङ्ग्यपर्यवसानम्' तथापि स्फुटव्यङ्ग्यतया तदनुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत् काव्यद्वयम् इति तयोरविशेषस्य षष्ठे काव्यप्रकाशकृता स्फुटं प्रतिपादित्वात्। अस्य च शब्दार्थालङ्कारभेदाद् बहवो भेदाः। एतेन 'उत्तमगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्भेदयोर्जागरूकाजागरूकव्यङ्ग्ययोर्निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यं निविष्टम्' इत्यप्यपास्तम्, अजागरूकव्यंग्येनाधमत्वस्यैव वक्तव्यत्वात्। अयन्तु विशेषः, यमकबन्धादिरचनावति काव्ये दुष्टत्वम्, शीघ्रमर्थानवबोधात्। शब्दचित्रादावर्थस्य शीघ्रं बोधादव्यंग्यत्वेनाधमत्वमात्रं न पुनर्दुष्टत्वम्, अलङ्कारविषयनिबन्धस्य चित्रत्वेन काव्यताया ध्वनिकारादिसम्मतत्वाच्चेत्यलम्।

ग्रन्थस्य सप्रमाणतां वक्तुमाह—चिन्त्य इति। अत्र चिन्त्ये विचारयोग्ये चित्रवर्गेऽलङ्कारसमूहे प्रदर्शयितुं योग्ययोर्लक्ष्यलक्षणयोः स्वरूपोदाहरणयोः प्राचीनानामेव श्लोकाः प्रायेण लिख्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते। तथा चात्र ग्रन्थे लक्षणोदाहरणप्रतिपादक श्लोकानां प्राचीनकृतत्वेन सप्रामाण्यमुपपादितम्। क्वचित् स्वकृतश्लोकानामपि लेखनेन प्राय इत्युक्तम्। उपगीतिरत्र वृत्तम्—'आर्या द्वितीयकेऽर्द्धे यद् गदितं लक्षणं तत् स्यात्। यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तां मुनिर्ब्रूते॥'

धरानन्देन रचितो ग्रन्थारम्भो यथामति।
व्याख्यायां चित्रमीमांसा-सुधायामाप पूर्णताम्॥

इति चित्रमीमांसाव्याख्यायां सुधाभिधायां ग्रन्थारम्भ-
प्रकरणं सम्पूर्णतामगमत्

अथ उपमानिरूपणम्

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।।

(भारती)

उपमा एक ऐसी नर्त्तकी है, जो काव्य के रंगमंच पर अनेक भूमिका से विभिन्न रूपों में उपस्थित होकर काव्य-रसिकों अर्थात् अलंकारज्ञों के हृदयों का रंजन करती है।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार में नटीत्व का आरोप किया गया है। अलंकारों में भूमिका का आरोप तथा काव्यों में रंगभूमि का आरोप होने के कारण इस श्लोक में परम्परित रूपक अलंकार है। यथा—

'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः। तत्परम्परितम्।'—काव्य-प्रकाश।

इसमें आर्यावृत्त है।

कोपगत 'उपमा' शब्द का पर्यायवाची अर्थ है—तुल्यता, समानता या सादृश्य। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा अर्थात् सान्निध्य या सामीप्य के कारण किए गए मान को उपमा कहते हैं। फलतः उपमा शब्द 'उप' और 'मा' इन दो शब्दों के संयोग से बना है। 'उप' शब्द का सीधा अर्थ समीप या निकट है तथा 'मा' का अर्थ तुलना है। दोनों का सम्मिलित अर्थ है किसी एक वस्तु की दूसरी वस्तु के साथ तुलना।

यही कारण है कि आलंकारिकों ने उपमा को सादृश्यमूलक अलंकार माना है। फलतः इस अलंकार में दो पदार्थों के बीच समानता के कारण सहृदयों के हृदय में जो सौंदर्यजनित आनन्दानुभूति होती है—उसी की प्रधानता है। अतः उपमा का प्राण सादृश्य ही है। यद्यपि कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकार महारथियों ने उपमा के इस सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य का प्रयोग किया है और कुछ आलोचकों ने साधर्म्य को सादृश्य का पर्यायवाची शब्द मान लिया है। किंतु, सादृश्य और साधर्म्य दोनों भिन्नार्थक शब्द ही नहीं हैं, प्रत्युत उपमा में इनकी उपयोगिता भी अपना अलग अस्तित्व रखती है। उद्योतकार ने इसकी भिन्नता स्पष्ट रूप से स्वीकृत की है—'सादृश्यं च साधारणधर्मप्रयोज्यो धर्मविशेषः' अर्थात् दो पदार्थों जैसे कि उपमान और उपमेय का परस्पर जो 'सादृश्य' है वह उनका एक विशेष धर्म है जो उनमें अनुगत उनके साधारण धर्म के कारण हुआ करता है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि इन्हीं दो वस्तुओं के बीच उनके गुण, धर्म या स्वरूप-योग्यता की दृष्टि से समानता दिखलाना ही उपमा है। शर्त्त यह है कि समानता में सहृदय-हृदय संवेद्य चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता हो। आचार्य क्षेमेन्द्र ने सौंदर्य को ही अलङ्कार मान लिया है तथा उनकी इस दृष्टि को आचार्य वामन का भी समर्थन प्राप्त है। अतः शास्त्र एवं व्यवहार दोनों दृष्टि से उपमा की महत्ता असन्दिग्ध है। क्योंकि यह मन की एक सूक्ष्म किन्तु सरल प्रक्रिया है। उपमा की सरलता या वेधक सहजता के कारण ही सादृश्यमूलक सभी अलंकारों

में इसकी लोकप्रियता सर्वाधिक है। अपनी सरलता, सहजता एवं वेधकता के कारण ही इसे साहित्य में व्यापक क्षेत्र प्राप्त हुआ है। अतः दीक्षित जी का यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उपमा वह नहीं है, जो काव्य रूपी रंगभूमि में चित्रभूमिका भेद से विभिन्न रूपों में सहृदयों के हृदयों का रंजन करती है।

(सुधा)

तत्र—

यत् किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥

इति भरतेनार्थालङ्कारेषूपमायाः प्रथमकथनेन तदुक्त्या स्वयमपि तां वक्तुमुपमायाः सर्वालङ्कारबीजतां प्रतिपादयति—उपमैकेति। एकोपमा शैलूषी नटी, चित्रभूमिकाभेदान् अलङ्काररूपस्थितिभेदान् संप्राप्ता तत्तद्रूपतां प्राप्ता काव्यमेव रङ्गभूमिः, तत्र नृत्यन्ती नृत्याभिनयरूपतत्तदलङ्कारव्यापारं कुर्वन्ती, तद्विदामलङ्कारविदां चेतश्चित्तं रञ्जयति अनुरागि करोति। अत्रोपमायां नटीत्वारोपः, अलङ्कारेषु भूमित्वारोपः, काव्ये रङ्गभूमित्वारोपः; तद्विदां रञ्जनाप्रतिपादनार्थमिति परम्परितरूपकमलङ्कारः। 'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः। तत्परम्परितम्...' इति प्रकाशोक्तेः। आर्यावृत्तम्।

(चित्र०)

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालङ्कारभावं भजते।

(भारती)

मुख चन्द्र सा सुन्दर है—इसमें मुख और चन्द्रमा के बीच सादृश्य वर्णन ही 'उपमा' है। वही उपमा उक्तिभंगी के भेद से अनेक अलंकारों में दिखाई पड़ती है।

विमर्श—आलंकारिकों ने अपने-अपने ढंग से उपमा का लक्षण निरूपित किया है। किन्तु, इसके स्वरूप-निर्माण में सबों ने साम्य, सादृश्य या साधर्म्य इनमें से किसी एक का प्रयोग अवश्य ही किया है। साम्य या साधर्म्य घूम-फिर कर सादृश्य के ही चक्कर काटते हैं। और साहित्यशास्त्र में सादृश्य का लक्षण है—'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वम्।' अतः इसका प्रयोग अवयव, गुण या क्रिया के योग में होता है।

(सुधा)

उपमाया अलङ्कारभेदेन स्थितिभेदं निरूपयितुं विच्छित्तिभेदेन सर्वालङ्काररूपतां प्रतिपादयितुमारभते—चन्द्र इव मुखमितीति। सादृश्यमुपमानोपमेययोरिति शेषः। तावत् स प्रथममुपमालङ्कारो भवति। सा उपमैवोक्तिविच्छित्तिभेदेनानेकालङ्कारस्वरूपतां भजते, अङ्गीकरोतीत्यर्थः। अलङ्कारत्वञ्च—रसादिभिन्नव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम्। अनुप्रासादौ तद्विशिष्टशब्दज्ञानादुपमादौ तद्विशिष्टार्थज्ञानात् चमत्कृतिजन्यतया द्वयोर्लक्षणसमन्वयः। शब्दार्थयोर्ज्ञाननिष्ठचमत्कृतिजनकताया विषयतयावच्छेदकतया तद्विशेषणीभूतानुप्रासोपमादेस्तन्निष्ठावच्छेदकतावच्छेदकत्वात्। रसवदाद्यलङ्कारसङ्ग्रहाय व्यङ्ग्योपमावारणाय च भेदद्वयगर्भसत्यन्तोपादानमिति कुवलयानन्दव्याख्याकृतः।

नव्यास्तु—शब्दार्थोपस्कृतिनिष्ठचमत्कृतिजनकतावच्छेदकत्वे सति व्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति संयोगसम्बन्धेन रसोपकारकत्वं तत्त्वमिति वदन्ति । प्राञ्चस्तु—व्यङ्ग्योपमाया अलङ्कारत्वं वदन्ति । दीक्षितास्तु–तस्यास्तत्त्वं नाङ्गीकुर्वन्ति । परन्तु प्रधानभूतोपमायास्तत्त्वाङ्गीकारे किं बीजमिति न विद्मः ।

(चित्र०)

तथा हि—'चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः' इत्युपमेयोपमा । 'मुखं मुखमिव' इत्यनन्वयः । 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपम् । 'चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि' इति स्मरणम् । 'मुखमेव चन्द्रः' इति रूपकम् । 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इति परिणामः । 'किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः' इति सन्देहः । 'चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति' इति भ्रान्तिमान् । चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति' इत्युल्लेखः । 'चन्द्रोऽयं न मुखम्' इत्यपह्नवः । 'नूनं चन्द्रः' इत्युत्प्रेक्षा । 'चन्द्रोऽयम्' इत्यतिशयोक्तिः । 'मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते' इति तुल्ययोगिता । 'निशि चन्द्रस्त्वन्मुखं च हृष्यति' इति दीपकम् । 'त्वन्मुख एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते' इति प्रतिवस्तूपमा । 'दिवि चन्द्रो भुवि त्वन्मुखम्' इति दृष्टान्तः । 'मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्ति' इति निदर्शना । 'निष्कलङ्कं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते' इति व्यतिरेकः । 'त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु हृष्यति' इति सहोक्तिः । 'मुखं नेत्राङ्करुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितम्' इति समासोक्तिः । 'अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितसक्तिना' इति श्लेषः । 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इत्यप्रस्तुतप्रशंसा । एवमुक्तानेकालङ्कारविवर्तवतीयमुपमा ।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा ॥

(भारती)

मुख चन्द्र के समान है एवं चन्द्र मुख के समान है—उपमेयोपमा । मुख मुख ही के समान है—अनन्वय । चन्द्रमा मुख के समान है—प्रतीप । चन्द्र को देखकर मुख की याद आती है—स्मरण । मुख ही चन्द्रमा है—रूपक । मुखचन्द्र से ताप शान्त हो रहा है—परिणाम । यह मुख है अथवा चन्द्रमा—सन्देह । चन्द्रमा समझकर चकोर तुम्हारे मुख की ओर दौड़ रहा है—भ्रान्तिमान् । तुम्हारे मुख को चकोर चन्द्रमा समझता है तथा भौंरे उसे ही कमल मानते हैं अर्थात् मुख तुम्हारा एक ही है किन्तु चकोर उसे चन्द्रमा और भौंरे कमल मानते हैं—उल्लेख । यह मुख नहीं; चन्द्रमा है—अपह्नुति । मुख मानो चन्द्रमा है—उत्प्रेक्षा । यह चन्द्रमा है—अतिशयोक्ति । मुख ने चन्द्र और कमल को जीत लिया—तुल्ययोगिता । रात में तुम्हारा मुख एवं कमल शोभते हैं—दीपक । तुम्हारे मुख को देखकर मैं प्रसन्न हूँ और चकोर चन्द्रमा को देखकर प्रसन्न है—प्रतिवस्तूपमा । आकाश में चन्द्रमा है तो पृथ्वी पर तुम्हारा मुख—दृष्टान्त । मुख में चन्द्रमा की श्री है—निदर्शना । निष्कलंक मुख चन्द्रमा से बढ़कर है—व्यतिरेक । तुम्हारे मुख के साथ रात में चन्द्रमा मनोहर लगता है—सहोक्ति । मुख नेत्रांक से रुचिर है तथा तुम्हारा स्मितहास

ज्योत्स्ना से उपशोभित है—समासोक्ति। कमल के सदृश मुख है इत्यादि में—श्लेष। मुख के आगे चन्द्रमा निस्तेज है—अप्रस्तुतप्रशंसा। इस प्रकार उपरोक्त अनेक अलंकारों के विवर्त्त में उपमालंकार ही है। इस प्रकार अप्पयदीक्षित ने अलंकारों के बीच उपमा का महत्त्व स्थापित किया है।

(सुधा)

उपमाया अनेकालङ्काररूपतामुक्तिभेदेन दर्शयति—तथा हीति। चन्द्र इवेति। वाक्य-भेदेनोपमानोपमेयत्वरूपोपमेयोपमा तृतीयसदृशनिषेधात् पृथक्। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः। एकस्यैवोपमानोपमेयतावच्छेदकत्वाद् द्वितीयसदृशव्यवच्छेदात् पृथगुक्तिः। 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपम्, प्रसिद्धोपमानप्रतिकूलधर्मवत्त्वस्य सत्त्वात्। प्रतिकूलत्वञ्च तिरस्कारप्रयोजकत्वमिति नव्याः। उपमानतिरस्कारादुपमाभेदः। 'चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि' इति स्मरणम्। स्मरामीत्यनुभवसाक्षितया स्मृतित्वजातिस्तत्र। 'मुखमेव चन्द्रः' इति रूपकम्, उपमानोपमेययोरभेदस्यात्र सत्त्वात्। 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इति परिणामः। विषयनिष्ठायाः प्रकृतकार्योपयोगिताया अवच्छेदिका विषयात्मतापरिणतिः। तस्या अत्र सत्त्वात्। 'किमिदम्' इत्यादि सन्देहः, निश्चयभिन्नत्वे सति सम्भावना-भिन्नज्ञानवत्त्वस्य सत्त्वात्। चन्द्र इत्यादि भ्रान्तिमान्, विशेष्यावृत्तिप्रकारकज्ञानवत्त्वस्य सत्त्वात्। 'चन्द्र इति' इत्यादिरुल्लेखः, ग्रहीतृविषयाद्यन्यतमानेकत्वप्रयुक्तस्यैकस्योल्लिख्य-मानानेकत्वप्रकारत्वस्य सत्त्वात्। 'चन्द्रोऽयम्' इत्यपह्नुतिः, अभेदप्रतिपत्तिनिरूपिताङ्गा-ङ्गित्वान्यतरवन्निषेधस्य सत्त्वात्। 'नूनं चन्द्रः' इत्युत्प्रेक्षा, विषयिनिष्ठधर्मसम्बन्धप्रयुक्त-विषयिधर्मिकताशक्यसम्बन्धावच्छिन्नविषयिविधेयकाहार्यसम्भावनस्य सत्त्वात्। चन्द्र-निष्ठाह्लादकत्वादिधर्मसम्बन्धप्रयुक्ततत्संभावनस्याहार्यरूपस्य मुखे सत्त्वेन तत्समन्वयाच्च। 'चन्द्रोऽयम्' इत्यतिशयोक्तिः, अनुपात्तविषयधर्मिकाहार्यनिश्चयविषयीभूतविषय्यभेदता-द्रूप्यान्यतरत्वस्य तल्लक्षणस्य तत्र सत्त्वात्। 'मुखेन' इत्यादि तुल्ययोगिता, अनेक-प्रस्तुतमात्रसम्बद्धैकचमत्कारिधर्मताद्दशाप्रस्तुतधर्मान्यतरत्वस्य विद्यमानत्वात्। 'निशि चन्द्रः' इत्यादि दीपकम्, वर्ण्यावर्ण्यान्वितत्वैकचमत्कृतित्वावच्छिन्नधर्मवत्त्वस्य सत्त्वात्। 'त्वन्मुख एवाहं रज्यामि' इत्यादि प्रतिवस्तूपमा, सकृद्धर्मोक्तिप्रङ्गेनासकृद्धर्मोक्तिगम्यवा-क्यार्थसादृश्यवल्लक्षणस्य समन्वयात्। 'दिवि चन्द्रस्त्वन्मुखं भुवि' इति दृष्टान्तः, बिम्बप्रतिबिम्बभावावच्छिन्नोपमानोपमेयघटकवाक्यार्थघटकधर्मवत्त्वस्य सत्त्वात्। 'मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्ति' इति निदर्शना, उपमेयवाक्यार्थे उपमानवाक्यार्थैक्यारोपवत्त्वस्य सत्त्वात्। 'निष्कलङ्कं मुखम्' इत्यादि व्यतिरेकः, उपमानावधितदुपमेयाधिक्यवर्णनात्। 'त्वन्मुखेन समम्' इत्यादि सहोक्तिः, चमत्कृतिजनकतारूपसाहित्यवत्त्वसत्त्वात्। 'रम्यं नेत्रोत्पलं विना भृङ्गाञ्जनं न सह्यम्' इति विनोक्तिः, किञ्चिद् व्यतिरेकेण अस्तु प्रस्तुतस्य रम्यत्वान्यतरधर्मवत्त्वसत्त्वात्। 'मुखं नेत्राङ्कम्' इत्यादि समासोक्तिः, विशेषणमात्रसाम्यगम्याप्रस्तुतवृत्तान्तस्य सत्त्वात्। 'अब्जेन सदृशम्' इत्यादि श्लेषः, अनेकार्थाधिकरणशब्दसत्त्वात्। 'मुखस्य पुरतः' इत्याद्यप्रस्तुतप्रशंसा, प्रकृतार्थप्रतिपादका-प्रकृतार्थवत्त्वस्य सत्त्वात्।

प्रकरणमुपसंहरति—एवम् = पूर्वोक्तप्रकारेण, अलङ्काररूपो यो विवर्तः = उपादानविष-मसत्ताकोऽन्यथाभावः, तद्वती तदधिष्ठानेति, तदाश्रया इत्यर्थः।

तदेवोपपादयन् प्रथमनिरूपणीयतां तस्याः प्रतिपादयति—तदिदमिति। तत् = तस्मात्, यतः सर्वालङ्कारविवर्त्ताधिष्ठानवतीयमुपमा, तस्मादित्यर्थः। इदं चित्रमलङ्कारविपयं विश्वं जगद् ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानाद् ज्ञातं ज्ञानविपयीभूतं भवति। यथा ब्रह्मज्ञानाद् विश्वं ज्ञातं भवति तद्वदुपमाज्ञानादलङ्कारविपयमपीत्यर्थः। ब्रह्मव्यतिरेकेण विश्वमिवोपमाव्यतिरेकात् तदभाव इति यावत्। इति हेतोरादौ निखिलैर्भेदैः सहिता सोपमा निरूप्यते। उपमालङ्कारः, 'साधर्म्यमुपमा भेदे' इति तल्लक्षणात्। तस्याः, प्रथमनिरूपणहेतुत्वेन काव्यलिङ्गरूपवाक्यार्थतालङ्कारः, 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता' इति प्रकाशोक्तेः। गीतिरत्र वृत्तम्—'आर्या प्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः। दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः॥ इति तल्लक्षणात्।

(चित्र०)

अस्यास्तावदेवं लक्षणमाहुः—

उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ॥

कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेनोपमानोपमेयत्वयोग्ययोरेव साधर्म्यमुपमा, न त्वतथाभूतयोः। अत एव 'कुमुदमिव मुखं प्रसन्नम्' इत्यादिनोपमा। तथाभूतयोरपि वस्तुत्वद्रव्यत्वादिकृतमहृद्यं साधर्म्यं न तथा। किन्तु हृद्यमेव कान्तिमत्त्वादिकम्। सर्वोऽपि ह्यलङ्कारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एवालङ्कारतां भजते। अतः 'गोसदृशो गवयः' इति नोपमा, 'गौर्वाहीकः' इति न रूपकम्, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति न सन्देहः, 'इदं रजतम्' इति न भ्रान्तिमान्, 'नायं सर्पः' इति नापह्नुतिः 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति न पर्यायोक्तम्, 'पर्वतो वह्निमान्' इति नानुमानम्, 'स देवदत्तः' इति न स्मरणम्, 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति न यथासङ्ख्यम्, 'पुत्रेण सहागतः पिता' इति न सहोक्तिः, 'तेन विना गतः' इति न विनोक्तिः, 'श्वेतो धावति' इति न श्लेषः, इत्याद्यूहनीयम्।

(भारती)

सर्वप्रथम प्राचीन आचार्यों ने उपमा का लक्षण इस प्रकार कहा है—उपमानता और उपमेयता के योग्य दो पदार्थों के सुन्दर साधर्म्य अर्थात् समान धर्म वाले होने को उपमा कहते हैं।

कविप्रसिद्धि के अनुरोध से योग्य उपमानत्व एवं उपमेयत्व के बीच साधर्म्य रहने पर ही उपमालंकार होता है न कि अयोग्य एवं असाधर्म्य के बीच। इसीलिए 'कुमुद की तरह मुख प्रसन्न है' इत्यादि में उपमालंकार नहीं है। वैसे रहने पर भी दोनों में वस्तुत्व द्रव्यत्वादिकृत असौंदर्य के कारण उस प्रकार साधर्म्य का भी अभाव है। (यदि वैसा साधर्म्य वस्तुत्व-द्रव्यत्वादि कृत मान भी लें तो 'गोसदृशो गवय' अर्थात् जैसा बैल होता है, वैसी ही गवय (नील गाय) होती है, ऐसे स्थलों में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा।) अतः, 'हृद्यम्' अर्थात् कान्तिमत्वं विशेषण दिया गया है, आदि शब्द से यहाँ आह्लादकत्व का बोध होता है। इसी प्रकार सभी

अलंकार कविसंकेतप्रसिद्धि के अनुरोध से अपने क्रान्तिमत्वादि रूप से काव्य की शोभा बढ़ाकर अलङ्कारत्व को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि 'बैल की तरह नीलगाय' में कविसंकेतप्रसिद्धि के कारण चमत्कार के अभाव में उपमालंकार नहीं हुआ। इसी प्रकार 'गौर्वाहीकः' में रूपक अलंकार नहीं है। स्थाणु (ठूँठ) है अथवा आदमी—यहाँ संदेह अलंकार नहीं है। 'यह चाँदी है'—यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार नहीं है। 'यह सर्प नहीं है—यहाँ अपह्नुति अलंकार नहीं है। 'देवदत्त मोटा है; किन्तु दिन में खाता नहीं'—यहाँ पर्यायोक्तालंकार नहीं है। 'इस पहाड़ में आग है'—इसमें अनुमान अलंकार नहीं है। 'वही देवदत्त है' इसमें स्मरण अलंकार नहीं है। 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः—इस सूत्र में यथासंख्यालङ्कार नहीं है। 'पुत्र के साथ पिता आया है', इसमें सहोक्ति नहीं है। 'उसके बिना गया'—इसमें विनोक्ति नहीं है। 'सफेद दौड़ता है'—यहाँ श्लेपालंकार नहीं है। इसी प्रकार कल्पना करनी चाहिए।

(सुधा)

तत्रोपमायाः प्राचीनप्रतिपादितं लक्षणं खण्डयितुं सव्याख्यानं तल्लक्षणमुपन्यस्यति—अस्या इति। तावत्=प्रथमम्, अस्या उपमायाः, प्राचीना एवं लक्षणमाहुः कथयन्तीत्यर्थः। लक्षणत्वञ्चाव्याप्त्यसम्भवैतद्दोषत्रयरहितासाधारणधर्मवत्त्वमेव। अव्याप्तित्वञ्च लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वम्। तेनासंभवादौ असाधारणधर्मे च नातिव्याप्तिः। लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वे सति तद्विरुद्धधर्मसमानाधिकरणत्वमतिव्याप्तित्वम्। तेन नोक्तदोषः। लक्ष्यतावच्छेदकीभूताभावप्रतियोगित्वमसम्भवत्वम्। तेनाव्याप्तौ नातिव्याप्तिः। असाधारणधर्मत्वञ्च लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम्। दूपणत्रयरहितत्वस्य तदुक्तौ तत्तद्दूपणशरीरघटिततत्तदभावकूटवत्त्वनिवेशे गौरवात्। तत्प्रयोजनं व्यवहारो व्यावृत्तिर्वा, 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' इत्युक्तेः। वस्तुतस्तु—इतरव्यावृत्तिरेव लक्षणस्य मुख्यं प्रयोजनम्, शब्दप्रयोगरूपव्यवहारस्य कण्ठताल्वादिव्यापारेणापि सम्भवात्। एतेषां दूषणानां हेत्वाभासे भागासिद्धिसव्यभिचारविरोधत्वव्यवहार इति दिक्।

लक्षणमाह—उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरिति। उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्, 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट्। उपमातुं योग्यमुपमेयम्। उपमानञ्चोपमेयञ्चोपमानोपमेये, तयोर्भाव उपमानोपमेयत्वम्। त्वप्रत्ययस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वादुभयत्रान्वयः। व्युत्पत्तौ पदशब्दस्य शब्दपरत्वात्, 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता' इत्यादौ तथात्वस्य दृष्टत्वात्, पट्वीमृदूयत इत्यादौ द्वन्द्वोत्तरं विद्यमानक्यङ्प्रत्ययस्योभयत्रान्वयित्वस्य भाष्यादौ प्रतिपादितत्वादिति। तत्र उपमानोपमेयत्वेन योग्यौ, तयोर्द्वयोरर्थयोर्हृद्यं चारु साधर्म्यं काव्यवेदिभिरुपमेत्युच्यते, प्रतिपाद्यते इत्यर्थः। कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन योग्ययोरेव साधर्म्यमुपमा, न तु तदप्रसिद्ध्येति। अत एव 'कुमुदमिव मुखं प्रसन्नम्' इति नोपमालङ्कारः कुमुदोपमानत्वस्य कविसमयाप्रसिद्धेः। तथाभूतयोरपि साधर्म्यं वस्तुत्वद्रव्यत्वादिकृतं चेद् वक्ष्यते, तदा गोसदृशो गवय इत्यादावतिव्याप्तेः। अतो हृद्यमिति। हृद्यञ्च कान्तिमत्त्वादिकम्, आदिशब्देनाह्लादकत्वादि। सहृदयाचारं प्रतिपादयन्नतिव्याप्तिं निराकरोति—सर्वोऽपीति। अपिरेवार्थे, सर्व एवालङ्कारः, अलङ्कारमात्रमित्यर्थः। कविसङ्केतप्रसिद्धेरनुरोधेन हृद्यतया कान्तिमत्त्वादिरूपया काव्यस्य शोभाकर एव अलङ्कारभावं भजते। अतो हेतोः 'गोसदृशो गवयः' इत्यत्र उपमा न, कविसङ्केतप्रसिद्ध्या चमत्कृतेरभावात्। सर्वत्र कान्तिमत्त्वाभाव एव हेतुरलङ्कारत्वनिषेधेऽवसेय इत्याद्यूहनीयमित्यन्तमेकान्वयः।

(चित्र०)

अत्रेदं विचार्यते—'द्वयोः' इति विशेषणमिह किमर्थम् । स्वस्य स्वेनैव साधर्म्यवर्णनात्मकस्यानन्वयस्य व्युदासार्थमिति चेत्, एवमप्युपमानस्योपमेयत्वकल्पनात्मके प्रतीपे; द्वयोः पर्यायेणोपमेयत्वकल्पनात्मिकायामुपमेयोपमायाम्, चातिव्याप्तिः । तयोः सादृश्यवर्णनसत्त्वादुपमात्वेन संग्राह्यत्वे तथैवानन्वयोऽपि संग्राह्यः स्यादिति व्यर्थं द्वयोरिति पदम् । एतेन 'साधर्म्यमुपमा भेदे—' इति काव्यप्रकाशोक्तलक्षणेऽनन्वयव्युदासाय कृतं भेदग्रहणमपि प्रत्युक्तम् । न हि संभवत्साधर्म्यवर्णन एवोपमात्वम्, येन स्वस्य स्वेन साधर्म्यासंभवादनन्वयस्य व्यवच्छेद्यत्वम्, इतरयोः संग्राह्यत्वं न स्यात् । तथात्वे 'हंसीव धवला कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते' इत्यादौ कविकल्पितसाधर्म्योपमाया अनुपमात्वप्रसङ्गात् । किञ्च, सत्यामप्युपमानोपमेयत्वयोग्यतायां सत्यपि हृद्यत्वे लिङ्गवचनभेदादिदुष्टायामुपमायाम् 'हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः' इत्यादिरूपायामतिव्याप्तिः, उदाहरिष्यमाणे चोपमाध्वनावतिव्याप्तिः । न हि सोऽप्यलङ्कारः; अलङ्कार्यत्वात्, ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तत्रालङ्कारध्वनिव्यपदेश इति सिद्धान्तात् । यदि च दुष्टादुष्टालङ्कार्यालंकारसाधारणोपमासामान्यलक्षणमिति नोक्तातिव्याप्तिः, तदोपमानोपमेयत्वयोग्ययोरिति हृद्यमिति च व्यर्थम् । कविसमयप्रसिद्ध्यभावादिदुष्टोपमाया अपि संग्राह्यत्वात् ।

(भारती)

प्राचीन आलंकारिकों के इस लक्षण की प्रथम व्याख्या कर अब उस लक्षण के दोषों का उद्घाटन करते हुए दीक्षितजी ने लिखा है—अत्रेदं विचार्यते—'अत्र अर्थात् इस लक्षण में 'इदम्' अर्थात् इस दोष पर विचार करते हैं—'उपमानोपमेयत्वादि' पूर्वकथित कारिका में 'द्वयोः' विशेषण पद व्यर्थ है । क्योंकि, 'अर्थयोः' में द्विवचनान्त विभक्ति से ही 'द्वयोः' अर्थ की गतार्थता है, पुनः यह विशेषण निरर्थक ही है । यदि आप कहें कि स्व का स्व के साथ साधर्म्य वर्णनात्मक अनन्वयालंकार में अतिव्याप्ति दोष निवारण के लिए 'द्वयोः' पद की आवश्यकता है—अर्थात् चन्द्रमा का चन्द्रमा के साथ ही साधर्म्य वर्णन रूप में जैसे 'चन्द्र के समान चन्द्र ही श्रीमान है' इस अनन्वय में अतिव्याप्तिदोष निवारण के लिए 'द्वयोः' पद आवश्यक है तो हम कहेंगे कि इस अनन्वय में 'द्वयोः' पद देने से अतिव्याप्ति दोष का यत्किञ्चित् परिहार हो जाता है; किन्तु, उपमान का चन्द्रादि उपमेयता रूप कल्पना में जैसे 'मुख के समान चन्द्र है' इस प्रतीप में 'द्वयोः' अर्थात् उपमान और उपमेय का क्रमशः उपमेय और उपमान रूप कल्पनात्मकता में—'धर्म अर्थ की तरह तुम में पूर्ण है और अर्थ धर्म की तरह पूर्ण है' इस उपमेय और उपमा में दोनों के सादृश्यवर्णन रहने के कारण 'द्वयोः' पद रहने पर भी अतिव्याप्ति दोष हो ही जाता है । इसी प्रकार अनन्वय में भी तद्रूपता ग्रहण करने पर भी 'द्वयोः' पद रहने पर अतिव्याप्ति दोष जब रह ही जाता है तो फिर 'द्वयोः' विशेषण बिलकुल ही निरर्थक है ।

'द्वयोः' इस विशेषण का निरर्थकत्व सिद्ध करने के बाद प्रसंगवश काव्यप्रकाशोक्त लक्षण का भी खण्डन करते हैं—'साधर्म्यमुपमा भेदे' अर्थात् 'उपमा' वह अलङ्कार है, जिसे उपमान

और उपमेय का, उनमें भेद होने पर भी, परस्पर साधारण धर्म से सम्बद्ध होना कहा जाता है। काव्य-प्रकाश के इस लक्षण में—अनन्वय में अतिव्याप्ति दोष निवारण के लिए जो 'भेदे' शब्द ग्रहण किया गया है, वह भी निरर्थक ही है। क्योंकि इससे यदि अनन्वय में अतिव्याप्ति का निवारण हो भी जाता है तो प्रतीपादि में अतिव्याप्ति दोष दुर्निवार हो जाता है। यदि आप विद्यमान साधर्म्यवर्णन को ही उपमा का प्रयोजकत्व मान लेते हैं तो जिसके द्वारा—निज का निज के साथ साधर्म्य का होना असंभव होने के कारण अनन्वय में तथाकथित अतिव्याप्ति दोष रह ही जाता है, साथ ही दूसरों के साथ इसका संग्राह्यत्व भी नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, जहाँ कवि के द्वारा कल्पित साधर्म्य का वर्णन है, जैसे 'हँसी की तरह धवल तुम्हारी कीर्त्ति स्वर्ग रूपी गंगा का अवगाहन कर रही है' इत्यादि। वहाँ उपमा में भी अनुपमात्व का प्रसंग हो जायेगा, क्योंकि यहाँ भी विद्यमान साधर्म्यवर्णन के अभाव में अतिव्याप्ति दोष हो ही जायगा। दूसरी बात यह भी है कि उपमान और उपमेयत्व की योग्यता रहने पर भी तथा हृदयत्व के रहने पर भी जहाँ दुष्ट उपमा है वहाँ भी उपमा के लक्षण चले जाने के कारण अतिव्याप्ति दोष की संभावना है। जैसे 'हँसी की तरह शुभ्र चन्द्रमा सरोवर की तरह स्वच्छ नभ में विचरता है।' ऐसे स्थलों में भी अतिव्याप्ति होगी। उदाहरिष्यमाण उपमा ध्वनि में भी अतिव्याप्ति दोष होगा। जैसे—

> वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
> त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागतः।—वाल्मीकि०

इस श्लोक में जो उपमाध्वनि है अर्थात् व्यङ्ग्योपमा है उसमें भी अतिव्याप्ति दोष हो जायगा। क्योंकि अलंकार्यत्व होने के कारण यहाँ अलंकार असंभव है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणश्रमण न्याय से यह ध्वनि व्यपदेश सिद्धान्तसम्मत भी है। यदि हम इसे सभी प्रकार के दुष्ट, अदुष्ट, अलंकार, अलंकार्य रूप साधारणतः उपमा सामान्य लक्षण स्वीकार कर लें, तब तो कहीं अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। यदि ऐसा मान भी लेते हैं तो 'उपमानोपमेयत्व' इस श्लोक में 'हृद्यम्' इस शब्द का क्या होगा? क्योंकि सभी जगह यदि हम लक्षणसमन्वय को अङ्गीकार कर लेते हैं तो दुष्ट उपमा का भी इसमें संग्रह हो जायगा; फिर 'हृद्यम्' तो असंभव दोष से दूषित हो जायेगा। अतः प्राचीन आचार्यों के ये सभी लक्षण दोषयुक्त ही हैं।

विमर्श—प्रतीप में उपमेय और उपमा में उसके अभाव के कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। यदि प्रकृत में उत्कर्ष प्रयोजकत्व को अलंकारमात्र में प्रयुक्त विशेषणों के रूप में हम इसे मान भी लें, तो भी प्रतीप में उपमान के तिरस्कार में प्रयुक्त मुखादि रूप उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। उपमेय और उपमा में दोनों के परस्पर उपमान व्यवच्छेदक रूप में ही ये प्रयुक्त हैं; न कि सादृश्यरूप में। इस दृष्टि से भी उक्त लक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं रह जाता है।

जहाँ तक काव्यप्रकाशोक्त लक्षण के प्रत्याख्यान का प्रश्न है, इसमें भी सबल युक्ति का अभाव ही है। यद्यपि मम्मट के लक्षण का खण्डन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है। इनकी दृष्टि में भेद होने पर समानधर्मता को, जो उपमा कहा गया है, वह विशेष सुन्दर नहीं। क्योंकि, इसकी भी व्यतिरेकालंकार के निषेध किए जाने वाले सादृश्य में अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि आप कहें कि हम 'साधर्म्य' के साथ 'पर्यवसित' विशेषण और लगा देंगे, जिससे उसका अर्थ यह हो जायगा कि जिस साधर्म्य का साधर्म्य में ही पर्यवसान अर्थात् समाप्ति हो जाय, निषेध आदि

से नहीं, उस साधर्म्य को उपमा कहते हैं। तो यह कथन भी पूर्णतः ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि अनन्वयालंकार में जो सादृश्य होता है उसका साधर्म्य में पर्यवसान होने से—अनन्वयालंकार के सादृश्य का पर्यवसान निषेध में जाकर होता है—ही निवारण हो जाने के कारण 'भेद होने पर' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। एक तो उक्त लक्षण में यह दोष है, दूसरे यह भी कि काव्य के अलंकारों के प्रकरण में ऐसे सामान्य लक्षण का बनाना भी अनुचित है जो लौकिक, अलौकिक, प्रधान, वाच्य और व्यङ्ग्य सभी प्रकार की उपमा में अतिव्याप्ति हो जाय। किन्तु, आलोचकों के ये दृष्टिकोण भी स्वस्थ नहीं प्रतीत होते हैं। क्योंकि यहाँ मम्मट के लक्षण में प्रयुक्त 'साधर्म्य' ही आक्षेपक आलोचकों के 'सादृश्य' से भिन्न है। स्वयं काव्यप्रकाश के टीकाकारों के बीच भी इस 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' को लेकर मतभिन्नताएँ हैं। कुछ टीकाकारों की दृष्टि में 'साधर्म्य' पद की उपयोगिता स्वतंत्र रूप से है और कुछ की दृष्टि में 'साधर्म्य' का प्रयोग मात्र-सादृश्यार्थक है। किन्तु, थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि मम्मट के लक्षण में प्रयुक्त 'साधर्म्य' सादृश्यार्थक पर्यायवाची शब्द नहीं है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं—'यह इसके सदृश समान है।' किन्तु, कोई भी वक्ता जब इस तरह का प्रयोग करता है तो उसके मन में यह अवश्य रहता है कि दोनों में जो सादृश्य है, वह किन-किन कारणों से है। अर्थात् दो वस्तुओं के 'सादृश्य में उनका साधर्म्य उनका परस्पर समान अथवा साधारण धर्म से सम्बन्ध प्रयोजक रूप से ही दिखाई दिया करता है। दो वस्तुओं अर्थात् उपमान और उपमेय का परस्पर जो सादृश्य है, वह उनका एक विशेष धर्म है; जो उनमें अनुगत उनके साधारण धर्म के कारण हुआ करता है।

यही कारण है कि लक्षण में मम्मट ने उपमान और उपमेय का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी इसी उल्लिखित 'साधर्म्य' के द्वारा उपमान और उपमेय का आक्षेप स्वतः हो जाता है। क्योंकि, 'साधर्म्य' साधारण धर्मरूप सम्बन्ध जिन किन्हीं दो पदार्थों में होगा उनमें परस्पर 'उपमानोपमेय' भाव रहेगा ही।

जहाँ तक 'भेदे' का प्रश्न है और इस सम्बन्ध में अनन्वय अलंकार में अतिव्याप्ति दोष का प्रश्न उठाया गया है, उस सम्बन्ध में अनन्वय अलंकार में उपमान और उपमेय में पारमार्थिक भेद का अभाव ही रहा करता है। जैसे कि 'राम-रावण का युद्ध राम रावण की तरह ही था' इत्यादि में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों रूपों में वर्त्तमान है। यहाँ उपमान का अस्तित्व टिक नहीं सकता, क्योंकि यहाँ जो 'साधर्म्य' अभिप्रेत है, वह उतना चमत्कार-जनक नहीं, जितना कि वहाँ, जहाँ उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न हैं। जैसे, 'कमल के समान इसका मुख मनोज्ञ है'

(सुधा)

प्राचीनलक्षणं व्याख्याय तत्र दूषणमुपन्यस्यति—अत्रेति। अत्र लक्षणे इदं दूषणं विचार्यते। इह लक्षणे 'द्वयोः' इति पदं किमर्थम्? अर्थयोरित्यनेनैव तल्लाभादित्याशयः। चन्द्रस्य चन्द्रेणैव साधर्म्यवर्णनरूपे 'चन्द्र इव चन्द्रः श्रीमान्' इत्यनन्वयेऽतिव्याप्तिनिषेधकतया द्वयोरिति पदस्य साफल्येऽप्युपमानस्य चन्द्रादेरुपमेयतारूपकल्पनात्मके 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपे, द्वयोरुपमानोपमेययोः क्रमेणोपमेयोपमानरूपकल्पनात्मिकायाम् 'धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि' इत्युपमेयोपमायाञ्च द्वयोः सादृश्यवर्णनसत्त्वादतिव्याप्तिः। ननु तत्र लक्षणगमनं न दोषाय, तयोरुपमारूपत्वादिति समाधानं खण्डयति—उपमात्वेनेति।

तयोस्तत्त्वेन ग्राह्यत्वे तेन प्रकारेणैवानन्वयेऽपि तद्रूपतया गृहीते द्वयोरिति पदं निरर्थकमेव स्यात्। प्रसङ्गात् प्रकाशोक्तलक्षणं खण्डयति—एतेनेति। द्वयोरिति पदस्य निरर्थकत्वकथनेन 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इति तदुक्तलक्षणेऽनन्वयनिषेधाय कृतं भेदपदमपि प्रत्युक्तम् = निरस्तम्, प्रतीपादावतिव्याप्तेर्दुर्निवारत्वादिति भावः। विद्यमानसाधर्म्यवर्णनस्यवोपमाप्रयोजकत्वे कविना कल्पितं साधर्म्यं यस्यास्तथाभूता या 'हंसीव धवला कीर्तिस्स्वर्गङ्गामवगाहते' इत्यादिरूपा उपमा, तत्राव्याप्तिः, विद्यमानसाधर्म्यवर्णनाभावादिति भावः। अस्तु वा तयोरुपमानत्वेन सङ्ग्राह्यता, कविकल्पितोपमायास्तत्त्वं च 'तुष्यतु दुर्जनन्यायेन', तथापि 'हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः' इति लिङ्गवचनभेददुष्टायां तस्यामतिव्याप्तिः, उपमानोपमेयत्वयोग्यत्वस्य हृद्यत्वसत्त्वात्। दूषणान्तरमाह, उदाहरिष्यमाणे—

'वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥'

इति रूपेण उपमाध्वनौ व्यंग्योपमायाञ्चातिव्याप्तिः; अलङ्कार्यत्वेन तत्त्वासम्भवात्। ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तस्य ध्वनिव्यपदेशस्य सिद्धान्तसम्मतत्वाच्च। यदि तु सर्वोपमामात्रस्येदं लक्षणम्, अतो न कुत्रापि दोष इत्यंगीकरोपि तदा 'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोः' इति पदस्य 'हृद्यम्' इत्यस्य च कथनासंभवापत्तेः। सर्वत्र लक्षणसमन्वयांगीकारेण दुष्टोपमाया अपि संग्राह्यत्वात्। अतो दूषणदुष्टमेवेदं लक्षणं प्राचीनानामिति ग्रन्थकर्तुरभिप्राय इति बोध्यम्। वस्तुतस्त्विदं व्याख्यानं प्रकृतग्रन्थानुरोधेन। प्राचीनलक्षणे तु दोषो नास्त्येव। 'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोः' इत्यस्योपमानोपमेयतात्वेन प्रसिद्धयोरित्यर्थः। प्रतीपे उपमेयोपमायाञ्च प्रसिद्धयोस्तयोरभावान्नातिव्याप्तिः। यदा 'प्रकृतोत्कर्षप्रयोजकत्वे सति' इत्यस्यालङ्कारमात्रे विशेषणता तदा प्रतीपे उपमानतिरस्कारप्रयुक्त एव उत्कर्षो मुखादेः, उपमेयोपमायामुभयोः परस्परोपमानत्वेन तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रयुक्त एवातिशयः, न तु सादृश्यप्रयुक्त इति दोषाभावात्। एतेन प्रकाशोक्तलक्षणेऽभिहितं दूषणमप्यपास्तम्। ननु भेदपदमपि व्यर्थम्, स्वेतरोपमाननिषेधस्यैव उत्कर्षाधायकतया सादृश्यस्यातथात्वादिति चेन्न, व्यभिचारवारणमात्रे तत्पदतात्पर्यकथनादिति दिक्।

(चित्र०)

यत्तु विद्यानाथेन लक्षणमुक्तम्—

स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥ इति।

अत्र 'स्वतःसिद्धेन' इत्युत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः, तत्रोपमानस्य कविकल्पितत्वेन लोकसिद्धत्वाभावात्। 'भिन्नेन' इत्यनन्वयव्यावृत्तिः। 'सम्मतेन' इति सर्वविधदुष्टोपमाव्यावृत्तिः। कविसमयप्रसिद्ध्यभावेन लिङ्गवचनभेदादिना वा यद्यदसम्मतम्, तस्य सर्वस्यापि सम्मतपदेन व्यावर्तनात। 'धर्मतः' इति श्लेषव्यावृत्तिः। श्लेषे हि—'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ शब्दसाम्यमात्रमिवशब्देनोच्यते, न गुणक्रियारूपधर्मसाम्यम्। 'अन्येन वर्ण्यस्य' इत्यनेन प्रतीपव्यावृत्तिः, तत्र वर्ण्येन प्रकृतेन सहाप्रकृतस्य सादृश्य-

वर्णनात्। 'एकदा' इत्यनेनोपमेयोपमाव्यावृत्तिः। 'वाच्यम्' इत्यनेन 'व्यङ्ग्योपमाव्यावृत्तिः' इति।

(भारती)

आचार्य विद्यानाथ के द्वारा कथित उपमा के लक्षण का खण्डन करने के लिए दीक्षित ने परिष्कारपूर्वक उस लक्षण का स्वयं प्रतिपादन किया है—'यत्तु' अर्थात् स्वतःसिद्ध एवं उपमेय से भिन्न और कविसमयप्रसिद्ध—अर्थात् जिसमें लिंगभेद, वचनभेद आदि दोष न हो—ऐसी अप्रस्तुत वस्तु से वर्णनीय वस्तु का, समान धर्म के कारण एकबार सादृश्य, यदि वाच्य हो तो वह उपमा कहा जाता है।

इस लक्षण में 'स्वतःसिद्धेव' इस शब्द के प्रयोग के द्वारा उत्प्रेक्षा के '···**सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्**' इस रूप में उपमात्व का निषेध किया गया है। उक्त उदाहरण में उपमान का नखक्षतादि में कविकल्पना के द्वारा लोकसिद्धत्वाभाव है। इसी प्रकार '**गगनं गगनाकारम्**' इत्यादि अनन्वय में उपमा की व्यावृत्ति अर्थात् निषेध के लिए पूर्वकथित लक्षण में 'भिन्नेन' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। सर्वविधदुष्ट उपमा में इस लक्षण की प्रवृत्ति रोकने के लिए 'सम्मतेन' विशेषण का इस लक्षण में समावेश किया गया। अन्यथा '**हंसीव धवलाकीर्त्तिः सरांसीवामलं नभः**' इस उदाहरण में लिंग, वचनभेद से दुष्ट रहने पर भी उपमा की प्रवृत्ति हो जाती है। क्योंकि, कविसमय की प्रसिद्धि के अभाव से लिङ्गादि भेद के द्वारा जो कुछ भी असम्मत होता; उन सबों को भी 'सम्मतेन' पद के द्वारा व्यावर्त्तन किया गया। '**सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव**' श्लेषालंकार के इस उदाहरण में उपमात्व निषेध के लिए 'धर्मतः' विशेषण का प्रयोग इस लक्षण में किया गया है। क्योंकि, श्लेष के उक्त उदाहरण में 'इव' शब्द के द्वारा शब्दसाम्य मात्र कथन से गुण क्रिया रूप धर्मसाम्य का उस कथन में अभाव है। '**अन्येन वर्ण्यस्य**' इस पद के द्वारा प्रतीप के '**त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद् वक्त्रसदृशो विधुः**' इस उदाहरण में उपमात्व का निषेध किया गया। क्योंकि प्रतीप के इस उदाहरण में प्रकृतमुखादि से अप्रकृत चन्द्रादि का सादृश्य वर्णन से उपमा में उसका विलोम हो जाता है। इसी प्रकार 'एकदा' इस पद के द्वारा 'उपमेयोपमा' के इस उदाहरण में—'**खमिवं जलं जलमिव खम्**' में उपमात्व का निषेध किया गया—एक वाक्य वाच्यत्वाभाव के कारण। 'वाच्यम्' इस विशेषण द्वारा व्यंग्योपमा के इस उदाहरण में—'**वाहि वात यतः कान्तां तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश त्वयि मे गात्रसंस्पर्शः चन्द्रे दृष्टिसमागमः।**'—उपमात्व का निषेध किया गया। यहाँ उपमा के व्यंजनागम्यत्व से अभिधा प्रतिपाद्यत्व के अभाव से अतिव्याप्ति दोष का निराकरण किया गया। 'इति' शब्द लक्षण समाप्ति के अर्थ का सूचक है।

इस प्रकार उक्त लक्षण का परिष्कार कर दीक्षितजी ने पुनः प्रत्येक का खण्डन प्रारंभ किया।

(सुधा)

अथ विद्यानाथोक्तमुपमालक्षणं खण्डयितुं तदुक्तलक्षणपरिष्कारपूर्वकं स्वयं प्रतिपादयति—यत्त्विति। विद्यानाथेन लक्षणमुपमाया इति शेषः। उक्तम् = स्वग्रन्थे प्रतिपादितम्। स्वतःसिद्धेनेति। वर्ण्यस्य = उपमेयस्य, स्वतः सिद्धेन, भिन्नेन, सम्मतेन = कविव्यवहारसम्मतेनेत्यर्थः। अन्येन = उपमानेन, एकस्मिन् वाक्ये धर्मतः साधर्म्यं वाच्यं चेत् = अभिधाशक्तिविषयश्चेत्, उपमालङ्कारः।

लक्षणपदव्यावृत्तिमाह—अत्रेति । अत्र लक्षणे 'स्वतस्सिद्धेन' इत्यनेन उत्प्रेक्षायाः 'बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि । सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥' इत्यादिरूपाया व्यावृत्तिः । तत्रोत्प्रेक्षायामुपमानस्य=नखक्षतादेः कविकल्पितत्वेन लोकसिद्धत्वाभावात् । 'भिन्नेन' इति विशेषणेन अनन्वयस्य, 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः । रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥' इति स्वरूपस्य व्यावृत्तिः । उपमात्वनिषेध इत्यर्थः । 'सम्मतेन' इति पदेन सर्वविधदुष्टोपमायाः 'हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः' इत्यादिलिङ्गवचनभेददुष्टाया व्यावृत्तिः । कविसमयप्रसिद्धेरभावेन लिङ्गादिभेदेन यद्यदसम्मतम् , तस्य सर्वस्यापि तेन पदेन व्यावर्त्तनात् । 'धर्मतः' इत्यनेन श्लेषपदस्य 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादिरूपस्य व्यावृत्तिः । इवशब्देन शब्दसाम्यमात्रकथनेन गुणक्रियारूपधर्मसाम्यस्य तत्र कथनाभावात् । 'अन्येन वर्ण्यस्य' इत्यनेन पदेन प्रतीपस्य 'त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः' इत्यादिरूपस्य व्यावृत्तिः । तत्र = प्रतीपे, वर्ण्येन = प्रकृतेन मुखादिना, अप्रकृतस्य = चन्द्रादेः सादृश्यवर्णनादुपमायां तद्विलोमत्वादित्यर्थः । 'एकदा' इति पदेन उपमेयोपमायाः 'खमिव जलं जलमिव खं हंस इव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः । निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झरस्स्रवति ॥' इत्यादिरूपाया व्यावृत्तिः, एकवाक्यवाच्यत्वाभावादित्यर्थः । वाच्यमित्यनेन व्यङ्ग्योपमायाः 'वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश । त्वयि मे गात्रसंस्पर्शः चन्द्रे दृष्टिसमागमः ॥' इत्यादिरूपाया व्यावृत्तिः । तत्रोपमाया व्यञ्जनागम्यत्वेन अभिधाप्रतिपाद्यत्वाभावादतिव्याप्तिनिरासः । 'इति' शब्दो लक्षणसमाप्त्यर्थः ।

(चित्र०)

तत्रोत्प्रेक्षाव्यावृत्तये 'स्वतःसिद्धेन' इत्युक्तमयुक्तम् , उत्प्रेक्षायामिवकारस्य विषयविषयिणोस्तादात्म्यादिसम्भावनावाचकत्वेन तत्र साम्यस्यावाच्यतया तत एव तद्व्यावृत्तेः । उक्तं हि चक्रवर्तिना—

यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति ।
तदोपमैव येनेवशब्दः साधर्म्यसूचकः ॥
यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः ।
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः सम्भावनापरः ॥ इति ।

दृष्टं च लोके सम्भावनापरत्वमिवशब्दस्य—'दूरे तिष्ठन् देवदत्त इव भाति' इति । कथं च 'स्वतःसिद्धेन' इत्यनेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः ?

न नित्यमस्मिन् परिपूर्णतेति त्यक्त्वा नभः क्षोणितलावतीर्णः ।
आनन्दयन्निन्दुरिव स्वधाम्ना विभाति लोके नवकाकतीन्द्रः ॥

इति तदीयोत्प्रेक्षोदाहरण एवोपमानस्य स्वतःसिद्धत्वात् । इन्दुः क्षोणितलावतीर्णत्वाकारेण कविकल्पित इति चेत्तर्हि,

चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव चानलः ।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसंभावितोपमा ॥

इत्युक्तायामसंभावितोपमायामव्याप्तिः; विषानलयोः स्वतःसिद्धत्वेऽपि चन्द्रचन्दनप्रभवत्वेन कविकल्पितत्वात्।

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः॥

इति कविकल्पितोपमानायामुपमायां सर्वथैवाव्याप्तिः।

(भारती)

विद्यानाथ जी ने उपमा के लक्षण में, उत्प्रेक्षा निषेध के लिए जो 'स्वतः सिद्धेन' शब्दों का प्रयोग किया है, वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उत्प्रेक्षालंकार में एक ही आधार पर उपमान एवं उपमेय का तादात्म्य सम्बन्ध संभावनावाचक 'इव' पद से सम्बन्धित रहता है। पुनः इस विषय में 'इव' पद से साम्य के अकथन से पुनः वही साम्य अर्थ के अभाव के कारण उत्प्रेक्षा का स्वतः निषेध हो ही जाता है। दीक्षित जी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए आचार्य चक्रवर्त्ती की 'बाल बोधिनी' का एक श्लोक उद्धृत किया है—'यदायमि'ति। अर्थात्—

जब यह उपमान अंश लोकद्वारा सिद्धि प्राप्त करता है तब उपमा अलंकार ही होता है, क्योंकि इसी कारण यहाँ 'इव' शब्द साम्य का बोधक होता है। फिर जब यही उपमान अंश लोकसिद्ध न होकर केवल कविकल्पना पर आश्रित रहता है तब वहाँ उत्प्रेक्षालंकार ही होता है, क्योंकि इसी कारण यहाँ 'इव' शब्द साम्यसूचक न होकर संभावना के अर्थ का प्रतिपादक हो जाता है। अर्थात् उत्प्रेक्षालंकार में कविकल्पना उपमान पर ही टिकी रहती है। अतः रचना में उसी का दृढीकरण होता है। कुछ आलंकारिक तो उत्प्रेक्षा के लिए संभावनापरक कविकल्पना प्रसूत उपमान को आवश्यक भी मानते हैं।

फिर 'दूर में ठहरा हुआ वह देवदत्त की तरह शोभता है' ऐसे वाक्य में संभावनापरक 'इव' शब्द लोक में सिद्ध दृष्टिगोचर होता है तो फिर इस उपमा के लक्षण में 'स्वतः सिद्धेन' के द्वारा उत्पेक्षा का निषेध कैसा? इसपर उदाहरणान्तर प्रस्तुत करते हुए दीक्षित कहते हैं—'इस आकाश में सर्वदा परिपूर्णता नहीं रहती है।' कारण बताते हैं—'आकाश छोड़कर पृथ्वीतल पर अवतीर्ण चन्द्रमा की तरह अपने तेज अर्थात् प्रकाश से पृथ्वी पर जनों को आनन्दित करते हुए नवकाकती के राजा (काकती देश-विदेश है) शोभते हैं।

इस श्लोक में उपमानभूत चन्द्रमा का लोक-सिद्धत्व होने के कारण स्वतः उत्प्रेक्षाभंग हो जाता है। यदि आप भूतलावतीर्णत्वविशिष्ट चन्द्रमा की उपमानता में उसे कविकल्पित मानकर उत्प्रेक्षाभंग को स्वीकृत करते हैं तब—'चन्द्रमा के बिम्ब से जहर की तरह, चन्दन से आग की तरह इसके मुख से कठोर बातें निकलती हैं।' अर्थात् यहाँ असंभावित उपमा दी गई है। ऐसी स्थिति में यहाँ चन्द्रमा और चन्दन के प्रभाव से विष और अनल का प्रतिपादन कविकल्पना के द्वारा लोकसिद्धत्वाभाव से अव्याप्तिदोष हो जाता है। इस प्रकार कविकल्पित उपमा में सर्वत्र अव्याप्तिदोष उत्पन्न हो जाता है। माघ-काव्य के कृष्णवर्णन का यह पद्य उद्धृत करते हुए दीक्षित जी ने लिखा है—तमाल की तरह नील वर्ण भगवान श्रीकृष्ण के वक्षस्थल मुक्ता की माला से सुशोभित, आकाश-गंगा के जल के दोनों प्रवाह; जिसमें अलग-अलग प्रवाहित हो रहे हों, उस आकाश से समानता कर रहा था। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान श्रीकृष्ण के वक्षस्थल का कोई उपमान है ही नहीं। यहाँ उपमान के कुछ

भी भाव प्रदर्शित नहीं होते । इससे केवल इतना ही अर्थ निकलता है कि भगवान श्रीकृष्ण केवल मुक्ताहार धारण किए हैं। यहाँ भी कविकल्पित दो प्रवाहों की उपमा में अव्याप्ति हो जाती है। फिर 'स्वतःसिद्धेन' शब्द का लक्षण में समावेश बिलकुल ही युक्तिसंगत नहीं है।

'उत्प्रेक्षा' शब्द का कोषगत अर्थ है (उत्+प्र+ईक्षा) बलपूर्वक देखना। किन्तु साहित्य रसिकों ने, जिस वर्णन के प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना की जाय—वहाँ उत्प्रेक्षालंकार माना है। इस अलंकार में—उपमा में उपमेय और उपमान में सादृश्य की संभावना की जाती है। संभावना संदेह और निश्चय के बीच की स्थिति है जैसे—

रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
प्रायोधारा धरोऽयं स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः॥

अत्यन्त चिकने श्याम वर्णवाले राम को देखकर,—संभव है यह मेघ हो,—जंगल में मोर नाच रहे हैं। इसमें मेघ और राम की श्यामता में सादृश्य की संभावना की गई है। अतः उपमेय और उपमान की संभावना या कल्पना को आलंकारिक जन उत्प्रेक्षा कहते हैं। यह सादृश्यमूलक अभेद अलंकार है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पर विचार करते हुए लिखा है कि सभी जगह अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षालंकार होता है—इस नियम में कोई ठोस प्रमाण या सबल युक्ति नहीं है। क्योंकि उत्प्रेक्षा के उदाहरणों में भेद-सम्बन्ध से भी उत्प्रेक्षा देखी जाती है। जैसे, **'अरण्यां मुनीनामपि मोहमूहे'** इत्यादि उदाहरण में 'मोह' की 'मुनि' में उत्प्रेक्षा है। लेकिन विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ मोह और मुनि में अभेद सम्बन्ध बिलकुल ही नहीं है। प्राचीनों के सिद्धान्तानुसार इस पर यदि यह तर्क उठाया जाय कि इसमें मुनियों से संबंध रखने वाले किसी धर्मविशेष में मुनि के मोह का अभेदसम्बन्ध है न कि मुनियों में मोह की, तो इसका सीधा उत्तर यह होगा कि जब भेद से उत्प्रेक्षा करने में कोई बाधक नहीं है तो फिर ऐसी क्लिष्ट कल्पना ही निरर्थक है।

अस्तु; मेरी दृष्टि में 'अभेद' का तात्पर्य उच्च कोटि के पदार्थ की संभावना से है। जहाँ रूपक में उपमान और उपमेय की एकरूपता होती है, वहाँ उत्प्रेक्षा में केवल उक्त दोनों तत्त्वों में सादृश्य की संभावना की जाता है; अर्थात् उपमेय एवं उपमान में साम्य-जन्य अभेद होता है। क्योंकि कोई भी कवि उपमेय में उपमान की कल्पना करते हुए दोनों में सादृश्य की ही तो कल्पना करता है। यही कारण है कि उत्प्रेक्षा में उपमेय गौण एवं उपमान उत्कृष्ट या प्रधान दिखाई पड़ता है। उपमेय में तथाकथित गुणसमूह हो अथवा नहीं, इससे कवि को कुछ लेना-देना नहीं—वह तो बलपूर्वक उपमान के साथ उपमेय का साम्य स्थापित करता है। कवि इन सारे तथ्यों की संभावना उपमान के रूप में ही कर लेता है।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी भी अलंकार के प्राण उसके चमत्कार ही होते हैं। अतः उत्प्रेक्षा में भी काल्पनिक उपमान का वर्णन यदि चमत्कारपूर्ण एवं संवेद्य है तो कवि का आयास सफल माना जाना चाहिए। उत्प्रेक्षा शब्द स्वतः संभावनापरक है। अतः इसमें प्रकृत की जगह अप्रकृत की कल्पना की ओर ही कवि की मानसिक वृत्ति अधिक उन्मुख रहती है। कवि भावातिरेक की स्थिति में ही सौंदर्यपूर्ण चमत्कार के प्रति अपना आकर्षण अभिव्यक्त करता है। उसके सारे कवित्व का केन्द्रीय बिन्दु संभावना पर ही टिका होता है।

अतः इस अलंकार में संशय कल्पित होता है और उसके संभाव्य का पक्ष प्रबल रहता है। इस अलंकार की खूबी यही है कि पाठकों को उपमेय का भी ज्ञान होता है, किन्तु गौण रूप से। क्योंकि, उसकी संभावना भी उपमान के रूप में ही की जाती है किन्तु, इसमें भी यह ध्यातव्य है कि उत्प्रेक्षा कवि की कोरी संभावना से समुद्भूत नहीं; बल्कि उसमें भी कविप्रतिभा से समुद्भूत चमत्कारजन्य सौन्दर्य या आकर्षण का होना आवश्यक है। इसके स्वरूप फल एवं हेतु की अन्य रूप में कवि द्वारा कल्पना की जाती है जरूर; पर उपमान और उपमेय की उपस्थिति शब्दतः आवश्यक होती है।

(सुधा)

एवं तदुक्तं लक्षणं परिष्कृत्य खण्डयितुमुपक्रमते—तत्रेति। तत्र=उपमालक्षणे उत्प्रेक्षानिषेधाय 'स्वतः सिद्धेन' इत्युक्तमयुक्तम्=अयोग्यमेव। उपमानोपमेययोस्तादात्म्यादिसम्भावनावाचकस्य 'इव' पदस्योत्प्रेक्षायां सत्त्वेन तत्र विषये 'इव' पदेन साम्यस्याकथनेन तत एव=साम्यार्थकत्वाभावादेवोत्प्रेक्षाव्यावृत्तेः। साम्यार्थकतासत्त्वे तस्योपमाप्रतिपादकता, न सम्भावनार्थकस्येति नियमात्। अत्र कल्पनायां प्राचीनोक्तं प्रमाणयति—उक्तं हीति। हीति निश्चयेन। चक्रवर्तिना उक्तम्—यदेति। अयमुपमानांशः उपमानरूप उपमांशो लोकतः सिद्धिम् ऋच्छति=प्राप्नोति। तदा उपमैव येन हेतुना 'इव' शब्दः साम्यस्य सूचकः=बोधक इत्यर्थः। यदा पुनरयं लोकसिद्धो न भवति किन्तु कविकल्पितः तदोत्प्रेक्षैव, येन 'इव' शब्दः सम्भावनापरः, सम्भावनार्थप्रतिपादक इत्यर्थः।

लोकेऽपि सम्भावनापरतां तस्य दर्शयति—'दूरे तिष्ठन्' इत्यादौ सम्भावनापरत्वं तस्य लोके दृष्टमित्यन्वयः। तत्र साम्यसम्भावनयोः निर्णयाभावेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह—कथञ्चेति। तेन पदेन उत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः कथम्, विद्यानाथीयोत्प्रेक्षोदाहरण एवोपमानस्येन्दोः स्वतः सिद्धत्वात्=लोकप्रसिद्धत्वादित्यर्थः। उदाहरणमाह—न नित्यमिति। अस्मिन्नभसि, नित्यं सर्वदा, परिपूर्णता नेति हेतोः नभस्त्यक्त्वा भूमितलेऽवतीर्णश्चन्द्र इव स्वधाम्ना स्वप्रकाशेन लोके जने आनन्दयन् आनन्दं कुर्वन् नवकाकतीन्द्रो नाम राजा, काकती देशविशेषः। विभाति शोभते। नभस्तलोपरि पूर्णत्वाभावस्थितेर्हेतुत्वेन पूर्वदले काव्यलिङ्गमलङ्कारः। उत्प्रेक्षाया मुख्यत्वेनाङ्गित्वम्। अत्र उपेन्द्रवज्रा वृत्तम्। 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इत्युक्तेः। अत्रोपमानभूतचन्द्रस्य लोकसिद्धत्वादुत्प्रेक्षाभङ्ग इति भावः। भूतलावतीर्णत्वविशिष्टेन्दोरुपमानतायां तस्य कविकल्पितत्वादुत्प्रेक्षालङ्कारो यद्यङ्गीक्रियते, तदा 'चन्द्रबिम्बादिव विषम्' इत्युक्तरूपासम्भावितोपमायामव्याप्तेः। पद्यार्थस्तु—चन्द्रबिम्बाद्विषमिव; चन्दनादग्निरिव; अस्मान्मुखात् परुषा कठिना वाक् इति असम्भावितोपमा भवतीति शेषः। अत्र चन्द्रचन्दनप्रभवयोर्विषानलयोः कविकल्पितत्वेन लोकसिद्धत्वाभावादव्याप्तिः। उभाविति कविकल्पितोपमायां सर्वथैवाव्याप्तिः। माघकाव्ये कृष्णवर्णने पद्यम्। तमालवन्नीलम्; आमुक्ते आपपिते मुक्तालते मौक्तिकस्रजौ यस्मित् तत्, अस्य हरेर्वक्षः; आकाशगङ्गायाः पयसः उभौ प्रवाहौ व्योम्नि पृथक् पतेतां यदि प्रवहेतां चेत्; सम्भावनायां लिङ्। तेन व्योम्ना उपमीयेत समीक्रियेत। नास्योपमानं किंचिदिति भावः। मुक्ताहारं धृतवानित्यर्थः। उपजातिवृत्तम्—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इत्युक्तेः। तस्माच्चन्द्रप्रभवविषादेरप्रसिद्ध्या असंभावितोपमायाम् उभावित्यादौ कविकल्पितोपमायाञ्चाव्याप्तेः 'स्वतस्सिद्धेन' इति पदमयुक्तमेवेत्याशयः।

न्यायपञ्चाननादयस्तु—भूतलावतीर्णत्वविशिष्टचन्द्रस्य स्वतःसिद्धत्वाभावेनातिव्याप्तेरभावः। द्वितीये चन्द्रप्रभवविपादेरुपमैव तावन्नास्ति। किन्तु 'यथा चन्द्रबिम्बाद्विपमसम्भावितं तथा त्वन्मुखात्परुषा वाक्' इत्युपमायास्तत्राङ्गीकारात्। असम्भावितः साधारणधर्मो यत्रोपमायां सा असम्भावितोपमेति तद्व्याख्यानसत्त्वाच्च। विषपरुषवचनयोरुपमायां चन्द्रादेर्वदनेन सह बिम्बप्रतिबिम्बभावाच्चेति वदन्ति। उभावित्यादावप्यसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्यङ्गीकारे कविकल्पितोपमायामव्याप्तेः स्ववासनामात्रकल्पितत्वात्। 'अत्र व्योम्नो गङ्गाप्रवाहद्वयासम्बन्धेऽपि सम्भावनया सम्बन्धकथनादतिशयोक्त्यलङ्कारः। तदेतत् 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' इत्याद्युदाहृत्यालङ्कारसर्वस्वकारः स्पष्टीचकार, इति प्रतिपादनेन तद्व्याख्याने मल्लिनाथादिभिः सर्वङ्कषायां तथैवाङ्गीकाराच्चेति दिक्।

(चित्र०)

'भिन्नेन' इत्यनन्वयव्यावृत्त्यर्थमुपात्तमप्ययुक्तम्।

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

इत्यस्यामुपपादकोपमायामव्याप्तेः, तत्रोपमेयदोषगुणसामान्यान्तर्गतानामुपमानानां दोषगुणविशेषाणां कलंककिरणानां तद्भिन्नत्वाभावात्।

अथोपमेयतावच्छेदकभिन्नोपमानतावच्छेदकावच्छिन्नत्वमुपमानस्य तद्भिन्नत्वम्—एतदपि न युक्तम्,

अनवरतकनकवितरणभृतजललवकरतरङ्गितार्थिततेः।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला॥

इति रशनोपमायामव्याप्तेः, मतित्वाद्युपमानतावच्छेदकानामुपमेयतावच्छेदकभिन्नत्वाभावात्, उपमेयोपमायामुपमानतावच्छेदकयोर्द्वयोरपि तद्भिन्नत्वाभावेनोक्तविशेषणेनैव तद्व्यावृत्तिसिद्ध्या 'एकदा' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च।

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्॥

इत्युपमेयोपमाप्रकरणोदाहरिष्यमाणपरस्परोपमायामव्याप्तेश्च।

अथ स्वोपमेयतावच्छेदकभिन्नधर्मावच्छिन्नत्वमुपमानस्य तद्भिन्नत्वमिति विवक्षितम्? इदमपि न सम्यक्,

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे॥

द्वारं द्वारमटन् भिक्षुः शिक्षयत्येवं न याचते।
अदत्त्वा मादृशो मा भूर्दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव॥

इत्याद्यभिन्नधर्मिकोपमास्वव्याप्तेश्च, तत्र परमेश्वरत्वादेः स्वोपमेयतावच्छेदकस्यैवोपमानतावच्छेदकत्वात्।

(भारती)

उक्त लक्षण के 'भिन्नेन' इस विशेषण में भी दीक्षित जी को दोष प्रतीत होता है। प्राचीनों ने अनन्वय अलंकार में अतिव्याप्ति दोष-निवारण के लिए जो 'भिन्नेन' विशेषण का लक्षण में समावेश किया, वह भी अयोग्य ही है। क्योंकि—'अनन्तरत्न' इस श्लोक की उपमा में ही इसके समावेश से अव्याप्तिदोष हो जाता है। यह श्लोक कुमार-काव्य में पर्वत-वर्णन के प्रसंग में है। इस वर्णन की उपपादक उपमा में ही अव्याप्तिदोष हो जायगा। क्योंकि इसमें उपमेयभूत जो दोष-गुण सामान्य है, उसके अंतर्गत उपमानस्वरूप दोष-गुण विशेषात्मक कलङ्क-किरणों को उपमेय से भिन्न नहीं कहा जा सकता। अवच्छेदकभेद से दोषाभाव की शंका करते हुए कहते हैं—उपमेयतावच्छेदक अर्थात् दोषत्वादि से भिन्न जो उपमानतावच्छेदक रूप धर्म अर्थात् कलङ्कत्वादि हैं, उनसे भिन्न प्रकृत में तो उपमालंकार है ही फिर अव्याप्तिदोष कैसा? इसका भी समाधान करते हुए कहते हैं—अवच्छेदकभेद से आपका यह समाधान भी उचित नहीं। क्योंकि

इस श्लोक में देखिए—'अनवरतेत्यादि'।

निरन्तर स्वर्णदान के लिए हाथ में रखे संकल्पजल की बूँदों से याचकों को उद्वेलित, उच्छ्वसित करने वाले महादानी इस राजा की बुद्धि इसकी वाणी जैसी; चेष्टा इसकी बुद्धि जैसी और कीर्त्ति इसकी चेष्टा जैसी विमल है। इस श्लोक में मालोपमा की तरह अभिन्न किंवा भिन्न-भिन्न साधारण धर्म का उपादान है किन्तु जिसमें पूर्व-पूर्ववर्त्ती उपमेय उत्तरोत्तर जैसे करधनी की एक किंकिणी और दूसरी किंकिणी में क्रमशः पूर्व-पर सम्बन्ध चलता रहता है; वैसे ही उपमान के रूप में जुड़े दिखाई देते हैं। यही कारण है कि इसे रशना (करधनी) उपमा कहा गया है। इस रसनोपमा में मतित्वादि उपमानों के उपमेयतावच्छदेकमतित्वादि में भेदाभाव के कारण अव्याप्तिदोष हो जाता है। दूषणान्तर को प्रस्तुत करते हुए पुनः कहते हैं—उपमेयोपमा में; जैसे 'तुम में धर्म अर्थ की तरह और अर्थ धर्म की तरह पूर्ण है'; उपमेयतावच्छेदक जो धर्म है तथा उसी में उपमानतावच्छेदक देवत्व भी है—इन दोनों में अभेद सम्बन्ध से पहले कही हुई भिन्नता के अभाव से 'भिन्नेन' इस विशेषण से ही पूर्वकथित उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति का वारण हो ही जाता है। पुनः लक्षण में उल्लिखित 'एकदा' पद का व्यर्थत्व प्रसंग उपस्थित हो जाता है। किन्तु;—'रजोभिः' अर्थात् रथचक्रों के घर्षण से उड़ी हुई धूलियों से आकाश को भूतल की तरह और मेघों के समान हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाता हुआ (राजा रघु विजय के लिए गया)—उपमेयोपमा प्रकरण में उदाहरिष्यमाण इस परस्पर की उपमा में भी अव्याप्ति हो जायगी।

प्रकरणान्तर से समाधान की आशंका कर स्वयं 'अथ' पद से उसका निराकरण करते हैं। यहाँ स्व पद उपमानपरक है, उससे निरूपित जो उपमेयतावच्छेदक है, उससे भिन्न जो धर्म—उपमानतावच्छेदक रूप है, उससे अभिन्न उपमान का उससे भिन्न पद से विवक्षा है। फलतः उसमें किसी प्रकार का दोष प्रतीत नहीं होता किन्तु, उनका यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि—उस भगवान शंकर का विश्वकर्मा निर्मित नवीन छत्र सहस्ररश्मि सूर्य ने स्वयं धारण किया है। उपवस्त्र के उपान्त के सान्निध्य में वह आतपत्र उस महादेव के मस्तिष्क से गिरती हुई गंगा की धारा की तरह शोभित है।

यहाँ शिव के साथ ही उपमानोपमेय का अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण अव्याप्ति दोष है। अगर आप यह कहें कि यहाँ दुकूलविशिष्ट परमेश्वर का उपमेय होने के कारण तथा गंगाविशिष्ट का उपमान होने के कारण भेद है ही तो ऐसी स्थिति में उदाहरणान्तर प्रस्तुत करते हैं—'यह भिक्षुक द्वार-द्वार घूमते हुए शिक्षा देता है—न कि माँगता है—कि तुम दान न देकर मेरी तरह

मत बनो, किन्तु दान देकर अपने जैसे बनो।' 'द्वार-द्वार' पद ही अभिन्न धर्मवाचक है। फलतः वहाँ तो किसी प्रकार मुक्ति है, पर यहाँ तो अव्याप्तिदोष रह ही जाता है। निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि उपमानतावच्छेद निरूपित, उपमानतावच्छेदक परमेश्वर शिव का द्वितीय सदृश व्यवच्छेद रूप फल का बाध के द्वारा अनन्वय कहना उचित नहीं है।

विमर्श—वस्तुतः 'द्वार-द्वार' इन दो प्रतीतियों को भिन्न-भिन्न स्थान और काल में उत्पन्न होने के कारण पृथक्-पृथक् मानने में कोई बाधा नहीं, ऐसी स्थिति में इन प्रतीतियों का सादृश्य बाधित नहीं कहा जा सकता।

यहाँ उपमेय एवं उपमान का तो आधार भिन्न है ही तुलना में भी सादृश्य बाधित है; फिर इसे अनन्वय कहकर अव्याप्तिदोष दिखाना ठीक नहीं लगता।

(सुधा)

'भिन्नेन' इति विशेषणेऽपि दूषणमाह—भिन्नेनेत्यादि। अनन्वयव्यावृत्त्यर्थम् = तत्रातिव्याप्तिनिवारणार्थम्, उपात्तं गृहीतम् 'भिन्नेन' इति विशेषणम्, अयोग्यमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्युपमायामव्याप्तेः। कुमारकाव्ये पर्वतवर्णनम्। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। अनन्तानामपरिमितानां रत्नानां श्रेष्ठवस्तूनां प्रभवस्य कारणस्य यस्य हिमाद्रेः हिमं कर्तृ, सुभगस्य भावः सौभाग्यम्, 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञि 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। तद्विलुम्पतीति सौन्दर्यविघातकं न जातं नाभूत्। तथा हि—एको हि दोषो गुणसन्निपाते गुणसङ्घाते इन्दोः किरणेष्वङ्क इव निमज्जति अन्तर्लीयत इत्यर्थः।

नहि स्वल्पो दोषश्चित्र इवाभिमतगुणाभिभावकः, किन्तु कश्चिदिन्दुकलङ्कादिव गुणैरभिभूयते। अन्यथा समस्तरम्यवस्तुहानिप्रसङ्गादिति भावः। उपेन्द्रवज्रावृत्तम्। 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इत्युक्तेः। अत्राव्याप्तेरित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—तत्रेत्यादि। उपमेयभूतं यद्दोषगुणसामान्यम्, तदन्तर्गतानामुपमानरूपदोषगुणविशेषात्मककलङ्ककिरणानामुपमेयभिन्नत्वाभावादित्यर्थः।

अवच्छेदकभेदेन दोषाभावमाशङ्कते—अथेति। उपमेयतावच्छेदकम् = दोषत्वादि, तद्भिन्नो य उपमानतावच्छेदकरूपो धर्मः = कलङ्कत्वादि, तदवच्छिन्नत्वरूपं तद्भिन्नत्वं प्रकृतोपमायामस्त्येव। अतो नाव्याप्तिरित्यर्थः। एतदपि खण्डयति—तदपीति। तदपि = अवच्छेदकभेदेन समाधानमपि, न युक्तम् = न योग्यमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—अनवरतेत्यादि। हे नृप, अनवरतं निरन्तरं यत् कनकस्य सुवर्णस्य वितरणं दानम्, तत्र ये जलकणास्तैर्भृतो यः करः तेन तरङ्गवदाचरिता अर्थिततिः याचकसमूहो यस्य तस्य तव मतिर्भणतिरिव; चेष्टा मतिरिव; कीर्त्तिश्चेष्टेव; अतिविमला इत्यन्वयः। इत्युक्तायां पूर्वपूर्वोपमेयस्योत्तरोत्तरमुपमानत्वे रशनोपमेत्युक्तरूपायामभिन्नसाधारणधर्मवद्रशनोपमायां मतित्वाद्युपमानतावच्छेदकानामुपमेयतावच्छेदकमतित्वादेर्भेदाभावेनाव्याप्तेः, उपमालक्षणस्येति शेषः। दूषणान्तरमाह—उपमेयेत्यादि। उपमेयोपमायाम् 'धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि।' इति रूपायामुपमेयतावच्छेदकं धर्मत्वम्, उपमानतावच्छेदकमपि देयत्वमिति द्वयोरपि तद्भिन्नत्वाभावेन पूर्वोक्तरूपभिन्नत्वाभावेन भिन्नेनेति विशेषणेनैव उपमेयोपमाव्यावृत्तिसिद्धया = अतिव्याप्तिवारणसिद्धया 'एकदा' इति पदस्य तत्प्रयोजनकस्य वैयर्थ्यापत्तेः। व्यर्थत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। किञ्च, रजोभिरिति। स्यन्दनो-

द्धूतैः रजोभिः घनसन्निभैर्वर्णतः क्रियातः परिमाणतश्च मेघतुल्यैर्गजैश्च यथाक्रमं व्योम आकाशं भुवस्तलमिव, भूतलं व्योमेव कुर्वन् ययावित्यन्वयः। इत्युपमेयोपमाप्रकरणे उदाहरिष्यमाणा या परस्परोपमा, तस्यामव्याप्तेश्च।

प्रकारान्तरेण समाधानमाशङ्क्य निराकरोति—अथेति। स्वपदमुपमानपरम्, तन्निरूपितं यत् उपमेयतावच्छेदकम्, तस्माद्भिन्नो यो धर्मः उपमानतावच्छेदकरूपस्तदवच्छिन्नत्वमुपमानस्य तद्भिन्नत्वमिति पदेन विवक्षितम्। एवञ्च भणित्यादिनिरूपितोपमेयतावच्छेदकमतित्वाद्यन्यत्वं भणितित्वादीनामस्त्येवेति न दोषः। 'धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीः' इत्यादावप्यर्थनिरूपितधर्मस्योपमेयतावच्छेदकस्य ततो भेदसत्त्वेन लक्षणगमने 'एकदा'इत्यस्यापि सार्थकत्वात्। एवमेव परस्परोपमायामव्याप्तिनिरासः। भूतलनिरूपितव्योमत्वरूपोपमेयतावच्छेदकस्य, भूतलत्वावच्छिन्नोपमाने भेदसत्त्वेन लक्षणसमन्वयसत्त्वाच्चेति। एतदपि निराकरोति—इदमपीति। स्वोपमेयतावच्छेदकेत्यादिकथनमपि न सम्यक्। तत्र हेतुमाह—उपाददे इति। तस्य हरस्य सहस्ररश्मिः सूर्यस्त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा निर्मितं नवमातपत्रम्, उपाददे धृतवान्। तद्दुकूलान्तस्यातपत्रस्य प्रान्तविलम्बिनो दुकूलादविदूरमौलिः, तद्दुकूलस्यासन्नमौलिरित्यर्थः। स हर उत्तमाङ्गे 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः। पतन्ती गङ्गा यस्य, सः पतद्गङ्ग इव बभौ। दुकूलादित्यत्र 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन पञ्चमी। अत्र शिवस्यैवोपमानोपमेयतावच्छेदकत्वादव्याप्तेः। नन्वत्रापि दुकूलविशिष्टपरमेश्वरत्वस्योपमेयतावच्छेदकत्वाद् गङ्गाविशिष्टस्य तदुपमानतावच्छेदकत्वाद् भेदोऽस्त्येवेति चेन्न; 'द्वारं द्वारम्' इत्यादावभिन्नो धर्मो यासान्ता अभिन्नधर्मिकाः, ताश्च ता उपमाश्च तासु अव्याप्तेरित्यन्वयः। एष भिक्षुः द्वारं द्वारम् अटन् शिक्षति न तु याचते। किं शिक्षतीत्याह—त्वम् अदत्त्वा दानमदत्त्वा मत्सदृशो मा भूः; किन्तु त्वं दत्त्वा त्वादृशस्त्वत्सदृश एव भवेति पद्यार्थः। अत्र हेतुमाह—परमेश्वरत्वादेरिति उपामानतावच्छेदकनिरूपितोपमेयतावच्छेदकस्य परमेश्वरत्वादेरुपमानतावच्छेदकत्वात्। द्वितीयसदृशव्यवच्छेदरूपफलस्य बाधेनानन्वयस्य वक्तुमयोग्यत्वाच्च। तस्माद्भिन्नेनेति पदमसङ्गतमिति दीक्षिताशयः। वस्तुतस्तु—उपमानतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणस्योपमेयतावच्छेदकतापर्याप्त्यनधिकरणत्वस्यैव तद्भिन्नपदेन विवक्षितत्वात् 'त्वं त्वादृशो भव' इत्यत्र कालादिकृतभेदविवक्षया पूर्वोक्तभिन्नत्वस्य क्षतेरभावात्। अन्यथोपमानताया एवासिद्धिप्रसङ्गाच्च। 'एतत्कालोत्तरकालवृत्तित्वमेतत्कालीनत्वत्सदृशो भव' इत्यर्थस्य तत्र सत्त्वाच्च। एकस्मिन्नेव काले तद्विधाने तु सिद्धसाधनापत्तेरिति दिक्।

(चित्र०)

श्लेषव्यावृत्त्यर्थम् 'धर्मतः' इति विशेषणमप्ययुक्तम्, तत्र न शब्दसाम्यमात्रमिवेनोच्यते, किन्तु गुणसाम्यमपीति तद्व्यावृत्तेः।

ननु पुरे सकलकलत्वं कलकलशब्दसाहित्यम्, सुधांशुबिम्बे कलासाकल्यम् इति नैकोऽनुगतो गुणो लभ्यते, मैवम्; श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलया 'भेदेऽभेदः' इत्येवं रूपयाऽतिशयोक्त्या धर्मसाधारण्यलाभात्। न ह्युपमानोपमेययोरनुगतया धर्मस्य मुख्यसाधारण्य एवोपमालंकारः,

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥

इत्यादौ हरिचन्दनबालातपहारनिर्झरादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टानामपि साधारणधर्मत्वाङ्गीकारात् ।

(भारती)

'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशु विम्बमिव' इत्यादि रूप श्लेप के निराकरण के लिए, पूर्वोक्त लक्षण में जो 'धर्मतः'—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है, वह भी निरर्थक है। क्योंकि यहाँ 'इव' शब्द से न केवल शब्दसाम्यमात्र का बोध होता है, प्रत्युत गुणसाम्य का भी बोध होता है। फिर श्लेपनिराकरण के अभाव में, लक्षण में प्रयुक्त 'धर्मतः' विशेषण निरर्थक ही है।

यहाँ पुर में कल-कल शब्द सहित सकल कलत्व का बोध होता है तथा चन्द्र-विम्ब में कला साकल्य का बोध होता है। फलतः एकानुगत धर्म के अभाव के कारण यहाँ अतिव्याप्ति की आशंका निरर्थक है—ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अभेद नियम का श्लेपाश्रय होने के कारण भेद में अभेद रूप अतिशयोक्ति से एकधर्मता का लाभ हो जाता है। पुनः उपमान एवं उपमेय का अनुगतवृत्ति से धर्म का मुख्य साधारण्य ही उपमा अलंकार है—ऐसा नियम आप नहीं कह सकते। क्योंकि—

कंधों से लटकते हुए हार को पहने हुए तथा हरिचन्दन का अंगराग (अंगों में लेप) लगाए हुए ये पाण्ड्य देश के राजा, प्रातःकाल की धूप से रक्तवर्ण युक्त शिखर वाले झरनों से जल बहाते हुए हिमालय की तरह शोभित हो रहे हैं।

इस पद में हरिचन्दन, बालातप, हार, निर्झर प्रभृति में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव दिखाने पर भी साधारणधर्मवान यह पाण्ड्य ही है, ऐसा अंगीकार करने पर भी अर्थात् वैसी साधारण्य की उपस्थिति में भी उपमा का दर्शन नहीं होता है।

(सुधा)

धर्मत इति पदं खण्डयितुमुपन्यस्यति—श्लेषव्यावृत्त्यर्थमिति । श्लेपस्य 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादिरूपस्य व्यावृत्त्यर्थम्—व्यावृत्तये धर्मत इति विशेषणमप्ययुक्तम्; शब्दसाम्यमात्रस्य इवपदेन कथननियमाभावात्, गुणसाम्यस्यापि इवपदेन प्रतिपाद्यत्वात् । तत्त्वाङ्गीकारे च श्लेपस्य व्यावृत्तेरभावात् तत्कथनेऽपि तवातिव्याप्तिः। आशङ्कते—नन्विति । पुरे सकलकलत्वं कलकलशब्दसहितत्वम्, चन्द्रबिम्बे कलासाकल्यम्; इति एकस्यानुगतधर्मस्याभावान्नातिव्याप्तिरित्याशङ्कार्थः। उभयानुगतैकसाधारणधर्माभावे उपमाया वक्तुमयोग्यत्वादित्याशयः । समाधत्ते—मैवमिति । श्लेषो भित्तिराश्रयो यस्येति श्लेपभित्तिकः। स चासावभेदनियमश्च, तन्मूलया 'भेदे अभेदः' इत्येवंरूपातिशयोक्त्या धर्मसाधारण्यं धर्मैक्यं तस्य लाभात्। उपमानोपमेययोरनुगतवृत्त्या धर्मस्य मुख्यसाधारण्य एवोपमालङ्कार इति नियमस्तु न वक्तुं शक्यते, हरिचन्दनबालातपहारनिर्झरादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावेन दर्शितानामपि साधारणधर्मत्वस्य पाण्ड्योऽयमित्यादावङ्गीकारात्। अस्यार्थः—अंसे अर्पितो लम्बो हारो यस्य; हरिचन्दनेन गोशीर्षेण; 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्लृप्ताङ्गरागः कृतानुलेपनः; अयं

पाण्ड्यः पाण्डूनां जनपदानां राजा पाण्ड्यः। 'पाण्डोर्जनपदशब्दात् क्षत्रियाद् ड्यण् वक्तव्यः' इति वचनात् ड्यण्प्रत्ययः। बालातपेन रक्ता अरुणाः सानवो यस्य सनिर्झरोद्गारः झरोदकसहितः 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः, अद्रिराजो हिमवानिवाभाति शोभते। अत्र तथा साधारण्यसत्त्वे उपमादर्शनाच्च।

(चित्र०)

ननु 'सकलकलम्' इत्यादावपि गुणसाम्यं चेदुपमैव स्यादिति चेत्, शब्दसाम्यमात्रं चेदपि किमित्युपमा न स्यात्? न हि शब्दान्यगुणादिसाम्यमेवोपमाप्रयोजकं न शब्दसाम्यमिति कुलधर्मः,

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥

इत्यत्रानुगतार्थनामरूपशब्दसाम्येऽप्युपमादर्शनात्। किन्तु श्लेषस्यालङ्कारान्तरविविक्तविषयाभावेन निरवकाशतया बलवत्त्वेनालङ्कारान्तरबाधकत्वादुपमाप्रतिभानेऽपि तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव, नोपमेति मङ्खकादिभिरभ्युपेयते। ततश्च यथा शब्दसाम्यमाश्रित्योपमाप्रतिभाने तद्बाधकत्वं श्लेषस्य, तथा श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायलब्धाभेदगुणसाम्यमात्रमाश्रित्योपमाप्रतिभानेऽपि तद्वक्तुं शक्यमिति न तदनुरोधेन तत्र गुणसाम्यपरित्यागः।

(भारती)

यदि आप 'सकलकलम्' इत्यादि में गुणसाम्य होने के कारण 'उपमा' अलंकार मानते हैं तो फिर शब्दसाम्य मात्र में उपमा अलंकार क्यों न होगा? ऐसा कहने से तो वहाँ भी उपमापत्ति होगी ही; क्योंकि शब्दभिन्न गुणादिसाम्य का ही उपमाप्रयोजकत्व होगा न कि शब्दसाम्य का—इस प्रकार के नियम में किसी तरह के प्रमाण का भी अभाव है।

औणादिक चन्द धातु से 'र' प्रत्यय लगाकर चन्द्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ है चन्द्रयति आह्लादयति अर्थात् जैसे प्रह्लादन से अनुगतार्थक यह चन्द्र शब्द है एवं प्रताप से तापजनन होने के कारण सूर्य के लिए अन्वर्थक तपन शब्द है, उसी प्रकार प्रकृतिरंजन से राजा शब्द सार्थक हुआ।

उक्त पद्य में जिस प्रकार अनुगतार्थ नाम रूप शब्दसाम्य में भी उपमा परिलक्षित होती है, उसी प्रकार 'सकलकलम्' इत्यादि में श्लेष अलंकार ही है। क्योंकि अलंकारान्तर से पृथग्भूतयो विषय है, उसके अभाव से निरवकाश होने के कारण श्लेष यहाँ बलवान बनकर अन्य अलंकारों का बाधक है। (क्योंकि ऐसा नियम है कि सावकाश और निरवकाश के बीच निरवकाश विधि ही बलवान होती है।) इस प्रकार यहाँ उपमा प्रतिभासित होने पर भी उपमाप्रतिभोत्पत्तिक यहाँ श्लेष अलंकार ही है न कि उपमा। ऐसा मङ्खुकादि आचार्य स्वीकृत करते हैं। उसके बाद जैसे यहाँ शब्दसाम्य मात्र पर आश्रित उपमा प्रतिभासित होने पर भी उपमाबाधकत्व श्लेष का ही ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार यहाँ श्लेषभित्तिक अभेद के अध्यवसाय से लब्ध साधारण धर्मसम्पत्ति के द्वारा श्लेष का बाधक उपमा है। इसी प्रकार गुणसाम्य का आश्रय ग्रहण कर

पतिभासित उपमा में भी पूर्वकथित बाधकत्व हम नहीं कह सकते, क्योंकि बाधकत्व के अनुरोध से ही वहाँ उपमा में गुणसाम्य का परित्याग किया गया है।

(सुधा)

आशङ्कते—नन्विति । सकलकलमित्यादौ गुणसाम्यञ्चेत् उपमैव भवेत्। दूषयति-शब्दसाम्यमात्रे उपमा कथं न स्यात्? तथा च तत्राप्युपमापत्तेरित्यर्थः। शब्दभिन्नगुणादिसाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकत्वं न शब्दसाम्यस्येति नियमे प्रमाणाभावात्।

शब्दसाम्येऽप्युपमां दर्शयति—यथेति । यथा चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रः । चदि धातोरौणादिको रप्रत्ययः । प्रह्लादनादाह्लादकरणादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोऽभूत्। यथा च तपतीति तपनः सूर्यः, नन्द्यादित्वात् ल्युप्रत्ययः। प्रतापात्तापजननादन्वर्थः तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूदित्यर्थः । यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्-कनिन्प्रत्ययान्तो न तु रञ्जेः, तथापि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनादपि राजा इति कवेरुक्तिः। अत्र पद्येऽनुगतार्थनामरूपशब्दसाम्येऽप्युपमादर्शनात् । तथा च 'सकलकलम्' इत्यादौ श्लेषमेव प्रतिपादयति—किन्त्विति । अलङ्कारान्तरेभ्यो विविक्तः पृथग्भूतो यो विषयो देशः तस्याभावेन निरवकाशतया श्लेषस्य बलवत्त्वेन अन्यालङ्कारबाधकत्वम्। सावकाशनिरवकाशयोः निरवकाशविधेरेव बलीयस्त्वादित्याशयः । एवञ्चोपमाप्रतिभासेऽप्युपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव, न तत्रोपमेति मङ्ककादिभिरङ्गीक्रियते। ततश्च यथा शब्द-'साम्यमात्रमाश्रित्योपमाप्रतिभाने उपमाबाधकत्वं श्लेषस्य तथा श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायलब्धसाधारणधर्मसम्पत्त्या श्लेषबाधकत्वमुपमाया अपीत्याशयः । एवं गुणसाम्यमाश्रित्योपमाप्रतिभानेऽपि पूर्वोक्तबाधकत्वं वक्तुं शक्यमिति न तदनुरोधेन बाधकत्वानुरोधेन तत्रोपमायां गुणसाम्यस्य परित्याग इत्यर्थः।

(चित्र०)

यत्तु रुद्रटेन—'सकलकलम्' इत्यादावुपमां समर्थयमानेन—

स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवः ॥

(भारती)

'यत्तु' के द्वारा अपने अभिप्राय के साथ रुद्रट मत की योजना करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि 'सकलकलम्' इत्यादि में 'उपमा' का समर्थन करते हुए रुद्रट ने लिखा है—

ये उपमान और उपमेय समुच्चय अर्थालंकार यद्यपि स्फुट हैं। किन्तु शब्दमात्र सामान्य का आश्रय ग्रहण करने के कारण यहाँ शब्द में अथवा श्लेष में भी उपमा संभाव्य है।

(सुधा)

रुद्रटमतं स्वाभिप्रायेण योजयति—यत्त्वित्यादिना । 'सकलम्' इत्यादावुपमां समर्थयमानेन रुद्रटेन; एतावुपमासमुच्चयावर्थालङ्काराविति स्फुटम् , किन्तु शब्दमात्रं सामान्यमाश्रित्य इह शब्देऽपि वा श्लेषेऽपि सम्भवत इति शब्दसाम्यमात्रमिहोक्तम्। तत्कथनं परमार्थतः शब्दसाम्यमात्रमाश्रित्याप्युपमा समर्थनीयेत्यभिप्रायेण; अभेदाध्यवसायेनापि धर्मगुणसाम्यं न भवतीत्यभिप्रायेण न प्रतिपादितम्; श्लिष्टविशेषणेष्वभेदाध्यवसायेन

साधारणधर्मैक्यस्यालङ्कारान्तरेषु सर्वैरालङ्कारिकैः समाश्रयणात् सम्यगङ्गीकारात्। तस्माद्धर्मत इत्यनेन न श्लेषो व्यावर्त्तयितुं=निषेधयितुं शक्यत इति दिक्।

(चित्र०)

इति शब्दसाम्यमात्रमिहोक्तम्। तदन्ततः शब्दसाम्यमात्रमाश्रित्याप्युपमा समर्थयितुं शक्येति भावेन, न त्वभेदाध्यवसायेनापि गुणसाम्यं न सम्भवतीति भावेन, श्लिष्टविशेषणेष्वप्यभेदाध्यवसायेनैक्यस्यालङ्कारान्तरेषु सर्वैरपि समाश्रयणात्। तस्मात् 'धर्मतः' इत्यनेन न श्लेषो व्यावर्तयितुं शक्यते।

(भारती)

पूर्वोक्त कारिका में शब्दसाम्य मात्र ही कहा गया है। यह कथन परमार्थतः शब्दसाम्य-मात्र का आश्रय ग्रहण करने पर भी उपमा समर्थक है, इस अभिप्राय से—अभेद के अध्यवसाय से भी धर्म और गुण का साम्य होना असंभव समझ कर ही इसका प्रतिपादन नहीं किया गया है। श्लिष्ट विशेषणों में अभेदाध्यवसाय के द्वारा एक का साधारण धर्म अन्य अलंकारों में भी सभी आलंकारिकों के द्वारा अंगीकृत है। फलतः 'धर्मतः' इस विशेषण से यहाँ श्लेष का निषेध नहीं किया जा सकता।

विमर्श—रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के एक मान्य अनुयायी हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम अलंकारों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इनकी दृष्टि में अलंकारों के—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष ये चार मूलतत्त्व हैं। अलंकारसम्बन्धी इनका विचार भामह, दण्डी, आनन्द और अभिनवगुप्त के बीच की श्रृंखला में है। काव्य के सिद्धान्त में जिन मौलिक तथ्यों का उन्मीलन-आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वन्यालोक में किया है, उनमें से अनेक तथ्यों का संकेत रुद्रट ने अपने अलंकार ग्रन्थों में किया है। ये आनन्दवर्द्धन से कुछ ही प्राचीन थे। रस और अलंकार के परस्पर सम्बन्ध को इन्होंने खूब मार्मिक दृष्टि से देखा है। अतः रुद्रट के अनुसार उपमेय और उपमान में समान साधारणधर्म के कारण समता का दिखाई पड़ना ही उपमालंकार है। इनके विचार में उपमा का मूल शब्द-साम्य ही है।

इन्होंने प्रथम औपम्य का लक्षण प्रस्तुत कर पुनः उसके भेदों का निरूपण किया है। औपम्य की परिभाषा में इन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि इसमें वक्ता की प्रवृत्ति की ही छाया प्रतीत होती है। अपनी रुचि के अनुकूल प्रयोक्ता अप्रस्तुत का ग्रहण करता है तथा प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में अपनी इच्छा के अनुकूल गुणविशेष पर विचार करता है। उपमा के लक्षण में इन्होंने गुणादिसिद्ध समान को महत्त्व प्रदान किया है। समग्ररूप से विचार करने पर यह पता चलता है कि इन्होंने उपमा अलंकार के स्वरूप को एक नवीन तथ्य जोड़कर विशिष्टता प्रदान की है। क्योंकि इनकी दृष्टि में उपमा के लक्षण में गुणादि से अभिप्राय गुणसंस्थानादि का है। रुद्रट के इस मत की समीक्षा हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि उपमा में सबसे व्यापक तत्त्व शब्दसाम्य मात्र ही है। इसका अपकर्ष होने पर ही वे धर्म उपादेय गुण के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। उपमानोपमेयभाव पर अवस्थित धर्म गुण पर ही अवलंबित है। धर्म के विवेचन में गुण की व्यापक समीक्षा ग्रन्थकार की महती देन है।

(चित्र०)

वस्तुतस्तु 'सकलकलम्' इत्यादावुपमैवेति व्यर्थम् 'धर्मतः' इति विशेषणम्। अलङ्कारान्तरविविक्तस्तु श्लेषस्य विषयस्तत्प्रकरणे दर्शयिष्यते।

किञ्च, विविक्तविषयाभावेनालंकारान्तरबाधकत्वमिति वाचोयुक्तिरप्ययुक्ता, विषयसद्भावमात्रेण निरवकाशत्वहानेर्विविक्त-विषयानपेक्षणात्। न ह्ययमलङ्कारगोचरो लोकन्यायो यद्विविक्तविषयो वक्तव्य इति, अरन्ध्ररत्नानां सुवर्णविविक्तविषयाभावेऽपि सुवर्णाश्रितानामेव चारुताहेतुत्वेनालंकारान्तरत्वव्यवस्थितेः। अन्यथा निरवकाशैररन्ध्रप्रत्युप्तरत्नैः सावकाशस्य तदाश्रयसुवर्णस्यालंकारता बाध्येत। नाप्ययं वाक्यवित्संमतः शास्त्रीयन्यायः पदे, जुहोतीत्यादीनामाहवनीयशास्त्रादिविविक्तविषयाभावेऽपि सविषयत्वमात्रेण प्रतिष्ठितत्वात्। नाप्यसाधारण्येनैतच्छास्त्रन्यायः, सहोक्त्यादीनामतिशयोक्त्यादिविविक्तविषयाभावेऽपि तद्बाधेनालंकारान्तरत्वव्यवहारादविरोध इहाप्यविशिष्टः। तस्मादत्रोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषालंकार इत्ययुक्तम्। प्रत्युतोपमैवात्र श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुः। न हि पुरवर्णनप्रकरणे सकलकलमिति तद्विशेषणपदस्य सुधांशुबिम्बमिवेत्युपमाया अनिबन्धने कलासाकल्यलक्षणार्थान्तरप्रतिभा सम्भवति। प्रतीपव्यावृत्त्यर्थम् 'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यम्' इत्युक्तमयुक्तम्, तत्र अन्येनेत्यस्य भिन्नविशेषणेन पौनरुक्त्यात्।

किं च, वर्ण्यात् प्रकृतादन्येनाप्रकृतेनेति यद्यर्थस्तदा—

(भारती)

वस्तुतः के द्वारा सिद्धान्त स्थापित करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'सकलकलम्' इत्यादि में जब उपमा अलंकार ही है तो फिर पूर्वोक्त लक्षण में उपमा रोकने के लिए 'धर्मतः' यह विशेषण व्यर्थ ही है। अन्य अलंकारों में विवेचित श्लेष का विषय उसके प्रकरण—'सर्वदो माधवः पायात् संयोगङ्गामधीरत्' (चन्द्रा० श्लो० ६२)—में दिखायेंगे।

किन्तु; विविक्त विषय के अभाव से 'श्लेष' की अन्य अलंकारों में बाधकता का कथन भी अयुक्तिकर है। क्योंकि उसकी उपस्थितिमात्र से भी निरवकाशत्व की हानि से उस प्रकार के विषय की यहाँ अनपेक्षा है। 'विविक्तविषयो वक्तव्यः' इस लोकप्रसिद्ध न्याय के द्वारा भी अलंकार का गोचरत्व नहीं कह सकते। क्योंकि यहाँ छिद्ररहित रत्नों के सुवर्ण के विविक्त विषय के अभाव में भी सुवर्ण के आश्रित रत्नों की सुन्दरता ही अलंकारान्तर के निश्चय कारण हैं। अन्यथा लोकप्रसिद्ध 'विविक्तविषयो वक्तव्यः' इस न्याय के मानने पर भी अवकाशरहित अछिद्र प्रत्युप्त रत्नों से अवकाशयुत सुवर्ण की अलंकारता बाधित है। मीमांसकों के मत से शास्त्रप्रसिद्ध होने पर भी यह न्याय नहीं होता। 'पदे जुहोति' इत्यादि वाक्यों के हवननिमित्तक असाधारणत्व होने पर भी उत्तरार्द्ध में 'जुहोति' इत्यादि के आहवनीय शास्त्र से भिन्न विषय के अभाव में भी 'सविषयत्व' मात्र से ही उसकी प्रतिष्ठा हो जाती है। यहाँ अलङ्कारशास्त्र में भी 'सहोक्ति' आदि अलंकारों के भी विनोक्त्यादि से विविक्त विषय के अभाव में भी उसके अबाध के द्वारा अलङ्कारान्तर व्यवहार से विरोधाभास में कोई विशेषता नहीं है।

फलतः यहाँ प्रकृति में उपमाप्रतिभा से उत्पत्तिहेतुक श्लेषालंकार का कथन युक्तिसंगत नहीं है। प्रत्युत् 'सकलकलम्' इत्यादि में श्लेष की प्रतिभा में उपमा ही कारण है। व्यतिरेकालंकार में दोष दिखाते हुए कहते हैं—पुरवर्णन के प्रकरण में 'सकलकलम्' यह पुरविशेषण

के पद का 'सुधांशुबिम्बम्' की तरह उपमा के कथनाभाव में कलासाकल्य ही लक्षण है जिसका ऐसे अर्थान्तर की प्रतिभा की संभावना ही नहीं है। इसलिए शब्दसाम्य में भी वहाँ उपमा के रहने पर ही 'धर्म' पद का उपादान लक्षण में निरर्थकता ही है। उपमा में प्रतीप निराकरण के लिए **'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यम्'** पद का जो उक्त लक्षण में समावेश किया गया है, वह भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि भिन्नेन पद से ही 'अन्येन' पद की गतार्थता सिद्ध है फिर लक्षण में 'अन्येन' पद का समावेश पुनरुक्ति ही तो है। किंतु वर्ण्यप्रकृति से 'अन्येन' पद के द्वारा यदि 'अप्रकृतेन' अर्थ ग्रहण किया जाय तो समुचित उपमा में अव्याप्तिदोष हो जाता है। जैसे—

(सुधा)

सिद्धान्तयति—वस्तुतस्त्विति । 'सकलकलम्' इत्यादावुपमैव, तद्वारकं धर्मत इति विशेषणं निरर्थकमेव। अलङ्कारान्तरविविक्तश्लेषदेशस्तु श्लेषप्रकरणे 'सर्वदो माधवः पायात् स यो गङ्गामदीधरत्' इत्यादिरूपो दर्शयिष्यते। किञ्च विविक्तविषयाभावेनालङ्कारान्तर-बाधकता श्लेषस्येति वाचोयुक्तिरप्ययुक्ता। तस्य सद्भावमात्रेणापि निरवकाशत्वस्य हानि-सत्त्वेन तादृशदेशस्यानपेक्षणात् । 'विविक्तविषयो वक्तव्यः' इति लोकप्रसिद्धन्यायस्या-लङ्कारगोचरत्वं न वक्तुं शक्यते । तत्र हेतुमाह—अरन्ध्ररत्नानां सुवर्णतो विविक्तदेशा-भावेऽपि सुवर्णमाश्रितानां रत्नानां चारुताहेतुता, अलङ्कारान्तरत्वस्य निश्चयात् । अन्यथा = न्यायसत्त्वे, अवकाशरहितैररन्ध्रप्रत्युप्तरत्नैः सावकाशसुवर्णस्यालङ्कारता बाध्येत । वाक्य-विदां सम्मतोऽयं शास्त्रीयोऽपि = शास्त्रप्रसिद्धोऽपि न्यायो न भवति; 'पदे जुहोति' इत्या-दिवाक्यानां हवनेन निमित्तेनासाधारणत्वेऽप्युत्तरार्धे जुहोतीत्यादीनामाहवनीयशास्त्रादितः पृथग् देशाभावेऽपि सविषयत्वमात्रेण प्रतिष्ठानात् । इहाप्यलङ्कारशास्त्रेऽपि सहोक्त्याद्य-लङ्काराणामपि विनोक्त्यादितो विविक्तदेशाभावेऽपि तदबाधेन = विनोक्त्यादेरबाधेन, अलङ्कारान्तरत्वव्यवहारात् विरोधाभावे विशेषो नास्ति । तस्मादत्र प्रकृते उपमाप्रतिभाया उत्पत्तेर्हेतुः श्लेषालङ्कार इति कथनमयुक्तम् । प्रत्युत उपमैव 'सकलकलम्' इत्यादौ श्लेषस्य प्रतिभायां कारणम् । व्यतिरेके दूषणमाह—पुरवर्णनप्रकरणे 'सकलकलम्' इति पुर-विशेषणस्य पदस्य 'सुधांशुबिम्बम्' इवेत्युपमायाः कथनाभावे कलासाकल्यं लक्षणं यस्या एतादृश्यर्थान्तरप्रतिभा न सम्भवत्येवेत्यलम् । तस्माच्छब्दसाम्येऽपि तत्र उपमाया एव सत्त्वेन धर्मपदस्योपादानं व्यर्थमेवेत्याशयो ग्रन्थकर्तुरभिप्रेयते ।

परे तु धर्मपदस्य 'प्रसिद्धगुणादिसाम्य एवोपमा, न त्वन्यत्रापि, 'चन्द्रवत् कलङ्कि मुखम्' इतिकथनार्थं धर्मपदस्यावश्यकत्वात् । सम्मतपदेन च उपमानस्यैवासम्मतस्य व्यावर्त्तनात् = निषेधादित्यर्थः । शब्दाधिक्येनार्थाधिक्यस्य कथने प्रामाण्यसत्त्वात् । 'तुष्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन शब्देतरगुणादिसाम्यपरताया धर्मपदस्य विवक्षितुं शक्यत्वाच्चेति तत्पदमावश्यकमिति वदन्ति । 'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यम्' इति पदं खण्डयितुं दूषण-मारचयति—प्रतीपव्यावृत्त्यर्थमिति । प्रतीपस्य 'त्वल्लोचनसमं पद्मम्' इत्यादिरूपस्य निषेधार्थम् 'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यम्' इति विशेषणमुक्तम् । तत्रान्येनेति पदमयोग्य-मित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—अन्येनेत्यस्य भिन्नेनेत्यर्थकतया पूर्वेण पौनरुक्त्यापत्तेः ।

अर्थान्तरं दूषयति—किञ्चेति । वर्ण्यात्प्रकृतादन्येनाप्रकृतेनेति यद्यर्थः, तदा समुच्चितो-पमायामव्याप्तिः ।

(चित्र०)

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥

इति समुच्चितोपमायामव्याप्तिः तत्र समराङ्गत्वेन रजसां शोणितेषु पतनस्यापि वर्ण्यत्वात् । यदि तु स्वयं वर्ण्येनावर्ण्येन वा कुतश्चिद्वर्ण्यादन्येनेत्यर्थः । तदाप्युत्कृष्टगुणत्वादुपमानभावमप्यसहमानस्योपमानत्वकल्पनरूपे प्रतीपेऽतिव्याप्तिः, यथा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मा स्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥

अत्र हि वर्ण्यानां दुर्जनवचसां हालाहलेनातिप्रकृष्टदोषत्वादुपमानभावमप्यसहमानेन साम्यनिबन्धनं प्रतीपम् ।

(भारती)

और भी बहुत से राक्षस, उनके रक्त की नदियों पर समर में उड़ी हुई धूलि के समान वानरों की सेना पर गिरे अर्थात् गिर कर मरे ।

यहाँ समुच्चित उपमा के उदाहरण में—शोणितों में धूलिकणों के पतन का भी रणाङ्गत्वेन वर्ण्य होने के कारण प्रकृतत्वेन लक्षण समन्वय का अभाव है, प्रकारान्तर से तदर्थ की आशंका कर निराकरण करते हैं—स्वयं स्वरूप से वर्ण्य के द्वारा या अवर्ण्य के द्वारा कहीं वर्ण्य से कहीं अन्य से यदि तदर्थ का बोध हो तब अति उत्कृष्ट गुणत्व से उपमानभाव भी असहमान के उपमानता कल्पनात्मक प्रतीप अलंकार में अतिव्याप्ति दोष होगा । जैसे—

अरे हालाहल (विष) ! तेरा यह कैसा अभिमान कि संसार की दारुण वस्तुओं में तू ही महादारुण है ! अरे इस संसार में तो तुझ सरीखे खलवचनों की कोई कमी ही नहीं है ।

इस उदाहरण में, प्रकृत दुष्टवचनों का अतिप्रकृष्ट दोष से उपमानभाव असहमान के द्वारा विष से साम्य का कथन होने के कारण प्रतीप है । फलतः उपमालक्षण में 'अन्येन' पद का समावेश निरर्थक ही है ।

(सुधा)

तत्र समुच्चितोपमोदाहरणे शोणितेषु रजसां पतनस्यापि रणाङ्गत्वेन वर्ण्यतया प्रकृतत्वेन लक्षणसमन्वयाभावादित्यर्थः । उदाहरणमाह—इतराणीति । इतराणि रक्षांस्यपि वानरकोटिषु; समरोत्थानि रजांसि तेषां रक्षसां शोणितनदीषु रक्तप्रवाहेष्विव पेतुः निपत्य मृतानीत्यर्थः । प्रकारान्तरेण तदर्थमाशङ्क्य निराकरोति—यदि त्विति । स्वयं स्वरूपतो वर्ण्येनावर्ण्येन वा कुतश्चिद्वर्ण्यादन्येनेत्यर्थः । तदा, अत्युत्कृष्टगुणत्वमसहने हेतुः, तस्यैवोपमानताकल्पनात्मके प्रतीपेऽतिव्याप्तिः । तमुदाहरति—यथेति । अहमेव सुदारुणानाम् अतितीव्राणां गुरुः श्रेष्ठः । तातेति सानुकम्पसम्बोधनम्, हालाहलेत्यपि सम्बोधनम् । मा स्म दृप्यः दर्पं मा कृथाः । अस्मिन् भुवने दुर्जनानां वचांसि त्वत्सदृशानि, भूयो वा जल्पेन । 'ननु' एवार्थे, सन्त्येवेत्यर्थः । अत्रोदाहरणे वर्ण्यानां

प्रकृतानां दुष्टवचसामतिप्रकृष्टदोषवत्तयोपमानभावमसहमानेन कालकूटेन साम्यस्य निवन्धनात् कथनादित्यर्थः। तस्मात् 'अन्येन' इतिपदकथनमयुक्तमेव।

(चित्र०)

अत्र वर्ण्यस्येत्यप्ययुक्तम्; 'त्वत्कीर्तेः पुरतो भाति ज्योत्स्ना ध्वान्तमलीमसा'- इत्यप्रस्तुतप्रशंसासंकीर्णोपमायामव्याप्तेः। तत्र कीर्तेरेव वर्ण्यत्वेन ज्योत्स्नाया अवर्ण्यत्वात्। अपि च, 'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यं वाच्यम्' इति कोऽर्थः ? किमन्यप्रतियोगिकत्वेन वर्ण्यगतं साम्यं वाच्यमिति ? किं वा यथाकथञ्चिद्वर्ण्यावर्ण्योभयनिरूपितं साम्यं वाच्यम् ? अथवा वर्ण्यानुयोगिकत्वेन साम्यं वाच्यम् इति ? आद्ये, 'सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि संमदं विधत्ते' इत्युभयविश्रान्तसादृश्योपमायामव्याप्तिः। द्वितीये, प्रसिद्धप्रतीपेऽप्यतिव्याप्तिस्तदवस्था। एवं तृतीये 'वर्ण्यस्य साम्यम्' इत्येतावता विवक्षितार्थलाभात् 'अन्येन' इत्यस्य वैयर्थ्यम्।

उपमेयोपमाव्यावृत्त्यर्थम् 'एकदा' इति विशेषणमप्ययुक्तम्। तेन 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादौ पर्यायेण प्रवृत्तायामुपमेयोपमायामतिव्याप्तिनिरासेऽपि,

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥

इति युगपत्प्रवृत्तायां तस्यामतिव्याप्त्यनिरासात्।

(भारती)

अत्र अर्थात् उक्त उपमा के लक्षण में 'वर्ण्यस्य' यह पद भी अयोग्य ही है। क्योंकि 'त्वत्कीर्त्तेः पुरतो भाति ज्योत्स्नाध्वान्तमलीमसा' अर्थात् तुम्हारी कीर्त्ति के आगे चन्द्रमा की ज्योति भी मलिन है। इस अप्रस्तुतप्रशंसा से संकीर्ण उपमा में अव्याप्तिदोष हो जाता है। क्योंकि यहाँ कीर्त्ति ही प्रकृत है तथा ज्योत्स्ना से अप्रकृतत्व प्रसंग उपस्थित है।

इस प्रकार प्रत्येक का दोष दिखाकर अर्थान्तर से निराकरण करते हैं। 'अपिचेत्यादि' 'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यं वाच्यम्' इसका क्या होगा ? अर्थात् 'अन्य पद से वर्ण्य का साम्य कहना चाहिए'; यहाँ 'अन्येन' इस तृतीया का प्रतियोगित्व अर्थ का लाभ होता है। क्या अन्य प्रतियोगिक वर्ण्यनिष्ठ साम्य कहना चाहिए ? अर्थात् यहाँ तृतीया का निरूपित रूप दोनों अर्थ का लाभ होता है। अथवा यथाकथंचित् वर्ण्य और अवर्ण्य दोनों के द्वारा निरूपित साम्य कहना चाहिए; किंवा वर्ण्य का अनुयोगिकत्व से साम्य कहना चाहिए। यही तीन पक्ष हैं। अब प्रथम पक्ष में दोष बताते हैं—'सरसिज···' अर्थात् उस सुन्दरी का मुख एवं कमल दोनों समान रूप से हृदय में आनन्द उत्पन्न करते हैं। यहाँ मुख एवं कमल दोनों में विश्रान्त सादृश्य उपमा में साम्य होने के कारण दूसरी जगह प्रतियोगित्व के अभाव से दोनों में अनुयोगित्व होने के कारण अव्याप्ति दोष होगा ही।

दूसरे पक्ष में भी, 'त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्र सदृशो विधुः' अर्थात् तुम्हारी आँख के

समान कमल एवं तुम्हारे मुख के समान चन्द्र है।' इस प्रसिद्ध प्रतीप में भी यथाकथंचित् प्रकृत अनुयोगिकत्व से अथवा प्रकृत प्रतियोगिकत्व से साम्य का वाच्य होने के कारण अव्याप्तिदोष दुर्निवार होगा ही।

तृतीय पक्ष में—वर्ण्य का अनुयोगिकत्व से साम्य कहना चाहिए। इस पक्ष में 'अन्येन' यह पद बिलकुल ही निरर्थक हो जाता है। 'वर्ण्य का साम्य कहना चाहिए' इतना भर ही कहने से विवक्षित अर्थ का 'वर्ण्यानुयोगिकत्वेन' अर्थ का लाभ होता ही है। लक्षण में **'साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यम्'** पद का समावेश बिलकुल निरर्थक है।

'चन्द्र इव मुखम्, मुखमिव चन्द्रम्' अर्थात् चन्द्रमा के समान मुख एवं मुख के समान चन्द्रमा है। इस वाक्य में औपम्य का निर्वाह चन्द्र और मुख तक ही सीमित है। अन्य पदार्थों का सादृश्य सम्बन्धी क्षेत्र उनके क्षेत्र से अलग हो जाता है। यहाँ उपमेय की उपमा उपमान से है और उपमान की उपमा उपमेय से है। औपम्य निर्वाह के लिए किसी तृतीय पदार्थ के अभाव में इस उपमेयोपमा में उपमा निषेध के लिए लक्षण में 'एकदा' विशेषण का समावेश भी निरर्थक ही है। क्योंकि उपमेयत्वाभिमत जो मुख है एवं उसका प्रतियोगिक सादृश्य वर्णन 'मुख के समान चन्द्रमा है'; इस कथन में तत्समान कालीन ही 'चन्द्रमा के समान मुख है'; ऐसा कहने से किसी भी तरह अतिव्याप्ति दोष नहीं होता, फिर 'एकदा' विशेषण तो निरर्थक ही है। इसीलिए तादृशार्थक उसका विशेषण कहने से—'आकाश की तरह जल; जल की तरह आकाश; हंस चन्द्रमा की तरह और हंस की तरह चन्द्रमा; कुमुद के सदृश तारे और तारे के सदृश कुमुद'—ऐसे स्थल में पर्याप्त व्यावृत्त उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति निवारण करने पर भी उपमेयत्वाभिमुख जो आकाश उसके प्रतियोगिक समानधर्मी सादृश्य वर्णनकाल में ही 'जल की तरह आकाश' कथन से यद्यपि व्यभिचार निवारण हो जाता है फिर भी पर्यायव्यावृत्त 'तद्वल्गुना' इस स्थलगत उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति का निराकरण असंभव ही है।

इस कारण सुन्दर, जो साथ ही साथ एक ही क्षण में आँखों का खुलना और कमल का खिलना ये दोनों व्यापार हैं, उनसे शीघ्र उसी क्षण में दोनों ही परस्पर एक दूसरी की बराबरी को प्राप्त करें, एक तो भीतर कुछ-कुछ चलती हुई चिकनी काली पुतलियों वाली तुम्हारी आँखें और दूसरे भीतर कुछ-कुछ चलते हुए भौरों से युक्त कमल अर्थात् साथ ही साथ खुलने और खिलने से आँखों की और कमलों की पूर्णरूप से समानता दी जायेगी, अर्थात् आप आँखें खोलें, कमल खिल रहा है।

यहाँ युगपत् अर्थात् पर्यायप्रवृत्त उपमेयोपमा में सम्पूर्ण सादृश्य का लाभ है। यहाँ 'एकदा' साम्यप्रतिपादन से अतिव्याप्ति का निराकरण असंभव ही है।

(सुधा)

वर्ण्येनेतिपदं दूषयति—अत्रेति। अत्र लक्षणे वर्ण्यस्येति पदमप्ययोग्यमित्यर्थः। ज्योत्स्ना त्वत्कीर्तेरग्रतो ध्वान्तमलीमसा=मलिना, भाति=शोभते इत्यप्रस्तुतप्रशंसया सङ्कीर्णायामुपमायामव्याप्तेः, तत्र कीर्त्तेरेव प्रकृतत्वेन ज्योत्स्नाया अप्रकृतत्वात्। प्रत्येकं दूषयित्वा अर्थान्तरमाश्रित्य निराकरोति—अपि चेत्यादि। 'अन्येन वर्ण्यस्य साम्यं वाच्यम्' इतीत्यस्येत्यर्थः। अन्येनेत्यस्य तृतीयायाः प्रतियोगित्वमर्थः। किमन्यप्रतियोगिकं वर्ण्यनिष्ठं साम्यं वाच्यम्, तृतीयाया निरूपितत्वमुभयत्रार्थः। 'वर्ण्यावर्ण्योभयनिरूपितं

साम्यम्' वा 'वर्ण्यानुयोगिकत्वेन साम्यं वाच्यम्' वेति पक्षत्रयम् । प्रथमपक्षे दूषणमाह—सरसिजमिति । तस्या मुखम्, इदं सरसिजञ्च, 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक् । समं तुल्यं चेतसि, एवं सम्मदं प्रमोदं विधत्ते धारयतीत्यत्रोभयविश्रान्तसादृश्योपमायाम् ; साम्येऽन्यत्र प्रतियोगित्वाभावेनोभयोरेव तत्रानुयोगित्वादव्याप्तेः । द्वितीयपक्षं दूषयति—द्वितीये=वर्ण्यावर्ण्योभयनिरूपितं साम्यमिति पक्षे, प्रसिद्धप्रतीपेऽपि 'त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः' इत्यत्र यथाकथंचिदप्रकृतानुयोगिकत्वेन प्रकृतप्रतियोगिकत्वेन साम्यस्य वाच्यतयाऽव्याप्तेः । तृतीये=वर्ण्यानुयोगिकत्वेन साम्यं वाच्यमिति पक्षे, अन्येनेति पदस्य व्यर्थत्वापत्तेः । 'वर्ण्यस्य साम्यं वाच्यम्', इत्येतावता कथनेन विवक्षितार्थस्य वर्ण्यानुयोगिकत्वेनेत्यादेर्लाभात् लाभसत्त्वादिति ग्रन्थकर्तुराशय इत्यलम् । वस्तुतस्तु सादृश्यप्रयोजकतत्प्रतियोगित्वानुयोगित्वतदवच्छेदकैतदन्यधर्मप्रकारकधीविशेष्यत्वेनाविवक्षितत्वमन्यपदस्यार्थः । अहमेवेत्यादिप्रतीपे तु दर्पाभावप्रकारकधीविशेष्यतयापि हालाहलत्वस्य विवक्षितत्वात् । विवक्षोपादानात्तदन्यधर्माणां द्रव्यत्वादिधर्माणां तत्र सत्त्वेऽपि नासङ्गतिरित्यर्थः । नापि समुच्चितोपमायामव्याप्तिः; रजसां वर्ण्यत्वेऽपि तादृशान्यत्वस्य तत्रापायाभावात् । अन्येन वर्ण्यस्येत्यस्यापि तादृशान्यप्रतियोगिकसादृश्याकरणोपमेयकत्वमर्थः । उभयविश्रान्तसादृश्योपमायां तु मुखप्रतियोगिकपद्मानुयोगिकस्य पद्मप्रतियोगिकमुखानुयोगिकस्य च साम्यस्य प्रतीतिः । तत्र निरुक्तान्यत्वं पद्मेऽस्त्येव । तत्प्रतियोगिकसादृश्याधिकरणञ्च मुखमिति लक्षणसमन्वयान्नाव्याप्तिः । प्रतीपे तु तादृशान्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः । अन्यादिपदेनैव तादृशार्थलाभान्न तस्य वैयर्थ्यमिति प्राचामाशयः ।

एकदेति पदं खण्डयितुमुपन्यस्यति—उपमेयोपमाव्यावृत्त्यर्थमिति । उपमेयोपमायाः 'चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः' इतिरूपाया व्यावृत्त्यर्थं निषेधार्थमेकदेति विशेषणम् । उपमेयत्वाभिमतप्रतियोगिकसादृश्यवर्णनकालानवच्छिन्नमित्यर्थकम्, तेनोपमेयत्वाभिमतं यन्मुखम्, तत्प्रतियोगिकसादृश्यवर्णनम, 'मुखमिव चन्द्रः' इति तत्समानकालीनमेव चन्द्र इव मुखम्, इति नातिव्याप्तिः । एतदर्थमुपात्तमपि अयुक्तमेव । तेन तादृशार्थकतद्विशेषणकथनेन 'खमिव जलं जलमिव खम्, हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः । कुमुदाकारास्ताराः ताराकाराणि कुमुदानि' इत्यत्र पर्यायप्रवृत्तायामुपमेयोपमायामतिव्याप्तिनिवारणेऽप्युपमेयत्वाभिमतं यत्खं, तत्प्रतियोगिकसादृश्यवर्णनकालावच्छिन्नत्वमेव 'जलमिव खम्' इत्यस्यास्तीति रीत्या निवारिते व्यभिचारे सत्यपि पर्यायप्रवृत्तायां तद्वल्गुनेत्याद्युपमेयोपमायामतिव्याप्तिनिरासासम्भवात् । उदाहरणव्याख्या तु तत् तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहकरणात् वल्गुना मनोज्ञेन 'वल्गु स्थाने मनोज्ञे च' इति विश्वः । युगपत्तावदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मीलितेन सद्यो द्वे अपि परस्परतुलामन्योन्यसादृश्यमधिरोहतां प्राप्नुताम् । प्रार्थनायां लोट् । के द्वे, अन्तः प्रस्पन्दमाना चलन्ती परुषेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य, तथोक्तम् 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । तव चक्षुः अन्तः प्रचलितभ्रमरं चलद्भृङ्गं पद्मञ्च । युगपदुन्मेषे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति । अत्रैकदा साम्यप्रतिपादनाद् इति व्याप्तेः सत्त्वात् ।

(चित्र०)

अपि चैवम्,

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥

इति भिन्नसाधारणधर्मायां मालोपमायामव्याप्तिः; तत्रानेकदा साम्यप्रतिपादनात् । न च बहूपमामेलनमेव मालोपमा नैका, तासु च प्रत्येकं लक्षणमस्त्येवेति वाच्यम् , तथा सत्युपमेयोपमाप्युपमाप्रतीपमेलनमेवेति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरकरणायोगात् । संसृष्टिसंकरात् पृथग्ग्रन्थकृतां लेखनमुभयत्रापि तुल्यम् । एवमुपमेयोपमाप्रकरण उदाहरिष्यमाणायाम् 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इति परस्परोपमायामव्याप्तिः ।

(भारती)

अन्य दोष दिखाते हुए निम्नलिखित उदाहरण में दीक्षित जी ने बताया है; इस नितम्बिनी नारी ने, जो चन्द्रिका की तरह आनन्ददायिनी है तथा सुरा की तरह मद का कारण है, प्रभुता की तरह सारी दुनिया को वशीभूत कर लिया है।' यहाँ भिन्नाः अर्थात् पृथग्भूत साधारणधर्म नयनानन्दादि हैं, जिसमें ऐसी मालोपमा में—जिसमें एक ही उपमेय का अनेक उपादान है—अव्याप्ति हो जायेगी ।

विमर्श—मालोपमा का अर्थ है उपमा की माला। जहाँ एक ही उपमेय को अनेक उपमानों के द्वारा समता दिखाई जाती है; उसे ही मालोपमा कहते हैं। इसमें उपमेय के प्रति अत्यधिक तीव्रता की अनुभूति परिलक्षित होती है। जब वक्ता की वृत्ति एक उपमान से संतृप्त नहीं होती तब वह एक ही उपमेय की समता के लिए अनेक उपमानों की कल्पना करता है। इसमें अनेक उपमानों की कल्पना का आधार धर्मों की अनेकता, एकता या लोप है।

भिन्न साधारणधर्मी मालोपमा में अव्याप्तिदोष होगा। अगर आप यह कहें कि अनेक उपमाओं का सम्मिश्रण ही मालोपमा है, न कि उसका पृथक्करण। क्योंकि सबों में प्रत्येक का अलग-अलग लक्षण समन्वय है। अतः यहाँ अव्याप्तिदोष नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में समाधान करते हुए कहते हैं—ऐसी स्थिति में उपमेयोपमा का भी जो उपमा और प्रतीप के सम्मिश्रण से स्वरूप निर्माण हुआ है उसके निषेधार्थ जो उक्त लक्षण में 'एकदा' विशेषण का समावेश किया गया है—वहाँ भी व्यर्थत्वापत्ति होगी। संसृष्टि-संकर के जो प्रकरण हैं; उससे पृथक् भिन्नता से ग्रंथकार का 'उभयत्रापि' लिखना मालोपमा में तथा उपमेयोपमा में समान ही है। इस प्रकार उपमेयोपमा प्रकरण में उदाहरिष्यमाण 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यादि रूप परस्परोपमा में अव्याप्तिदोष दुर्निवार ही है।

(सुधा)

दूषणान्तरमाह—अपि चैवमिति । नितम्बिनी नारी, चन्द्रिकेवानन्दभूता, सुरेव मदकारणम् , प्रभुता इव समाकृष्टो वशीकृतः सर्वलोको ययेत्यर्थः। भिन्नाः पृथग्भूताः साधारणधर्मा नयनानन्दत्वादयो यस्यां मालोपमायामेकस्यैवोपमेयस्य बहूपमानोपादानमितिस्वरूपायामव्याप्तिः। तत्र मालोपमाया अनेकदा साम्यप्रतिपादनात्। आशङ्कते—नचेति। मालोपमा बहूपमामेलनमेवास्तु, न तु पृथगेका, सर्वासु प्रत्येकं लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः ? समाधत्ते; उपमेयोपमाया अपि उपमाप्रतीपमेलनरूपत्वेन व्यावृत्तये एकदेति

पदस्य व्यर्थत्वापत्तेः । संसृष्टिसङ्करयोर्यत्प्रकरणम्, तस्मात्पृथक् भिन्नतया ग्रन्थकर्तृणां लेखनमुभयत्रापि मालोपमायामुपमेयोपमायाञ्च तुल्यं समानमेवेत्यर्थः । एवमुपमेयोपमा-प्रकरणे उदाहरिष्यमाणपरस्परोपमायां रजोभिरित्यादिरूपायां चाव्याप्तिरिति दिक् । इदं प्रकृताभिप्रायेण । वस्तुतस्तद्वल्गुनेत्यादेः सरसिजमित्यादिरूपोभयविश्रान्तसादृश्योपमया समानशीलत्वेन, आद्ये उपमा, द्वितीये उपमेयोपमेति कल्पने प्रामाणाभावात् उभयवि-श्रान्तसादृश्योपमावत्पर्यायप्रवृत्तोपमेयोपमाया अपि लक्ष्यत्वात् । किञ्च उपमेयत्वाभि-मतप्रतियोगिकसादृश्यवर्णनकालानवच्छिन्नरूपैकदापदार्थस्य भिन्नधर्मिकमालोपमायां विद्य-मानत्वेनाव्याप्तेरसम्भवाच्च । परस्परोपमायामपि नाव्याप्तिः, उपमाद्वयस्यैव तत्र प्रतीतौ प्रत्येकं लक्षणसत्त्वेन तदभावादिति तु प्राचामाशयः ।

(चित्र०)

व्यङ्ग्योपमाव्यावृत्त्यर्थं वाच्यमित्युक्तमप्ययुक्तम्,

न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे ।
इति विस्पष्टसादृश्यात् तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥

इत्युक्तरूपायां तत्त्वाख्यानोपमायां साम्यस्यावाच्यत्वेनाव्याप्त्यापत्तेः ।

त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पङ्कजम् ॥

इत्यादौ विशिष्टोपमाद्याक्षिप्तविशेषणाद्युपमायामव्याप्त्यापत्तेश्च । 'शस्त्री श्यामा' इत्यादिवाचकलुप्तोपमायाम् 'चन्द्रसुहृन्मुखम्' इत्यादिसाम्यलक्षकपदव-दुपमायां चाव्याप्त्यापत्तेश्च ।

(भारती)

व्यंग्योपमानिराकरणार्थ लक्षण में जो वाच्य पद का समावेश किया गया है, वह भी युक्ति-संगत नहीं है । यह कमल नहीं है; बल्कि मुख ही है, ये दोनों भृङ्ग नहीं हैं; किन्तु नेत्र हैं । इस प्रकार स्पष्ट साम्य है जिसमें वह तत्त्वाख्यानक उपमा ही है । इस प्रकार कथित तत्त्वाख्यान रूप उपमा में अव्याप्तिदोष है । क्योंकि यहाँ साम्य का वाच्यत्वाभाव है । अन्य दोष कहते हैं—

तुम्हारा मुख—जिसकी चंचल आँखें घूमते हुए भौंरे की तरह हैं तथा जिनकी दन्त-पंक्तियों से ज्योति प्रस्फुटित हो रही है तथा जिसका वर्ण किंचित् केसर की तरह है—पंकज अर्थात् कमल की तरह शोभ रहा है ।

इस उदाहरण में विशिष्ट उपमाक्षिप्त विशेषण उपमा में साम्य का विशेषणों में अवाच्यता से अव्याप्तिदोष है । दूषणान्तर कहते हैं—'शस्त्रीश्यामा' इस वाचकलुप्त उपमा में तथा 'चन्द्र सुहृद मुखम्' इत्यादि साम्यलक्षण पद की तरह उपमा में अव्याप्तिदोष है ।

(सुधा)

वाच्यमिति पदं खण्डयितुं प्रारभते—व्यङ्ग्योपमेत्यादि । व्यङ्ग्योपमायाः, 'वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश । त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः ॥' इत्यादिरूपाया व्यावृत्तये वाच्यमिति यदुक्तं तदप्ययोग्यमेव । इदं पद्मं न, अपि तु

मुखमेव। इमौ भृङ्गौ न, किन्तु नेत्रे। एवं विस्पष्टं साम्यं यस्याः सा तत्त्वाख्यानोपमा एव इत्युक्तरूपायां तत्त्वाख्यानोपमायामव्याप्तेः, साम्यस्य वाच्यत्वाभावात्। दूषणान्तरमाह—अधीरे अक्षिणी यस्य तत्। आविः प्रकटीभूता दशनानां दन्तानां दीधितयो यत्र तत्त्वदाननम्, भ्रमन्तौ भृङ्गौ यत्र तत्। आ=ईषत्, लक्ष्याः केसरा यस्य तत्। पङ्कजमिव कमलमिव भाति शोभते, इत्यादौ विशिष्टोपमाक्षिप्तविशेषणोपमायां साम्यस्य विशेषणेष्ववाच्यतया अव्याप्त्यापत्तेः। दूषणान्तरमाह—शशी श्यामेति। वाचकलुप्तायां चन्द्रसुहृन्मुखमिति साम्यलक्षकपदवदुपमायामव्याप्तेः।

(चित्र०)

किञ्च 'वाच्यम्' इत्यत्र विधेयतया वाच्यतोच्यते ? अनुवाद्यतया वा ? आद्ये,

स कर्षन्महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीम्।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः॥

इत्यादावेवेदं लक्षणं स्यात्,

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः॥

इत्यादौ न स्यात्।

(भारती)

प्रकारान्तर से वाच्य पद का खण्डन करते हुए लिखते हैं—'वाच्यम्' में विधेयत्वेन वाच्यता कहते हैं अथवा अनुवाद्यतया ? प्रथम में—

बड़ी भारी सेना जो कि पूर्व समुद्र की तरफ जाने वाली थी, उसे ले जाते हुए वे रघु महाराज उसी भाँति सुशोभित हुए जैसे कि शंकर की जटा से नीचे गिरी हुई पूर्व समुद्र की तरफ जाने वाली गंगा जी को लिए जाते हुए भगीरथ सुशोभित हुए थे। यहाँ दोनों साम्य का विधेयत्वेन उपमा लक्षण होता है।

इन्द्र के तुल्य वे रघु महराज अनुकूल वायु से फहराती हुई पताकाओं से दुश्मनों को मानो डराते हुए पहले पूर्व दिशा की तरफ चले।

यहाँ गमन के ही विधेयत्व से इन्द्र के समान इसका विशेषण कोटि में सन्निविष्ट होने के कारण अनुवाद्यत्व के द्वारा विधेयत्व का अभाव है। फलतः इसमें लक्षण घटित ही नहीं होता है।

(सुधा)

प्रकारान्तरेण वाच्यपदं खण्डयति—किञ्चेति। वाच्यमित्यत्र विधेयत्वेन वाच्यता कथ्यते, अथवा अनुवाद्यतया इति विकल्पः। प्रथमं दूषयति—आद्ये वाच्यताया विधेयत्वे, महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् स रघुः, हरस्य जटाभ्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन्; सापि पूर्वसागरगामिनी, भगीरथ इव बभौ शुशुभे इत्यादावेव द्वयोः साम्यस्य विधेयत्वेन लक्षणम्=उपमालक्षणम्, स्यात्। स ययाविति। प्राचीनबर्हिरिन्द्रः, 'पर्जन्यो मघवा वृषा हरिहयः प्राचीनबर्हिस्तथा' इतीन्द्रपर्यायेषु हलायुधः। तेन तुल्यः स रघुः, अनिले-

नानुकूलवातेनोद्‌धूतैः केतुभिः अहितान् रिपून् तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव। तर्जिभर्त्स्योरनुदात्तत्वेऽपि आत्मनेपदस्यानित्यत्वम्, चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकात्। प्रथमं प्राचीं दिशं ययौ इत्यादौ गमनस्यैव विधेयत्वेन इन्द्रतुल्य इत्यस्य विशेषणकोटिनिविष्टतयानुवाद्यत्वेन विधेयत्वाभावाल्लक्षणं न स्यात्।

(चित्र०)

द्वितीये, यत्र व्यतिरेकालंकारे साम्यस्य निषेधायानुवाद्यता 'मुखेन निष्कलंकेन न समस्तव चन्द्रमाः' इत्यादौ, तत्रापीदं लक्षणं स्यात्। न च निषेधाप्रतियोगित्वेन वाच्यमिति विशेषणीयम्,

अिसमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे।
नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः॥

इति व्यतिरेके तथाप्यतिव्याप्तेः। न च निषेधप्रतियोगिकोट्यननुप्रविष्टतया वाच्यमिति विशेषणीयम्,

(भारती)

दूसरे दोष में, वाच्य का जहाँ व्यतिरेक अलंकार में साम्य का निषेधार्थक अनुवाद्यता है; वहाँ भी अर्थात् व्यतिरेक अलंकार में भी उपमा का लक्षण घटित है। फलतः अतिव्याप्ति दोष है। उस व्यतिरेक को दिखाते हैं—तुम्हारे निष्कलंक मुख से चन्द्रमा तुल्य नहीं है। फिर आशंका करते हैं—यदि हम निषेध का अप्रतियोगित्वेन अनुवाद्यता लें, तब तो पूर्वोदाहरण में साम्य का निषेध्यत्वेन निषेध प्रतियोगी ही होने के कारण पूर्व कथित अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

बहुत दुश्मनों की पराजय में तलवार मात्र ही सहायक है; जिसका ऐसा यह महाधैर्यशाली राजा अन्य तुच्छ जनों की तरह घमण्डी नहीं है।

यहाँ उपमान एवं उपमेयगत अपकर्ष एवं उत्कर्ष हेतुक तुच्छ और महाधृतित्व रूप अर्थोपम्य प्रतिपादक व्यतिरेक में फिर भी अतिव्याप्तापत्ति है। यदि यहाँ हम निषेध प्रतियोगि कोटि में अनुप्रविष्टवाच्य की अनुवाद्यता ग्रहण करते हैं तो कथित उदाहरण में सादृश्य निषेध के अभाव में भी अन्य तुच्छजन प्रतियोगिक सादृश्याधिकरणक गर्व का निषेध्यत्व से सादृश्य का निषेध प्रतियोगि कोटि में अनुप्रवेश के द्वारा अननुप्रवेश के अभाव से अतिव्याप्ति दोष नहीं है। इसका निराकरण करते हुए कहते हैं :—

(सुधा)

द्वितीये दूषणमाह—द्वितीये वाच्यस्यानुवाद्यत्वे, यत्र व्यतिरेकालङ्कारे साम्यस्य निषेधार्थमनुवाद्यता, तत्रापि=व्यतिरेके, इदम्=उपमालक्षणं स्यात्। तथा च तत्रातिव्याप्तिः। तं व्यतिरेकं दर्शयति–मुखेनेति। तव निष्कलङ्केन मुखेन चन्द्रमाः समो नेत्यर्थः। प्रतियोगिनो निषेधस्य कर्तुमशक्यतया साम्यरूपप्रतियोगिनो निषेधार्थमनुवाद्यतासत्त्वेन लक्षणसत्त्वात्। आशङ्कते, निषेधाप्रतियोगित्वेनानुवाद्यतया वाच्यत्वमस्तु। पूर्वोदाहरणे तु साम्यस्य निषेध्यत्वेन निषेधप्रतियोगित्वमेव तस्येति नातिव्याप्तिरित्याशङ्कार्थः। एतदपि दूषयति—असीति। प्रभूतारिपराभवे असिमात्रसहायोऽयं महाधृती राजा अन्यतुच्छजनवत् सगर्वो नास्तीत्यन्वय इति व्यतिरेके उपमानोपमेयगतापकर्षोत्कर्षहेत्वोस्तुच्छत्वमहाधृतित्वरूपयोरुक्तौ अर्थौ-

पम्यप्रतिपादकोदाहरणे, तथापि=निषेधाप्रतियोगित्वेनेत्युक्तेऽपि अतिव्याप्तिः । अगर्वत्व-स्यैव निषेधप्रतियोगितया वत्यर्थसादृश्यस्य निषेधप्रतियोगित्वाभावेन लक्षणसमन्व-यादतिव्याप्तिरित्यर्थः । पुनराशङ्कते—न चेति । निषेधप्रतियोगिकोट्यननुप्रविष्टतया अनु-वाद्यतया वाच्यमिति विशेषणीयम् । निषेधप्रतियोगिकोट्यननुप्रविष्टस्य वाच्यस्य अनुवाद्यतेत्यर्थः । पूर्वोदाहरणे तु सादृश्यस्य निषेधाभावेऽपि अन्यतुच्छजनप्रतियोगि-कसादृश्याधिकरणकसगर्वत्वस्य निषेध्यत्वेन सादृश्यस्य निषेधप्रतियोगिकोटावनुप्रवेशे-नानुप्रविष्टत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति समाधानस्य न चेत्यनेनान्वयः ।

(चित्र०)

वृथा चरसि किं भृङ्ग तत्र तत्र वनान्तरे ।
मालत्याः सदृशी कापि भ्रमन्नपि न लप्स्यसे ॥

इत्युपमानलुप्तायामव्याप्तेः । तत्र सदृशलाभनिषेधे साम्यस्यापि प्रतियो-गिकोटिनिविष्टत्वात् । तस्माद्विद्यानाथोक्तलक्षणमप्ययुक्तम् ।

यत्तु सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तं लक्षणम्—

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥ इति ।

(भारती)

हे भौंरे ! व्यर्थ ही जंगल-जंगल में क्यों घूमते फिरते हो ? तुम्हें घूमने पर भी मालती फूल की तरह कोई अन्य नहीं उपलब्ध होगा ।

इस उपमान लुप्ता में अव्याप्तिदोष होगा । यहाँ सदृश के लाभ निषेध में साम्य का भी प्रयोगि कोटि में सन्निवेश है । इसलिए विद्यानाथ ने जो उपमा अलंकार का 'स्वतः सिद्धेन' लक्षण किया है, वह पूर्णतः सदोष है ।

भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में जो उपमा-लक्षण कहा है—

दो पदार्थों में प्रसिद्धि के कारण परस्पर अवयव की समानता के योग अर्थात् सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा है ।

विमर्श—यहाँ भोजराज के अनुसार दो पदार्थों अर्थात् उपमेय एवं उपमान में आकृति के योग ही उपमा है । इन्होंने अपने लक्षण में उपमान की प्रसिद्धि का भी उल्लेख किया है, जो परम्परागत है । यद्यपि इनके लक्षण में किसी भी नवीन तथ्य का उद्घाटन नहीं है, फिर भी इन्होंने इस लक्षण में परम्परागत विचारों का सार प्रस्तुत कर दिया है । इस लक्षण का खण्डन करते हुए दीक्षित जी ने लिखा है—

(सुधा)

एतदपि निराकरोति—वृथेति । हे भृङ्ग, तत्र तत्र वनान्तरे तेषु तेषु वनेषु वृथा किं चरसि ? भ्रमन्नपि त्वं मालत्या सदृशीं क्वापि न लप्स्यसे न प्राप्स्यसे इत्युपमान-लुप्तायां वाक्यगायां धर्मोपमानलुप्तायामित्यर्थः । सौगन्ध्यादिधर्मस्यान्योत्कृष्टरूपोपमा-नस्यात्रानुपदानादिति भावः । एतस्यामुपमायामव्याप्तेर्हेतुमाह—तत्रेति । सदृशीला-

अनिषेधे सादृश्यस्यापि प्रतियोगिकोटिनिविष्टत्वेनाननुप्रविष्टत्वस्याभावादित्याशयः। उपसंहरति—तस्मादिति। विद्यानाथोक्तम् 'स्वतः सिद्धेन' इत्याद्युपमालक्षणमयुक्तमिति दिक्। अयमत्र प्राचामाशयः 'न पद्मम्' इत्यादौ तत्त्वाख्यानोपमायामव्याप्तिकथनं निष्फलमेव; भ्रान्तापह्नुतौ तदन्तर्भावसत्त्वात्। सादृश्यस्य प्रतीयमानतामात्रेणोपमाव्यवहारस्य दण्डिसम्मतत्वात्। अन्यथा 'चन्द्रारविन्दयोः कक्षामतिक्रम्य मुखं तव। आत्मनैवाभवत्तुल्यम्' इत्यसाधारणोपमेत्यादेरुपमालक्ष्यत्वेनाङ्गीकृतानामनन्वयाद्यलङ्काराणां पृथक्त्वेनोक्तानां विलोपापत्तेः। विशिष्टोपमाविहितविशेषणोपमायामप्यव्याप्तिकथनं निर्मूलमेव। भ्रूङ्गनेत्रादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वेन तेषामभेदस्यैव वक्तव्यतया तेषामुपमायां विवक्षाया अभावात्। 'शस्त्री श्यामा' इत्यादिदूषणद्वयकथनमप्ययुक्तम्, व्यञ्जनाभिन्नवृत्तिविषयत्वरूपवाच्यपदस्य सत्त्वेन तयोरप्यसम्भवात्। उपमानलुप्तायामप्यव्याप्तिकथनमसङ्गतम्। स्वाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगिकोटावप्रविष्टत्वस्य वाच्ये विशेषणत्वकथनात्, स्वपदस्य सादृश्यपरत्वात्। सदृशीलाभनिषेधस्य सादृश्याभावप्रयोजकत्वं नास्तीत्यव्याप्तेरसम्भवात्। सगर्वत्वनिषेधस्य तुच्छसादृश्याभावप्रयोजकत्वमेवेति व्यतिरेकेऽपि नातिव्याप्तिः, धर्मनिषेधे तत्प्रयुक्तसादृश्यनिषेधस्यार्थसिद्धत्वादिति ज्ञायते। अतो न विद्यानाथलक्षणे कोऽपि दोष इति। एतेन 'स्वतस्सिद्धेन' इत्याद्युक्तं विद्यानाथलक्षणमपास्तम्; व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादृश्येऽतिव्याप्तेः। एवम्—'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः। हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः॥'

इति प्राचां लक्षणमपि प्रत्युक्तम्। हृद्यतामात्रेण निर्वाहे विशेषणान्तरकथनस्य वैयर्थ्यात्। एवं प्रकाशोक्तम् 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इति लक्षणं नातीव रमणीयम्। व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादृश्येऽतिव्याप्तेः। पर्यवसितत्वेन साधर्म्यस्य विशेषणीयत्वेऽनन्वये सादृश्यस्यापर्यवसायित्वेनैव वारणे भेदग्रहस्य विलोपापत्तेः इति रसगङ्गाधरोक्तमप्यपास्तम्, पूर्वोक्तवाच्यविशेषणेनैव तद्व्यावृत्तेरुक्तत्वात्। 'कुमुदमिव प्रसन्नमाननम्' इत्यादौ विशेषणान्तरकथनेनालङ्कारत्वनिरासेन तत्सार्थकत्वात्। प्रकाशलक्षणेऽपि 'प्रकृतोत्कर्षप्रयोजकत्वे सति' इति सत्यन्तस्य लक्षणे प्रवेशेन व्यतिरेके तादृशसादृश्यस्य व्यतिरेकोत्कर्षप्रयोजकत्वाभावान्नातिव्याप्तिरित्यलम्।

सरस्वतीकण्ठाभरणप्रतिपादितमुपमालक्षणं खण्डयितुमुपन्यस्यति—यत्त्विति। लक्षणमुपमालक्षणमुक्तं भोजराजेनेति शेषः। लक्षणमाह—प्रसिद्धेरिति। यः प्रसिद्धेरनुरोधेन, अर्थयोरुपमानोपमेययोः, अन्योन्यं भूयोऽवयवसाधर्म्यस्य योगः, इह सा उपमा मतेति लक्षणान्वयः।

(चित्र०)

तदपि गुणक्रियादीनां परस्परसादृश्यवर्णनात्मिकायाम्—

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः॥

इत्याद्युपमायामव्याप्तम्,

उद्गर्भहूणरमणीरमणोपमर्दभग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारमेतद्विष्णोः पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति॥

'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्' इत्यादौ प्रसिद्धिरहितोपमानायां कल्पितोपमायां चाव्याप्तम् ।

यत्त्वलङ्कारसर्वस्वकृतोक्तम्—'उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे वोपमा । साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः, भेदप्रधान्यम्—दीपकतुल्ययोगितादृष्टान्तप्रतिवस्तूपमासहोक्तिव्यतिरेकादिषु । अभेदप्राधान्यं रूपकपरिणामभ्रान्तिमदुल्लेखादिषु । द्वयोस्तुल्यत्वम्—यथास्यामुपमायाम् । अत्र ह्युपमानोपमेयासाधारणरूपाभ्यां भेदः साधारणधर्मेणाभेदश्चेति द्वयोरपि तुल्यतैव' इति । तदप्युपमानोपमेयातिव्याप्त्यादिदुष्टमिति स्पष्टमेव । तस्माद् दुर्वचमस्या लक्षणमिति ।

(भारती)

ऐसा लक्षण करने पर भी गुण क्रियादि का परस्पर सादृश्य वर्णनात्मक उपमा के अधोङ्कित उदाहरण में अव्याप्ति दोष होगा ।

घोड़ों के खुरों से खुदी हुई इलायची की लताओं की उड़ती हुई फल की धूलि अपने समान सुगन्धि वाले मतवाले हाथियों के मद बहने के स्थानों में चिपक गई । दूषणान्तर कहते हैं:—

उदग्गर्भा हूण जाति-विशेष की सुन्दर रमणियों के रमण एवं उपमर्दन से भग्न होने के कारण समुन्नत स्तन निवेश के सदृश चन्द्रविम्ब अपनी श्रेष्ठ किरणों से पूर्व कठोर विषकाणु की तरह कपिलवर्ण भगवान विष्णु के चरणों की शोभा प्रकट होता है । और भी—

पूर्वश्लोक में उपमान-स्वरूप वैसे स्तन निवेश की प्रसिद्धि का अभाव है तथा तत्काल मुण्डित हूण की ठोढ़ी (चिबुक) के सदृश नारङ्गक है । यहाँ वैसे चिबुक रूप उपमान का कल्पित होने के कारण प्रसिद्धि का अभाव है । फलतः दोनों उदाहरण में अव्याप्ति दोष है । अतः उपमा का यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता है ।

अलङ्कार सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक ने साधर्म्य के कारण उपमेय एवं उपमान में भेदाभेद तुल्यत्व प्रदर्शित करने को उपमा कहा है । उन्होंने तीन प्रकार का साम्य बतलाकर उपमा में तीसरे प्रकार की साम्य की स्थिति को स्वीकार किया है । वे हैं—भेदप्रधान; जैसे दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति एवं व्यतिरेक आदि में, अभेदप्रधान साम्य जैसे रूपक, परिणाम, भ्रान्तिमान एवं उल्लेखादि में और भेदाभेद तुल्यत्व उपमा में होता है । सर्वस्वकार ने अभेद हेतुक सामान्य एवं भेद हेतुक विशेष दोनों को ही सादृश्य ज्ञान का विषय स्वीकार किया है । इस प्रकार आचार्य रुय्यक के सिद्धान्त की व्याख्याकर दीक्षित जी ने 'तदपि' से खण्डन किया है, अर्थात् ऐसे सिद्धान्त के बावजूद यह लक्षण उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति दोष से स्पष्टतः दूषित है । अतः यह लक्षण भी दुर्वच ही है ।

(सुधा)

तत्र दूषणमाह—तदपीत्यादि । तल्लक्षणमपीत्यर्थः । ससञ्जुरिति । अश्वैः क्षुण्णानामेलानाम् एलालतानाम् उत्पतिष्णवः उत्पतनशीलाः, 'अलङ्कृञ् निराकृञ्' इत्यादिना इष्णुच् । फलरेणवः फलरजांसि, तुल्यगन्धिषु तत्समानगन्धिषु, सर्वधनीतिवदिदन्तो बहुव्रीहिः । मत्तेभानां कटेषु गण्डेषु ससञ्जुः सक्ता इत्यन्वयः । इत्यत्र गुणक्रियादीनां परस्परसादृश्यवर्णनम् आत्मास्वरूपं यस्यास्तस्यामुपमायामव्याप्तम् । दूषणान्तरमाह—

उद्भर्भेत्यादिप्रसिद्धिरहितोपमायाम् 'सद्य' इत्यादौ कविकल्पितोपमायां चाव्याप्तमित्यन्वयः। उद्भर्भेति। उद्भर्भाया हूणरमण्या रमणोपमर्दनेन भग्नश्चासावुन्नतः स्तननिवेशश्च तस्य सदृशं हिमांशोश्चन्द्रबिम्बम्, अग्रकरैः श्रेष्ठकिरणैः पूर्वं कठोरबिसकाण्डवत् कडारं कपिलं विष्णोः पदं वियद् व्यनक्ति प्रकटीकरोति। अत्रोपमानस्य तादृशस्तननिवेशस्य प्रसिद्धेरभावात्, सद्यस्तत्कालं मुण्डितं यन्मत्तहूणस्य चिबुकं तत्सदृशं नारङ्गकमित्यादौ तादृशचिबुकरूपोपमानस्य कल्पितत्वेन प्रसिद्धेरभावाच्च। अत्र वदति—सामान्यपदस्य धर्ममात्रपरत्वे गुणादिपरस्परसादृश्योपमायामव्याप्तेरभावः। प्रसिद्धेरनुरोधेनेत्यस्य यदुपमायां यस्य प्रतियोगित्वानुयोगित्वादिकं प्रसिद्धं तदनतिक्रमेणेत्यर्थः। अतो न प्रतीपादावतिव्याप्तिः। उद्भर्भेत्यादावपि हूणरमणीस्तनादिकं प्रसिद्धमेव; तदुपमानतया एवाप्रसिद्धत्वम्। तत्कल्पनेऽपि प्रसिद्ध्यनतिक्रमस्य सत्त्वेनाव्याप्तेरभावात्। तेषामुपमानत्वाभावस्य प्रसिद्धत्वाभावेन तद्विरोधाभावादिति भोजराजग्रन्थाशय इत्यलम्।

अलङ्कारसर्वस्वमतं खण्डयति—यत्त्विति। अलङ्कारसर्वस्वकृता 'भेदाभेदतुल्यत्वे उपमानोपमेययोः। साधर्म्यमुपमा' इति तल्लक्षणमुक्तम्। तथा हि, साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः—भेदप्राधान्यम्, अभेदप्राधान्यम्, उभयप्राधान्यं चेति। दीपकादौ भेदस्य प्राधान्यं रूपकपरिणामादावभेदस्योभयतुल्यत्वमुपमायामुपमानोपमेयासाधारणरूपाभ्यां भेदस्य, साधारणधर्मेणाभेदस्य चेति रीत्या द्वयोस्तुल्यत्वादिति तन्मतम्। एवं तत्सिद्धान्तं व्याकृत्य खण्डयति—तदपीति। तदपि लक्षणमुपमेयोपमायामतिव्याप्त्यादिना दुष्टमिति स्पष्टमेव। तस्या अप्युपमात्वेन लक्ष्यत्वकल्पने तु न दोषः। अलक्ष्यत्वे तु साधर्म्यमित्यग्रकत्वस्य विवक्षयैकवाक्यपरत्वम्। तथा चैकवाक्यवाच्यं तयोः साधर्म्यमित्यर्थः। तथा चोपमेयोपमायामपि नातिव्याप्तिरिति तल्लक्षणं निर्दोषमेवेति सुधियो विभावयन्तु। उपसंहरति—तस्माद्धेतोरस्या उपमाया लक्षणं दोषरहितमिति शेषः। दुर्वचं वक्तुमशक्यमिति।

(चित्र०)

अत्रोच्यते—

> व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
> क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा॥

उपमानव्यापारः=उपमितिक्रियानिष्पादको व्यापारः सादृश्यवर्णना। सोयमुपमितिक्रियानिष्पत्तिपर्यन्तं विवक्षितश्चेदुपमालङ्कार इत्यर्थः। तथा च व्यतिरेके नातिव्याप्तिः, तत्र सादृश्यवर्णनासत्त्वेऽपि 'मुखेन निष्कलङ्केन' इत्यादौ साक्षात्तस्यैव निषेधेन 'नैवान्यतुच्छजनवत्' इत्यादौ तत्प्रयोजकधर्मनिषेधेन चोपमितिक्रियाया अनिष्पत्तेः। नाप्यनन्वयेऽतिव्याप्तिः, तत्रापि स्वेन स्वस्य सादृश्यस्य सदृशान्तरव्यवच्छेदे रुद्ररोदनत्रपोत्खननाद्यर्थवादेऽसदर्थस्य निन्दास्तुत्योरिव द्वारमात्रतया वर्ण्यमानत्वेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्तेः। अन्यथा स्वस्य स्वेनोपमितिक्रियानिष्पत्तौ सदृशान्तरव्यवच्छेदेऽपि सर्वथानुपमत्वद्योतनं फलं न स्यात्। आहुश्च तस्य तदेव फलं भामहादयः—

(भारती)

आचार्य दीक्षित जी ने 'अत्रोच्यते' से स्वयं उपमा के लक्षण की रचना करते हुए लिखा है—

जहाँ सादृश्य या समानता के वर्णन में उपमिति क्रिया की उत्पत्ति होती है, वहाँ उपमा अलंकार होता है।

(उपमान व्यापारः = उपमिति क्रिया निष्पादक व्यापार अर्थात् सादृश्य वर्णनात्मक है। वह उपमिति क्रिया निष्पत्ति पर्यन्त यदि विवक्षित हो तो वहां उपमा अलंकार होता है।)

दोष निवारण करते हुए दीक्षित जी लिखते हैं—उक्त प्रकार से उपमा का लक्षण करने पर उत्पत्ति क्रिया निष्पत्ति कथन से व्यतिरेक अलंकार में अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है। उसे ही कहते हैं—व्यतिरेक में **'मुखेन निष्कलंकेन'** इत्यादि में साक्षात् सादृश्य वर्णन का ही एवं **'नैवान्यतुच्छ जनवत्'** इसमें सगर्वत्व निषेध से अर्थात् सादृश्य के अभाव में पर्यवसान से सादृश्य प्रयोजक धर्म निषेध के द्वारा क्रिया निष्पत्ति के अभाव से अनन्वय में अतिव्याप्ति का निराकरण करते हुए 'नापीति' लिखते हैं। वहाँ भी अर्थात् अनन्वय में भी स्व का स्व के साथ सादृश्य का स्व से भिन्न उपमान का निषेध में द्वारतया वर्ण्यमानत्व से उस क्रिया की अनिष्पत्ति है। **'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं प्रजापति रात्मनोवपामुदच्छिनत्'** इस अर्थवाद में असद् अर्थ का प्रमाण के अभाव में निन्दास्तुति द्वारता की तरह उसका कोई स्वार्थ नहीं है। अन्यथा उसकी अनिष्पत्ति अस्वीकार करने में स्व का स्व के साथ उस निष्पत्ति में सदृशान्तर के निषेध में निश्चित रूप से अनुपमत्व द्योतन रूप फल नहीं है। अनुपमत्व के तात्पर्यांश में भामह आदि आचार्यों की सम्मति में उस स्व का स्व के साथ सादृश्य वर्णन का अनुपमत्व द्योतन ही है।

(सुधा)

स्वयं लक्षणमारचयति—अत्रोच्यते इति। उपमानाख्यो व्यापारः क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तं यदि विवक्षितो भवेत्। तुरेवार्थे। सा एवोपमालंकृतिरिति श्लोकान्वयः। स्वयमेव लक्षणं व्याकरोति—उपमानव्यापारः = उपमितिक्रियानिष्पादको व्यापारः = सादृश्यवर्णनात्मकः। स उपमितिक्रियानिष्पत्तिपर्यन्तं विवक्षितश्चेद् उपमालङ्कार इति तदर्थः। दोषं निवारयति-तथा चैवं लक्षणे सति उपमितिक्रियानिष्पत्तिकथनाद् व्यतिरेके नातिव्याप्तिः। तदेवाह-तत्र = व्यतिरेके 'मुखेन' इत्यादौ साक्षात्सादृश्यवर्णनस्यैव, 'नैव' इत्यादौ सगर्वत्वनिषेधेनार्थात् सादृश्याभावे पर्यवसानात् सादृश्यप्रयोजकधर्मनिषेधेन च क्रियानिष्पत्तेरभावादनन्वयेऽतिव्याप्तिं निराकरोति—नापीति। तत्रापि अनन्वयेऽपि स्वस्य स्वेन सादृश्यस्य स्वेतरोपमाननिषेधे द्वारतया वर्ण्यमानत्वेन तत्क्रियाऽनिष्पत्तेः। 'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं प्रजापतिरात्मनो वपामुदच्छिनत्' इत्यर्थवादेऽसदर्थस्य तेषां स्वार्थे प्रामाण्याभावाद् निन्दास्तुतिद्वारतावत्। अन्यथा तदनिष्पत्त्यनङ्गीकारे स्वस्य स्वेन तन्निष्पत्तौ सदृशान्तरनिषेधे सर्वथानुपमत्वद्योतनरूपं फलं न स्यात्। अनुपमत्वतात्पर्यांशे प्राचीनसम्मतिमाह—आहुश्चेति। तस्य स्वस्य स्वेन सादृश्यवर्णनस्य तदेवानुपमत्वद्योतनमेव।

(चित्र०)

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातो वदन्ति तमनन्वयम्॥ इति।

अत एव वर्ण्यमानमपि स्वस्य स्वस्मिन् साधर्म्यं नान्वेतीत्यनन्वयपदव्युत्पत्तिमलङ्कारसर्वस्वकारादयो वदन्ति।

(भारती)

भामह के अनुसार अनन्वय अलंकार वहाँ होता है जहाँ यह सिद्ध करने के लिए कि उपमेय के समान अन्य वस्तु नहीं है, अतः उपमेय की उसी के साथ उपमेयता एवं उपमानता कही जाती है।

विमर्श—इस लक्षण की दो विशेषताएँ हैं—

(क) उपमेय में ही उपमेयता एवं उपमानता का सन्निवेश।

(ख) अन्य सदृश वस्तु या उपमान का निराकरण।

अतएव अनुपमत्वरूप फल रहने पर ही, वर्ण्यमान भी अनन्वय पद की व्युत्पत्ति है, ऐसा अलंकार सर्वस्वकार कहते हैं। अनुपमत्व रूप फल का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

उसके बाद जिस प्रकार जल में कतकरज (फिटकिरी) के संयोग से धूलिकण अर्थात् गन्दलापन नष्ट हो जाता है और पीछे कतकरज का भी विशेष रूप से विलयन होने के पश्चात् जल का सर्वथा निर्मलत्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध की तरह ही है' इस अनन्वय में भी स्व के साथ सादृश्य वर्णन से सादृश्यान्तर निषेध है। वस्तुतः स्व के साथ उपमा का होना भी असंभव है। यहाँ युद्ध का अनुपमत्व ही कवि संरभ से अर्थात् सादृश्य वर्णन की निष्पत्ति के अभाव से अनन्वय में किसी भी प्रकार से अतिव्याप्ति दोष नहीं है। इसी प्रकार अनन्वय की तरह प्रतीप में भी—

ओ कमल की तरह सुन्दर आँखों वाली ? मेरी इन बातों को तो जरा ध्यान से सुन लो। इस दुनियाँ में पामर लोग ही तुम्हारे मुख के साथ चन्द्रमा की उपमा देते हैं।

यहाँ पामरपद से उपमिति क्रिया निष्पत्ति के अभाव में अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जहाँ प्रतीप में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति है या उस प्रतीप में उपमेयोपमा है, वहाँ दोनों में उपमात्वेन संग्राह्य है ही, इन दोनों के बीच लक्षण की उपस्थिति से किसी प्रकार का दोष नहीं है। उस प्रतीप को दिखाते हैं—

(सुधा)

यत्रेति—यत्र वर्णनीयस्य वर्णनीयेनैव उपमानोपमेयता अनुपमत्वविवक्षया स्यात्, तमनन्वयं वदन्तीत्यन्वयः। अत एवानुपमत्वरूपफलसत्त्वादेव, वर्ण्यमानमपीत्याद्यनन्वयपदव्युत्पत्तिं वदन्त्यलङ्कारसर्वस्वकृतः।

(चित्र०)

ततश्च यथाम्भसि कतकरजःसंयोजनेन रजोऽन्तरव्यवच्छेदे सति कतकरजसोऽपि विलयनात् सर्वथानाविलमम्भः सिध्यति, तथा 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादौ स्वेन सादृश्यवर्णनया सदृशान्तरव्यवच्छेदे सति वस्तुतः स्वेनाप्युपमाया असंभवादनुपमं रामरावणयोर्युद्धमित्यत्रैव कविसंरम्भ-

इत्युपमितिक्रियाया अनिष्पत्तेर्नानन्वयेऽतिव्याप्तिशङ्कावकाशः । एवं प्रतीपेऽपि यत्रोपमित्यनिष्पत्तिः—

आकर्णय सरोजाक्षि वचनीर्यमिदं भुवि ।
शशाङ्कस्तव वक्त्रेण पामरैरुपमीयते ॥

इत्यादौ, न तत्रातिव्याप्तिशङ्का, उपमितिक्रियानिष्पत्तिविरहात् ।

(भारती)

हे भद्रे ! अपनी दोनों आँखों के सौन्दर्य पर यह असंभाव्य घमंड क्यों कर रही हो ? दशो दिशाओं में, वापी सरोवरों में तो नील कमल खिल ही रहे हैं । इस प्रतीप एवं उपमेयोपमा में दोनों जगह उपमानत्वेन संग्राह्य है ही । अतः पूर्वकथित किसी प्रकार का दोष नहीं है ।

दोनों के उपमानत्वेन ग्रहण करने में युक्ति देते हैं—'गर्वम्' इत्यादि प्रतीप भी उपमा विशेष ही है । क्योंकि सादृश्य वर्णन का प्रकृत विषय की तरह अप्रकृत विषयत्व में भी अलंकारान्तरक हैं, यथा; स्मृति, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान इत्यादि अनेक, ग्रहण तथा अपह्नुति, असंभव एवं संभावना, वस्तु के सम्बन्ध; निबन्धन; निर्दिष्ट, समर्थन आदि की तरह अलंकारान्तरत्व की अयोग्यता होगी । क्योंकि स्मृति, रूपक आदि के अप्रकृत विषयत्व में भी उसकी उपस्थिति है ।

(सुधा)

अनुपमत्वरूपं फलं तत्र समर्थयते—ततश्चेति । यथा जले कतकरजोयोजनेन कतकरजोभिन्नरजसोऽभावे नाशे इत्यर्थः । पश्चात् कतकरजसोऽपि विशेषतो लयात् सर्वथा निर्मलत्वं जलस्य सिद्ध्यति, तथानन्वयेऽपि स्वेन सादृश्यवर्णनया सादृश्यान्तरनिषेधे वस्तुतः स्वेनाप्युपमाया असम्भवात्, युद्धस्यानुपमत्व एव कविसंरम्भात् सादृश्यवर्णननिष्पत्तेरभावेनानन्वये नातिव्याप्तिः । एवमनन्वयवदुपमित्यनिष्पत्तिमति प्रतीपे 'आकर्णय' इत्यदौ नातिव्याप्तिरित्यन्वयः । हे सरोजाक्षि, इदं वचनीयमाकर्णय, भुवि पामरैस्तव मुखेन चन्द्र उपमीयते । अत्र पामरपदेनोपमित्यनिष्पत्तिरुद्घाटिता । यत्र प्रतीपे उपमितिक्रियानिष्पत्तिरस्ति, तत्प्रतीप उपमेयोपमा चेति द्वयमपि उपमात्वेन संग्राह्यमेवेति तयोर्मध्ये व्यापनं लक्षणस्य वर्तनं न दोष इत्यर्थः ।

(चित्र०)

गर्वमसंभाव्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥

इत्यादि प्रतीपमुपमेयोपमा चेत्युभयमपि संग्राह्यमेवेति न तद्व्यापनं लक्षणस्य दोषः ।

तथा ह्युदाहृतं प्रतीपं तावदुपमाविशेष एव, सादृश्यवर्णनस्य प्रकृतविषयत्वइवाप्रकृतविषयत्वेऽपि स्मृतिरूपकसन्देहभ्रान्त्यनेकधाग्रहणापह्नवसम्भावनासम्भवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धननिर्दिष्टसमर्थनादीनामिवालङ्कारान्तरत्वायोगात् ।

अन्यथा तेषामपि प्रकृतविषयत्व एव स्मरणरूपकसन्देहभ्रान्तिमदुल्ले-

ह्वापह्नुत्युत्प्रेक्षानिदर्शनार्थान्तरन्यासाद्यलङ्कारत्वम्, अप्रकृतविषयत्वेऽपि चानलङ्कारत्वमिति कल्पप्रसंगात्। स्मृत्यादयश्च प्रकृतविषया इवाप्रकृतविषया अप्यलङ्कारभूतास्तत्र तत्रोदाहरिष्यन्ते। न चोपमायामय नियमो यदप्रकृतेन प्रकृतसादृश्यवर्णनात्मनैव तया भाव्यमिति, समुच्चयोपमाद्युदाहरणेषु प्रकृतयोरेवाप्रकृतयोरेव वा सादृश्यवर्णनस्याप्युपमात्वाङ्गीकारात्। तद्वत् प्रकृतेनाप्रकृतस्य सादृश्यवर्णनमप्युपमैवेति युक्तम्।

(भारती)

अन्यथा उनका भी प्रकृत विषयत्व ही स्मरण, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास आदि का अलंकारत्व अप्रकृत विषयत्व में भी कला प्रसंग से अनलङ्कारत्व होगा। स्मृति आदि प्रकृत विषय की तरह अप्रकृत विषय का भी अलंकारत्व यथाप्रसंग उदाहृत होंगे। अगर आप यह कहें कि उपमा में यह नियम है कि अप्रकृत से प्रकृत सादृश्य वर्णनात्मक का ही उसमें ग्रहण होगा तो समुच्चय आदि उदाहरणों में प्रकृत के अथवा अप्रकृत के ही सादृश्य वर्णन का भी उपमात्व स्वीकार करने से, उसी प्रकार के ही सादृश्य वर्णन का भी उपमात्व स्वीकार करने से, उसी प्रकार प्रकृत के द्वारा अप्रकृत का सादृश्य वर्णन भी उपमा ही है। अर्थात् अप्रकृत के द्वारा प्रकृत सादृश्य वर्णन रूप से ही उपमा अलंकार होगा—ऐसा नियम उपमा में संभव नहीं है। क्योंकि समुच्चय उपमा आदि से परस्पर उपमा आदि के ग्रहण उन उदाहरणों के प्रत्येक सादृश्य वर्णन में भी उपमा का होना ही योग्य है।

(सुधा)

तत्प्रतीपं दर्शयति—गर्वमिति। हे भद्रे, नेत्रयुगलेनासंभाव्यमिमं गर्वं किं वहसि। दिशि दिशि सर्वत्रेत्यर्थः। सरस्सु नीलनलिनानि सन्त्येवेत्यन्वयः। द्वयोरुपमात्वेन संग्राह्यत्वे युक्तिमारचयति—तथा हीत्यादि। 'गर्वम्' इत्यादिप्रतीप उपमाविशेष एव सादृश्यवर्णनस्य प्रकृतविषयतायामिवाप्रकृतविषयत्वेऽप्यलङ्कारान्तरत्वस्यायोग्यत्वात्। स्मृतिरूपकादीनामप्रकृतविषयत्वेऽपि तद्दर्शनात्। अन्यथाऽप्रकृतविषयत्वेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पनाप्रसङ्गात्। स्मृत्यादीनां प्रकृतविषयत्व इवाप्रकृतविषयत्वेऽपि तत्त्वस्यैव दर्शनात् पृथगलङ्काराभावाच्च। अप्रकृतेन प्रकृतसादृश्यवर्णनरूपेणैव भाव्यमित्युपमायां नियमो न सम्भवति। समुच्चयोपमादीत्यादिना परस्परोपमादिग्रहणं तदुदाहरणेषु प्रत्येकं सादृश्यवर्णनेऽप्युपमात्वाङ्गीकारात्। तथा च प्रकृतेनाप्रकृतस्य सादृश्यवर्णनेऽपि सैवेति योग्यमेव।

(चित्र०)

एवं चोपमेयोपमापि प्रकृताप्रकृतविषयोपमाद्वयरूपतया नालङ्कारान्तरतां भजते। अन्यथा तत्प्रकरणोदाहरिष्यमाणपरस्परोपमाया अप्यलङ्कारान्तरत्वप्रसङ्गात्, परस्परभ्रमनिबन्धनादिष्वप्यलङ्कारान्तरतापत्तेश्च। न चानन्वयप्रतीपोपमेयोपमासु सादृश्यवर्णनस्य पृथग् निरूपणस्य चाविशिष्टत्वेनानन्वयस्यानुपमात्वमितरयोरुपमात्वं च वक्तुमयुक्तमिति वाच्यम्, यत्रोपमितिक्रियानिष्पत्तिस्तत्रोपमाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावेन, यत्र तदनिष्पत्तिस्तत्र तदभा-

वेन, च वैषम्यस्य स्फुटत्वात्। इममेव विशेषमभिप्रेत्य काव्यप्रकाशिकादिलक्षणेष्वनन्वयव्युदासार्थमेव यत्नः कृतो नोपमेयोपमादिव्युदासार्थम्। उपमेयोपमादेरुपमान्तर्गतत्वेऽपि व्यङ्ग्याादिकृतवैचित्र्यविशेषेण पृथग्गणनं न विरुध्यते, रूपकपरिणामवत्। 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ' इत्यादौ लक्षणाभावो न दोषः, यदि तथाभूतौ प्रवाहौ स्यातां तर्ह्युपमीयेत, न च तौ संभवतः, तस्मान्न केनाप्युपमीयत इत्युपमापरपर्यायोऽयमित्यनिष्पत्तावप्युपमात्वस्वीकारे तत्रोपमाशब्दस्य पारिभाषिकत्वापत्तेः।

(भारती)

इसी प्रकार उपमेयोपमा में प्रकृत एवं अप्रकृत विषयक उपमा के दोनों रूप से अलङ्कारान्तरत्व सिद्ध नहीं होता। अन्यथा उस प्रकरण में उदाहरिष्यमान परस्पर उपमा से भी अलंकारान्तरत्व के प्रसंग से परस्पर भ्रम, निबंधन आदि में अलङ्कारान्तरतापत्ति होगी। यदि आप कहें कि अनन्वय, प्रतीप एवं उपमेयोपमा में सादृश्य वर्णन का और पृथक् निरूपण का अविशिष्टत्व के द्वारा अनन्वय का अनुपमात्व एवं अन्य अलंकारों का उपमात्व होगा; यह कथन अयुक्तिकर है, तो जहाँ उपमिति क्रिया निष्पत्ति है, वहाँ उपमाशब्द प्रवृत्ति निमित्तकर भाव से तथा जहाँ उपमिति क्रिया की अनिष्पत्ति है वहाँ उसके अभाव से उपमात्व होगा तो दोनों जगह की विषमता स्पष्ट है। इसी भाव और अभाव रूप विशेषता के अभिप्राय से काव्य-प्रकाशकार ने अपने लक्षण **'साधर्म्यमुपमाभेदे'** में 'भेदे' तथा (आदिपदनेन विद्यानाथ का ग्रहण है) विद्यानाथ ने अपने लक्षण **'स्वतः सिद्धेन भिन्नेन'** में भेद ग्रहण अनन्वय हटाने के लिए किया है न कि उपमेयोपमा के लिए। उपमेयोपमा आदि का उपमा के अन्तर्भूत होने पर भी व्यङ्ग्यादिकृत वैचित्र्य विशेषण से रूपक एवं परिणाम अलंकार की तरह पृथक् गणना का विरोध नहीं करता। **'उभौ-यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ'** इत्यादि में लक्षणाभाव दोष नहीं है। यदि आकाश गंगा के जल की दो धाराएँ होतीं, तो उसकी उपमा भी दी जाती; अर्थात् 'उभौयदि' इस श्लोक में उक्त लक्षण से अतिव्याप्ति दोष नहीं है। यदि प्रभाव उस तरह होते तभी उपमा होती। यदि आप उसकी तथाकथित संभावना स्वीकृत कर भी लेते हैं तो उससे किसी के भी साथ उपमा नहीं होती। अगर इसे उपमा अपरपर्याय कहकर अनिष्पत्ति में भी उपमात्व स्वीकार करते हैं, तो वहां 'उपमा' शब्द की पारिभाषिकत्वापत्ति होगी।

(सुधा)

एवं प्रतीपस्योपमात्वं प्रतिपाद्योपमेयोपमायास्तत्त्वं प्रतिपादयति—एवमिति। प्रतीपवत् प्रकृताप्रकृतविषयकं यदुपमाद्वयं तद्रूपतयोपमेयोपमाप्युपमातः पृथगलङ्कारतां न भजते। अन्यथा = पृथग् भावाङ्गीकारे, तत्प्रकरणमित्यत्र तत्पदमुपमेयोपमापरम्। तत्रोदाहरिष्यमाणायाः परस्परोपमायाः 'रजोभिः' इत्यादिरूपाया अलङ्कारान्तरत्वापत्तेः। तत्रापीष्टापत्तौ दोषमाह, परस्परभ्रान्तिरचनादिषु—

पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धर्तुमिच्छति॥

इत्यादिष्वलङ्कारान्तरत्वापत्तेश्च। परस्परभ्रान्तेरपि पृथक्त्वापत्तिरित्यर्थः। आशङ्कते—

अनन्वयादिषु त्रिषु सादृश्यवर्णनस्य पृथग् निरूपणस्य च सत्त्वे विशेषाभावादनन्वयस्यानुपमात्वमितरयोस्तत्त्वञ्च वक्तुं न योग्यमित्याशङ्कार्थः। उपमितिक्रियानिष्पत्तिरूपोपमाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य भावाभावाभ्यां वैषम्यस्योभयत्र स्पष्टत्वात्। एवं प्रतिपादने प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—इममेवेति। उपमितिक्रियानिष्पत्तिरूपतच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तसत्त्वासत्त्वरूपं विशेषमभिप्रेत्य काव्यप्रकाशकादीत्यादिना विद्यानाथलक्षणमनन्वयनिषेधाय यत्नः 'भेदे' इति पदकथनरूपः कृतः। न तयोर्व्युदासार्थम्, न च तयोः पृथग्गणनविरोधः, उपमान्तर्गतत्वेऽपि व्यङ्ग्यादिकृतवैचित्र्यविशेषस्य तत्र नियामकत्वात्। रूपकपरिणामवद् रूपकेणैव सिद्धौ व्यङ्ग्यवैचित्र्येण यथा परिणामस्य पृथग्गणनं तद्वदित्यर्थः।

उभावित्यादावपि नाव्याप्तिः। यदि प्रवाहयोस्तथाभूतत्वं तदोपमीयेत। न च तयोः संभवः। तस्मान्न केनाप्युपमेयतासत्त्वं तद्रूपोपमित्यनिष्पत्तावपि तत्स्वीकारे उपमाशब्दस्य तत्रोदाहरणे पारिभाषिकत्वापत्तेः।

(चित्र०)

किन्तु तत्रातिशयोक्तिविशेषोऽलंकारः। अत एव काव्यप्रकाशिकायाम्—'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इत्यतिशयोक्तिषु परिगणय्य यद्यर्थोक्तौ कल्पनस्य—

'राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद् वपुः।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात्॥

इत्युदाहृतम्।

(भारती)

किन्तु 'शिशुपालवधम्' के उक्त उदाहरण में अतिशयोक्ति विशेष अलंकार है। इसीलिए काव्य प्रकाश में **'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'** अर्थात् वर्ण्य विषय का उससे भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय और यदि शब्द के अभिप्राय में किसी असंभाव्य अर्थ की कल्पना की जाय तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है। अतः इसकी तीसरी अतिशयोक्ति में गणना कर 'यद्यर्थोक्तौ' की कल्पना का अर्थात् तीसरी अतिशयोक्ति जिसमें 'यदि' अथवा 'चेत' शब्द के द्वारा किसी ऐसे अर्थ की कल्पना की जाय जिसकी संभावना न हो, जैसे कि—

'यदि पूर्णिमा की रात में ऐसा चन्द्र निकले जिसमें कोई कलङ्क न हो तब कहीं उससे अपनी समानता देख इस अद्‌भुत सुन्दरी का मुख अपना कोई अपमान समझे।'

विमर्श—(यहाँ आकाश गंगा से प्रवाहित दो जलधाराओं के सदृश पूर्वार्द्ध में जो पूर्णिमा के चन्द्र में कलङ्क के अभाव की कल्पना है, वह तो असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना है और उत्तरार्द्ध में नायिका के मुख और चन्द्रमा के पूर्णबिम्ब में साम्यरूप सम्बन्ध होने पर भी जो असम्बन्ध की कल्पना है; वह है संबंध में असंबंध की कल्पना।)

(सुधा)

तर्हि तत्र को वाऽलङ्कार इत्याशङ्कां समाधत्ते—किन्त्विति। अतिशयोक्तिविशेषः। तत्र=उभावित्यत्रास्तीति शेषः। तत्र तस्य प्रामाण्यार्थं प्रकाशादिसम्मतं तत्सहशोदा-

हरणं दर्शयति—अत एव । तत्र विशेषोक्तिसत्त्वादेव 'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इत्यतिशयोक्तिमध्ये परिगणय्य यद्यर्थोक्तावित्यस्य अमृतांशोश्चन्द्रस्य वपू राकायां पौर्णमास्यां कलङ्करहितं भवेच्चेत्, तदा तस्या मुखं सादृश्यपराभवं प्राप्नुयादित्यर्थकं राकायामिति मम्मटेन काव्यप्रकाशिकायामुदाहृतम् ।

(चित्र०)

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

इति तु कविकल्पितोपमानाया उत्पाद्योपमेति व्यवहृताया उदाहरणम् । तत्र यद्युत्पाद्यस्योपमानस्य संभावितत्या तेनोपमितिनिष्पत्तेर्लक्षणमस्त्येवेति नाव्याप्तिः ।

न चैवं 'चन्द्रबिम्बादिव विषम्' इत्यसंभावितोपमायामव्याप्तिः, तत्रासंभावितेनैवोपमानेनोपमितिक्रियानिष्पत्तेः कविना विवक्षितत्वेन विवक्षानुसार्युपमितिक्रियानिष्पत्तिसद्भावात् ।

(भारती)

'यद्यर्थोक्तौ' का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करतें हैं; जैसे—

यदि नूतन पल्लव पर श्वेत पुष्प रखा जाय, अथवा मूंगे पर मोती रखा जाय, तो दोनों में से एक, पार्वती के रक्त ओष्ठ पर होने वाले धवलस्मित की समानता कर सकता है ।

(यहाँ पुष्प और प्रवाल का, मुक्ता और विद्रुम का असम्वन्ध में भी सम्वन्ध की उक्ति से 'यद्यर्थोक्तौ' की कल्पना हुई ।)

इसमें कवि कल्पित उपमान और उत्पाद्य उपमा व्यवहार से उदाहरण दिया गया है । उक्त उदाहरण में उत्पाद्य उपमान की संभावना से उसके द्वारा उपमिति निष्पत्ति लक्षण रहने के कारण किसी भी प्रकार अतिव्याप्ति दोष नहीं है ।

अगर आप ऐसा कहें तो 'चन्द्र विम्बादिव विषम्' इत्यादि असंभावित उपमा में अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा । वहां असंभावित उपमान के द्वारा ही उपमिति क्रिया की निष्पत्ति से कवि के द्वारा विवक्षित होने से विवक्षानुसारित उपमिति क्रिया की निष्पत्ति है ।

(सुधा)

अव्याप्त्यन्तरं लक्षणस्य निराकरोति—पुष्पमित्यादि । यदि पुष्पं प्रवालस्थितं स्यात्, वा मुक्ताफलं स्फुटविद्रुमस्थं स्यात्, ततस्तदा तस्या विशदस्य निर्मलस्य ताम्रोष्ठव्याप्तरुचः स्मितस्य मन्दहसितस्य अनुकुर्याद् इत्यर्थिकायाः कविकल्पितोपमानाया उत्पाद्योपमेति कविना व्यवहृतायास्तदुपमाया उदाहरणे यदि नोत्पाद्यस्योपमानस्य सम्भावितत्वेनोपमितिक्रियानिष्पत्त्या लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः । एवम् 'चन्द्रबिम्बात्' इत्यसंभावितोपमायां नाव्याप्तिः, असम्भावितेनैवोपमानेन तत्क्रियानिष्पत्तेः कविना विवक्षितत्वेन विवक्षानुसारितन्निष्पत्तिसम्भवाच्च ।

(चित्र०)

न हि 'वस्तुसदर्थानिबन्धनोपमितिक्रियानिष्पत्तिरुपमा' इति लक्षणमुच्यते, किन्तु कविविवक्षानिबन्धना। अत एव श्लोके विवक्षित इति विशेषणमर्थवत् । अन्यथा 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादावपि लक्षणं न स्यात्, चन्द्रगतकान्त्यतिशयस्य वस्तुतो मुखेऽभावेन विवक्षानुसरणं विना गत्यभावात् । 'चन्द्रधवला कीर्तिः' इत्यादौ च सर्वथैव लक्षणं न स्यात्, कीर्तौ धावल्यस्य लेशतोऽप्यभावात् ।

न चैवमनन्वयेऽपि कविविवक्षया स्वस्य स्वेनोपमितिक्रियानिष्पत्तिः संभवतीति वाच्यम्, सर्वथैवानुपमत्वद्योतने कविसंरम्भे सति तथाविवक्षानुदयात् । 'वृथा चरसि किं भृङ्ग' इत्यादौ सादृश्याधिकरणस्यानुपलम्भोक्त्योपलभ्यमानेषु सादृश्यनिषेधपर्यवसानेऽप्यनुपलभ्यमानगतसादृश्याभ्यनुज्ञानात्तत्रोपमितिक्रियानिष्पत्तिरस्तीति नाव्याप्तिः । अत एव तस्य विशिष्यानुपादानादुपमानलुप्तता ।

(भारती)

वस्तु सदर्थ निवन्धन के द्वारा उपमिति क्रिया की निष्पत्ति को उपमा का लक्षण स्वीकार करने से उस लक्षण में कवि विवक्षा निवंधन से ही उपमिति क्रिया की निष्पत्ति है। अतएव उपमा के लक्षण वाले पद्य में विवक्षित विशेषण सार्थक है। अन्यथा कवि विवक्षा विशेषण के अभाव में **'चन्द्र इव मुखम्'** उपमा के इस प्रसिद्ध उदाहरण में ही लक्षण का समन्वय नहीं होगा। क्योंकि चन्द्रमा में जो अतिशय कांति है, उसका रमणी मुख में अभाव होने के कारण उपमा का लक्षण समन्वित नहीं होगा। यदि आप कहें कि सुन्दर नारी के मुख में भी आकर्षणजन्य यथाकथंचित् कान्ति है ही तो दूषणान्तर उपस्थित करते हैं, **'चन्द्र धवला कीर्तिः'** इस उदाहरणगत 'कीर्ति' में धावल्य का तो लेश मात्र भी नहीं है। फलतः लक्षण में 'विवक्षित' विशेषण के बिना सर्वथा लक्षणीयत्वापत्ति ही होगी।

(सुधा)

वस्तुसदर्थनिबन्धनाया उपमितिक्रियानिष्पत्तेरुपमालक्षणानङ्गीकरात्, कविविवक्षानिबन्धनाया उपमितिक्रियानिष्पत्तेरेव लक्षणीयत्वात्। अत एव लक्षणपद्ये विवक्षित इति तद्विशेषणं सार्थकम्। अन्यथा = कविविवक्षितेति विशेषणाभावे, 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादौ प्रसिद्धोपमाया लक्षणं न स्यात्। चन्द्रगतकान्त्यतिशयस्य वस्तुतो मुखेऽभावेन कविविवक्षानुसरणं विना गतेरभावात्। न च मुखेऽपि कान्तिसत्त्वेन पश्यतो भावनया अतिशयस्य सत्त्वमेवेत्यस्वरसाद् दूषणान्तरमाह—'चन्द्रधवला कीर्तिः' इत्यादौ तु कीर्तौ धावल्यस्य लेशतोऽप्यभावेन विवक्षितविशेषणं विना सर्वथा लक्षणीयत्वानापत्तेः। न चैवमिति। कविविवक्षितेति विशेषणादाने सति। अनन्वयेऽपि स्वस्य स्वेनोपमितिक्रियानिष्पत्तिः कविविवक्षया संभवतीति तत्रातिव्याप्तिरित्याशङ्कार्थः। समाधत्ते—सर्वथैवानुपमत्वद्योतने कविसंरम्भे सति तन्निष्पत्तौ तद्विवक्षोदयाभावात्। वृथेत्याद्युपमानलुप्तायां नाव्याप्तिः, सादृश्याधिकरणस्य वस्तुनोऽनुपलम्भोक्त्योपलभ्यमानेषु सादृश्यनिषेधपर्य-

वसानेष्वनुपलभ्यमानं यदुपमानं तद्गतं यत्सादृश्यं तस्याभ्यनुज्ञानात् तत्रोपमानलुप्ताया-मुपमितिक्रियानिष्पत्तेः सत्वात् । अत एव = तद्गतसादृश्याभ्यनुज्ञानादेव, उपमानलुप्तता ।

(चित्र०)

एवम्,

निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत् ।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा ॥

इत्यपि लक्षणमनुसंधेयम् ।

(भारती)

लक्षण में कवि विवक्षा विशेषण देने पर अनन्वय में भी कवि विवक्षा से स्व का स्व के साथ उपमिति क्रिया-निष्पत्ति की संभावना से अतिव्याप्ति दोष होगा । सर्वथा ही अनुपमत्व द्योतन में कवि संरभ रहने पर वैसी विवक्षा का अभाव है । **'वृथा चरसि किं भृङ्ग'** इत्यादि में सादृश्या-धिकरण की अनुपलम्भोक्ति की प्राप्ति में—सादृश्य निषेध पर्यवसान रहने पर भी अनुपलभ्यमान, गत सादृश्य के अनुज्ञान से वहाँ उपमिति क्रिया की निष्पत्ति है ही, फिर अतिव्याप्ति दोष नहीं है । अतएव उसका विशिष्य अनुपादान से उपमानलुप्ता है ।

इसी प्रकार, 'जहाँ कवि के द्वारा निरूप्यमाण सादृश्य, यदि अपनी आत्मा के साथ न हो तो प्रतिषेध ग्रहण कर उपमिति क्रिया निष्पत्ति से पर्यवसान प्राप्त करता है, वहाँ उपमा अलंकार होता है ।', यह लक्षण भी विचारणीय है ।

(सुधा)

एवं लक्षणान्तरमपि व्याकरोति—एवमिति। कविना निरूप्यमाणं सादृश्यं स्वात्मनश्चेत् प्रतिषेधमनुपादाय पर्यवस्यतीति उपमितिक्रियानिष्पत्तिपर्यवसानं प्राप्नोति, सा उपमा वेदितव्येत्यर्थः । इत्यपि लक्षणमुपमाया इति शेषः ।

(चित्र०)

उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा ।
स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा ॥

इति द्विविधमप्येतदुपमासामान्यलक्षणम् । अलङ्कारभूतोपमालक्षणं त्वेतदेवादुष्टाव्यङ्ग्यत्वविशेषितम्, विशिष्टोपमादिस्थले विशेषणाद्युपमानां वाच्यभूतविशिष्टोपमादिसिद्ध्यङ्गत्वात् । वाच्यसिद्ध्यङ्गरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यतयैव तासां नालंकारतेति न तदव्यापनं दोषः । 'न पद्मं मुखमेवेदम्' इत्यादौ नोप-मालंकारः, किन्तु प्रतिषेधाक्षिप्तप्रसक्तितया भ्रान्तिमान्, तदुपपादकतयो-पमा चेत्युभयं व्यङ्ग्यम् । तथापि भ्रान्तिमदादिकमपि साधर्म्यमूलत्वमात्रेणो-पमामध्ये परिगणयता दण्डिना तत्त्वाख्यानोपमेत्येतादृशव्यवहारः कृतः पर-मिति न तत्राप्यव्याप्तिर्दोष इति दिक् ।

(भारती)

(१) जो उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त हो-अर्थात् जिससे उपमिति क्रिया (तुलना) सिद्ध होती हो—ऐसे सादृश्य के वर्णन को उपमा अलंकार कहते हैं। दीक्षित जी के अनुसार उपमा वहां होती है, जहाँ सादृश्य या समानता के वर्णन में उपमिति क्रिया की उत्पत्ति होती है।

(२) अपने (उपमा के) निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो अर्थात् जिसमें सादृश्य का वर्णन अपने निषेध में छिप नहीं सके। दीक्षित जी के मत में ये दोनों प्रकार के उपमा सामान्य के लक्षण हैं। इन्हीं दो लक्षणों में अदुष्ट एवं अव्यंग्य शब्दों को जोड़कर दीक्षित जी अलंकार-भूत उपमा की परिभाषा बनाते हैं। 'त्वदाननम्' इत्यादि में विशिष्ट उपमाक्षिप्त विशेषण उपमा में अतिव्याप्तिदोष होगा। उसमें विशेषण उपमा का वाच्यभूत विशिष्ट उपमादि सिद्धयंग है। वाच्य सिद्ध-यङ्ग रूप गुणीभूत व्यंग्य से ही उसकी अलंकारता नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि लक्षण का समन्वय नहीं हो तो भी कुछ दोष नहीं है। **'न पद्मं मुखमेवेदम्'** इत्यादि में उपमा अलंकार है ही नहीं। किंतु, प्रतिषेध एवं निषेध से उन्नीव जो प्रसक्ति है उसके भाव से भ्रान्तिमान अलंकार है। भ्रान्ति की उपपादकता से दोनों उपमा व्यंग्य ही है। भ्रान्तिमान आदि अलंकारों को भी साधर्म्य-मूलता मात्र से उपमा के बीच में परिगणना करते हुए दण्डी ने तत्वाख्यान उपमा का केवल व्यवहार किया है। इस प्रकार 'त्वदाननम्' इसमें भी अव्याप्ति दोष नहीं है। इस प्रकार दीक्षित जी के विचार से वही सादृश्यवर्णन उपमा है जो दोषरहित हो, वाच्य हो तथा उपमिति की क्रिया से उत्पन्न हो।

विमर्श—अप्पय दीक्षित ने अपने चित्रमीमांसा एवं कुवलयानन्द दोनों ग्रंथों में उपमा अलंकार की परिभाषा दी हैं। कुवलयानन्द का उपमालङ्कार का लक्षण जहाँ चलता एवं चन्द्रालोक पर आधारित है, वहीं चित्रमीमांसा का उपमा अलङ्कार के लक्षण प्रौढ़, परिष्कृत एवं विस्तृत हैं। फिर भी पण्डितराज जगन्नाथ को चित्रमीमांसागत उपमा अलंकार के लक्षणों पर कई आपत्तियाँ हैं।

सर्वप्रथम उन्हें अव्यंग्य विशेषण से आपत्ति है। उनका कथन है कि वर्णन दो प्रकार के हो सकते हैं; (१) वाह्य तथा (२) आभ्यन्तर। वाह्य वर्णन विशेष प्रकार के शब्दों के द्वारा होता है और आन्तरिक वर्णन विशेष प्रकार के ज्ञान के द्वारा सम्पादित होता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि शब्दों के शब्द-वाच्य नहीं हो सकते। इसे यदि किसी तरह वाच्य मान भी लें तो अनुभूतिजन्य ज्ञान तो सर्वथा शब्द-वाच्य हो ही नहीं सकता। फिर वर्णन की अर्थालंकारता ही वाधित हो जाती है क्योंकि जो वस्तु शब्दों के द्वारा वाच्य होती है, वही अर्थ होता है। दूसरी बात यह भी है कि शब्द और ज्ञान रूप वर्णन किसी प्रकार व्यंग्य नहीं हो सकता—फिर 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण ही निरर्थक है।

यदि वर्णन को उपमालंकार न कहकर वर्णन के विषय में आनेवाले तथाकथित विशेषणों से युक्त सादृश्य को उपमा कहें तो 'जैसा बैल उसी प्रकार नीलगाय' में उपमात्वापत्ति होगी। इसी प्रकार पाणिनि के सूत्र **'कालोपसर्जने च तुल्यम्'** में भी उपमा अलंकार होने लगेगा। क्योंकि यहाँ भी 'अनुशासन करने योग्य होने' इस अर्थ में समान धर्म द्वारा काल और उपसर्जन का 'प्रधान प्रत्ययार्थवचन' रूपी उपमान के साथ सादृश्य का प्रतिपादन है। दीक्षित जी के लक्षण में एक 'अदुष्ट' विशेषण भी है। अतः उक्त सूत्र में वचनभेद दोष होने के कारण अतिव्याप्ति का स्वतः निराकरण भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि 'कालोपसर्जने' का द्विवचन तथा 'तुल्यम्' का एक वचन व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी साहित्य की दृष्टि से वचन भेद दोष से

दूषित है। फलतः 'अदुष्ट' विशेषण से ही उपमा का निवारण हो जायगा—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सूत्रगत समग्रता को भिन्न कर **'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः'** तथा **'उपसर्जनम् प्रधान प्रत्ययार्थं वचनेन तुल्यम्'** कहकर प्रत्येक उपमेय वाले दो वाक्य बना लेंगे। ऐसा करने से पुनः उन वाक्यों के निर्दोष सिद्ध हो जाने पर अतिव्याप्ति दोष बना ही रहेगा।

तथाकथित ऊपर के उदाहरणों में सादृश्य वर्णन का अभाव कहकर भी लक्षण को निर्दुष्ट सिद्ध नहीं किया जा सकता है। माना, ऐसे उदाहरणों में उपमिति क्रिया के सिद्ध हो जाने पर भी उसे सादृश्य का वर्णन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उदाहृत कथ्य चमत्कारी नहीं है और 'वर्णन' का अर्थ ही है वर्णनीय वस्तु का चमत्कारी होना। अतः उपर्युक्त उदाहरणों में सादृश्य के रहते हुए भी सादृश्य वर्णन के अभाव में—लक्षण में कोई दोष नहीं आता। किन्तु; इस मान्यता की स्थापना के लिए लक्षण में चमत्कारित्व पद का समावेश अत्यावश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि उपमा के प्रथम लक्षण में **'उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त'** विशेषण की व्यर्थत्वापत्ति भी होगी। क्योंकि सिद्धि के बिना केवल बाह्य प्रतीति वाला सादृश्य कभी चमत्कारजनक हो ही नहीं सकता और, जब उसे ही चमत्कारोत्पादक माना जाय तो फिर पूर्वोक्त विशेषण की कुछ आवश्यकता ही नहीं रह जाती है.

उपमा के द्वितीय लक्षण में समाविष्ट 'अपने निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो' यह विशेषण भी व्यर्थ है। क्योंकि कमलादि के सादृश्य निषेधात्मक व्यतिरेक अलंकार में और अनन्वय में भी 'सादृश्य के सर्वथा निषेध' के ही चमत्कारी होने के कारण वहाँ सादृश्य का निरूपण निषेध के लिए ही होता है। उसके निज की न तो प्रधानता होती है और न चमत्कारिता ही। अतः उसे हटाने के लिए पूर्वोक्त विशेषण निरर्थक ही है।

स्तनाभोगे पतनभाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मे सैलम्बमान इवोरगः॥

भरे-पूरे विशाल स्तनों पर कपोल से सरकता हुआ कुटिल केश, चन्द्र मण्डल से सुमेरु पर्वत पर लटकते हुए नाग की तरह शोभता है।

इस श्लोक की उपमा प्रधानतः वाक्यार्थ रूप है। अतः इसमें गौणत्वेन अलङ्कार बाधित होने के कारण अतिव्याप्ति स्पष्ट है। क्योंकि यहाँ भी 'अदुष्ट एवं अव्यंग्य' उपमिति क्रिया की सिद्धि से सादृश्य का वर्णन है। फिर बाधित अलंकारत्व से प्रधान वाक्यार्थगत उपमा के लिए अलग से तो लक्षण बनाये नहीं जा सकते। क्योंकि ऐसा करने पर भी 'व्यंग्य उपमा' निवारणार्थ जो इतना प्रयास किया गया है, उसमें भी व्यर्थत्वापत्ति होगी। 'सादृश्य' की जगह 'अभेद' की प्रधानता मानकर उपमा के स्थान पर उत्प्रेक्षा की भी यहाँ कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि ऐसा करने से कल्पितोपमा के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता, जिसे चित्रमीमांसा में काफी महत्त्व दिया गया है। बाधित अलंकारत्व वाली उपमा की परिभाषा बनाने में दीक्षित जी का अधोंकित लक्षण ही बाधक बन जाता है :—

'व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालंकृतिस्तसा ॥'

यदि उपमान रूपी क्रिया का—क्रिया की निष्पत्ति पर्यन्त, कथन अभीष्ट हो तो उपमा अलं-

कार होता है। इस लक्षण में उपमा का अलंकारत्व स्वतः स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त उपमा के पूर्वकथित दोनों लक्षणों में दीक्षित जी ने स्वयं 'अव्यङ्ग्यम् एवं अदुष्टम्' दो विशेषणों को जोड़कर उपमा की परिभाषा दी है। इसके अनुसार वही सादृश्य वर्णन उपमा है जो दोषरहित हो, वाच्य हो एवं उपमिति क्रिया से समुत्पन्न हो।

पूर्वोक्त 'स्तनाभोगे पतन्' पद्य में ऊपर लिखित उपमा की परिभाषा से अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। क्योंकि यहाँ उपमान और उपमेय के सादृश्य रूपी उपमा के स्वरूप से अतिरिक्त अन्य कोई वाक्यार्थ है ही नहीं, जिसे उपमा अलंकृत करे। ऐसी स्थिति में उपमा का उक्त परिभाषा से केवल अलंकार्य उपमा में अतिव्याप्ति होगी ही।

इसके अतिरिक्त पूर्वकथित उपमा के दोनो लक्षणों में वर्णन के साथ 'सादृश्य' का विशेषण भी निरर्थक है क्योंकि उपमिति क्रिया की निष्पत्ति से समन्वित वर्णन ही तो उपमा होती है—और मात्र इतना कहने से ही अभीष्टार्थ की सिद्धि भी हो जाती है। क्योंकि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी वर्णन से उपमिति क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

पण्डितराज जगन्नाथ की ये सारी आपत्तियाँ दीक्षित जी की उपमा के लक्षण पर विचारणीय हैं। सर्वप्रथम पण्डितराज द्वारा उठाए गए वर्णन की बाधित अर्थालंकारता एवं वर्णन की अव्यंग्यता विचारणीय है—

अलंकार शास्त्र के उद्भव-काल में काव्य का अभिप्राय शब्द और अर्थ दोनों से था। अलंकारशास्त्रियों का एक दल शब्द को काव्य का सर्वस्व मान चुका था और दूसरा दल अर्थ-व्युत्पत्ति में काव्य का मर्म खोज चुका था। इन दोनों पक्षों में समन्वय की स्थापना के लिए सर्वप्रथम भामह ने सत्प्रयास किया है—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यालंकार १,११-१६)

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि सादृश्यजन्य उपमा में शब्द और अर्थ के साथ क्रमशः वाचक-वाच्य भाव रूप सम्बन्ध मान लेना क्लिष्ट कल्पना मात्र ही है या और कुछ ? क्योंकि शब्दश्रवण से अर्थ संप्रत्यय के होने का विचार एक दार्शनिक विचार है। पंडितराज के अनुसार शाब्द-बोध किंवा वाक्यार्थ ज्ञान को यदि वाच्य मान लिया जाय, तब वर्णन का बाह्य और अन्तर्विभाग कर बाह्य-वर्णन में शब्द को स्वतः शब्द मान कर भी आभ्यन्तरिक वर्णन में ज्ञान को सर्वथा अशब्द वाच्य कहकर आपत्ति उठाई है; उसका क्या होगा ? क्योंकि ऐसी स्थिति में किसी भी शब्द का अर्थज्ञान फल मान लिया जाय तो शब्दज्ञान उसका असाधारण कारण तथा शब्दार्थ ज्ञान को शब्दज्ञान रूप असाधारण कारण का व्यापार एवं विषयगत संकेतित अर्थ को सहकारी कारण मानना ही पड़ेगा। क्योंकि पंडितराज के अनुसार अर्थाधिकृत यह संकेत शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव से सम्बन्धित है। किंतु, तथ्य इसके विपरीत है—वैशेषिकदर्शन का यह सूत्र **'सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययः'** इसी बात को प्रमाणित करता है कि किसी शब्द से उसकी जो अर्थप्रतीति है, वह 'सामयिक' एवं 'सांकेतित' है। न्यायदर्शन का यह सूत्र **'न सामयिकत्वात् शब्दार्थसम्प्रत्ययस्य'** भी इसी बात को पुष्ट करता है कि शब्द से अर्थज्ञान 'समय' अथवा 'संकेत' के ही अधीन है। यह संकेत मनुष्य-समाज की भाषासम्बन्धी संविदा है।

पाश्चात्य आलोचक भी शब्द को एकप्रकार का प्रतीक (Symbol) मानते हैं—

Symbols can serve as intelligible records for the Solitary individual

only if he remembers the meanings which he has assigned to the Symbols he had used, and they can be vehicles for inter-personal Communication only if Communicator and Communicant can agree, by special arrangement or by a participation in a Common heritage, on the meanings of the symbols to be employed. (Greene : The Arts & The Art of Criticism.)

इतना ही नहीं, 'अर्थ' जितने भी होते हैं—शब्द के ही। फलतः बाह्य और अभ्यंतर नहीं, अपितु हमारे ज्ञान के विषयों और शब्दों के अर्थों का क्षेत्र एक ही है और एक समान ही व्यापक है। किसी भी काव्य के लिए शब्द अगर साधन है तो अर्थ उपकरण है। ऐसी स्थिति में केवल शब्दवाच्य को ही अर्थालंकार मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अर्थालङ्कार के महत्त्व को आँकनेवाले सहृदयजन पण्डितराज के उक्त तर्क में तथ्य नहीं मानते। निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि किसी भी काव्य का सौन्दर्य इसमें निहित होता है और रस विभावादि पर आश्रित होता है। वे विभावादि अर्थ रूप में परिणत होकर चमत्कारोत्पादक होते हैं। अर्थालङ्कार में शब्द तो निष्क्रिय होता है। अतः पण्डितराज का यह कथन कि जो वस्तु या वर्णन शब्द वाच्य नहीं है—वह अर्थालङ्कार नहीं, विलकुल ही एकपक्षीय विचार प्रतीत होता है।

इनकी दूसरी आपत्ति है—शब्दरूप अथवा ज्ञानरूप वर्णन जब सर्वथा अव्यंग्य है तो चित्रमीमांसा की उपमा के लक्षण में 'अव्यंग्य' विशेषण विलकुल व्यर्थ है।

ध्वनिवादियों ने अर्थ की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए अर्थ के दो रूप माने हैं—(१) वस्तुरूप और (२) अलंकाररूप। वस्तुरूप अर्थ को व्यंग्यपरक अथवा व्यंङ्ग्यांशविशिष्ट परक बनाने के लिए कवि सतत सचेष्ट रहता है। अलंकाररूपअर्थ भी काव्य में स्वतः चमत्कार-जनक नहीं होता; वल्कि उसे चमत्कारी बनाने के लिए भी व्यंग्यपरता की ही आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्त्ति कवि काव्य के शब्द-बन्धविशेष से करता है। क्योंकि विना शब्दबन्ध एवं उसके इन उपकरणों का शब्द और अर्थ का सम्बन्ध व्यंग्य-व्यंजक भाव से अक्षुण्ण नहीं रह सकता। अतः रसगंगाधरकार का यह कहकर चित्रमीमांसा की उपमा के लक्षण से 'अव्यंग्य' विशेषण का प्रत्याख्यान उचित नहीं लगता कि 'शब्दरूप अथवा ज्ञानरूप वर्णन सर्वथा ही अव्यंग्य है।' कुछ उदाहरण से शब्द एवं ज्ञान रूप वर्णन का व्यंग्यत्व स्पष्ट सिद्ध हो जायेगा।

वर्णनविशेष के शब्दों से फूटकर गहन व्यंग्य निर्वेद कैसे बन जाता है? दुःख की कठोरता पिघलकर कैसे मुस्कुराती है? आँखों के आँसू कैसे हँसते हैं? यह देखना हो तो मृच्छकटिक में चारुदत्त की यह उक्ति देखिए—

'दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम्॥'

'रे भाई दारिद्र्य! मुझे तेरा ही सोच खाये डालता है कि तू इतने दिनों तक सच्चे दोस्त की तरह मेरे साथ रहा, कभी क्षण भर के लिए अकेला न छोड़ा, पर तब; जब मैं न रहूँगा; तू कहाँ जायेगा? मुझे इसकी वड़ी चिन्ता है।'

हृदय की वेदना आँखों से उमड़ पड़ती है। व्याकुलता भी व्याकुल हो उठती है। नियति की ज्वाला में जलती हुई मुस्कान। समाधि दीप की बुझती हुई लौ सा रिसता हुआ वर्णन विशेष का शाब्दिक व्यंग्य। इतना ही नहीं, 'मुद्राराक्षस' में इससे भी अधिक सधे हुए कटु-मधु शब्दों में कसे गए व्यंग्य-चित्र देखिए—

'पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः,
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ?
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥'

यहाँ राक्षस की पराजित बुद्धि का आक्रोश अद्भुत है। आरंभ की दो पंक्तियों का कटु उपालंभ क्रमशः घुलता हुआ उत्तरार्द्ध में द्रवित शाब्दिक व्यंग्य बन गया है। सम्पूर्ण नारी जाति की प्रज्ञा की समीक्षा में करुण विनोद वृत्ति अत्यन्त मार्मिक है।

अब एक दो ज्ञानरूप व्यंग्य का वर्णन भी देखिए। विशेषतः संस्कृत के भाण और प्रहसन ज्ञानात्मक वर्णन से समुद्भूत व्यंग्य से ही ओत-प्रोत हैं। यह सच है कि ड्राइडन, पोप या वाल्टेयर की तरह ये व्यंग्य नहीं हैं। फिर भी क्षेमेन्द्र की 'समयमातृका' में व्यंग्य के सभी संभव रूप मिलते हैं।

कालिदास के—

(१) 'एष ते अनुकूलो नलहस्तः'
(२) 'अलं वामन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन'
(३) 'मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन'

इत्यादि एक से एक बढ़कर वर्णनात्मक ज्ञानरूप व्यंग्य के सबल सफल निदर्शन हैं। ज्ञानात्मक व्यंग्य के ये निरुपम निदर्शन हैं; संक्षिप्त, सारगर्भ किन्तु चुटीला और नुकीला। इससे स्पष्ट है कि चित्रमीमांसा के उपमा लक्षण में 'अव्यंग्य' रूप सादृश्यवर्णन की भावना तो सारगर्भित है ही; उपमा अलंकार की चमत्कारी अर्थभावना भी सर्वथा अन्तर्व्याप्त है। आचार्य दीक्षित के लक्षण में इसी समीक्षा का स्वरूप झलकता है।

जहाँ तक उपमान के साथ सादृश्यप्रतिपादन का प्रतिषेध करते हुए पण्डितराज ने पाणिनि के **'कालोपसर्जने च तुल्यम्'** सूत्र का उल्लेख किया है। वह भी अयुक्तिकर ही प्रतीत होता है।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में सूत्र की अधोंकित क्रम संख्या है—

५३—तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्
५६—प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्
५७—कालोपसर्जने च तुल्यम्

अब देखिए, ५३ वां सूत्र से ५६ वां सूत्र में 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति आती है। इसके अनुसार इस सूत्र का अर्थ होता है—'प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में से प्रत्यय की अर्थ प्रधानता होती है और अनुशासन करने योग्य नहीं है। क्योंकि यह बात लोकसिद्ध है। फिर इसी संदर्भ में ५७ वां सूत्र का अर्थ होता है 'काल और उपसर्जन के विषय में भी अनुशासन करने योग्य न होना समान है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है' इस बात का अनुशासन करना लोकसिद्ध होने के कारण अनावश्यक है, उसी प्रकार काल अर्थात् समय और उपसर्जन अप्रधान होता है। यह बात भी लोक-सिद्ध होने के कारण शास्त्र में लिखने की बात नहीं है। अतः पण्डितराज का यह कथन सर्वथा अयुक्तिकर है कि उक्त सूत्र में 'शास्त्र में न लिखने योग्य होना' समान धर्म है और 'प्रधान प्रत्यार्थवचन' उपमान है तथा काल और उपसर्जन उपमेय है अतः यहाँ उपमा होगी। ऐसा कहना मानो उनके लिए वदतोव्याघात ही है।

जहाँ तक वचनभेद दोष के संदर्भ में उक्त सूत्र को तोड़कर—'**कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः**' तथा '**उपसर्जनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्**' जैसे एक-एक उपमेय वाले दो वाक्य बनाकर निर्दुष्ट सिद्ध करते हुए अतिव्याप्ति दोष दिखाकर दीक्षित जी के लक्षण में उल्लिखित 'अदुष्ट' विशेषण का प्रत्याख्यान करने की चेष्टा की गयी है—वह और भी उपहासास्पद बन गया है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र के शुष्क सूत्र के साथ रसात्मक साहित्य संदर्भ की कोई तुलना ही नहीं है क्योंकि साहित्य की विभिन्न विशेषताओं में रागात्मकता का प्रमुख स्थान है। रागात्मकता से औचित्य, विशदता, स्थिरता, विविधता एवं प्रभावोत्पादकता का तात्पर्य सन्निहित है। औचित्य से यह अभिप्राय है कि साहित्य में भावों को तर्कसंगत होना चाहिए अन्यथा उसमें गम्भीरता एवं स्थायित्व का सर्वथा अभाव हो जायेगा। विशद् एवं विविध मनोभावों को ग्रहण करना भी साहित्य के लिए आवश्यक है। उसमें प्रभावोत्पादन की क्षमता की भी अपेक्षा रहती है। इसी रागात्मकता के कारण साहित्य में प्रभाव की तीव्रता और रसात्मकता का उपयुक्त समावेश होता है। साहित्य को रसमय एवं आकर्षक रूप प्रदान करने के लिए यह भी आवश्यक है कि मानव की रुचिभिन्नता को उसमें स्थान दिया जाय। ऐसी अवस्था में शुष्क व्याकरण के तथाकथित सूत्र में दोष से मुक्ति कहाँ? अतः लक्षण में 'अदोष' विशेषण भी तर्कसंगत ही है।

इतना ही नहीं चित्रकाव्य के शब्द और अर्थ चित्र नामक दोनों भेदों में 'अदोषता' का तात्पर्य पदादिगत दोषों के परिहार का ही तात्पर्य है न कि सूत्रगत वचन भेद से। आचार्य मम्मट ने अपने दोषनिरूपण में अर्थ चित्र काव्य के दोषों का जो निरीक्षण एवं विवेचन किया है, वह पण्डितराज की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत है। फिर भी उपमा के लक्षण से 'अदोषता' का वे भी प्रत्याख्यान करने में असमर्थ ही रहे।

जहां तक 'सादृश्य' समन्वय के लिए दीक्षित जी के लक्षण में चमत्कारित्व विशेषण के समावेश का प्रश्न है—वह भी निरर्थक ही प्रतीत होता है, क्योंकि उपमा के लक्षण में 'चमत्कार' का उल्लेख न होने पर भी 'सादृश्य' का जो उल्लेख है उसी के द्वारा चमत्कारित्व का आक्षेप स्वभावतः हो ही जाता है। क्योंकि 'सादृश्य साधारण धर्म रूप सम्बन्ध जिन किन्हीं दो पदार्थों में होगा, उस कथन में चमत्कारित्व रहेगा ही और आक्षिप्त चमत्कारित्व से 'सादृश्य' में किसी भी प्रकार के वैयर्थ्यापत्ति नहीं होती।

अब बची बात 'उपमिति क्रिया की निष्पत्ति' का प्रत्याख्यान—सो तो स्पष्ट ही है। वस्तुतः उपमिति क्रिया कवि की वह काव्य-दृष्टि है, जिसके द्वारा वह चराचर जगत की झांकी प्राप्त करता है। उपमिति क्रिया की साधना कवि की समदृष्टिसाधना है और इस साधना में कवि को जिसकी सिद्धि होती है; वह है सौंदर्य। दीक्षित जी की उपमा के लक्षण का यही महारहस्य है।

(सुधा)

अनुसन्धेयं विचारणीयमित्यर्थः। द्वयोः फलितार्थमाह—उपमितिक्रियेति। स्वनिषेधेत्यादि उपमासामान्यस्य लक्षणम्। अलङ्कारभूतोपमालक्षणन्तु उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्दुष्टाव्यङ्ग्यं सादृश्यवर्णनमिति, स्वनिषेधापर्यवसायि अदुष्टाव्यङ्ग्यं सादृश्यवर्णनमिति वा बोध्यम्। 'त्वदाननम्' इत्यादौ विशिष्टोपमाक्षिप्तविशेषणोपमायामव्याप्तिं निवारयति—विशिष्टेति। तस्यां विशेषणोपमानां वाच्यभूतविशिष्टोपमादिसिद्धेरङ्गत्वात्। वाच्यसिद्ध्यङ्गरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन तासामुपमानामलङ्कारता नास्तीति तस्मिन् लक्षणस्याव्यापनं दोषो नास्तीति। 'न पद्मम्' इत्यादावुपमा नास्ति, किन्तु प्रतिषेधेन निषेधेन उन्नीता

या प्रसक्तिस्तद्भावेन भ्रान्तिमदलङ्कारः। भ्रान्तेरुपपादकतयोपमा चेत्युभयं व्यङ्ग्यमेव। भ्रान्तिमदादिकमपि साधर्म्यमूलतामात्रेणोपमामध्ये परिगणयता दण्डिना तत्त्वाख्यानोपमेति केवलं व्यवहारः कृत इति। तत्रापि 'त्वदाननम्' इत्यादावपि नाव्याप्तिर्दोष इति दिक्। भट्टाचार्यास्तु–'साधर्म्यनिष्पत्तिरूपाया उपमितिक्रियाया अनन्वये सत्त्वादतिव्याप्तिः। भेदगर्भिततत्प्रतीतौ भेदनिवेशेन तद्वारणं किंमूलम्? भेदगर्भितोपमितिक्रियाज्ञानादेव विजातीयोपमितिक्रियानिष्पत्तिर्मूलमिति चेत्! 'गोसदृशो गवयः' इत्यादावतिव्याप्तिः। विलक्षणसाधर्म्यज्ञानादिति चेत्? अनन्वयेऽप्यस्तु। न चानन्वये निरुपमत्वप्रतीतेर्विलक्षणसाधर्म्यज्ञानाभावान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्; स्वेतरसाधर्म्यविरहरूपस्य निरुपमत्वस्य स्वसाधर्म्यस्य च युगपत् प्रतीतौ विरोधाभावात्। न च तयोः युगपत् प्रतीतिसम्भवेऽप्याद्यस्यैव चमत्कारजनकत्वं नान्त्यस्येति वाच्यम्; उपमितिक्रियावैजात्ये प्रमाणाभावात्, तद्वैजात्यप्रयोजकाद्रसवैजात्यस्यैवोचितत्वात्। रूपकादौ क्रियावैजात्यस्यालङ्कारत्वप्रयोजकाभावात्' इत्याहुः। रसगङ्गाधरकृतस्तु—'विलक्षणशब्दात्मकस्य विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा वर्णनस्य शब्दवाच्यत्वाभावेनार्थालङ्कारत्वस्य बाधात्। वर्णनस्य वाच्यायां व्यङ्ग्यायाञ्चोपमायासम्व्यङ्ग्यतया तद्विशेषणवैयर्थ्याच्च। अथ यदि 'वर्णनविषयीभूतमुपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यमुपमा' इत्युच्यते, तदा 'यथा गौस्तथा गवयः' इत्यत्रातिव्याप्तेः नापि च चमत्कारिविषयककविव्यापारस्यैव वर्णनत्वेनोपमितिक्रियानिष्पत्तावपि विषयस्याचमत्कारित्वेन सादृश्यवर्णनाभावान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्; चमत्कारित्वस्य निवेशे उपमितिक्रियानिष्पत्तिविशेषणस्य व्यर्थत्वापत्तेः। अनिष्पन्नेनापाततः प्रतीयमानसादृश्येन चमत्कारानाधायकत्वात्। एवं द्वितीयलक्षणेऽपि स्वनिषेधापर्यवसायित्वस्य व्यर्थत्वम्, व्यतिरेके कमलादिसादृश्यनिषेधस्यानन्वये च सर्वथा साक्षात् सादृश्यनिषेधस्य चमत्कारितया तद्वारणाय सादृश्याभिधानात्। किञ्च, 'स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः। शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥' इत्यादौ मुख्यवाक्यार्थभूतत्वेनानलङ्कारभूतायामुपमायामतिव्याप्तिः, तल्लक्षणस्यात्रापि सत्त्वात्। न चेयं लक्ष्यैवेति वाच्यम्, व्यङ्ग्योपमानिवारणयत्नस्य व्यर्थत्वापत्तेः, अभेदप्राधान्ये उत्प्रेक्षाया वक्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा कविकल्पितोपमाया निर्विषयत्वापत्तेस्तत्सूत्रेऽलङ्कारभूतोपमाया एव लक्ष्यत्वेनाभिधानात्। न ह्यत्रोपमानोपमेयत्वसादृश्यादुपमारूपादस्ति कश्चिद् वाक्यार्थः, येनोपमा तमलङ्कुर्यात्। किञ्च, सादृश्यविशेषणमनर्थकम्, 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इत्यनेनैवेष्टसिद्धेः, इत्याहुः। अत्र ब्रूमः उपमितिक्रियायाः साधर्म्यनिष्पत्तिरूपाया अनन्वये तावदसम्भवः, अनुपमत्वकथने कविविवक्षापर्यवसानात्, भेदगर्भितप्रतीतेर्लक्षणपदालाभाच्च। 'गोसदृशो गवयः' इत्यादौ नातिव्याप्तिः, साधर्म्यज्ञानसत्त्वेऽपि कविविवक्षाभावेन तस्याकिञ्चित्करत्वात्, तादृशार्थे कवेरप्रवृत्त्या तन्निष्पत्तेः सुतरामभावाच्च। कविविवक्षायामलौकिकसाधर्म्यज्ञानस्य प्रयोजकत्वात्, द्वयोः सत्त्वेऽपि निरुपमत्वप्रतीतावेव कविसंरम्भेण तस्या एव चमत्कारजनकतया साधर्म्यस्याप्रयोजकत्वाच्च। उपमितिक्रियाविजातीयतायां विवक्षितपदस्य बीजत्वाच्च। प्रधानीभूतरसवैजात्यप्रयोजकताकल्पने चित्रेऽलङ्कारप्राधान्यभङ्गापत्तेः। उपमासामान्यलक्षणद्वयस्य उपलक्षणत्वेन कथनात्, चमत्कारजनकवर्णनविषयीभूतसादृश्यस्य वर्णनविषयीभूतस्वनिषेधापर्यवसायिसादृश्यस्य वा कथने तात्पर्यात्। सादृश्यस्य च शब्दवाच्यतासत्त्वेऽर्थालङ्कारत्वस्य बाधायोगात्। तस्य वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोः सत्त्वेनाव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानस्य

सार्थकत्वात्, विवक्षित इति पदेन चमत्कारजनकत्वस्य कथनाद्गोसदृशो गवय इत्यादावतिव्याप्तेरभावाच्च। तादृशविशेषस्यैव तद्विवक्षायां प्रयोजकत्वात्। अनन्वये चमत्कारजनकविषयसत्त्वेऽप्युपमितिक्रियानिष्पत्तेरभावस्य तद्वारकतया सफलत्वेन तद्व्यर्थत्वशङ्कायाः सर्वथासम्भवाच्च। यत्तु 'स्तनाभोगे पतन्' इत्यादावप्यतिव्याप्तिकथनमशुद्धम्, उक्तविधोरगस्याप्रसिद्धयोत्प्रेक्षायास्तत्राङ्गीकारात्। उपमानतावच्छेदकविशिष्टोपमानत्वाभिमतस्य प्रसिद्धौ तदुपमानत्वकल्पनायुक्तस्य 'उद्गर्भहूणरमणी' इत्यादेः कविकल्पितोपमोदाहरणस्य सत्त्वेन तन्निर्विषयत्वप्रसङ्गस्याप्यभावाच्च। यदपि, उपमानोपमेयसादृश्योपमास्वरूपादतिरिक्तवाक्यार्थस्याभावे नालङ्करणाश्रयत्वाभावात् 'स्तनाभोगे' इत्यादेरनलङ्कारभूतोपमात्वम्—इति, तदपि न, वाक्यार्थस्यैवालङ्कार्यत्वे प्रमाणाभावात्, सादृश्येन मुखादेरुत्कर्षसम्पादनाच्च, रसाङ्गभूतविभावादेरुत्कर्षाधायकत्वेनालङ्काराणां तदुत्कर्षाधायकताया नियमितत्वेन मुखादिरूपविभावादेरुत्कर्षाधायकत्वेन परम्परासम्बन्धेन रसोत्कर्षाधायकत्वसत्त्वाच्च। अङ्गोत्कर्षेण अङ्गिन उत्कर्षस्य सर्वसम्मतत्वाच्च। 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥' इत्यादिना प्रामाणिकैस्तथैवाङ्गीकाराच्च। अन्यथा बहूपमोदाहरणानामनुपपत्तेः। उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनस्योत्प्रेक्षादौ सत्त्वेन तद्वारणाय सादृश्यपदस्यावश्यकत्वेन तन्निरर्थकताया अपि वक्तुमयोग्यत्वात्। तस्मान्मूलोक्तं लक्षणं सम्यगेवेति दिक्।

(चित्र०)

सा चेयमुपमा द्विविधा—पूर्णा लुप्ता च।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमावाचकानां चतुर्णामुपादाने पूर्णा। तेषामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे सति लुप्ता।

पूर्णायां क्वचित्साधारणधर्मस्यानुगामितया निर्देशः। क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन। क्वचिद् बिम्बप्रतिबिम्बभावेन। क्वचिच्छ्लेषेण। क्वचिदुपचारेण। क्वचित्समासान्तराश्रयेण। क्वचिदेषां यथासंभवं मिश्रणेन। लुप्तायां तु नैवं भेदाः। तस्यां साधारणधर्मस्यानुगामित्वनियमात्, किन्तु प्रकारान्तरेण भेदा वक्ष्यन्ते।

(भारती)

सर्वप्रथम उपमा के दो भेद हैं—पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। पूर्णोपमा वह है जहाँ उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक शब्द—उपमा के ये चारो अङ्ग स्पष्टतया, निर्दिष्ट रहा करते हैं और लुप्तोपमा वह है जहाँ इनमें से एक अथवा दो अथवा तीन का लोप—अनिर्देश—रहा करता है।

पूर्णोपमा में कहीं साधारण धर्म की अनुगामिता से निर्देश है, कहीं वस्तुप्रतिवस्तुभाव से, कहीं श्लेष से, कहीं उपचार से; कहीं समासान्तर के आश्रय से और कहीं इन सबों के यथासंभव सम्मिश्रण से निर्देश है। साधारणधर्म की अनुगामिता के नियम से लुप्तोपमा में ये भेद नहीं हैं। किन्तु; प्रकारान्तर से भेद कहेंगे।

(सुधा)

उपमां विभजते—सा चेति। द्विविधेति सामान्यत इत्यर्थः। विशेषतो वक्ष्यमाणत्वा-

दिति भावः। द्वयोर्लक्षणमाह—उपमानेत्यादि। उपमानादीनां चतुर्णामुपादाने पूर्णेत्यर्थः। तेषामुपमादीनामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे प्रतिपादकशब्दाभावे लुप्तेत्यर्थः। पूर्णोपमात्वञ्च विशेषत उपात्तशब्दशक्तिप्रतिपादितोपमानोपमेयकत्वे सति, विशेषतः शब्दोपात्तसमानधर्मकत्वे च सति, विशेषतः स्वनिरूढशब्दगम्यत्वम्। स्वपदमुपमापरम्। उपमानलुप्तायां लक्षणयोपमानप्रतिपत्तिसत्त्वे तद्वारणाय शक्तीति। स्मरवधूयन्तीत्यादावुपमेयलुप्तायामुपमेयस्यात्मनोऽध्याहृतेनात्मानमितिपदेन बोधादतिव्याप्तिवारणाय उपात्तेति विशेषणम्। एवमपि तन्वीत्यनेनात्रोपमेयस्य काव्यस्य सदृशं न दृश्यत इत्येवंविधलुप्तोपमानायामुपमानस्य च सदृशपदोपात्तत्वादतिव्याप्तिस्तद्वारणाय विशेषत इति। उपमेयोपमानतावच्छेदकरूपेणेत्यर्थः। धर्मलुप्तायामप्युपमावाचकपदेन सामान्यतो धर्मस्योपात्तत्वाद्विशेषत इति। उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेणेति तदर्थः। वाचकलुप्तायामपि लक्षणयोपमानादिपदेन तदवगमादतिव्याप्तिस्तद्वारणाय विशेषतः स्वनिरूढेति। तथा च उपमेयोपमानतावच्छेदकरूपोपात्तशब्दशक्तिप्रतिपादितोपमानोपमेयकत्वे सति, उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपशब्दोपात्तसमानधर्मकत्वे च सति विशेषत उपमानिरूढशब्दगम्यत्वं तत्त्वमित्यलङ्कारचन्द्रिकामतानुसारिणः। यथा 'चन्द्र इव मुखं रमणीयम्' इत्युदाहरणम्। अत्र इवपदमुपमावाचकम्। रमणीयत्वं साधारणधर्मः, चन्द्र उपमानम्, मुखमुपमेयमिति चतुर्णामुपादानादियं पूर्णा। उपमानत्वं चोपमानिरूपकतया विवक्षितत्वम्, उपमाश्रयतया विवक्षितत्वमुपमेयत्वम्। अत्रायं शाब्दबोधप्रकारः—सादृश्यं पदार्थान्तरमिति पक्षे 'चन्द्र इव' इत्यादाविवार्थे सादृश्ये निरूपितत्वसम्बन्धेन चन्द्रस्यान्वयः, तस्य च प्रयोजकतासम्बन्धेन रमणीयत्वेऽन्वयः। तद्विशिष्टस्याभेदेन मुखेऽन्वयः। तथा च चन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रयोजकरमणीयत्वावच्छिन्नं रमणीयचन्द्रभिन्नं मुखमिति बोधः। चन्द्ररमणीयं मुखमिति समासे तु चन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रयोजकं लक्ष्यते, तस्याभेदसम्बन्धेन रमणीयपदार्थैकदेशे रमणीयत्वेऽन्वयः। तथा च चन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नरमणीयत्ववदभिन्नं मुखमिति बोधः। निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयस्याव्युत्पन्नतया अभेदानुसरणमेकदेशान्वयस्य चैत्रस्य गुरुकुलमित्यादाविव न दोषः। समासस्यैतादृशार्थे शक्तिरिति केचित्। चन्द्रपदस्यैव लक्षणया सर्वार्थबोधकत्वे रमणीयपदस्य तात्पर्यग्राहकता, इत्यपरे। चन्द्र इव भातीत्यत्र चन्द्रपदस्य चन्द्रनिरूपितसादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन ज्ञानरूपे धात्वर्थेऽन्वयस्तस्याभेदेन मुखादौ। तथा च चन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविषयाभिन्नं मुखमिति धीः।

तत्रैव रमणीयतयेतिपदोपादाने प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थः, तस्य धात्वर्थे इवार्थे सादृश्येऽन्वयः। भाने तस्य च, तेन रमणीयताप्रयोज्यचन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रकारकभानविषयो मुखमिति बोधः। चन्द्रवद्रमणीयमित्यत्र 'तेन तुल्यम्' इति विहितस्य वतेः सादृश्यवदर्थकस्य सादृश्ये लक्षणा, तस्य रमणीयपदार्थैकदेशे रमणीयत्वेऽन्वयः। चन्द्र इव रमणीयमित्यत्रेव बोधः। चन्द्रवन्मुखमित्यत्र चन्द्रनिरूपितसादृश्यवदभिन्नं मुखमिति धीः। चन्द्रवद्रमणीयमस्येत्यत्र चन्द्रशब्दस्य चन्द्ररमणीयत्वे लाक्षणिकतया चन्द्ररमणीयतानिरूपितसादृश्याधिकरणमेतत्सम्बन्धि रमणीयत्वम्। चन्द्रेण तुल्यमित्यत्र निरूपितत्वं तृतीयार्थः, तस्य सादृश्येऽन्वयः, चन्द्रनिरूपितसादृश्याभिन्नमिति धीः। रमणीयतयेति धर्मनिर्देशे प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थः। तेन चन्द्रनिरूपितरमणीयत्वप्रयोज्यसादृश्यादभिन्नमिति बोधः। सादृश्यस्य समानधर्मत्वे तु चन्द्ररमणीयं मुखमित्यत्र चन्द्रवृत्तिसमानधर्मप्रतीति-

लक्षणया, तस्य चाभेदेन रमणीयत्वेऽन्वयः । चन्द्रवृत्तिसमानधर्माभिन्नरमणीयत्ववन्मुखमिति धीः । चन्द्र इव रमणीयमित्यत्र चन्द्रपदार्थस्य आधेयतासम्बन्धेन इवपदार्थे समानधर्मेऽन्वयः । चन्द्राधेयसमानधर्माभिन्नं रमणीयमिति धीः । रमणीयत्वेन चन्द्रेण समभित्यत्र रमणीयत्वोत्तरतृतीयाया अभेदार्थकत्वम् । धान्येन धनीतिवत् चन्द्रोत्तरतृतीयायाः निरूपितत्वमर्थः । रमणीयत्वाभिन्नं चन्द्रनिरूपितं यत्सादृश्यं तद्वदभिन्नमिति बोधः । शेषं श्रौत्यार्थीविभागे वक्ष्यामः । तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वं निपातत्वादुपसर्गवत् । न च तेषामपि वाचकत्वमस्त्विति वाच्यम् ; उपास्यते गुरुः, अनुभूयते सुखमित्यादौ गुर्वादेर्लकारेणाभिधानानुपपत्तेः । उपसर्गवाच्योपासनस्य धात्वर्थताविरहेण तज्जन्यफलशालित्वाभावाद् । एवं साक्षात् क्रियते गुरुरित्यादौ, गुर्वादेरभिधानार्थं द्योतकताया एव युक्तत्वात् । अन्यथा 'शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव' इत्यादावुस्रादिपदोत्तरं तृतीयादेरसङ्गतित्वापत्तिः । उस्रादेरुद्धरणक्रियां प्रत्यकरणत्वात्, इवार्थसादृश्यान्वयित्वेन करणीभूतशरविशेषणत्वाभावाच्च । द्योतकत्वे तूस्रादिपदस्योस्रसदृशपरतयोस्रसदृशैः शरैरिति विशेषणत्वसम्भवेन तृतीयादिसङ्गतिः । द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदान्तरेण शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः । नैयायिकास्तूपसर्गाणां द्योतकत्वेऽपीवादीनां वाचकत्वे बाधकाभावः । निपातत्वादिति हेतुस्तु अप्रयोजकत्वान्न साधकः । अन्यथाऽव्ययत्वादिति हेतुता, अव्ययमात्रस्यैव द्योतकतापत्तेरिति वदन्तीत्यन्यत्र विस्तरः ।

पूर्णायां साधारणधर्मस्य कथने प्रकारभेदानाह—पूर्णायामित्यारभ्य भिश्रणेनेत्यन्तेनेति। लुप्तायान्तु एवं भेदा न संभवन्ति । तस्यां लुप्तोपमायां साधारणधर्मस्यानुगामित्वनियमात् । प्रकारान्तरेण = एकलुप्तत्वादिरूपेण, भेदा वक्ष्यन्ते इति । तत्र तेषु भेदेषु साधारणधर्मस्यानुगामिता यथा, तथोदाह्रियत इति शेषः ।

(चित्र०)

तत्र पूर्णायां धर्मस्यानुगामिता यथा—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्ध इति वागर्थयोर्नित्यसंबन्धित्वं प्रसिद्धम् । उमामहेश्वरयोरप्यनयोर्न पृथग्भावः, चन्द्रचन्द्रिकयोरिवेति तत्प्रसिद्धम् । तथा च नित्यसंबन्धित्वरूपोऽत्र साधारणधर्मोऽनुगामितया निर्दिष्टः ।

यद्यप्युमामहेश्वरयोर्वागर्थवन्नित्यसम्बन्धित्ववर्णनेन तयोर्निरतिशयपरस्परप्रेमशालित्वं महामहिमत्वमित्यादि व्यज्यते, तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः । न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शप्रतिभासादेवात्र चारुताप्रतीतिः किन्तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादपीति प्रायस्तत्र सम्भवद्रसादिरूपं व्यङ्ग्यमलंकारान्तरं चागणयित्वैव तत्तदलंकारा उदाह्रियन्ते ।

(भारती)

पूर्णा में साधारण धर्म की अनुगामिता से जैसे—शब्द और अर्थ के समान नित्य मिले हुए,

संसार के माता-पिता, उमा और महेश्वर को मैं—कालिदास—शब्द और अर्थ का भलीभांति से ज्ञान होने के लिए नमस्कार करता हूँ।

जहाँ तक नित्य सम्बन्ध का प्रश्न है—शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध की तरह वाक् और अर्थ का सम्बन्धित्व प्रसिद्ध है। उसी प्रकार चाँद और चाँदनी की तरह उमा और महेश्वर का अपृथक् भाव भी प्रसिद्ध है। अतः यहाँ नित्य सम्बन्धित्व रूप साधारणधर्म अनुगामिता से निर्दिष्ट है।

यद्यपि उमा-महेश्वर का वाक् और अर्थ की तरह नित्य सम्बन्धित्व के वर्णन से उन दोनों के निरतिशय परस्पर प्रेम और महिमत्व की अभिव्यक्ति होती है। फिर भी ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य-परक व्यवहार नहीं है। यह भी नहीं कह सकते कि व्यंग्य संस्पर्श के आभास से यहाँ चारुता की प्रतीति है, किन्तु; यहाँ उपमा वैचित्र्य के प्रकाश से भी चारुता है। जहाँ अलंकार से चारुता है, वहाँ प्रायः विद्यमान रसादिरूप व्यंग्य प्रतिपादित कर अन्य अलंकारों को बिना देखे ही अलंकारों को उदाहृत करेंगे।

(सुधा)

'वागर्थाविव' इत्येकपदम्। 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इति वार्तिकात् समासः। शब्दार्थाविव संपृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः। 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इति मीमांसकाः। जगतो लोकस्य, माता च पिता च पितरौ 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः। एतेन शिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यम्, इष्टार्थप्रदानशक्तिः, कारुणिकत्वञ्च व्यज्यते। पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती 'तस्यापत्यम्' इत्यणि, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। पार्वती च परमेश्वरश्च तौ। परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः। मातुरभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः। वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग् ज्ञानार्थं वन्दे इत्यन्वयः। अत्रानुगामितां धर्मस्य समर्थयते—औत्पत्तिकस्त्विति। शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध औत्पत्तिकः स्वाभाविको नित्य इति वागर्थयोर्नित्यसम्बन्धित्वं जैमिनिसूत्रे प्रसिद्धम्। शिवयोरप्यनयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः चन्द्रचन्द्रिकयोरिव = इन्दुकौमुद्योरिव पृथग्भावो न, इति पद्ये, तत् = नित्यसम्बन्धित्वमित्यर्थः। एवं चात्र पूर्णोपमायां नित्यसम्बन्धत्वरूपो धर्मोऽनुगामितया = एकसम्बन्धरूपतया दर्शित इत्यर्थः। शङ्कते—यद्यपीति। तयोः वागर्थवन्नित्यसम्बन्धत्वप्रतिपादनेन निरतिशयमिथःप्रेमशालित्वं महामहिमत्वं व्यङ्ग्यमस्तीति ध्वनित्वं मध्यमकाव्यत्वं वा, तादृशव्यङ्ग्यस्योपमापोषकत्वादिति भावः। समाधत्ते—नेति। व्यङ्ग्यसंस्पर्शप्रकाशादेवात्र रमणीयताप्रतीतिर्नास्ति, किन्तु उपमावैचित्र्यप्रकाशादपि। यत्रालङ्कारेण चारुता, तत्र विद्यमानं रसादिरूपं व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यातिरिक्तमलङ्कारञ्चानालोच्यैवालङ्काराणामुदाहियमाणत्वमिति। यथा 'स्वच्छन्दोच्छलत्' इत्यादौ मन्दाकिनीविषयरतिं तीर्थान्तरेभ्यो व्यतिरेकञ्चागणयित्वैवानुप्रासमात्रवैचित्र्येण शब्दचित्रता, तद्वदित्याशयः।

(चित्र०)

एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः। स च शुद्धो न सम्भवति, किन्तु विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावकरम्बितः।

वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तत्र वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य विशेषणता यथा—

(भारती)

एक ही धर्म का सम्बन्धिभेद से दो बार कथन वस्तुप्रतिवस्तु भाव है। वह शुद्ध रूप में असंभव है। किन्तु विशेषण से अथवा विशेष्य से यह विम्बप्रतिविम्बभाव सर्वत्र मिश्रित है।

वस्तुतः—परस्पर सारूप्य से परमार्थतः भिन्न प्रतीत होने वाले एकत्व से मिश्रित साधारण धर्म का जहाँ शब्दभेद से प्रतिपादन है, वहाँ विम्बप्रतिविम्बभाव है। उनके दोनों भेदों में विशेषण से उदाहरण देते हैं। जैसे—

(सुधा)

वस्तुप्रतिवस्तुभावेन धर्मं दर्शयितुं तल्लक्षणं पूर्वमाह—एकस्यैवेति। सम्बन्धिभेदेन= प्रतियोगिभेदेन द्विरुपादानस्य पौनरुक्त्यपरिहारार्थत्वम्। केवलस्य तस्यासत्त्वादाह—स चेति। वस्तुप्रतिवस्तुभाव इत्यर्थः, शुद्धो बिम्बप्रतिबिम्बभावादिरहित इत्यर्थः। किञ्चिचति। विशेषणतया बिम्बप्रतिबिम्बभावविशेषणतया विशेष्यतया तन्निरूपितयैवेत्यर्थः। परमार्थतस्तु बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैव शुद्धत्वधर्मान्तरविशिष्टत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति ग्रन्थकाराभिप्रायः। करम्बितः, मिश्रित इत्यर्थः। बिम्बप्रतिबिम्बभावलक्षणमाह—वस्तुत इति। परमार्थतो भिन्नयोः परस्परसारूप्याद् एकत्वेनाध्यवसितयोः=मिश्रितयोः साधारणधर्मयोः द्विरुपादानं शब्दभेदेन प्रतिपादनमित्यर्थः।

(चित्र०)

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टयोः कन्धरावृन्तयोर्वलितावृत्तशब्दाभ्यामेक एव धर्मो विशेषणतया निर्दिष्टः। विशेष्यता यथा—

सा तेन जगृहे साध्वी हठात् साध्वसकम्पिता।
वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी॥

अत्र साध्वसवातयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोः कम्पिताधूतशब्दाभ्यामेक एव धर्मो विशेष्यतया निर्दिष्टः।

(भारती)

'मालती के प्रथम दर्शन के बाद माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है—मुझे वृन्तवाले कमल के समान बार-बार तिरछी गरदन वाले मुख को धारण करती हुई—अर्थात् बार-बार लौटकर देखती हुई उस सुनयनीने, चलते-चलते मेरे हृदय में अमृत और विष से सना हुआ एक कटाक्ष तान कर मार दिया। क्या कहूँ, उसके मारे बेहाल हूँ।'

यहाँ 'गरदन' और 'वृन्त' में विम्बप्रतिविम्बभाव से 'झुकने' और 'तिरछे होने' रूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव से एक ही 'वक्रत्व रूप धर्म' विशेषण द्वारा दिखाया गया है। विशेषण से जैसे—

'अतिचंचल वायु से कांपती हुई लता की तरह भय से काँपती हुई वह साध्वी पतिव्रता

जानकी रावण के द्वारा पकड़ी गई।' यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्राप्त भय एवं वायु से 'कम्पित एवं अवधूत' शब्द भिन्न रहने पर भी एक ही धर्म अर्थात् वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप कम्पन धर्म विशेष्यत्वेन निर्दिष्ट है।

(सुधा)

तत्रोभयभेदे विशेषणतां तस्योदाहरति—यान्त्येति । मालतीमाधवे पद्यम् । तया पद्मलाक्ष्या मालत्या मम हृदये गाढं यथा स्यात् तथा कटाक्षो निखात इव दत्त इव, तदा तदवलोकनं मे हृदयलग्नमिवेत्यर्थः। निखात इत्यनेन दुस्सहत्वमुक्तम् । कीदृश्या तदाननं वहन्त्येत्यर्थः । आननविशेषणं मुहुर्वलिता वक्रिता कन्धरा यत्र क्षणं क्षणं व्यावर्तमानमित्यर्थः, आवृत्तवृन्तस्य आवजितनालं यच्छतपत्रं पद्मं तन्निभं तत्तुल्यं वृन्तादारभ्यावर्तनेन पद्मविवर्तनसिद्धिः कटाक्षविशेषणं पूर्वमानन्दहेतुतयाऽमृतेन दिग्धः उपचितः पश्चाद् दर्शनानन्दविच्छेदाद्विषेण दिग्ध इत्यर्थः। विशेषणतया वस्तुप्रतिवस्तुभावं दर्शयति—अत्रेति । बिम्बप्रतिबिम्बभावेन दर्शितयोः कन्धरावृन्तयोः वलितावृत्तशब्दभ्यामेक एव धर्मो वक्रत्वरूपो धर्मस्तद्विशेषणतया निर्दिष्टो दर्शित इत्यर्थः । वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य विशेष्यतामाह—यथेति । साध्वसेन भयेन कम्पिता साध्वी पतिव्रता सा तेन रावणेन हठाद् जगृहे । अतिचञ्चलेन वानरेण वातेन अवधूता वल्लरीव। अत्र तद्विशेष्यतां निर्दिशति—अत्रेति । बिम्बप्रतिबिम्बभावं प्राप्तयोः साध्वसवातयोः कम्पितावधूतशब्दाभ्यां भिन्नाभ्यामेक एव धर्मो वस्तुप्रतिवस्तुभावरूपः कम्पनताधर्मो विशेष्यत्वेन निर्दिष्ट इत्यर्थः। अत्र नव्याः—'विमलं वदनं तस्या निष्कलङ्कं मृगाङ्कति' इत्यादौ वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावनिर्मुक्तं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नयोरुपमानिष्पादकत्वं यद्यस्ति तदा शुद्धोऽपि वस्तुप्रतिवस्तुभावः, न त्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावः, वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्भेदाभावात् । न च सौन्दर्यादिनैवात्रोपमानसिद्ध्या न तस्य धर्मतेति वाच्यम्; 'यान्त्या मुहुः' इत्यादावपि तदभावापत्तेः । एवञ्च—'मुक्ताभिः सलिलरयास्तशुक्तिपेशीमुक्ताभिः कृतरुचिसैकतं नदीनाम् । स्त्रीलोकः परिकलयाञ्चकार तुल्यं पश्यद्भिर्विगलितहारचारुभिः स्वैः॥' इत्यत्र मुक्तारुचिरत्वहारचारुत्वधर्मयोरपि भेदाभावाच्छुद्ध एव वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति वदन्ति ।

(चित्र०)

शुद्धबिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादि। अत्र हरिचन्दनबालातपौ हारनिर्झरौ च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टौ ।

श्लेषो यथा—

नरसिंह महीपाल समस्तोऽपि रिपुस्तव।
पारावारसमानत्वं दधाति स्वपदच्युतः॥

(भारती)

शुद्ध बिम्बप्रतिबिम्बभाव के उदाहरण देते हैं। जैसे; 'यह पाण्डव गले में लम्बे हार लटकाए' इत्यादि। (पहले इस श्लोक की व्याख्या हो चुकी है।) यहाँ हरिचन्दन और बालातप तथा हार और निर्झर—बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट है।

वस्तुतः पदार्थों के भिन्न रहने पर भी तद्गतधर्मों की अभिन्नता से जो ऐक्य प्रतिभासित होता है वही विम्ब-प्रतिविम्ब भाव है जहाँ आधारों की अभिन्नता से अर्थात् भिन्न-भिन्न शब्द प्रतिपाद्यत्व रूप भेद से भिन्नत्वेन प्रतीत पदार्थों का ऐक्य प्रतीत हो, उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहते हैं।

श्लेष, जैसे; हे नरसिंह ! (यह संबोधन दोनों अर्थ में है) तुम्हारे सभी शत्रु समुद्र की समता धारण करते हैं। किस तरह; जो स्वपदात् अर्थात् अपने स्थान से च्युत अर्थात् भ्रष्ट होकर। दूसरे अर्थ में समुद्र भी सोये हुए अच्युत अर्थात् भगवान विष्णु को धारण करता है। यहाँ 'स्वपदच्युतत्व' रूप धर्म दोनों जगह है ही।

(सुधा)

शुद्धबिम्बप्रतिबिम्बभावं दर्शयति—पाण्ड्योऽयमित्यादि। पूर्वं व्याख्यातम्।

अत्र तत्प्रकारं दर्शयति—हरिचन्दनबालातपयोर्हारनिर्झरयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावो दर्शित इति। यथा वा—

उअणिच्चलणिप्पंदा भिसणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व॥

अत्र विसिनीपत्रमरकतभाजनयोरेकत्वेनाध्यवसानम्।

रसगङ्गाधरकृतस्तु अर्थगम्योऽप्ययं दृश्यते। 'मलय इव भाति पाण्डुवंश्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्रः' इत्यत्र चन्दनानां पाण्डवानां सर्पाणां दुर्योधनादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य स्पष्टमुपलब्धेः। शब्दोपात्तस्य तन्त्रत्वे प्रमाणाभावात्। तस्माद्द्वैविध्यमेव तस्योचितम्। प्रतिबिम्बमात्रस्योपादाने उपमाने धर्महानिर्दोषः तत्र तत्स्थानीयधर्मानुक्तेः। बिम्बमात्रस्यैवोपादाने धर्माधिक्यापत्तिः। तस्मात्तदापत्त्योः द्वयोरेव शाब्दत्वं द्वयोरेव वाच्यार्थत्वम्। न त्वेकस्य शाब्दत्वम्, अन्यस्यार्थत्वमिति तत्त्वमिति वदन्ति।

श्लेषेण तत्र धर्ममाह—नरसिंहेति। नरसिंहेत्याद्युभयं सम्बोधनम्। समस्तोऽपि सकलोऽपि तव रिपुः पारावारसमानत्वं समुद्रसमतां दधाति। कीदृशः स्वपदाद च्युतः भ्रष्टः, समुद्रेणाऽपि स्वपन् अच्युतो बिरमयंत इत्यर्थः। अत्र श्लेषेण स्वपदच्युतत्वरूपो धर्म उभयत्रास्तीति। यथा वा नैषधे—'उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी। रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासाथितामधृत काचन केतकीव॥'

अत्र उत्कण्टकादीनां विशेषणानां दमयन्तीकेतक्योः श्लिष्टतेति।

(चित्र०)

उपचारो यथा—

उद्भवन्तमुदितार्चिषं ततो भानुमन्तमिव हेमभूभृतः।
पङ्कजैरिव कुमारमीक्षणैर्विस्मयेन विकचैः पपुर्जनाः॥

अत्र विकासः पुष्पधर्म उपमेयेषु वीक्षणेषूपचरितः।

समासभेदाश्रयणं यथा—

तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या।
प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत् संसृज्यमानः, शरदेव लोकः॥

अत्र प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्येति विशेषणं देव्यां शरदि च समासभेदेन प्रवर्तते।

(भारती)

उससे उत्पन्न उदित कान्ति को सुमेरु पर्वत से उदित सूर्य की तरह, विकसित कमलों की भाँति नेत्रों से आश्चर्यपूर्वक लोगों ने कुमार को देखा। यहाँ विकास रूपी पुष्पधर्म उपमेय आँखों में उपचार से युक्त है।

समास भेद के द्वारा सामान्य धर्म दिखाते हैं; जैसे—

'शरदकाल के आगमन से लोक के समान पार्वती के चन्द्रानन की शोभा से शंकर जी के नेत्र कुमुद खिल गए और मन सलिल की तरह निर्मल हो गया।'

इस श्लोक में **'प्रवृद्धाननचन्द्रकान्ति'** इत्यादि विशेषण देवी और शरद् दोनों में समास भेद से साधारण धर्म है।

(सुधा)

उपचारं दर्शयति—उपचारो यथेति। स चान्यत्रान्यधर्मारोपरूपो बोध्य इति। उद्भवन्तमिति। जना मनुष्यास्ततः प्रादुर्भवन्तं उदितकान्तिं हेमभूभृतः सुमेरोर्भानुमन्तं सूर्यमिव, विकचैः विकसितैः पङ्कजैरुत्पलैरिव ईक्षणैः नेत्रैर्विस्मयेनाश्चर्येण पपुः सादरं ददृशुरित्यन्वयः। उपचारमुपपादयति—विकासः पुष्पधर्मो मुख्यत्वेनेति शेषः, लोचनेपूपचरितः=उपचारेण युक्त इत्यर्थः।

समासभेदेन सामान्यधर्मं दर्शयति—तयेति। आननं चन्द्र इवेत्युपमितिसमासः। आननमिव चन्द्र इति द्वितीयपक्षे, प्रवृद्धा आननचन्द्रस्य कान्तिर्यस्यास्त या तथोक्तया शरदा लोक इव संसृज्यमानः संगच्छमानः शिवः, चक्षूंषि कुमुदानीव तानि प्रफुल्लानि यस्य, चक्षूंषीव कुमुदानीव तानि प्रफुल्लानि यस्मिन् चेतः सलिलमिव तत्प्रसन्नमस्य चेतोवत् सलिलं वा प्रफुल्लमस्येति वा तादृशोऽभूत्। अत्र श्लोके प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्येत्यादि विशेषणं कुमार्यां शरदि च समासभेदेन साधारणधर्मोऽस्तीति।

(चित्र०)

मिश्रणेष्वनुगामित्वबिम्बप्रतिबिम्बभावयोर्मिश्रणं यथा—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥

अत्राधृष्यत्वमभिगम्यत्वं च नृपगुणानां यादोरत्नानां च बिम्बप्रतिबिम्बभावमपेक्ष्य लब्धात्मकं साधारणो धर्मः।

अनुगामित्वश्लेषयोर्मिश्रणं यथा—

गते तव भ्रातरि वत्स पञ्चतां चिराय नश्चान्द्रमसं कुलं महत्।
अदृष्टसन्तानतया न शोभते वनं हरेः प्राङ्मथनादिवोदधेः॥

अत्र सन्तानशब्दश्लेषमपेक्ष्य लब्धात्मकं शोभारहितत्वं साधारणो धर्मः।

(भारती)

मिश्रण भेदों में दोनों के मिश्रण दिखाते हुए अनुगामित्व रूप विम्बप्रतिविम्ब भावों का मिश्रण के द्वारा धर्म दिखाते हैं। जैसे—

'भयानक और मनोरम राजगुणों (तेज, प्रताप आदि और दया दाक्षिण्यादि) के कारण आश्रितों को वह राजा दिलीप, जल-जन्तु और रत्नों के कारण समुद्र के समान दूर रहने योग्य और सेवा करने योग्य हुए।

इस श्लोक में राजा के गुणों के और रत्नों के विम्बप्रतिविम्बभाव की अपेक्षा 'लब्धस्वरूप-मधृष्यत्व' और 'अभिगम्यत्व' दोनों का एक संबंध से दोनों जगह उपस्थिति—अनुगामित्व रूप साधारण धर्म है।

अनुगामित्व और श्लेष के सम्मिश्रण से; जैसे—

'हे वत्स' तुम्हारे भाई की मृत्यु हो जाने पर यह बहुत बड़ा चन्द्र कुल अदृष्ट संतानाभाव से समुद्रमन्थन से पूर्व इन्द्र के नन्दन वन की तरह नहीं शोभते हैं।

इस श्लोक में सन्तान शब्द का अखण्ड श्लेष से पुत्रत्व और पारिजातत्व की अपेक्षा का 'शोभा-रहितत्व साधारण धर्म का एक के साथ सम्बन्ध कथन से अनुगामिता है।'

(सुधा)

मिश्रणभेदेषु द्वयोर्मिश्रणं प्रदर्शयन् अनुगामित्वविम्बप्रतिबिम्बभावयोर्मिश्रणेन धर्ममुपदिशति—यथेति। भीमैः कान्तैश्च नृपगुणैः राजगुणैः तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलदाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीपः, उपजीविनाम् आश्रितानां यादोभिः जलग्राहैः। 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः। रत्नैश्चार्णव इवाधृष्योऽनभिभवनीयश्चाभिगम्यश्चाभिश्रयणीयश्च बभूवेत्यन्वयः। अत्र श्लोके नृपगुणानाञ्च यादोरत्नानाञ्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापेक्षया लब्धस्वरूपमधृष्यत्वाभिगम्यत्वयोरेकसम्बन्धेनोभयत्र सत्वादनुगामित्वरूपः साधारणधर्मो वर्तत इति तत्समन्वयः। अत्र ग्रन्थकृतानुक्तमपि अनुगामित्ववस्तुप्रतिवस्तुभावयोरुदाहरणं यथा—'वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्। आसीन्महीभृतामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥' अत्र मनुप्रणवयोरुपमायां छन्दोमहीभृतां बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नानां विशेषणतया आद्यत्वमुक्तं, मनीषिमान्यत्वमनुगतधर्मः।

अनुगामित्वश्लेषयोरुदाहरणं दर्शयति—गते इति।

हे वत्स तव भ्रातरि पञ्चतां नाशभावं गते सति नोऽस्माकं चान्द्रमसं चन्द्रसम्बन्धिमहत्कुलम्, अदृष्टसन्तानस्य भावस्तया, उदधेः समुद्रस्य मथनात् पूर्वं हरेरिन्द्रस्य वनं नन्दनमिव न शोभते इत्यन्वयः। अत्र सन्तानशब्दस्याखण्डश्लेषेण पुत्रत्वपारिजातत्वमपेक्ष्य शोभारहितत्वधर्मस्यैकेन सम्बन्धेनाभिधानादनुगामितासत्वादुदाहरणसङ्गतिः।

(चित्र०)

अनुगामित्वोपचारयोर्मिश्रणं यथा—

तडिदुज्ज्वलहेतिमुत्तरः कुरुराजध्वजिनीं विलोकयन्।
प्रिययेव भिया सकम्पया परिरेभे धृतघर्मपाथसा॥

अत्र सकम्पत्वानुगामिधर्मापेक्षया लब्धचारुभावं परिरम्भकर्तृत्वं भीत्यामुपचरितम्।

(भारती)

अनुगामिता और उपचार के सम्मिश्रण से जैसे—

बिजली की तरह चमकती श्वेत तलवार युत, विराट् सुत उत्तर ने राजा दुर्योधन की सेना को देखते हुए, प्रस्वेद से श्लथ कम्पन युक्त प्रिया की तरह भय से धारण किया।

यहाँ 'सकम्पत्व' अनुगामी धर्म है। एक सम्बन्ध के कारण उसका उभयवृत्तित्व से उसकी अपेक्षा प्राप्त चारुस्वरूप परिरंभकर्त्तृत्व मुख्य रूप से प्रियावृत्तिक भय उपचरित है।

(सुधा)

अनुगामित्वोपचारयोरुदाहरणं दर्शयति—यथेति। तडिदुज्ज्वलखड्ग उत्तरो विराट्सुतः कुरुराजध्वजिनीं दुर्योधनसेनां विलोकयन् पश्यन् धृतघर्मपाथः प्रस्वेदजलं यया तथाभूतया, सकम्पया प्रिययेव भिया परिरेभे परिरब्ध इत्यन्वयः। अत्र सकम्पत्वमनुगामिधर्मः, एकसम्बन्धेन तस्योभयवृत्तित्वात्, तदपेक्षया प्राप्तचारुस्वरूपं परिरम्भकर्तृत्वं मुख्यत्वेन प्रियावृत्तिकं भीतावुपचरितमित्युदाहरणसङ्गतिः।

(चित्र०)

अनुगामित्वसमासभेदाश्रयणयोर्मिश्रणं यथा—

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः॥

अत्र श्येनपक्षपरिधूसरेत्यादिविशेषणयोः समासभेदाश्रयणेन साधारण्यमपेक्ष्यानवलोकनक्षमत्वानुगामिधर्मश्चारुतातिशयं पुष्णाति।

(भारती)

अनुगामित्व और समासभेदाश्रयण के सम्मिश्रण से जैसे—

बाज नामक पक्षी के पंखरूपी धूसर केश वाली तथा सायंकाल के लाल मेघरूप रक्त से भींगे हुए वस्त्र वाली दिशाएँ, बाज के पंखों के समान धूसर पंखवाली तथा सायंकाल के मेघ के समान रक्त से भींगे हुए वस्त्र वाली रजस्वला स्त्रियों के समान नहीं देखने योग्य हो गयीं।

इस उदाहरण में विशेषणगत समास भेदाश्रयण से साधारण्य की अपेक्षा कर दर्शन अनर्हत्वरूप एक सम्बन्धवृत्ति अनुगामि रूप धर्म, शोभा की अतिशयता स्पष्ट करता है।

(सुधा)

अनुगामित्वसमासभेदाभ्यां धर्मकथनमुदाहरति—यथेति—श्येनपक्षी इव परितो धूसरा अलका यासां ताः। पक्षे उपमितिसमासः। सान्ध्यमेघा एव रुधिरार्द्राणि वासांसि यासां ताः। पक्षे सैव समासः। रजोधूलिः, अस्ति यासां ता दिशोऽङ्गना इव अवलोकनक्षमा दर्शनार्हा नो बभूवुरित्यन्वयः। अत्रोदाहरणे विशेषणगतसमासभेदाश्रयणेन यत् साधारण्यं तदपेक्ष्य दर्शनानर्हत्वरूप एकसम्बन्धवृत्तिरनुगामिधर्मः शोभातिशयं पुष्णातीत्युदाहरणसङ्गतिः।

(चित्र०)

वस्तुप्रतिवस्तुभावबिम्बप्रतिबिम्बभावयोर्मिश्रणं यथा—

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ॥

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोः क्रोधनक्रयोः संवृतगूढशब्दाभ्यामेक एव धर्म उक्त इति बिम्बप्रतिबिम्बभाववस्तुप्रतिवस्तुभावः । सन्तोषचिह्नप्रसादयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावश्च ।

(भारती)

वस्तुप्रतिवस्तुभाव और विम्बप्रतिविम्बभाव के मिश्रण से जैसे—

वाहरी हर्ष के चिह्नों से छिपाए हुए विकार, भीतरी द्वेष वाले, अत एव जल में डूबकर छिपे हुए मगर से युक्त निर्मल नड़ाग के समान वे राजालोग विदर्भ नरेश भोज के यहाँ से पूजा में आयी हुई मणि आदि सामग्रियों को भेंट के बहाने उन्हें लौटाकर और उनसे पूछकर यहाँ चले गए ।

इस उदाहरण में विम्बप्रतिविम्बभाव प्राप्त क्रोध और वक्र का संवृत गूढ़ शब्दों से भिन्न एक ही धर्म के उपात्त से वस्तुप्रतिवस्तुभाव का संतोपचिह्न और प्रसन्नता प्रभृति का बिम्बप्रतिबिम्बभाव के साथ लक्षण की अनुगति है ।

(सुधा)

उभयमिश्रणे विम्बप्रतिविम्बभाववस्तुप्रतिवस्तुभावयोरुदाहरणं दर्शयति—यथेति। मुदः सन्तोषस्य लिङ्गैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रिया निगूढाहङ्कारा: प्रसन्ना निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा ह्रदा इव स्थितास्ते नृपा वैदर्भमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां पूजामुपदाच्छलेन उपायनमिषेण समर्प्य प्रययुः गतवन्तः । अत्रोदाहरणे विम्बप्रतिविम्बभावप्राप्तयोः क्रोधनक्रयोः संवृतगूढशब्दाभ्यां भिन्नाभ्यामेकस्यैव धर्मस्योपात्तत्वेन वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य सन्तोषचिह्नप्रसादयोर्विम्बप्रतिविम्बभावेन सह सत्त्वाल्लक्षणसङ्गतिः ।

(चित्र०)

श्लेषबिम्बप्रतिबिम्बभावयोर्मिश्रणं यथा—

पार्थनाशमुदिता नृपात्मजा बाष्पमूहुरविनीतमन्यवः ।
आतपक्वथितपाथसो बहिः शीतगर्भसलिला इव ह्रदाः ॥

अत्र बाष्पशब्दे श्लेषस्य नृपात्मजह्रदविशेषणानां बिम्बप्रतिबिम्बभावमपेक्ष्य चारुता ।

(भारती)

श्लेष और विम्बप्रतिविम्बभाव के मिश्रण का उदाहरण, जैसे—

पार्थ के नाश से प्रसन्न वह राजकुमारी बाहर धूप से गर्म तथा भीतर शीतल जल से युक्त सरोवर की तरह बाष्प अर्थात् अश्रुपात करने लगी ।

इस श्लोक में वाष्प शब्द में श्लेष है—नृपात्मजा और ह्रद विशेषणों का विम्बप्रतिबिम्बभाव की अपेक्षा से चारुता का अतिशय प्रकट होता है।

(सुधा)

श्लेषविम्बप्रतिविम्बभावयोर्मिश्रणोदाहरणं दर्शयति—यथेति। पार्थेति। पार्थनाशेन मुदिता हृष्टा अविनीतमन्यवो नृपात्मजा राजसुता वह्निरातपेन क्वथितानि पाथांसि जलानि येषाम् 'कबन्धमुदकं पाथः' इत्यमरः, शीतानि गर्भे सलिलानि येषां ते तादृशा ह्रदा इव बाष्पं जलमश्रुपातञ्च ऊहुरित्यन्वयः। अत्रोदाहरणे बाष्पशब्दे श्लेषो नृपात्मज-ह्रदविशेषणों बिम्बप्रतिबिम्बभावापेक्षया चारुतातिशयं पुष्णातीति लक्षणसङ्गतिः।

(चित्र०)

उपचारबिम्बप्रतिबिम्बभावयोर्मिश्रणं यथा—

सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥

अत्राश्वासितेन्द्रसिक्तेत्यनयोर्वरोरगाणां च बिम्बप्रतिबिम्बभावमपेक्ष्योद्वमनमुपमानोपमेययोर्द्वयोरप्युपचरितम्। मुख्यार्थस्य द्वयोरप्यसम्भवात्, मुख्यार्थे तस्य ग्राम्यत्वाच्च। यदाहुः—

(भारती)

उपचार और विम्बप्रतिविम्बभाव के सम्मिश्रण से। जैसे—

चण्डी (अतिक्रोधशील) उस कैकेयी ने पति के आश्वासन देने पर मेघ से सींची गई भूमि जिस प्रकार बिल में घुसे हुए दो सर्पों को उगल देती है, उसी प्रकार पति के दिए हुए दो वरदानों को उगल दिया।

इस उदाहरण में आश्वासित और इन्द्रसिक्त इन दोनों का वर और उरगों के विम्बप्रतिविम्बभाव की अपेक्षाकर उद्वमन का उपमान और उपमेय दोनों के साथ उपचरित सम्बन्ध है। क्योंकि उद्वमन रूप मुख्यार्थ का दोनों जगह होना असंभव है। दूसरी बात मुख्यार्थ में उसकी ग्राम्यता भी है। यदि उपमेय में मुख्यार्थ का आदर है, तब वहाँ ग्राम्यदोष की प्रसक्ति है—ऐसा कहें तो प्राचीनों की सम्मति कहते हैं—

(सुधा)

द्वयोर्मिश्रणे बिम्बप्रतिबिम्बभावोपचारयोरुदाहरणं दर्शयति—उपचारेत्यादि। सा किलेति। रघुकाव्ये कैकेयीवाक्यवर्णनं सेति। चण्डी अतिकोपना। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। सा भर्त्रा दशरथेन आश्वासिता अनुनीता, तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ, इन्द्रेण सिक्ता अभिवृष्टा भूर्बिले मग्नौ वल्मीकाबौ मग्नौ उरगाविव उद्ववाम उज्जगार। बिम्बप्रतिबिम्बभावोपचारौ स्पष्टयति—अत्रोदाहरणे आश्वासितेन्द्रसिक्तेत्यनयोः वरोरगाणाञ्च बिम्बप्रतिबिम्बभाव उद्वमनस्य उपमानोपमेययोः द्वयोरेवोपचार उद्वमनरूपमुख्यार्थस्योभयत्रासम्भवात्, मुख्यार्थे तस्य ग्राम्यत्वाच्च। यदि चोपमेये मुख्यार्थादरः, तदा तत्र ग्राम्यदोषप्रसक्तिः। तत्र प्राचीनसम्मतिमाह—यदाहुरिति।

७ चित्र०

(चित्र०)

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।। इति ।

एवमन्यत्रापि द्वयोर्मिश्रणमूह्यम् ।

(भारती)

निष्ठयूतादिक गौणवृत्ति से आधारभूत होने के कारण अतिसुन्दर है। दूसरे मुख्यार्थपरक होने के कारण उस दोषकक्षा का भी अवगाहन करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी दोनों के मिश्रण की कल्पना करनी चाहिए।

(सुधा)

निष्ठयूतादिकं गौणवृत्तिव्यपाश्रयं गौणवृत्त्याधारभूतमतिसुन्दरम्, अन्यत्तु मुख्यार्थपरन्तु ग्राम्यकक्षां तद्दोषकक्षां विगाहते अवगाहयतीत्यर्थः। एवमन्यदपीति। तथा हि—समासभेदश्लेषयोरुदाहरणं सेतुकाव्ये—[1]'खुडिउप्पडिअमुणालं दट्ठूण पिअं व सिढिलिअवलअं णलिणिम्। महुअरिमहुरुल्लावं महुमअअम्बं मुहं व घेप्पइ कमलम् ॥' अत्र मधुकरीणां मधुरोल्लापमिति कमलपक्षे, मधुकरीणामिव मधुर उल्लापो यत्रेति मुखपक्षे समासभेदः। परागमदेन मद्यस्य मदेन चेति अखण्डश्लेषः। समासभेदविम्बप्रतिबिम्बभावयोरपि तत्रैव। यथा—[2]'वणदवमसिमइलंगो रेहइ विञ्झोघणेहि धवले हि। खीरोदमन्थणुच्छलिअदुद्धसित्तो व्व महुमहणो ॥' अत्र विन्ध्यपक्षे वनदवमसीव तेन मलिनान्यङ्गानि यस्य। विष्णुपक्षे वनदवेन मसी तद्वत् श्यामलाङ्ग इति वृत्तिभेदः। श्वेतघनदुग्धयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावः। वस्तुप्रतिवस्तुभावश्लेषयोरुदाहरणं श्रीविश्वेश्वरचरणानाम्—'सरसतरा हसितमुखी विभाति वरवर्णिनी नितराम्। उन्मीलितारविन्दा सरसीव विनिर्मितोत्कलिका ॥' अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नमुखकमलविषयकस्यैव धर्मस्य हसितोन्मीलितपदाभ्यां विशेषणतया निर्दिष्टत्वाद्वस्तुप्रतिवस्तुभावः। अतिशयेन सरसा रसवती अतिजला च विनिर्मिता रचिता उत्कृष्टा कामकला यया, यथा वा विनिर्मिता उत्कृष्टा कलिका कोरका ययेति श्लेषः। समासभेदोपचारयोरपि तेषामेव—'मालतीमुकुलकोमलदन्ता मत्तबर्हिकुलकेशकलापा। जीवयत्यसमसायकमेषा कामिनीव जलदागमलक्ष्मीः ॥' अत्र मालतीमुकुलाः कोमला दन्ता इव यस्याः, मत्तं यद्बर्हिकुलं तत्केशकलाप इव यस्या इति। कामिनीपक्षे मालतीमुकुला इव कोमला दन्ता यस्याः, मत्तबर्हिकुलमिव केशकलापो यस्या इति समासभेदः। जीवयत्यत्रोपचारः, मुख्यजीवनस्य आत्मविशेषगुणजनकमनस्संयोगरूपस्य तत्राभावात्। समासभेदवस्तुप्रतिवस्तुभावयोरपि तेषामेव—'घनप्रसवसङ्कुलास्थगितशर्वरीवल्लभा विराजति बलाहकागमनकालिकी द्यौरियम्। परं विहितगोचरीभवनपुण्डरीकच्छटा तमालदलमेचकावयवसन्निवेशेव भूः ॥' अत्र घनानां मेघानां प्रसव उत्पत्तिः। पक्षे, घनप्रसवो जलम्, तेन सङ्कुला

१. खण्डितोत्पतितमृणालां दृष्ट्वा प्रियामिव शिथिलितवलयां नलिनीम्।
मधुकरीमधुरोल्लापं मधुमदताम्रं मुखमिव गृह्यते कमलम् ॥
२. वनदवमसीमलिनाङ्गो राजति विन्ध्यो घनैर्धवलैः।
क्षीरोदमन्थनोच्छलितदुग्धसिक्त इव मधुमथनः ॥

विहितमनिषिद्धम्, गोचरीभवनं यस्यास्तादृशी पुण्डरीकच्छटा यस्या इति, अदृश्यपुण्डरीकेत्यर्थः। तमालदलवत् श्यामा; तमालदलैः श्यामा; इति समासभेदः। बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न—चन्द्रपुण्डरीकयोः स्थगितत्वस्य विहितगोचरीभवनत्वस्यैकस्यैव धर्मस्य विशेषणतया निर्दिष्टत्वाद्वस्तुप्रतिवस्तुभावः। श्लेषोपचारयोर्यथा—'अस्थानगामिभिरलङ्करणैरुपेता भूयः पदस्खलननिह्नुतिरप्रसन्ना। वाणीव कापि कुकवेर्मधुपानमत्ता गेहान्निपातबहुलेव विनिर्जगाम॥' निर्गमनस्य वाण्यामुपचारः। अन्यत्रापीति। अन्यदपीत्यस्यार्थः।

(चित्र०)

अनुगामित्वबिम्बप्रतिबिम्बभावसमासभेदाश्रयणानां मिश्रणं यथा—

नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव॥

अत्र व्यत्यगादित्यनुगामिधर्मः। अन्यवधूर्भवित्रीसागरगामिनीत्यनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। आवर्तमनोज्ञनाभिरित्यत्र समासभेदाश्रयणमित्येतेषां मिश्रणम्।

(भारती)

अनुगामित्व विम्बप्रतिविम्बभाव समासभेद के आश्रयों के मिश्रण से। जैसे—

पानी के आवर्त्त की तरह सुन्दर नाभि वाली तथा भविष्य में दूसरे अर्थात् अज की भार्या होनेवाली उस इन्दुमती ने रास्ते में आने से प्राप्त पर्वत को समुद्रगामिनी एवं प्रवाह से बहने वाली नदी के समान (भावी पति अज के पास जाते समय) उन राजाओं को छोड़कर आगे बढ़ गई।

इस उदाहरण में 'आगे बढ़ गई', यहाँ अनुगामिधर्म है। अन्यवधूर्भवित्री' और 'सागरगामिनी' इन दोनों में विम्बप्रतिविम्बभाव है। 'आवर्त्त' और 'मनोज्ञनाभि' इसमें समास भेदाश्रय से सम्मिश्रण है।

(सुधा)

बहूनां मिश्रणेऽनुगामित्वबिम्बप्रतिबिम्बभावसमासभेदानां मिश्रणमुदाहरति—यथेति। आवर्तवद् जलभ्रम इव मनोज्ञा नाभिर्यस्याः, 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। इदञ्च नदीसाम्यार्थमुक्तम्। अन्यवधूः अन्यस्य पत्नी भवित्री सा कुमारी तं नृपं सागरगामिनी समुद्रगामिनी स्रोतोवहा नदी मार्गवशादुपेतं प्राप्तं महीधरं पर्वतमिव व्यत्यगाद् व्यतीत्य गता। अत्रोदाहरणे व्यतीयायेति अनुगामिधर्मः। अन्यवधूर्भवित्रीसागरगामिनीत्यनयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावः। आवर्तमनोज्ञनाभिरित्यत्र समासभेदाश्रयणमिति त्रयाणां सङ्गतिः।

(चित्र०)

अनुगामित्वश्लेषोपचाराणां मिश्रणं यथा—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः॥

अत्रातुरदृष्टिवीक्षित इत्यादावनुगामिता; रामादिशब्दश्लेषः; चुम्बितशब्दस्य वसन्तपक्षे उपचारः; इत्येतेषां मिश्रणम्। एवमन्येऽपि मिश्रणोदाहरणभेदाः स्वयमेव द्रष्टव्याः।

(भारती)

अनुगामि और श्लेष के मिश्रण से। जैसे—

मरुच्चुम्बितचारुकेसर' मलयानिल के झोकों से मौलश्री को छूता (हनुमान के पक्ष में—पितृभूत पवन देव द्वारा चुम्बित शिखावाले) 'प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणी' कान्तिमान चन्द्रबिम्ब को आगे किए (हनुमान पक्ष में—प्रसन्न सुग्रीव द्वारा अपने राष्ट्र में नायक रूप से नियुक्त) और 'वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षित' वियोगिनी युवतियों द्वारा व्याकुलता से देखा जाता हुआ (हनुमान के पक्षमें—सीतावियुक्त राम के द्वारा उत्सुकता से देखे गए) हनुमान की भाँति स्पष्ट दीख पड़ता हुआ वसन्त आही पहुँचा।

इस उदाहरण में 'आतुरदृष्टिवीक्षित' इत्यादि में अनुगामिता है, रामादि शब्द श्लेष है, चुम्बित शब्द का वसन्त के पक्ष में उपचार है, और इन सबों का यहाँ मिश्रण है। इस प्रकार दूसरा भी मिश्रण का उदाहरणभेद स्वयं देखना चाहिए।

(सुधा)

अनुगामित्वश्लेषोपचाराणां मिश्रणमुदाहरति—यथेति। मरुता चुम्बिताश्चारुकेसरा यस्य। प्रसन्नश्चासौ ताराधिपश्च, तस्य मण्डलमग्रणीर्यस्य। वियुक्तरामातुरदृष्टिभिः वीक्षितोऽसौ वसन्तकालो हनुमानिवागत इत्यन्वयः। अत्रातुरदृष्टिवीक्षित इत्यादावनुगामिता, ताराधिपरामशब्दयोः; चुम्बितशब्दस्य वसन्तपक्षे उपचार इति त्रयाणां मिश्रणम्। एवमन्येऽपि मिश्रणभेदाः सोदाहरणाः स्वयमेव द्रष्टव्याः। तद्यथा समासभेदानुगामित्वोपचाराणामुदाहरणं सेतुकाव्ये—[1]'मुहलघणपिप्पइण्णं जलणिवहं भरिअणहमहीविअरम्। णईमुहपज्जहत्थं अप्पाण विणिग्गअं जसं व पिअंतम्॥' अत्र मुखरेत्यत्र मुखरैर्गर्जाद्भिः घनैः वृष्टम्, पक्षे मुखरैर्वन्द्यादिभिः घनं बहु कृत्वा वर्णितम्। भृततमोमहीविवरत्वमनुगामिधर्मः। विनिर्गतमित्यस्य यशस्युपचारः। निष्क्रमणाख्यस्य बहिःसंयोगजनककर्मणो मूर्तमात्रधर्मतया यशस्यभावात्। उपचारसमासभेदश्लेषाणामुदाहरणं तत्रैव—[2]'सरए सरम्मि पहिआ जलाइ कंदोट्टसुरहिगन्धाइं। धवलच्छाइ सअह्ला पिअंति दइआण व मुहाइं॥' अत्र पिबन्तीति मुखपक्षे उपचारः नीलोत्पलसुरभीति समासभेदः, धवलानि च तानि अच्छानि च, धवैर्लक्षाणि वेति खण्डश्लेषः। अनुगामित्वसमासभेदश्लेषाणां यथा—'तारामुक्ताहारा समुदञ्चितचन्द्ररुचिचर्चा। विकसितकैरवहासा द्यौस्त्रीव वधूज्वरं विधुनोति।' अत्र 'ज्वरं विधुनोति' इत्यनुगामि, 'तारा' इत्यादौ समासभेदः, चन्द्रपदे श्लेषः। उपचारबिम्बप्रतिबिम्बभावसमासभेदानां यथा—'विजृम्भ-

---

१. मुखरघनविप्रकीर्णं जलनिवहं भृतसकलनभोमहीविवरम्।
नदीमुखपर्यस्यमानमात्मनो विनिर्गतं यश इव पिबन्तम्॥
२. शरदि सरसि पथिका जलानि नीलोत्पलसुरभिगन्धानि।
धवलाच्छानि सतृष्णाः पिबन्ति दयितानामिव मुखानि॥

माणोल्लसतकोरकस्तनीं सरोजिनीं चुम्बति वासरेश्वरः। समुल्लसत्कुङ्कुमपङ्कलोहितो युवा नवीनां वरवर्णिनीमिव॥' इत्यत्र 'विजृम्भमाण' इत्यत्र 'समुल्लसत्' इत्यादौ च समासभेदः। सरोजिनीवरवर्णिन्योर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः, 'चुम्बति' इति भानुपक्षे उपचार इत्यन्यत्र विस्तरः।

(चित्र०)

बिम्बप्रतिबिम्बभावोदाहरणेषु कश्चिद् विशेषः। क्वचित्प्रसिद्धसाधर्म्यतया प्रतीयमानसाधर्म्ययोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। यथा—'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादौ। क्वचिदप्रसिद्धसाधर्म्यतया येन केनचित् प्रकारेणोपात्तसाधारणधर्मयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। यथा—'तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या' इत्यादौ। अत्र हि शरदपर्णयोः स्वतोऽप्रसिद्धसाधर्म्ययोर्विवृद्धाननेत्यादिना समासभेदाश्रयणेनोपात्तसाधरणधर्मयोरेव बिम्बप्रतिबिम्बभावः। यथाकथञ्चित् साधर्म्यप्रतीतिं विना बिम्बप्रतिबिम्बभावो न सम्भवत्येव।

(भारती)

बिम्बप्रतिबिम्बभाव के उदाहरणों में कुछ विशेषताएँ हैं। कहीं प्रसिद्ध साधर्म्य से प्रतीयमान साधर्म्य का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। जैसे—**'पाण्ड्योयमंसार्पितलम्बहारः'** (पूर्व व्याख्यात) में प्रसिद्ध साधर्म्य से प्रतीयमान सामान्य धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इसी प्रकार कहीं अप्रसिद्ध साधर्म्य से जिस किसी भी तरह से उपात्त साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। जैसे—**'तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या'** (पूर्व व्याख्यात) में 'शरदर्पण' का स्वतः अप्रसिद्ध साधर्म्य का 'विवृद्धानन' इत्यादि से समासभेद का आश्रय ग्रहण करने से उपात्त साधारण धर्म का ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। क्योंकि यथाकथंचित् साधर्म्यप्रतीति के विना बिम्बप्रतिबिम्बभाव असंभव ही है। इस पर संदेह करते हैं; जैसे—

(सुधा)

क्वचिदुदाहरणे विशेषं दर्शयति—बिम्बप्रतिबिम्बभावोदाहरणेषु कश्चिद् विशेष इति। तमेव दर्शयति क्वचित्—'पाड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादौ प्रसिद्धसाधर्म्यतया प्रतीयमानसामान्यधर्मयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। क्वचित् 'तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या' इत्यादावप्रसिद्धसाधर्म्यभावेन येन केनचित् प्रकारेणोपात्तसामान्यधर्मयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। अत्र हि शरदर्पणयोः स्वतोऽप्रसिद्धसाधर्म्ययोः विवृद्धाननेत्यादिना समासभेदस्याश्रयणेनोपात्तसाधारणधर्मयोरेव बिम्बप्रतिबिम्बभावः, यथाकथञ्चित् साधर्म्यप्रतीतिं विना तदसम्भवात्।

(चित्र०)

ननु—

यथा त्वं गुणवाँल्लोके तथा ते निर्गुणो रिपुः।
इतीदमुपमानं तु विपरीतमिति स्मृतम्॥

इत्युक्तरूपाया विपरीतोपमायाः कथं निर्वाहः। तत्र हि सगुणत्वनिर्गुणत्व-

योर्नोपात्तेन नवा प्रतीयमानेन धर्मेण साधर्म्यप्रतीतिरस्ति। नैष दोषः, तत्राप्यात्यन्तिकत्वस्वाभाविकत्वादिधर्मेण प्रतीयमानेन तयोः साधर्म्यप्रतीतेः। अन्यथा यथाशब्दोदितस्य सादृश्यस्य सर्वथा निरालम्बनत्वप्रसङ्गात्। एवं पूर्णाया दिगुदाहृता।

(भारती)

इस श्लोक में 'जैसे तुम गुणवान हो, वैसे ही तुम्हारे शत्रु निर्गुण हैं।' यह उपमान तो विपरीत ही उदाहृत है।

इस प्रकार की विपरीत उपमा में तो अव्याप्ति दोष है। क्योंकि यहाँ सगुणत्व और निर्गुणत्व की साधर्म्य प्रतीति उपात्त के द्वारा अथवा प्रतीयमान धर्म के द्वारा नहीं है। समाधान करते हुए कहते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। वहाँ विपरीत उपमा में भी प्रतीयमानत्व या स्वाभावादिकत्व धर्म से उपमान और उपमेय की साधर्म्य प्रतीति है। इसके अभाव में दोष बताते हैं—अन्यथा अर्थात् निज स्वाभाविकत्वादि रूप, धर्म का प्रतीयमानत्व के अभाव में यथा शब्दोदित सादृश्य का निरावलंबनता प्रसंग होगा। पूर्णा के प्रसंग का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—ये पूर्णा के दिग्मात्र उदाहृत हैं।

(सुधा)

शङ्कते—नन्विति। यथा लोके त्वं गुणवान् तथा ते रिपुर्निर्गुणः, इतीदमुपमानन्तु विपरीतं स्मृतमित्युक्तरूपायां विपरीतोपमायामव्याप्तिः। अत्र हि सगुणत्वनिर्गुणत्वयोः साधर्म्यप्रतीतेरुपात्तेन प्रतीयमानेन वा धर्मेणाभावात्। इति चेत्, समाधत्ते नैष दोषः, तत्रापि विपरीतोपमायामपि प्रतीयमानत्वस्वाभाविकत्वादिधर्मेणोपमानोपमेययोः साधर्म्यप्रतीतेः सत्त्वात्। तदभावे दोषमाह—अन्यथा = स्वस्वाभाविकत्वादिरूपधर्मस्य प्रतीयमानत्वाभावे, यथाशब्दोदितसादृश्यस्य सर्वथा निरालम्बनताप्रसङ्गात्। पूर्णायाः प्रकरणमुपसंहरति—एषा पूर्णाया दिग् उदाहृता, तेन श्रौत्यादयो भेदा वक्ष्यमाणा उपलक्षिता इति बोध्यम्।

(चित्र०)

लुप्ताष्टविधा—वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, धर्मवाचकलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्ता चेति।

क्रमेणोदाहरणानि—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भतुल्यम्॥

अत्र कैलासगौरमित्यत्र वाचकलोपः, निकुम्भतुल्यमित्यत्र धर्मलोपः। वाचकलोपः सर्वत्र समासविधायकशास्त्रकृतः, धर्मलोपस्त्वैच्छिकः, प्रभावादिना निकुम्भतुल्यमित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्।

(भारती)

लुप्ता उपमा आठ प्रकार की है—वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, धर्मवाचकलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता।

(१) **वाचकलुप्ता**—जहाँ केवल वाचक का लोप हो, उपमेय; उपमान एवं धर्म स्पष्ट रूप से वर्त्तमान हों, वहाँ वाचकलुप्ता होती है।

(२) **धर्मलुप्ता**—जहाँ उपमेय, उपमान एवं वाचक का कथन हो, किन्तु धर्म लुप्त रहे, वहाँ धर्मलुप्ता होती है। दण्डी इसे 'वस्तूपमा' कहते हैं।

(३) **उपमानलुप्ता**—जहाँ उपमान को छोड़ कर उपमा के सभी अंग प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ें, वहाँ उपमानलुप्ता होती है।

(४) **वाचकोपमानलुप्ता**—जहाँ धर्म और उपमेय प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ें, किन्तु वाचक और उपमान का कथन न हो।

(५) **धर्मोपमानलुप्ता**—जहाँ उपमेय और वाचक का कथन हो पर धर्म और उपमान न रहे, वहाँ धर्मोपमानलुप्ता होती है।

(६) **धर्मवाचकलुप्ता**—जहाँ साधारण धर्म और वाचकलुप्त रहें, वहाँ धर्मवाचकलुप्ता होती है।

(७) **वाचकोपमेयलुप्ता**—जहाँ वाचक और उपमेय लुप्त रहें, किन्तु धर्म और उपमान का कथन रहे, वहाँ वाचकोपमेयलुप्ता होती है।

(८) **धर्मोपमानवाचकलुप्ता**—जहाँ केवल उपमेय का कथन हो, वाचक, धर्म और उपमान लुप्त रहें, वहाँ धर्मोपमानवाचकलुप्ता होती है।

क्रमशः इनके उदाहरण हैं—

हे राजन् ! कैलास पर्वत की तरह श्वेत बैल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले आठ (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और सोमयाजी) मूर्त्तियाँ हैं, जिनकी ऐसे शिवजी के चरण रखने रूप अनुग्रह से पवित्र पीठ वाला, निकुंभ (शिव जी का प्रसिद्ध गण) का मित्र कुम्भोदर नाम से प्रसिद्ध 'शिवजी का नौकर' मुझे तुम जानो।

इस उदाहरण में 'कैलास गौरम्' यहाँ वाचक लोप है, 'निकुंभतुल्यम्' इसमें धर्म लुप्त है, 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र से 'कैलासवद्, 'गौरम्' इस अर्थ में वाचक लुप्त है। 'निकुंभतुल्यम्' में ऐच्छिक धर्मलोप है। प्रभावादि से धर्म की कल्पना भी कह सकते हैं।

(सुधा)

अथ लुप्तोपमां चन्द्रालोकानुसारेण दर्शयति–लुप्ताष्टविधेति। एकलुप्ता त्रिविधा। वाचकधर्मोपमानवाचकशब्दानां लोपाद् द्विलुप्ता चतुर्विधा। वाचकोपमानयोः धर्मोपमानयोः धर्मवाचकयोः वाचकोपमेययोश्चानुपादानात् त्रिलुप्ता एकविधा, धर्मोपमानवाचकानां लोपात्। एतेषामुदाहरणानि क्रमेण दर्शयति—'कैलासगौरम्' इत्यत्र वाचकलोपः। कैलासवद्गौरमित्यर्थे 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति समासविधायकेन शास्त्रेण कृतः। यद्यपि समासानुशासनेन निरूढलक्षणया तदर्थसम्भवेन वाचकलोपो न सम्भ-

वति, तथापि आनुपूर्व्यादिविशेषवत्तया शब्दविशेषेण तद्बोधनात् तद्व्यवहार इति। 'निकुम्भतुल्यम्' इत्यत्र धर्मलुप्ता। स त्वनैच्छिक इति दर्शयति—धर्मलोप इति। प्रभावादेर्धर्मस्य कल्पनाया वक्तुं शक्यत्वात्। तदाह—प्रभावादिनेत्यादि।

(चित्र०)

यच्चौराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृतः।
उपनतमेतदकस्मादासीद् बत काकतालीयम् ॥ इति ॥

अत्र काकतालशब्दौ वृत्तिविषये काकतालसमवेतक्रियावर्तिनौ। तेन काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालमिति इवार्थे 'समासाच्च तद्विषयात्' इति ज्ञापकात् सुप्सुपेति समासः। उभयत्रोपमेयं क्रमेण देवदत्तागमनं दस्यूपनिपातश्च। तेन देवदत्तदस्युसमागमः काकतालसमागमसदृश इति फलति। ततः काकतालमिव काकतालीयमिति द्वितीये इवार्थे, 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छप्रत्ययः।

(भारती)

एक पथिक के विषय में कहा जाता है—जो चोरों का और उस पथिक का एक साथ समागम हुआ और जो इन्होंने उसका वध कर दिया—यह घटना अचानक बन गई; अतः यह घटना 'काकतालीय' हुई।

यहाँ 'काकतालीय' शब्द से 'काक' और 'ताल' शब्द लक्षणा द्वारा 'कौए के आने और 'ताड़ के गिरने' के बोधक हैं। उनका 'इव' (की तरह) के अर्थ में 'सामासाच्च तद्विषयात्' (पा० सू० ५, ३, १०६) इस ज्ञापक द्वारा समास करने पर 'काक इव ताल इव काकतालम्' इस विग्रह के अनुसार 'काकतालम्' शब्द का अर्थ होता है—कौए और ताड़ के समागम के-अर्थात् कौए के आने और ताड़ के गिरने के—समान इस चोरों का और पथिक का समागम। इस 'काक ताल' शब्द से 'काकतालमिव' इस तरह दूसरे 'इव' के अर्थ में पूर्वोक्त सूत्र (समासाच्च तद्विषयात्) से ही छ प्रत्यय (इय) करने पर 'काकतालीय' शब्द बनता है।

(सुधा)

उपमानलुप्तां द्विलुप्ताभेदेष्वाद्यं भेदद्वयं त्रिलुप्तां च दर्शयति-यच्चौराणामिति यच्चौराणाम्, अस्य च समागमः, यच्चौरैरस्य वधः कृतः, एतदकस्मादुपनतं काकतालीयमासीत्। अत्र भेदान् दर्शयितुं काकतालीयमिति पदस्य व्याख्यानमाह—अत्रेति। वृत्तिविषये = समासविषये, तेन = तादृशक्रियावृत्तित्वेनेत्यर्थः। काकसमवेता क्रिया काकागमनरूपा, तालसमवेता क्रिया तत्पतनरूपा। एतदेव समासवाक्येन मूले कथ्यते। समासविधायकाभावमाशङ्क्य समाधत्ते—इवार्थे इत्यादि। तत्र समासाभावेन तद्विषयादित्यनेन इवार्थविषयसमासानुपपत्तेस्तज्ज्ञापकतेत्यर्थः। अत्रोपमेयं दर्शयति—उभयत्रेति। काकागमनतालपतनयोरित्यर्थः। क्रमेण देवदत्तागमनं दस्यूपनिपातश्चोपमेयमित्यन्वयः। तेन = तादृशक्रियापरयोः काकतालपदयोरिवार्थे समासेनेत्यर्थः। काकतालसमागम इति काकागमनतालपतनयोरुपमानत्वे तदुपमेयभूतदेवदत्तागमनदस्यूपनिपातयोः पृथगनुपात्तत्वेनोपमेयतयाऽन्वयायोगात्

तस्यैवोपमानत्वमित्यर्थः । ततः=ताद्दशसमासोत्तरमित्यर्थः । प्रत्ययार्थोपमायाम् 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यधिकारस्य 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छप्रत्ययः ।

(चित्र०)

ततश्च पतता तालफलेन यथा काकस्य वध एवमुपनिपतितैर्दस्युभिर्देवदत्तस्य वध इत्यर्थः । यदाह भगवान् भाष्यकारः—'एवं तर्हि द्वाविवावर्थौ काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयम्' इति ।

तच्च विवृतं कैयटेन—

'तत्र काकागमनं देवदत्तागमनस्योपमानम् । तालपतनं दस्यूपनिपातस्य । तालेन तु यः काकस्य वधः, स देवदत्तस्य दस्युना वधस्योपमानमिति' अकस्मादुपनतत्वं च समानो धर्मः ।

तदाह वृत्तिकारः—'तेन काकतालीयं नामाकस्मादुपनतं चित्रीकरणमुच्यते' इति ततश्चात्र काकागमनतालपतनसमागमनरूपस्य पतत्तालकृतकाकवधरूपस्य चोपमानस्यानुपादानात् प्रत्ययार्थोपमायामुपमानलोपः । समासार्थोपमायां वाचकोपमानलोपः । अत्रैव 'किमिति ब्रूमो वयमिदम्' इति तृतीयपादपाठे प्रत्ययार्थोपमायां धर्मोपमानलोपः । समासार्थोपमायां धर्मोपमानवाचकलोपः ।

(भारती)

अतः उपर्युक्त पद का अर्थ हुआ—'तालपतनजन्यकाकवधसदृशचौरकर्तृको देवदत्तवधः' अर्थात् चोरों द्वारा किया हुआ देवदत्त का वध ताल के गिरने से उत्पन्न कौए के वध के समान हुआ । भगवान भाष्यकार ने जो कहा है—

'एवं तर्हि द्वाविवावर्थौ काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयम्' (भा० पा० सू० ५, ३, १०६ इति)

इस पर कैयट द्वारा विवृत है—

'तत्र काकागमनम् देवदत्तागमनस्योपमानम् । तालपतनम् दस्यूपनिपातस्य । तालेन तु यः काकस्य वधः, स देवदत्तस्य दस्युना वधस्योपमानमिति (पा० सू० ५, ३, १०६) यहाँ अकस्मात् उपनतत्व ही समान धर्म है ।

फिर इसी पर वृत्तिकार ने लिखा है—'तेन काकतालीयम् नामाकस्मादुपनतं चित्रीकरणमुच्यते' (का० पा० सू० ५, ३, १०६)

इस प्रकार 'काकतालीयम्' में दो उपमाएँ हुईं—एक समासार्थी रूप, जो काकतालम्' में है और दूसरी प्रत्ययार्थ रूप जो काकताल शब्द से 'इय' प्रत्यय करने पर प्रतीत होती है । ऐसी दशा में प्रत्ययार्थ रूप दूसरी उपमा के उपमान 'ताल के गिरने से उत्पन्न कौए के वध' का ग्रहण न होने से अर्थात्, 'काकतालीय' पद में वैसे 'वध' का प्रतिपादक कोई शब्द न होने से यह उपमा 'उपमानलुप्ता' हुई ।

समासार्थोपमा में—वाचकोपमानलुप्ता का जो, प्राचीन के भेदों में, नाम ही नहीं लिया गया, पर 'काकतालीयम्' की प्रकृति—अर्थात् काकतालम्—के अर्थ में वह भी दिखाई देती है ।

क्योंकि उस उपमा का उपमान है 'काकताल-समागम' उस 'समागम' का वाचक यहाँ कोई शब्द नहीं और न सादृश्य का प्रतिपादक ही कोई शब्द है।

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता दो प्रकार की कही गई है, पर यदि पूर्वोक्त पद्य 'यचौराणामस्य च' के तीसरे चरण में वर्णित समान धर्म को निकाल दें अर्थात् उत्तरार्ध को ऐसा कर दें—**किमिति ब्रूमो वयमिदमासीदवतकाकतालीयम्'** तो प्रत्ययार्थ वाली उपमा में धर्मोपमानलुप्ता भी यहाँ दिखाई पड़ती है, जो कि पहले वर्णन नहीं की गई है। अतः उसका भी एक भेद हो सकता है।

समासार्थ उपमा में धर्मोपमानवाचकलुप्ता उपमा होती है—इस प्रसंग में रसगंगाधरकार ने लिखा है कि वाचक धर्मलुप्ता क्विप्गता और समासगता दो प्रकार की ही वर्णित है। वह भी यदि **'चञ्चा पुरुषः सोऽयं'** इसके आगे का चरण **'योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः'** बना दिया जाय तो अपना हित न करने रूपी समानधर्म का ग्रहण न होने पर 'कन्' प्रत्यय के लोप में भी दिखाई देती है। क्योंकि विषयवासना के अधीन होना केवल पुरुष में रहने वाला धर्म के होने के कारण 'चन्चा' और 'मनुष्य' का समान धर्म नहीं बन सकता।

(सुधा)

ततश्चेति। काकतालपदलक्षितस्य काकवधसदृशस्याभेदेनोपनतदस्युकृतदेवदत्तवध-रूपोपमेयेऽन्वयादिति भावः। सकृदुच्चारितकाकतालपदादर्थद्वयावगमे भाष्यं प्रमाणयति—यदाहेति। भाष्यव्याख्यानकर्तुः कैयटस्य प्रामाण्यमाह—तच्चेति। भाष्यमित्यर्थः। विवृतं व्याख्यातम्। अकस्मादुपनतत्वं समानो धर्मः। अत्र प्रामाण्यमाह—तदाहेति। भेदचतुष्टयं दर्शयति—ततश्चेति। पतिततालकृतकाकवधरूपोपमानानुपादानात् प्रत्यया-र्थोपमायामुपमानलुप्ता। काकागमनतालपतनसमागमरूपोपमानानुपादानात् समासार्थो-पमायां वाचकोपमायां वाचकोपमानलुप्ता। 'किमिति ब्रूमो वयम्' इति पाठे प्रत्ययार्थो-पमायां धर्मोपमानलुप्ता। समासार्थोपमायां धर्मोपमानवाचकलुप्ता।

(चित्र०)

अत्र धर्मलोपमात्रमैच्छिकम्।

यं त्वं पालयसे धर्मं वृत्त्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥

अत्र 'राघवः शार्दूल इव' इत्यर्थे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासे धर्मवाचकयोर्लोपः। अत्र वाचकलोपवद्धर्मलोपोऽपि शास्त्रीयः। सामान्यप्रयोग एवैतत्समासानुशासनात्।

धर्मवाचकलुप्तायां धर्मलोपस्यैच्छिकत्वमपि सम्भवति। यथा—

नृणां यं सेवमानानां संसारोऽप्यपवर्गति।
तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम् ॥

अत्रापवर्ग इवाचरतीत्यर्थेऽपवर्गतीत्यत्राचारार्थस्य क्विपो लोपाद् वाचक-वद्धर्मस्यापि लोपः। चञ्चेत्यत्र चञ्चा तृणपुरुष इवेत्यस्मिन्नर्थे 'इवे प्रतिकृतौ'

इति विहितस्य कनः 'लुम्मनुष्ये' इति लुग्विधानाद्वाचकलोपो धर्मलोपश्च। अस्य श्लोकस्य।

यद्भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति।
तं शम्भुमभजन्मर्त्यश्चञ्चैवात्महिताकृतेः॥

इति पाठे नोभयत्रापि धर्मस्य श्रवणमपि सम्भवति।

(भारती)

यहाँ अर्थात् द्विलुप्ता भेद में धर्मलोप मात्र ऐच्छिक है—

हे राघवशार्दूल! तुम वृत्ति से अथवा नियम से जिस धर्म का पालन करते हो, वह धर्म तुम्हारी चारो ओर से रक्षा करे।

इस उदाहरण में 'राघव शार्दूल की तरह' इस अर्थ में **'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'** इस सूत्र से समास करने पर धर्म और वाचक का लोप होता है। यहाँ 'वाचक' लोप की तरह 'धर्म' लोप भी शास्त्रीय है। सामान्य प्रयोग ही इस समासके नियम से अनुशासित है।

धर्मवाचकलुप्ता में धर्मलोपका ऐच्छिकत्व भी संभव है, जैसे—'जिसका सेवन करने वाले मनुष्यों का संसार भी मोक्ष के समान हो जाता है, उन चन्द्रकलाधर भगवान शंकर को न भजने वाला मनुष्य जगत में घास के बने पुतले के समान है।'

इस पद्य में 'अपवर्ग की तरह आचरण करता है' इस अर्थ में अपवर्गति पद में आचारार्थक 'क्विप्' प्रत्यय का लोप है। अतः यहां वाचक की तरह धर्म का लोप है। इसी प्रकार 'चञ्चा' इसमें 'चञ्चा' अर्थात् तृणपुरुष की तरह इस अर्थ में **'इवे प्रतिकृतौ'** इस सूत्र से विहित 'कन्' प्रत्यय का **'लुम्मनुष्ये'** इस सूत्र के द्वारा लोपविधान होने के कारण 'कन्' प्रत्यय का लोप हो गया है। अतः यहाँ भी प्रत्येक उपमा में (अपवर्गति और चञ्चा) दोनों में वाचक और धर्म दोनों का लोप हो जाता है। (अगर यह कहें कि 'शिव के भजन से रहित होना' यह उपमेय पुरुष के विशेषण रूप में लाया गया है, अतः सादृश्य के विशेषण बने हुए चंचा में इसका अन्वय न हो सकने के कारण इसे साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता—यह केवल पुरुष का धर्म है।) इस श्लोक का उत्तर—

जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्ष के समान हो जाता है; उस शंभु को न भजने वाला मनुष्य, अपना हित न करने के कारण घास का पुतला ही है।

इस तरह पाठ कर देने पर दोनों जगह धर्म भी सुनाई देने लगता है।

(सुधा)

धर्मलोपस्यैच्छिकत्वमाह—अत्रेति। द्विलुप्ताभेदे धर्मवाचकलुप्तां दर्शयति—यं त्वमिति—हे राघवशार्दूल! त्वं वृत्त्या नियमेन च यं धर्मं पालयसे स धर्मस्त्वाम् अभिरक्षतु समन्तात् पालयतु। राघवः शार्दूल इवेति समासः, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति तदनुशासनात्। अत्र धर्मस्य च वाचकस्य च लोपः शास्त्रकृतः। धर्मतत्प्रयोगेऽनुशासनप्रवृत्तेर्दुर्लभत्वात्। धर्मवाचकलुप्तायां शास्त्रीय एव तयोर्लोप इति नियमस्तु नास्तीत्याह—धर्मवाचकलुप्तायामिति। तदुदाहरति—यथेति। यं सेव्यमानानां नृणां संसारोऽपि अपवर्गति, जगति चन्द्रकलाधरं तं शिवम् अभजन्मर्त्यो मनुष्यश्च चञ्चा इत्यन्वयः। अपवर्गतीत्यत्र 'उपमानादाचारे' इति सूत्रविहिताचारार्थक्विप इवेन सह लोपाद् धर्मवाचकलुप्ता। उत्तरदले तां दर्शयति—चञ्चेति। 'चञ्चा तृणमयः पुमान्' इत्यमरः। चञ्चा

इवेत्यर्थे 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन्प्रत्ययः। 'लुम्मनुष्ये' इति तस्य लुपि धर्मलोपे च धर्मवाचकलुप्ता। धर्मलोपस्यैच्छिकत्वमत्र दर्शयति—अस्येति। सुखरूपस्य आत्महिताकरणस्य च धर्मस्योभयत्राभिधानेन धर्मस्य श्रवणेन धर्मलोपस्यैच्छिकत्वसम्भवादिति भावः।

(चित्र०)

रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः ।
पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति ॥

अत्र वाचकोपमेययोर्लोपः। रूपयौवनेत्यादिस्वविशेषणसामर्थ्यात् स्वात्मानं पुष्पायुधमिवाचरतीत्यस्यार्थस्य गम्यमानत्वात् स्वात्मन उपमेयस्य लोपः कवेरैच्छिकः। न चैष इत्युपमेयस्योपादानमस्तीति शङ्क्यम्, तस्य कर्मविभक्त्यभावेन पुष्पायुधीयतीत्यत्रोपमेयासमर्पकत्वात्। अत्रैव हरिणस्याक्षिणी इवायते अक्षिणी आसामित्यस्मिन्नर्थेऽनुशिष्टे हरिणाक्षीणामिति पदे धर्मोपमानवाचकानां लोपः। सर्वोऽप्ययं 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इत्यादिशास्त्रकृत एव लोपः। त्रिलोपे धर्मलोपस्त्वैच्छिकोऽपि संभवति। यथा—

'यच्चोराणामस्य च' इति श्लोकस्य द्वितीयपाठे समासार्थोपमायाम्। एवं लुप्ताया अष्टौ विधाः प्रदर्शिताः।

(भारती)

जिसका आकार रूप, यौवन और लावण्य के कारण अत्यन्त स्पृहणीय है, ऐसा यह नायक मृगनयनियों के सामने अपने तईं कामदेव सा व्यवहृत करता है।

इस उदाहरण में वाचक और उपमेय का लोप है। रूप, यौवन इत्यादि में 'स्व' विशेषण के सामर्थ्य से अपने को 'पुष्पायुध' की तरह आचरण करता है। इस अर्थ का गम्यमान होने से 'स्वात्मन' उपमेय का लोप कवि का ऐच्छिक है। यह उपमेय का उपादान कारण है, ऐसी आशंका भी आप नहीं कर सकते; क्योंकि उसका कर्म विभक्ति के अभाव से 'पुष्पायुधीयति' में उपमेय का असमर्पकत्व है।

यहाँ ही 'हरिणी की आँखों के समान आयत हैं इसकी आंखें' इस अर्थ में अनुशिष्ट 'हरिणाक्षीणाम्' इस पद में धर्मोपमान वाचकों का लोप है। इन सबों में 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इस सूत्र में समास का लोप है। इस त्रिलोप में धर्म का लोप तो ऐच्छिक है। जैसे, 'यच्चौराणामस्य च' इस श्लोक के द्वितीय पाठ में समासार्थ उपमा में धर्म का लोप हुआ है। इस प्रकार लुप्ता उपमा के आठ भेद दिखाए गए।

(सुधा)

वाचकोपमेयलुप्तां दर्शयति—रूपेति। रूपयौवनयोर्लावण्येन शोभाविशेषेण अतिस्पृहणीया आकृतिर्यस्य एष हरिणाक्षीणां पुरतः 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः। पुष्पायुधीयति=पुष्पायुधमिवात्मानमाचरति। अत्र रूपयौवनेत्यादिविशेषणेन स्वात्मन उपमेयस्य सादृश्यवाचकेन सह लोपाद् वाचकोपमेयलुप्ता। स चोपमेयलोपः कवेरैच्छिकः, आत्मानमित्यस्योपादातुं शक्यत्वात्। एष इत्यस्य तु प्रथमान्तस्य उपमेयता न सम्भवति, उपमानस्य कर्मविभक्त्यन्तत्वेन तन्निरूपितोपमेयत्वस्य प्रथमान्तत्वेनासमर्थ-

त्वात् । अत्र त्रिलुप्तामपि दर्शयति—अत्रैवेति । हरिणस्याक्षिणी इवायते अक्षिणी आसामिति विग्रहे 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इति समासः । तेन आयतेति धर्मस्य, हरिणेत्युपमानस्य, इवेति वाचकस्य चानुपादानेन धर्मोपमानवाचकलुप्ता । अत्र सर्वेषां लोपस्य समासविधायकेन विधानाच्छास्त्रीयत्वमित्याह—सर्वोऽपीति । वस्तुतः त्रिलुप्तायां धर्मलोपस्य शास्त्रीयत्वमेवेति नियमो नास्तीत्याह—त्रिलोप इति । द्वितीयपाठे 'किमिति ब्रूमो वयमिदम्' इति पाठे इत्यर्थः । समासेति = काकागमनमिव, तालपतनमिवेति, काकतालमित्यत्रेत्यर्थः । प्रकरणमुपसंहरति—एवमिति । यत्तु, रसगङ्गाधरे एतत्पद्यनिर्माणमुद्दिश्य इदञ्च पद्यमपशब्ददुष्टमवैयाकरणतां कर्तुः प्रकाशयति । तथा हि—पुरत इति नगरवाचिनः पुरशब्दात्तसिलि, तासां नगरादित्यर्थासङ्गतेः । न हि पूर्ववाचकः पुरशब्दः क्वापि श्रूयते । पूर्वशब्दात्तु 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' इत्यसौ पुरादेशे च पुर इति वाच्यं न पुरत इति । अत एव 'अमुं पुरः पश्यसि' इति महाकविः प्रायुङ्क्त । एवमेव 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इति अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे तैरपशब्दितम् । तथा चाहुर्वैयाकरणाः । 'पश्या पुरतः परतः' 'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि' 'पुरतः सुदती समागतं माम्' इत्यादयः सर्वेऽपि व्याकरणाज्ञानमूला अपशब्दाः' इति प्रतिपादितम् । तदप्ययुक्तमेव; पुरत इत्यस्यापशब्दत्वं किमनुशासनाभावात् कल्प्यते अप्रयोगाद्वा ? नाद्यः, 'पुर अग्रगमने' इति धातोः घञर्थे कविधानमिति कप्रत्यये सार्वविभक्तिकतसा तत्सिद्धावनुशासनसत्त्वात् । किञ्च 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' इत्यत्रातिसुजैव पुंवद्भावविधानेन सिद्धेरतसुचो विधानमन्यतोऽपि तद्विधानं ज्ञापयति । तेन क्विबन्तात् पुरधातोरतसुच् । न च 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घापत्तिः, भसंज्ञासत्त्वेन दीर्घाप्रवृत्तेः । चित्त्वप्राप्तमन्तोदात्तं बाधित्वा पाक्षिकाद्युदात्तार्थं तद्विधानमिति व्याख्यानापेक्षया तु यथोक्तज्ञापनस्यैव युक्तत्वात् । न च विनिगमकाभावः, लघ्वानुरोधस्यैव तत्सम्भवाच्च । 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरसिंहेन निपातान्तरत्वस्य स्वीकाराद्नुशासनस्य सम्भवाच्च । नान्त्यः, 'इयञ्च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' इत्यादेर्महाकविकालिदासेनैव प्रयुक्तत्वात् । 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' इत्यादेर्भवभूतेः प्रयोगाच्च । यत्तु, दुर्घटवृत्तिकारेण 'पिपर्तेर्भावे कविधानोत्तरं तसिल्प्रत्ययेन तत्सिद्धिः' इति तत्समर्थनं कृतम् । तत्प्रकृतार्थानुपयोगादयुक्तमेवेति दिक् ।

(चित्र०)

काव्यप्रकाशिकाकारादिभिस्तु पूर्णायाः षड्विधाः, लुप्तायास्तु धर्मलुप्तादिष्ववान्तरभेदेन कैश्चिदेकोनविंशतिरन्यैर्विंशतिविधाः प्रदर्शिताः । तत्रायं विभागः—पूर्णा तावद् द्विविधा—श्रौती आर्थी च । सादृश्यमात्रवाचकयथेवादिशब्दवती श्रौती । सादृश्यविशिष्टधर्मिपर्याप्ततुल्यसदृशसङ्काशादिशब्दवती आर्थी । द्विविधापि वाक्ये समासे तद्धिते चेत्येवं षड्विधा पूर्णा । धर्मलुप्तापि पूर्णवदेव विभागवती । किन्तु श्रौती तद्धिते न सम्भवतीत्येवं पञ्चविधा । वाचकलुप्ता कर्मकर्तृणमुलोः कर्माधिकरणक्यचोः क्यङि णिनौ समासे चेत्येवं सप्तविधा । उपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधा । धर्मवाचकलुप्ता क्विप्समासयोर्द्विविधा । धर्मोपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधा। उपमेयवाचकलुप्ता क्यचि एकविधा । धर्मवाचकोपमानलुप्ता समास एवैकविधेति ।

(भारती)

चन्द्रालोक इत्यादि के मतानुसार उपमा के भेद प्रदर्शित कर मम्मट प्रभृति आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपमा के भेद प्रदर्शित करते हैं। उनके अनुसार उपमा दो प्रकार की होती है— पूर्णा और लुप्ता। उनमें से पूर्णा उपमा श्रौती और आर्थी दो भेदों में विभक्त है।

श्रौती—श्रौती उपमा उसे कहते हैं, जहाँ **'तत्र तस्यैव'** इस सूत्र से 'इव' के अर्थ में अर्थात् सादृश्यप्रयोजक साधारण धर्मसम्बन्ध रूप अर्थ में 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त रहा करता है।

आर्थी—आर्थी उपमा उसे कहते हैं, जहाँ **'तेन तुल्यम् क्रिया चेद्वतिः'** इस सूत्र से तुल्य के अर्थात् सामान्य सादृश्य रूप अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग रहा करता है।

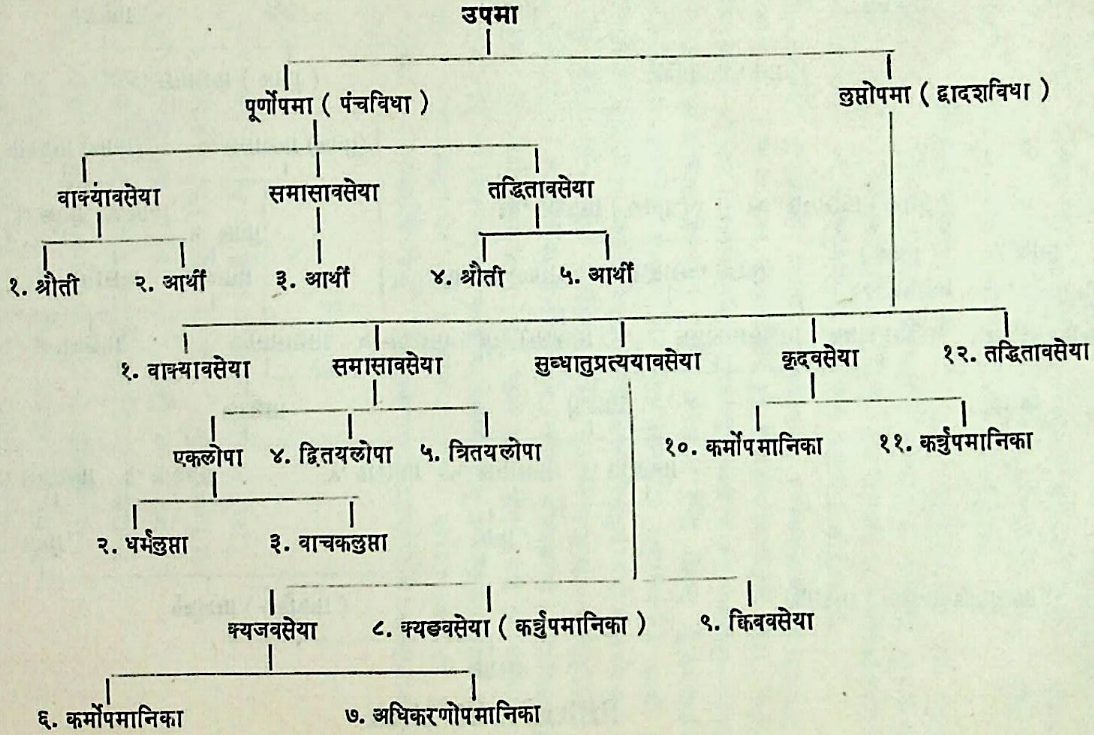
श्रौती और आर्थी उपमा की व्याख्या मम्मट ने इस प्रकार की है—

(१) श्रौती—इस उपमा को श्रौती' इसलिए कहा गया है कि इसमें उपमानोपमेयभाव 'यथा' 'इव' 'वा' आदि शब्दों के श्रुतिमात्र से ही प्रतीत हुआ करता है। इन शब्दों की अभिधा शक्ति ऐसी है कि इन्हीं के द्वारा, केवल इनके श्रवणमात्र से ही, उपमान और उपमेय के 'साधर्म्य' रूप सम्बन्ध की भी उसी प्रकार प्रतीति कराई जाती है जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति के द्वारा स्व-स्वाभिभाव रूप सम्बन्ध की।

(२) आर्थी—इस प्रकार की उपमा को 'आर्थी' इसलिए कहा गया है कि इस प्रकार की उपमा में 'तुल्य' आदि शब्दों का जो प्रयोग हुआ करता है उसमें साधर्म्य की प्रतीति आक्षेपगम्य हुआ करती है—(शब्दलभ्य अथवा साक्षात्गम्य नहीं)। क्योंकि तुल्य आदि शब्द ऐसे हैं कि जब हम कहते हैं 'उसका कमल के तुल्य मुख है' तब केवल ये उपमेय मुख का ही निर्देश कर अपना अर्थ समाप्त कर देते हैं। जब हम कहते हैं 'वह कमल तुल्य है इस मुख के' तब ये उपमान 'कमल का ही निर्देश कर अपना सादृश्य अभिप्राय समाप्त करते दिखाई देते हैं। जब हम कहते हैं—'यह मुख और वह कमल तुल्य हैं' तब वे दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय का निर्देश कर अपना सादृश्य रूप अर्थ बताकर चुप हो जाते हैं। इस प्रकार होता यह है कि जब हम साम्य अथवा साधर्म्य अर्थात् साधारण धर्म रूप सम्बन्ध का अनुसंधान कर चुकते हैं, तभी तुल्यता अथवा सादृश्य की प्रतीति हुआ करती है, अर्थात् यहाँ साधर्म्य शब्द प्रतिपाद्य नहीं अर्थलभ्य हुआ करता है। वस्तुतः—श्रौती में साधर्म्य की शब्दलभ्य प्रतीति और आर्थी में साधर्म्य की अर्थलभ्य प्रतीति का होना इस विभाग के मूल में है।

ये दोनों (श्रौती और आर्थी) ही वाक्य, समास और तद्धित के क्षेत्र में संभव हैं। अतः इनके छः भेद हैं—**१. वाक्यगा श्रौती, २. वाक्यगा आर्थी, ३. समासगा श्रौती, ४. समासगा आर्थी, ५. तद्धितगा श्रौती** और **६. द्धितगा आर्थी**। धर्मलुप्ता भी पूर्णा की ही तरह विभागवती है। किन्तु श्रौती उपमा तद्धित में संभव नहीं है, अतः यह पाँच प्रकार की है वाचकलुप्ता कर्म और कर्तृ से णमुल, कर्म और अधिकरण से क्यच्, क्यङ्, णिनि और समास में होकर सात प्रकार की है। उपमानलुप्ता—वाक्य और समासगत होकर दो प्रकार की है। धर्मवाचकलुप्ता—क्विप् और समास में दो प्रकार की है। धर्मोपमानलुप्ता—वाक्य और समासगत होकर दो प्रकार की है। उपमेयवाचकलुप्ता—क्यच् में केवल एक प्रकार की है। धर्मवाचकोपमानलुप्ता भी केवल समासगत होकर एक प्रकार की है। इस कथन की पुष्टि में दीक्षित जी प्रमाणस्वरूप कारिका १–५ उपस्थित करते हैं, (द्र० पृष्ठ ११३–११४) जिसके अर्थानुसार लुप्ता उपमा के अधोंकित भेद हैं (द्र० पृष्ठ ११४)—

उद्भट-उपमा-निरूपण



मम्मट-उपमा-विभागः

उपमा

- पूर्णोपमा (षड्विधा)
  - श्रौती
    - १. वाक्यगा
    - २. समासगा
    - ३. तद्धितगा
  - आर्थी
    - ४. वाक्यगा
    - ५. समासगा
    - ६. तद्धितगा
- लुप्तोपमा (एकोनविंशतिविधा)
  - एकलुप्ता
    - धर्मलुप्ता
      - वाक्यगा
        - १. श्रौती
        - २. आर्थी
      - समासगा
        - ३. श्रौती
        - ४. आर्थी
      - तद्धितगा
        - ५. आर्थी
    - उपमानलुप्ता
      - ६. वाक्यगा (आर्थी)
      - ७. समासगा (आर्थी)
    - वाचकलुप्ता
      - ८. समासगा (आर्थी)
      - सुब्धातुप्रत्ययगा
        - क्यज्गा
          - ९. कर्मोपपदक्यज्गा (आर्थी)
          - १०. अधिकरणोपपदक्यज्गा (आर्थी)
        - क्यङ्गा
          - ११. कर्त्रुपपदक्यङ्गा (आर्थी)
        - णमुल्गा
          - १२. कर्मोपपदणमुल्गा (आर्थी)
          - १३. कर्त्रुपपदणमुल्गा (आर्थी)
  - द्विलुप्ता
    - धर्मवाचकलुप्ता
      - १४. क्विप्गा (आर्थी)
      - १५. समासगा (आर्थी)
    - धर्मोपमानलुप्ता
      - १६. वाक्यगा (आर्थी)
      - १७. समासगा (आर्थी)
    - धर्मोपमेयलुप्ता
      - १८. क्यज्गा (आर्थी)
  - त्रिलुप्ता
    - धर्मोपमानवाचकलुप्ता
      - १९. समासगा (आर्थी)

(सुधा)

एवं चन्द्रालोकादिमतानुसारेणोपमाविभागं प्रदर्श्य मम्मटादिप्रतिपादितोपमाविभागं प्रदर्शयितुं तन्मतं प्रतिपादयति—काव्यप्रकाशिकाकारादिभिस्त्वित्यादिना। पूर्णायाः षड्विधात्वम्, लुप्ताया धर्मलुप्तादिष्ववान्तरभेदैरेकोनविंशतिभेदत्वम्, मतान्तरे विंशतिभेदत्वं तैः प्रदर्शितम्। तथा च तत्प्रतिपादकानि प्रकाशसूत्राणि—

पूर्णा लुप्ता च साग्रिमा। श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये तथा। तद्वद् धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः। उपमानानुपादाने वाक्यगाथ समासगा॥ वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि। कर्मकर्त्रोर्णमुल्येतद् द्विलोपे क्विप्समासगा॥ धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते। क्यचि वाद्युपमेयासे त्रिलोपे च समासगा॥ इति॥"

श्रौती, आर्थीति पूर्णाभेदयोः प्रत्येकं त्रिविधत्वम्, वाच्यसमासतद्धितगतत्वात्। एवं षड्विधा पूर्णा। धर्मलोपे पञ्च, उपमानलोपे द्वौ, वाचकोपमेययोर्लोपे चैकः, त्रिलोपे त्वेकः, एवमूनविंशतिर्लुप्तेति तन्मतविभागः। एतद्रीत्या स्वयमपि तद्विभागमाह—तत्राय-मिति। तत्र प्रकाशादौ उपमायां वेत्यर्थः। पूर्णेति श्रौत्यार्थी चेति भेदाद् द्विविधेत्यर्थः। श्रौतीस्वरूपमाह—सादृश्यस्यैव वाचका ये यथेवादिशब्दाः। तद्वतीत्यर्थः। आर्थी तु सादृश्यविशिष्टो यो धर्मी, तत्पर्यवसाना ये तुल्यसदृशादिशब्दास्तद्वतीत्यर्थः। तयोः प्रत्येकं त्रिविधत्वमाह द्विविधापीति। एवं पूर्णाभेदाः षट्। लुप्ताविभागमाह—धर्मलुप्तापीति। पूर्णावदेव विभागयुता। तत्र विशेषमाह-किन्त्विति। तद्धिते श्रौत्यभावः। इवार्थवतेस्तत्र तस्येवेत्यर्थकतया नित्यधर्मसाकाङ्क्षत्वात् तेन धर्मलुप्ताया भेदाः पञ्च। कर्मणमुल्, कर्तृणमुल्, कर्मक्यच् अधिकरणक्यच्। क्यङ्णिन्समासभेदाद् वाचकलुप्ताभेदाः। सप्त। वाक्यसमासगतत्वेनोपमानलुप्ताभेदौ द्वौ। क्विप्समासगतत्वे धर्मवाचकलोपेऽपि द्वौ। वाक्यसमासभेदाद् धर्मोपमानलोपेऽपि द्वौ। उपमेयवाचकलुप्ता क्यच्येकैव। समासगतत्वेन त्रिलुप्तापि तथा।

(चित्र०)

यदाहुः—

(१) पूर्णा लुप्ता च सा द्वेधा श्रौत्यार्थी चेति ते पुनः।
द्विविधे प्रथमा वाक्ये समासे तद्धिते भवेत्॥
(२) तद्वल्लुप्तापि धर्मस्य लोपे श्रौती न तद्धिते।
इवादिलोपे द्विविधे णमुलि क्यचि च क्यङि॥
(३) तथा णिनौ समासे च सप्तधा परिकीर्तिता।
उपमानस्य लोपे तु द्विधा वाक्यसमासयोः॥
(४) इवादिधर्मलोपेऽपि द्विविधा क्विप्समासयोः।
धर्मोपमानयोर्लोपे वाक्यगा च समासगा॥
(५) इवादेरुपमेयस्य द्वयोर्लोपे भवेत् क्यचि।
इवादिधर्मोपमानलोपे त्वेषा समासगा॥ इति।

अत्रोदाहरणानि तन्मतरीत्या संगृह्यास्माभिर्लिख्यन्ते—

८ चित्र०

(भारती)

उपमा दो प्रकार की होती है—पूर्णा और लुप्ता। पूर्णा—श्रौती और आर्थी दो भेदों में विभक्त है और उन भेदों से प्रत्येक भेद वाक्यगामी, समासगामी और तद्धितगामी तीन प्रकार के हैं। अतः पूर्णोपमा छः प्रकार की होती है। अब रही लुप्तोपमा—वह उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, और धर्मोपमानवाचकलुप्ता इस तरह सात प्रकार की है। उनमें उपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की है। धर्मलुप्ता श्रौती समासगता, आर्थी समासगता, श्रौतीवाक्यगता, आर्थीवाक्यगता और आर्थी तद्धितगता इस तरह ५ प्रकार की है। यह उपमा श्रौती तद्धितगता नहीं होती। वाचकलुप्ता समासगता, कर्मक्यङ्गता, आधारक्यज्गता, क्यङ्गता, कर्मणुमुल्गता और कर्तृणमुल्गता इस तरह छः प्रकार की है। धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की है। वाचकधर्मलुप्ता भी क्विब्गता और समासगता इस प्रकार दो ही प्रकार की है। वाचकोपमेयलुप्ता एक प्रकार की है। धर्मोपमानवाचकलुप्ता भी एक प्रकार की ही है—समासगता। इस तरह कुल मिलाकर लुप्ता उपमा के कोई २० तथा कुछ लोग २१ भेद मानते हैं।

यहाँ उदाहरण उनके मत की रीति से संग्रह कर लिखे गये हैं—

(सुधा)

अत्र विभागे प्रमाणमाह—यदाहुरिति। पूर्णेत्यारभ्य समासगेत्यन्तं श्लोकपञ्चकं विभागव्याख्ययैव व्याख्यातम्। तत्र 'चन्द्र इव मुखम्' इति श्रौती, 'चन्द्रतुल्यं मुखम्' इत्यार्थीति बोध्यम्। विभागानुसारेणोदाहरणानि वक्तुमुपक्रमते—अत्रेति। उपमाविषय इत्यर्थः। तेनान्यत्र स्वकृतोदाहरणाभावेऽपि न क्षतिः।

(चित्र०)

'यस्याज्ञा शिरसोह्यते सुमनसां वृन्दैर्यथा मालिका
बद्ध्वा मुञ्चति यः पशूनिव जनान् यस्याभ्रवद्वैभवम्।
हृद्यं शेवधिना समं हृदि भजन्त्यानन्दसारोपमं
यं धन्याः शशिवत् प्रसन्नवपुषे तस्मै नमः शम्भवे॥

अत्र षड्विधापि पूर्णा दर्शिता। तत्र प्रथमवाक्ये वाक्यगा श्रौती, द्वितीयवाक्ये समासगा श्रौती, 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति वार्तिककृद्वचनेन पशूनिवेत्यस्य समासपदत्वात्। तृतीयवाक्ये तद्धितगा श्रौती। अभ्रवदिति षष्ठीसमर्थाद्वतेः 'तत्र तस्येव' इति सूत्रेणेवार्थे विहितत्वात्। 'हृद्यं शेवधिना समं हृदि भजन्ति' इत्यत्र वाक्यगा आर्थी, 'आनन्दसारोपमम्' इत्यत्र समासगा आर्थी। हृद्यमिति विशेषणमत्राप्यपेक्ष्यते। अन्यथा धर्मलुप्तैव स्यान्न पूर्णा। शशिवदित्यत्र तद्धितगा आर्थी। तत्रत्यवतेः 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति तुल्यार्थे विहितत्वात्।

(भारती)

'देवताओं के समूह अपने मस्तक पर जिसकी आज्ञा माला की तरह ढोते हैं, जो मनुष्यों को पशु की तरह बाँधकर छोड़ते हैं, जिसके भ्रू-विलास में सारा ऐश्वर्य है, शेवधि की तरह वह

हृदय धन्य है, जिससे लोग उसका भजन करते हैं, आनन्दस्वरूप चन्द्रमा की तरह प्रसन्न शरीर है जिसका, ऐसे शंकर को मेरा प्रणाम है।

इस उदाहरण में ६ प्रकार की पूर्णा उपमा प्रदर्शित हैं। प्रथम वाक्य में 'जिसकी आज्ञा' इत्यादि में श्रौती पूर्णा उपमा है। दूसरे वाक्य 'पशु की तरह' में **'इवेन नित्यसमासः'** इस वार्त्तिक के बल से समास के द्वारा एक पद होने के कारण समासगा श्रौती है। तृतीय वाक्य में तद्धितगा श्रौती है। **'अभ्रवद् इति षष्ठीसमर्थाद्वते'** तथा **'तत्र तस्येव'** इस सूत्र द्वय से 'इव' का अर्थ विहित है। **'हृद्यं शेवधिना समं हृदि भजन्ति'** यहाँ वाक्यगा आर्थी है। **'आनन्दं सारोपमम्'** यहाँ समासगा आर्थी है। यहाँ भी 'हृद्यं' इस विशेषण की अपेक्षा है। अन्यथा यहाँ भी धर्मलुप्ता उपमा हो जायेगी, न कि पूर्णा। **'शशिवत्'** यहाँ तद्धितगा आर्थी है। क्योंकि यहाँ **'तत्रत्यवतेः तेन तुल्यम् क्रिया चेद्वतिः'** इस सूत्र से तुल्य का अर्थ विहित है।

(सुधा)

तत्र प्रथमं पूर्णायाः षड् भेदानेकेनैव श्लोकेन दर्शयति—यस्येति। सुमनसां वृन्दैः शिरसा यस्य आज्ञा माला यथा मालेव उह्यते। यो जनान् पशूनिव बद्ध्वा मुञ्चति, यस्याभ्रवद्वैभवमस्ति, धन्याः शेवधिना समं हृद्यं यं हृदि भजन्ति। कीदृशमानन्दसारोपमं शशिवत् प्रसन्नवपुषे तस्मै शम्भवे नमः।

पूर्णायाः षट् प्रकारान् दर्शयति—अत्रेति। अत्रोदाहरणे षड्विधापि पूर्णा दर्शिता। तत्र प्रथमवाक्ये यस्याज्ञेत्यादौ वाक्यगा श्रौती, चतुर्णां पृथक् पृथगुपात्तत्वात्। द्वितीयवाक्ये समासगा श्रौती, 'इवेन नित्यसमासः' इत्यादिवार्तिकबलेन पशूनिवेत्यस्य समासेनैकपदत्वात्। तृतीयवाक्ये तद्धितगा श्रौती, षष्ठीसमर्थाद्वतेरभ्रवदित्यत्र 'तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितत्वात्। 'हृद्यं शेवधिना समम्' इत्यत्र वाक्यगा आर्थी, 'आनन्दसारोपमम्' इत्यत्र समासगा आर्थी। अत्रापि हृद्यमिति विशेषणापेक्षा, अन्यथा धर्मलुप्तत्वापत्तेः। शशिवदित्यत्र तद्धितगार्थी, 'तेन तुल्यम्' इत्यादिसूत्रेण तुल्यार्थे वतेर्विधानात्। ननु यथादीनां सादृश्यार्थकत्ववत् समादेरपि सादृश्यार्थकतया वैषम्याभावात् 'यस्याज्ञा' इत्यादौ श्रौती; 'हृद्यं शेवधिना समम्' इत्यत्र त्वार्थीति विभागकरणमनुपपन्नमिति चेत्—अत्र केचित्—इवादीनामुपमानोपमेययोः शक्त्या धर्मसम्बन्धप्रतिपादनम्, तुल्यादिभिस्तु धर्ममात्रमिति तद्विशेषं वदन्ति। तन्न; यथेवादीनामुपमानविशेषणत्वनियमेन तैरप्युपमान एव साधारणधर्मसम्बन्धस्य बोधयितुं शक्यत्वात्। अन्यविशेषणस्यान्यत्र सम्बन्धबोधकत्वाभावेनोपमेये तद्बोधनस्याशक्यत्वात्। चैत्रस्य धनमित्यत्र चैत्रपदोत्तरषष्ठ्या चैत्रस्य स्वामित्वम्, धनस्य स्वत्वं शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्यथा बोध्यते, तथा यथेवादिपदेनोभयत्र तद्बोधनान्नानुपपत्तिः।

नचवमुपमानोपमेययोर्भेदान्वयः कथमिति वाच्यम्, प्रकारीभूतविभक्त्यर्थसम्बन्धस्यैव फलानुरोधाद् नामार्थयोर्भेदान्वये प्रकारीभूतनिपातार्थसम्बन्धस्यापि हेतुताकल्पनात् सदृशचन्द्रीयं मुखमिति बोधः। षष्ठ्यर्थस्वामित्ववादिनां प्राचां मते प्रकारीभूतविभक्त्यर्थसम्बन्धेन चैत्रादेर्धनादावन्वयात् 'स्वामिचैत्रीयं धनम्' इतिवत्। एवञ्च 'मुखं पद्मञ्च तुल्यम्' इत्यनेनोभयत्र सादृश्यप्रत्ययादिविशेषे यथेवादिश्रुतिः साधारणधर्मविशेषरूपाह्लादकत्वसम्बन्धमप्राप्य न पर्यवस्यति। तुल्यादिपदश्रुतिस्तु धर्मविशेषसम्बन्धावगमं विनापि सामान्यतः साधर्म्यमात्रेण पर्यवस्यति। तथा हि—'पद्ममिव मुखम्' इत्यादावुपात्तस्या-

चित्तस्य वा रमणीयत्वादेः सम्बन्धं विषयीकृत्य पर्यवसानम्, इवादीनां धर्मविशेषसम्बन्ध एव शक्यत्वाङ्गीकारात्। तुल्यादिशब्दास्तु नैवं 'पद्मेन तुल्यम्' इत्यत्रोभयत्रापि सामान्यतस्तुल्यत्वं बोधयित्वा विश्रान्तेषु तेषु धर्मविशेषं विना कथं तुल्यतेति प्रतीत्यनुपपत्त्या धर्मविशेषसम्बन्धप्रतीतेः। तस्मात् प्रतीत्यनुपपत्त्या प्रतीतानुपपत्त्या च सम्बन्धबोधे विशेषाच्छ्रौतार्थविभाग इति प्रदीपादयः।

महेश्वरादयस्तु—चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यमिवार्थः, 'घटो न' इत्यत्र घटप्रतियोगिकाभावस्य नञर्थतावत् सादृश्यमात्रस्य इवार्थत्वे चन्द्रसादृश्यमित्यादिवच्चन्द्रस्येव मुखमित्यापत्तेः। इवादेः सादृश्यमात्रवाचकतया ततः षष्ठ्यर्थभूतसम्बन्धालाभेन तद्बोधाय षष्ठीप्रयोगावश्यकत्वात्। अस्मद्रीत्या सादृश्यप्रतियोगितायाः इवादिपदवाच्यतया षष्ठ्यपेक्षाया अभावात्। अतो निपातस्थलेऽन्विताभिधानम्, न तुल्यादिपदेष्विति तयोर्विशेषं वदन्ति। तन्न, दृष्टान्तस्यासम्भवात्, असमस्तनञोऽभावमात्रपरत्वेन प्रतियोगित्वांशस्य संसर्गमर्यादयैव प्रतीतेः, घटपदस्यैव तत्प्रतियोगिकाभावपरत्वे नञस्तात्पर्यग्राहकतायाः सुवचत्वाच्च। तस्मात् 'चन्द्र इव' इत्यादौ प्रतियोगितायाः संसर्गतयैव लाभेन षष्ठ्यभावाच्चन्द्रस्य सादृश्यमित्यत्र संसर्गतया तद्भानसम्भवात् षष्ठीत्यस्य सुस्थतया चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्येन इवपदस्य शक्तिः, घटप्रतियोगिकाभावे न वा नञादेः शक्तिरित्येव योग्यमिति दिक्।

चक्रवर्तिनस्तु—चन्द्र इव मुखमित्यादावुभयविशेष्यक एव बोधः। 'यथा चन्द्रस्तथा मुखम्' इत्यत्र 'यादृशधर्मवान् चन्द्रः' तादृशधर्मवन्मुखमितिवत्। अत एव 'हंसीव धवलश्चन्द्रः' इत्यादौ यादृशधावल्यवती हंसी तादृशधावल्यवांश्चन्द्र इति बोधे पुंल्लिङ्गधवलपदस्य हंस्यामन्वयाभावाद् दोषत्वोपपत्तिः। अन्यथा हंसीसदृशश्चन्द्रः इत्यन्वयसम्भावाद् दोषत्वानुपपत्तेः। एवञ्चोपमानोपमेययोः द्वयोरपि साधर्म्यस्य शाब्दत्वाच्छ्रौतीत्वम्। 'चन्द्रेण तुल्यं मुखं मनोज्ञम्' इत्यादौ 'मुखस्य तुल्यश्चन्द्रः' इत्यादौ च भिन्नविभक्तित्वेन तयोः साधर्म्यस्य शब्दादप्रतीतेरार्थीत्वम्, पद्मं 'मुखञ्च तुल्यं मनोज्ञम्' इत्यादौ चोभयत्र सादृश्यप्रतीतावुपमानोपमेयभावसम्बन्धस्य प्रसिद्धिवशादेव लाभ इत्यार्थत्वात्तत्त्वमित्याहुः। तदपि न, साधर्म्यस्यार्थत्वेन तुल्यादिपदोपादाने त्वार्थीति काव्यप्रकाशविरोधापत्तेः। 'चन्द्र इव मुखं मनोज्ञम' इत्यादावपि दुष्टत्वापत्तेः। तत्र नपुंसकैकशेषे तु 'कुवलयमिव श्यामः कटाक्षः' इत्यादीनां दुष्टत्वापत्तेः। 'दृष्टः पुंनपुंसकयोः प्रायेण' इति वामनोक्तेरुभयत्र समत्वात्। अपरे तु—'चन्द्र इव मुखम्' इत्यत्र चन्द्रप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरणचन्द्रवृत्तिधर्मवन्मुखमिति धीः। तत्र रमणीयपदोपादाने तादृशचन्द्रवृत्ति यद्रमणीयत्वं तदाश्रयो मुखमिति बोधः। साधारणधर्मस्य इवशब्देनोभयनिष्ठतायाः प्रतिपादनाच्छ्रौतीत्वम्। तत्र समानाधिकरणादुपमेयवृत्तित्वं वृत्यन्तेनोपमानवृत्तित्वमिति विवेकः। साधारणधर्मप्रयोगस्थले तस्यैव इवपदेन रमणीयादिपदेन च बोधने एकस्य निराकाङ्क्षत्वेनान्वयानुपपत्तिस्तु, द्वाभ्यामेकस्यैवोपस्थापनान्न सम्भवति, 'चन्द्र इव मुखमाह्लादयति' इत्यत्र तु आह्लादकत्वमिवार्थ एव, धातोस्तात्पर्यग्राहकत्वस्य सुवचत्वात्। 'हंसीव धवलश्चन्द्रः' इत्यादेर्दुष्टत्वन्तु लिङ्गविशेषस्योपमायां विशेषानुपपादकत्वेन तत्प्रयोगस्यानर्थकत्वादेव। तस्यैव सहृदयहृदयोद्वेजकत्वात् नियतलिङ्गेषु तदभावान्न दोषः। तेन 'कुवलयमिव श्यामः कटाक्षः' इत्यादौ न दुष्टतेति। 'चन्द्रेण तुल्यं मुखम्' इत्यत्र तुल्यपदस्य सादृश्यवानर्थः, केवलसादृश्ये तदप्रयोगात्, सादृश्याभिन्नं मुखमिति बोधापत्तेश्च, नामार्थयोरभेदान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्। तदेकदेशसादृश्यस्य च चन्द्रप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरण-

धर्मश्चार्थः, आश्रयत्वं प्रत्ययार्थः। वृत्तित्वञ्च तृतीयार्थः 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रात्। अत एव 'चन्द्र-इव मुखं भाति' 'चन्द्रमिव मुखं पश्यामि' चन्द्रेणेव मुखेन कृतम्' इत्यादावुभयोः समानविभक्तिकतानियमेऽपि 'चन्द्रेण तुल्यं मुखं भाति' इत्यादौ न नियमः, पूर्वसूत्रेण बाधात् चन्द्रधर्मयोर्नामार्थतया आश्रयतासम्बन्धेन धर्मे चन्द्रान्वयानुपपत्तेः। ततः समानाधिकरणत्वस्य चन्द्रवृत्तित्वस्य च धर्मेऽन्वयः, तस्य चाश्रये। तथा च चन्द्रान्योन्याभावसमानाधिकरणचन्द्रवृत्तिधर्माश्रयाभिन्नं मुखमिति बोधः। अत्रोपमेयवृत्तित्वं धर्मोपस्थापकपदस्य उपमानवृत्तित्वं च तृतीयाया अर्थः। अत उभयं धर्मवाचकपदार्थो न भवतीत्यत आर्थीत्युच्यते, उभयत्र बोधसाम्येऽपि भिन्नपदप्रतिपाद्यत्वस्यैव विभागमूलत्वात्। नन्वेवमपि अव्ययविशेषणानां नपुंसकता भवतीत्यनुशासनादिवार्थविशेषणचन्द्रादेर्नपुंसकत्वापत्तिरिति चेत्, शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा, मृगीव चपला मृगीचपला इत्यादिभाष्यकारादिप्रयोगसामर्थ्यबलेनोपमानवृत्तिलिङ्गस्य विधानेन दोषाभावात्। तस्माद्धर्मोपस्थापकपदस्यैवोभयत्र सम्बन्धबोधकत्वे श्रौती, अन्यत्र तु आर्थीति। उपमानादिवृत्तित्वविशिष्टनियतशाब्दबोधविषयत्वस्य श्रौतीत्वात्, इवादौ तथा नियमात्। तुल्यादौ तु 'चन्द्रेण तुल्यं मुखम्' इत्यत्र तथात्वेऽपि 'चन्द्रो मुखञ्च तुल्यम्' इत्यत्र च शब्दवाच्येतरेतरयोगबलेन द्वयोर्युगपदन्वयावगमेन चन्द्रप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरणतद्वृत्तिधर्मवन्मुखम्, मुखान्योन्याभावसमानाधिकरणतद्वृत्तिधर्मवांश्चन्द्रः इति बोधः। अत्र प्रकृतत्वादिनैवोपमानोपमेयभावप्रतीतेः विलम्बादिति काव्यप्रकाशाशय इत्याहुः। इवादिभिः सादृश्यमनुयोगितासम्बन्धेन बोध्यते। तुल्यादिभिस्तु सदृशाभेदेनेति विभाग इत्यपि केचित्। तुल्यादिपदेष्वपि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन सादृश्यस्यैव विधेयत्वान्नेदं सम्यगित्यन्ये। सादृश्यमुख्यविशेष्यकज्ञानजनकपदप्रयोगे श्रौती, अन्यत्रार्थीति ग्रन्थकाराभिप्राय इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

(चित्र०)

मूर्तिर्यथा नवसुधा बलभिन्मणीव कण्ठप्रभा सुसदृशश्च जटास्तडिद्भिः।
शङ्खाक्षि काञ्चननिभं पदमब्जदेश्यं यस्यैष मेऽस्तु हृदि दैवतसार्वभौमः॥

अत्र पञ्चविधापि धर्मलुप्ता दर्शिता। तत्र मूर्तिर्यथा नवसुधेति वाक्यगा, बलभिन्मणीव कण्ठप्रभेति समासगा श्रौती। उभयत्रापि भातीत्यादिक्रियाप्रयोगे सैव साधारणो धर्म इति धर्मलुप्ता न भवेत, अतस्तदप्रयोगः। श्रौती तु धर्मलुप्ता तद्धिते न संभवति। षष्ठीसमर्थात् सप्तमीसमर्थाद्वा इवार्थे विहितस्य वतेर्धर्मोपादानं विनान्वयसौकर्याभावात्। न च वाच्यम् 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यधिकारे इवार्थे विहितस्य तद्धितस्य धर्मोपादानं विना नैराकाङ्क्ष्यमस्ति। 'कुशाग्रीया बुद्धिः', 'शैलेयं दधि', 'पौण्डरीकं मुखम्' इति दर्शनात्। अतस्तत्र श्रौती धर्मलुप्ता तद्धित उदाहर्तुं शक्यत इति 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यधिकारे विहितप्रत्ययानां तुल्यार्थे एव विधानात्। अन्यथा तेषां सादृश्यविशिष्टधर्मिपर्यन्तत्वाभावेन कुशाग्रीया बुद्धिरित्याद्युपमेयसमानाधिकरण्यासंभवात् सादृश्यविधानमपि सदृशे पर्यवस्यति, सामानाधिकरण्यदर्शनादिति सूत्रे इवग्रहणं न विरुध्यते।

(भारती)

जिसकी मूर्त्ति नई सुधा की तरह है, जिनके कण्ठ की छवि इन्द्रनील मणि की तरह है, जिनकी जटायें बिजली की तरह सुन्दर हैं; जिनकी आँखें शंख की तरह आयत एवं सुन्दर हैं तथा जिनके चरण कमल के तुल्य हैं और जिनसे स्वर्णाभा छिटक रही है—ऐसे देवताओं के सार्वभौम भगवान शंकर मेरे हृदय में हों।

इस उदाहरण में पाँचों प्रकार की धर्मलुप्ता दिखाई गई है। इस श्लोक में **'मूर्तिर्यथा नव सुधेति'** इस पदवाक्य में वाक्यगा धर्मलुप्ता है। **'बलिभिन्मणीव कण्ठप्रभेति'** श्लोकांश में धर्मलुप्ता समासगता श्रौती है। दोनों स्थानों में भी 'भाति' इस क्रिया के प्रयोग में वही साधारण धर्म है—अतः धर्मलुप्ता न होने के कारण ही उसका इसमें प्रयोग नहीं किया गया। धर्मलुप्ता श्रौती तो तद्धित में संभव ही नहीं है, क्योंकि षष्ठी किंवा सप्तमी के सामर्थ्य से 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' क्रिया का धर्मोपादान के बिना भी अन्वय की सुलभता का अभाव है। क्योंकि उपमेय में उपमान संबंधबोधक का उसका साधारण धर्म प्रयोग के बिना उसकी अनुपपत्ति है। मान लें; यहाँ इवार्थक 'वति' के प्रयोग में श्रौती धर्मलुप्ता न हो, फिर भी इवार्थक तद्धितान्तर में तो वह दुर्निवार होगी; इस आशंका से **'नच वाच्यम्'** का प्रयोग किया है—

'इवे प्रतिकृतौ' इस अधिकार से **'कुशाग्राच्छः'** इस सूत्र से विधीयमान इवार्थक छः प्रत्यय का धर्मोपादान के बिना नैराकांक्ष्य की प्रतीति है। **'कुशाग्रीया बुद्धिः'**, **'शैलेयं दधि'**, **'पौण्डरिकं मुखम्'** इत्यादि प्रयोग स्पष्टतः दिखाई पड़ते हैं। अतः वहाँ श्रौती धर्मलुप्ता तद्धित का उदाहरण कह सकते हैं। क्योंकि 'इवे प्रतिकृतौ' इस सूत्र के अधिकार में विहित प्रत्ययों के तुल्यार्थ में ही विधान है। अन्यथा तुल्य अर्थपरता के अभाव में उनका सादृश्य विशिष्ट धर्मिपर्यन्तत्व के अभाव से समानाधिकरण्य के असंभव होने के कारण वहाँ उसकी अनापत्ति होगी। अगर 'इव' के अर्थ में उसका विशेष माना जाय तो सादृश्य में विधान करने पर भी सादृश्यपर्यवसान से उसका विरोध होगा ही।

(सुधा)

अथ पञ्चविधामपि धर्मलुप्तां श्लोकेन दर्शयति—मूर्तिरिति। यस्य मूर्तिर्नवसुधा यथा वर्तते, कण्ठस्य प्रभा बलभिन्मणीव = इन्द्रनीलमणिरिव, जटास्तडिद्भिः सुसदृशश्च वर्तन्ते। शङ्खाक्षि = नृकरोटिः सुवर्णसदृशम्, पदं चरणमब्जदेश्यं कमलेन तुल्यम्, एष दैवतसार्वभौमः शिवो मम हृदि अस्त्वित्यन्वयः। अत्रोदाहरणे पञ्चविधानाह—'मूर्तिः' इत्यादिपदवाक्ये वाक्यगा धर्मलुप्ता, मणीव कण्ठप्रभेति समासगा धर्मलुप्ता, भातीत्यादिक्रियाप्रयोगे उभयत्र न धर्मलुप्तात्वविघातापत्तिः। एवं श्रौतीभेदद्वयमेवोदाहृतम्। धर्मलुप्ता श्रौती तद्धिते तु न सम्भवति, षष्ठीसमर्थात् सप्तमीसमर्थाद्वा विहितस्य = कृतस्य वतेर्धर्मकथनं विनाऽन्वयस्य सौकर्याभावात्। उपमेये उपमानसम्बन्धबोधकस्य तस्य साधारणधर्मप्रयोगमन्तरेणानुपपत्तेः। न हि मथुरायामिव यथुरावत् स्रुघ्ने सम्भवति, सप्तम्यर्थाद्यनन्वयापत्तेः, किन्तु मथुरावत् स्रुघ्न इत्येव। यस्मात् षष्ठ्यर्थसम्बन्धविशेषणस्य सप्तम्यर्थाधारत्वविशेषणस्य वा साधारणधर्मरूपस्य प्रयोगं विना इवार्थवतेरभावान्न तद्धिते श्रौती धर्मलुप्ता। ननु मा भूदिवार्थकवतिप्रयोगे श्रौती धर्मलुप्ता। तथापि इवार्थकतद्धितान्तरे सा दुर्वारेत्याशङ्कते—न चेति। 'कुशाग्रीया बुद्धिः' इत्यत्र तत्सम्भवः। 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यधिकारस्थेन 'कुशाग्राच्छः' इति सूत्रेण विधीयमानस्येवार्थछप्रत्ययस्य धर्मोपादानं

विना नैराकाङ्क्ष्यप्रतीतेर्दुष्टत्वात्। समाधत्ते—इवेत्यादि। तदधिकारविहिताः प्रत्ययास्तुल्यार्था एव, कुशाग्रतुल्या बुद्धिः इत्यभेदान्वयदर्शनात्। अन्यथा=तुल्यार्थपरत्वाभावे तेषां सादृश्यविशिष्टधर्मिपर्यन्तत्वाभावेन सामानाधिकरण्यासम्भवात् तदनापत्तेः। न चेवार्थे तद्विधानविशेषः, सादृश्ये विधानमपि सदृशपर्यवसानेन तद्विरोधादित्याशयः।

(चित्र०)

सुसदृशश्रेत्यादिवाक्यत्रये क्रमेणार्थी वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा च। अब्जदेश्यमित्यत्रेषदसमाप्तौ विहितोऽपि देश्यप्रत्ययः सादृश्ये प्रयुज्यते, सोऽपि सामानाधिकरण्यात् सदृशपर्यवसायी। ननु सदृशादिशब्दप्रयोगे सादृश्यविशिष्टधर्मिपर्यन्तत्वादार्थीति युक्तम्। सादृश्यादिशब्दप्रयोगे कथं किं श्रौती, उतार्थी ? यथा—

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु॥

इत्यादौ श्रौत्येवेति ब्रूमः। तत्र तद्धितप्रकृत्या धर्मिपर्यन्ताभिधानेऽपि प्रधानप्रत्ययाभिहितस्य सादृश्यस्यैव वाक्यार्थान्वयित्वात्।

(भारती)

'सुसदृशश्रेति' इत्यादि वाक्यत्रय में क्रम से आर्थी वाक्यगा, धर्मलुप्ता, 'कांचननिभं' में आर्थी समासगा धर्मलुप्ता तथा 'अब्ज देश्यम्' में आर्थी तद्धितगा धर्मलुप्ता है 'अब्जदेश्यम्' में ईषद् समाप्ति में विहित देश्य प्रत्यय का भी सादृश्य में प्रयोग है। वह भी सामानाधिकरण्य से सदृशपर्यवसायी है। यहाँ एक आशंका करते हैं—क्या सदृश आदि शब्द के प्रयोग में सादृश्य विशिष्टधर्मपर्यन्त से आर्थी योग्य है। अथवा सादृश्यादि के प्रयोग में ही श्रौती है। उदाहरण देते हैं—

'समीप में रथ के मार्ग को छोड़े हुए, रथ की ओर दृष्टि लगाए हुए, मृग के जोड़ों में परस्पर अर्थात् एक दूसरे की आँखों की समानता को देखते हुए वे दोनों चले।'

यहाँ श्रौती ही है। क्योंकि तद्धित प्रकृति से धर्मिपर्यन्त अभिधान रहने पर भी प्रधान प्रत्यय अभिहित सादृश्य का ही वाक्यार्थ के साथ अन्वय है।

(सुधा)

आर्थीधर्मलुप्तायाः क्रमेण भेदत्रयमाह—सुसदृशश्रेत्यादि। प्रथमे वाक्यगा धर्मलुप्ता आर्थी। 'काञ्चननिभम्' इत्यत्र समासगा, 'अब्जदेश्यम्' इत्यत्र तद्धितगा, ईषदसमाप्तौ विहितदेश्यस्यापि सादृश्ये प्रयोगात्। सोऽपि सामानाधिकरण्यात् सादृश्यवत् पर्यवसायीति न कोऽपि दोषः। आशङ्कते—नन्विति। सादृशादिशब्दप्रयोगे सादृश्यादिविशिष्टधर्मिपर्यन्तत्वादार्थी योग्या। सादृश्यादीनामेव प्रयोगे कतरेत्याशङ्का। असम्भवव्यावृत्त्यर्थमुदाहरणमाह—परस्परेति। विश्वासाददूरं = समीपं यथा भवति तथा उज्झितं वर्त्म यैस्तेषु स्यन्दने = रथे आबद्धा आसञ्जिता दृष्टिर्नेत्रं यैः तानि तेषु 'दृग्दृष्टिर्नेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः। कौतुकवशाद्रथासक्तदृष्टिषु मृग्यश्च मृगाश्च 'पुमान्

स्त्रिया' इत्येकशेषः। तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु परस्पराक्षणां सादृश्यं पश्यन्तावित्यन्वयः। समाधत्ते—श्रौत्येवेति। व्यञ्जप्रकृतिभूतसदृशशब्देन सादृश्यवदभिधानेऽपि प्रधानीभूतभावप्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकसादृश्ये शक्ततया तस्यैव वाक्यार्थान्वयित्वात्। भट्टाचार्यास्तु यत्पदार्थविशेषणस्योपमानत्वमात्रनियमः, तत्रैव श्रौती। इवादिविशेषणीभूतचन्द्रादौ तत्सत्त्वात्। सादृश्यादिपदविशेषणे तु न नियमः चन्द्रसादृश्यमित्यादौ तथात्वेऽपि 'चन्द्रमुखयोः सादृश्यम्' इत्यादौ व्यभिचारात्। तस्मादार्थी एवेति वदन्ति।

(चित्र०)

यं पश्यन् दीपदर्शं सपदि मनसिजः कीटनाशं स नष्टः
स्वान्ते योऽन्तःपुरीयत्यतिभजनकृतस्तं कुमारीयति द्राक्।
मूलस्तम्भायते यस्त्रिभुवनभवने कोकिलालापिनी यं
वामाङ्के कल्पवल्ली श्रयति कुवलयश्यामला तं भुजानि॥

अत्र सप्तविधापि वाचकलुप्ता दर्शिता। तत्र दीपमिव पश्यन्नित्यर्थे दीपदर्शमिति कर्मणमुलि, कीट इव नष्ट इत्यर्थे कीटनाश नष्ट इति कर्तृणमुलि, स्वान्तेऽन्तःपुर इवाचरतीत्यर्थेऽन्तःपुरीयतीत्यधिकरणक्यचि, कुमारं स्कन्दमिवाचरतीति कर्मक्यचि, त्रिभुवनस्योत्पत्तौ मूलस्तम्भ इवाचरतीत्यर्थे मूलस्तम्भायत इति कर्तृक्यङि, कोकिल इवालपतीत्यर्थे कोकिलालापिनीति णिनौ, कुवलयमिव श्यामलेत्यर्थे कुवलयश्यामलेति समासे च क्रमेण वाचकलुप्ता द्रष्टव्या।

(भारती)

'दीप की तरह जिसे देखते हुए काम रूपी कीड़े शीघ्र ही भस्म हो जाते हैं, जो अत्यन्त भजन करने वाले अपने भक्तों को हृदय में घर की तरह स्थान देते हैं, जो भक्तों को स्कन्द कुमार की तरह मानते हैं तथा जो त्रिभुवन की उत्पत्ति में मूलस्तंभ की तरह आचरण करते हैं तथा जिनके वाम भाग में कोयल की तरह बोलने वाली कुवलय की तरह श्याम वर्णा पार्वती कल्पलता की तरह आश्रित है, उन भगवान् शंकर को मैं भजता हूँ।'

इस उदाहरण में सातों प्रकार की वाचकलुप्ता दिखाई गई है। **'दीपमिव पश्यन्'** इस अर्थ में 'दीप दर्शम्' इस पद में **'उपमाने कर्मणि च'** इस सूत्र से कर्म में णमुल् प्रत्यय है।

'कीट इव नष्टः=कीटनाशं नष्टः' इस प्रयोग में भी पूर्व सूत्र से ही चकार बल से कर्त्ता में णमुल् प्रत्यय है। **'अन्तःपुरे इव आचरति'** इस अर्थ में **'अधिकरणाच्च'** इस सूत्र से अधिकरण में क्यच् प्रत्यय है। **'कुमारं स्कन्दमिव आचरति'** इस विग्रह में **'उपमानादाचारे'** इस सूत्र से कर्म में क्यच् प्रत्यय है। **'त्रिभुवनस्य उत्पत्तौ मूलस्तम्भ इव आचरतीत्यर्थे मूलस्तम्भायत'** इस प्रयोग में **'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च'** इस सूत्र से कर्त्ता में क्यङ् प्रत्यय है। **'कोकिल इव अलापी'** इस अर्थ में **'काकिलालापिनो'** में **'कर्तर्युपमाने च'** इस सूत्र से णिनि प्रत्यय है। **'कुवलयमिव श्यामला'** इस अर्थ में **'कुवलयश्यामला'** इस समास में क्रमशः वाचकलुप्ता देखना चाहिए।

(सुधा)

अथ सप्तविधां वाचकलुप्तां दर्शयति—यमिति श्लोकेन। यं दीपदर्शं पश्यन् आलोकयन् स मनसिजः कामः कीटनाशं नष्टः, योऽतिभजनकृतः पुंसः स्वान्ते = हृदि अन्तःपुरीयति तं द्राक् कुमारीयति, यस्त्रिभुवनभवने मूलस्तम्भायते, कोकिलालापिनी कुवलयश्यामला कल्पवल्लीयं श्रयति, तं शिवमहं भजामीत्यन्वयः। अत्रेति = उदाहरण इत्यर्थः। वाचकलुप्ता सप्तविधापि ग्रन्थकारणे दर्शिता। दीपमिव पश्यन् दीपदर्शम् 'उपमाने कर्मणि च' इति कर्मणि णमुल्। कीट इव नष्टः=कीटनाशं नष्टः, पूर्वसूत्रे चकारात् कर्तरि णमुल्। अन्तःपुरे इवाचरतीत्यर्थे 'अधिकरणाच्च' इति सूत्रेण अधिकरणे क्यच्। कुमारं स्कन्दमिवाचरति—'उपमानादाचारे' इति कर्मणि क्यच्, मूलस्तम्भ इवाचरति इत्यर्थे 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति कर्तरि क्यङ्। कोकिल इवालपतीत्यर्थे 'कर्तर्युपमाने' इति सूत्रेण णिनिप्रत्ययः।

अत्र प्रकाशकारानुयायिनस्तु 'उपपदमतिङ्' इति सूत्रस्य तत्रापि वृत्तावेव क्रोडीकारेण पृथग्गणनौचित्यम्, विभाजकतावच्छेदकधर्मानवच्छिन्नत्वैवाधिक्यस्योद्भावयितुमुचितत्वादित्याहुः। कुवलयमिव श्यामला कुवलयश्यामलेति समासः। एवं क्रमेण वाचकलुप्ता द्रष्टव्या।

(चित्र०)

पूजनं पुररिपोस्तनोतु मे चित्तमन्यदपहाय चापलम्।
यत्समं प्रियहितं न दृश्यते येन नापि सदृशं निशम्यते॥

अत्र यत्सममिति समासे येन सदृशमिति वाक्ये चोपमानलुप्ता द्विविधापि दर्शिता।

वृथा मम भ्रमत्यहो मनः स्थिते महेश्वरे
श्रुतोऽस्ति तेन किं समः स्मृतोऽथवास्ति तत्समः।
षडङ्घ्रयत्वदः सदा तदङ्घ्रिपङ्कजद्वये
चकोरकीयतु स्थिरं तदानने शशिप्रभे॥

अत्रावशिष्टाः षड्विधा अपि लुप्ताः प्रदर्शिताः। तत्र द्वितीयपादे वाक्यसमासयोर्धर्मोपमानलुप्ता द्विविधा, तृतीयपादे क्विप्समासयोर्धर्मवाचकलुप्ता द्विविधा, चकोरकीयत्विति वाचकोपमेयलुप्ता, शशिप्रभ इति धर्मोपमानवाचकलुप्ता च क्रमेण द्रष्टव्या।

(भारती)

'मेरा हृदय अन्य चपलताओं को छोड़कर पुररिपु भगवान् शंकर की पूजा का विस्तार करे; जिसके सदृश प्रियहित न कहीं दिखाई पड़ता है और न कहीं सुनाई ही पड़ता है।'

इस उदाहरण में **'यस्य समं यत्समम्'** इस समास में समासगा एवं **'येन सदृशम्'** इसमें वाक्यगा दोनों प्रकार की उपमानलुप्ता दिखाई गई है।

'रे मेरा मन! महेश्वर भगवान् के रहते हुए भी क्यों तू इधर-उधर भटकता है? उनके समान

कोई अन्य देवता सुने हो अथवा याद करते हो ? रे मन ! उनके चरणरूपी कमलों में अपने को भ्रमर बना लो। उनके मुख पर विराजमान चन्द्रकला में अपने को चकोर बना लो।'

इस उदाहरण के द्वितीय पाद में वाक्यगता तथा समासगता धर्मोपमानलुप्ता **'कृपालुत्वधर्मोपमान'** के अनुपादान से दो प्रकार की है। तृतीय पाद में 'चकोरकीयतु' में वाचकोपमेयलुप्ता है, **'षडङ्घ्रियतु'** में क्विप् तथा समास में धर्मवाचक द्विविध लुप्ता है। इसी प्रकार 'शशिप्रभा' में धर्मोपमानवाचक लुप्ता भी क्रमशः द्रष्टव्य है।

विमर्श—इस प्रकार काव्यप्रकाशीय उपमा के भेदों की व्याख्या दीक्षित ने की है। मम्मट सम्मत अधोंकित उपमा भेद हैं—

पूर्णोपमा के ६ प्रकार—

१. तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा।
२. समासगा श्रौती पूर्णोपमा।
३. वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा।
४. तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा।
५. समासगा आर्थी पूर्णोपमा।
६. वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा।

लुप्तोपमा के २१ प्रकार—

(मम्मट-सम्मत १–१९ तथा विश्वनाथ-सम्मत १–२१)

१. तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा।
२. समासगा श्रौती लुप्तोपमा।
३. वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा।
४. समासगा आर्थी लुप्तोपमा।
५. वाक्यगा आर्थी लुप्तोपमा।
६. आधार क्यच् निबंधना लुप्तोपमा।
७. कर्म क्यच् निबंधना लुप्तोपमा।
८. कर्तृ उपपद क्यङ् निबंधना लुप्तोपमा।
९. कर्मोपपद णमुल् निबंधना लुप्तोपमा।
१०. कर्तृ उपपद णमुल् निबंधना लुप्तोपमा।
११. समासगा उपमान लुप्तोपमा।
१२. वाक्यगा उपमान लुप्तोपमा।
१३. समासगा वाचक लुप्तोपमा।
१४. क्विप्गा वाचक लुप्तोपमा।
१५. समासगा धर्मोपमान लुप्तोपमा।
१६. वाक्यगा धर्मोपमान लुप्तोपमा।
१७. समासगा धर्मोपम्य वाचक लुप्तोपमा।
१८. क्विप्गा धर्मोपम्य वाचक लुप्तोपमा।
१९. उपमेय लुप्तोपमा।
२०. धर्मोपमेय लुप्तोपमा।
२१. धर्मोपमान वाचक लुप्तोपमा।

इस प्रकार कुल मिलाकर उपमा के २७ भेद हुए। मम्मट ने उपमा के केवल दो भेद स्वीकार किए हैं, **पूर्णा** और **लुप्ता**। फिर पूर्णा के **आर्थी** एवं **श्रौती** के रूप में दो भेद किए हैं। इस प्रकार के भेद 'इव', 'यथा', 'वा', 'तुल्य', 'सदृश' आदि उपमावाचक शब्दों के अर्थबोधन में अन्तर स्वीकार कर के ही प्रस्तुत किए गए हैं। 'इव', 'वा', 'यथा' आदि शब्द उपमान के विशेषण होते हैं। इनके श्रवणमात्र से ही साधारण धर्म के साथ सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। अतः इनके प्रयोग के कारण श्रौती उपमा होती है।

जहाँ समान, सदृश, तुल्य आदि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग होता है—वहाँ आर्थी उपमा होती है। उपर्युक्त शब्द कभी उपमान के साथ और कभी उपमेय के साथ प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी इनका अन्वय दोनों के साथ भी देखे जाते हैं।

मम्मट के विभाग में—

(१) ५ प्रकार की धर्मलुप्ता।
(२) ६ प्रकार की वाचकलुप्ता।
(३) २ प्रकार की उपमानलुप्ता।
(४) २ प्रकार की धर्म तथा वाचकलुप्ता।
(५) २ प्रकार की धर्म तथा उपमानलुप्ता।
(६) १ प्रकार की वाचक तथा उपमेयलुप्ता।
(७) १ प्रकार उपमान वाचक, तथा साधारण धर्म तीनों के लोप होने पर समासगा नामक लुप्ता।

इस प्रकार लुप्तोपमा के १८ तथा पूर्णा के ६ भेद, कुल मिलाकर उपमा के २४ भेद प्रदर्शित किए हैं। मम्मट के इन उपमा भेदों का आधार व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति तो है ही, साथ ही इन पर आचार्य उद्भट की उपमा-विभाजन प्रणाली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। क्योंकि उद्भट की भाँति ही आचार्य मम्मट ने भी उपमा के विभाग में व्याकरण-सम्बन्धी व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। यह विभाजन अलंकारवादी होने के कारण आचार्य उद्भट के लिए तो शोभनीय है, किन्तु ध्वनिवाद के कट्टर समर्थक होने के नाते आचार्य मम्मट के ये विभाजन रहस्यपूर्ण हैं। उद्भट ने जो १७ या २१ प्रकार की उपमाओं का निरूपण किया है। संभवतः उसकी संख्या बढ़ाकर मम्मट ने उसका परिष्कार कर दिया है। मम्मट के इस प्रयास से उपमानों के वर्गीकरण को जहाँ एक वैज्ञानिक विश्लेषण मिला है, वहीं संस्कृत काव्य साहित्य को अलंकार की दृष्टि से भेद-निरूपण का एक नया दृष्टिकोण भी मिला है।

(सुधा)

वाक्ये समासे च द्विविधामुपमानलुप्तां दर्शयति—पूजनमिति। मे चित्तमन्यच्चापलमपहाय पुररिपोः शिवस्य पूजनं तनोतु = विस्तारयत्वित्यर्थः। यत्समं प्रियहितं न दृश्यते, येन सदृशमपि न निशम्यते इत्यन्वयः। भेदानाह—अत्रेति। उदाहरण इत्यर्थः। यस्य समं यत्सममिति समासः, येन सदृशमिति वाक्यगा उपमा, न लुप्ता। एवं द्विविधापि दर्शिता। एतन्नियमकरणं प्राचीनानुसारेण। नव्यास्तु—तद्धितेऽप्येषा सम्भवति। यथा 'चञ्चत्कः बृहत्कः'। तथा च कैयटः—अचञ्चन्नपि यः चञ्चन्निव लक्ष्यते, स चञ्चत्कः। यथा मणिः, स्यन्दमानः प्रभावत्वात्। अबृहन्नपि बृहन्निव प्रवृत्तप्रभात्वाद्यो दृश्यते स बृहत्कः। अत्र हि चञ्चत्त्वं बृहत्त्वञ्च धर्मौ मण्यादिरूपमेव। कन्प्रत्ययश्च वाचकः चञ्चत्त्वा-

श्रयस्य चाप्रयोगः। न चेयमुत्प्रेक्षा, मणौ चन्द्रत्वाद्यभावात्, साधारणधर्मस्य चोभयवृत्तावेवोपमास्वीकारात्। तथा च 'अयं मणिश्चन्द्रत्वप्रकारकसंभावनाविषयः' इति वाच्यम्, आरोपितेनापि चन्द्रत्वेन साधारण्योपपत्तेः। वास्तववृत्तित्वस्यालंकारत्वेऽप्रयोजकत्वात्। वस्तुत उत्प्रेक्षाशङ्कैव न भवति। तथा हि—कन्प्रकरणे 'चञ्चद्बृहतोरुपसंख्यानम्' इति वार्त्तिकम्। 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् च सादृश्यार्थं एव भवति। अन्यथा चञ्चेत्यादीनामप्युपमात्वमसिद्धं स्यात्। नाप्यतिशयोक्तिः, मण्यादेः प्रयोगसत्त्वादित्याहुः। वाक्ये समासे धर्मोपमानलुप्तां द्विविधाम् = क्विप्समासयोर्द्विविधां धर्मवाचकलुप्तां च वाचकोपमेयलुप्तां धर्मोपमानवाचकलुप्तां च क्रमेणैकेन श्लोकेन दर्शयति—वृथेति। मम मनो महेश्वरे स्थिरे सति अहो! वृथा भ्रमति, तेन समः किं श्रुतोऽस्ति, अथ वा तस्य समस्तत्समो वा स्मृतोऽस्ति, अहो! मनः तस्य अङ्घ्रिपङ्कजयोर्द्वयं तस्मिन् सदा सर्वदा षडङ्घ्रयतु। स्थिते शशिप्रभे तस्याननं तस्मिन् चकोरकीयतु। अत्रोदाहरणे भेदान् दर्शयति—अत्रेति। द्वितीयपादे वाक्यगता, समासगता धर्मोपमानलुप्ता, कृपालुत्वधर्मस्योपमानस्य चानुपादानात्। तृतीयपादे षडङ्घ्रयत्वित्यादौ क्विपि समासे च धर्मवाचकलुप्ता द्विविधा। षडङ्घ्रिरिवाचरतु इत्यर्थे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विप्। प्रीतिरूपधर्मस्य इवेति वाचकस्य च अङ्घ्रिः पङ्कजमिवेति समासे कान्तिरूपधर्मस्य इवेति वाचकस्य चानुपादानात्। चकोरमिवात्मानमाचरत्वित्यत्र 'उपमानादाचारे' इति कर्मणि क्यच्। अत्रात्मन उपमेयस्य इवेन सहानुपादानाद्वाचकोपमेयलुप्ता। शशिनः प्रभा इव शोभना प्रभा यस्येत्यर्थे शोभनरूपधर्मस्य प्रभारूपोपमानस्य इवेति वाचकस्य चानुपादानात्, धर्मोपमानवाचकलुप्ता चेति क्रमेण विंशतिभेदा द्रष्टव्याः।

(चित्र०)

एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालङ्कारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति, न वा लुप्तानामयं सामस्त्येन विभागः। तथा हि—धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता, द्विर्भावेऽपि दृश्यते—'पटुपटुर्देवदत्तः' इति। अत्र हि 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्ये द्विर्भावविधानात्। पटुसदृश इत्यर्थः। यो हि शास्त्रादिष्वपटुरेव पटुवदभिनयति स उच्यते पटुपटुरिति। न तावदियं वाक्ये धर्मलुप्ता। 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति समासवद्भावविधानेनैकपद्यसिद्धेः। अत एव न समासेऽपि धर्मलुप्तेयम्। वाचकलुप्ता णिनिं विना कैश्चित् षड्विधा दर्शिता। णिनिना सहापरैः सप्तविधा, क्विप्-तद्धितयोरपि दृश्यते।

यद्भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति।
तं शंभुमभजन्मर्त्यश्चश्चैव स्वहिताकृतेः॥ इति।

विवृतमेतदधस्तात्। वाक्यसमासयोरुपमानलुप्तापि दर्शिता। 'उपनतमेतदकस्मादासीद्बत काकतालीयम्' इति तद्धितेऽपि दृश्यते। वाचकोपमानलुप्ता स्वरूपत एव नोदाहृता। सापि काकतालीयमिति प्रकृतिभूते समासे दृश्यते। धर्मोपमानलुप्तापि तद्धिते काकतालीयमित्यत्र दृश्यते। धर्मवाचकलुप्ता क्विप्-

समासयोरिव तद्धितेऽपि दृश्यते। 'तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम्' इति हि प्रागुदाहृतम्। तस्माल्लुप्ताविभागे दिङ्मात्रप्रदर्शनमेवेदं प्राचां न तु सामस्त्येन विभागः।

(भारती)

इस प्रकार यह पूर्व व्याख्यात पूर्णा एवं लुप्ता उपमा के २७ भेदों का वाक्य, समास तथा प्रत्ययविशेष से व्याकरण शास्त्र में जो व्युत्पत्ति चातुर्य प्रदर्शनमात्र प्रयोजन के लिए प्रदर्शित है, उसका अलंकारशास्त्र में अतियोग्य आवश्यकता नहीं होती। इतना ही नहीं लुप्ता के ये सम्पूर्ण प्रभेद भी नहीं कहे जा सकते। क्योंकि धर्मलुप्ता वाक्य, समास तथा तद्धितों में दिखाई गयी—यह द्विर्भाव में भी दिखाई देती है। जैसे—**'पटुपटुर्देवदत्तः'** अर्थात् देवदत्त चतुर के सदृश है। कारण यहाँ **'प्रकारे गुणवचनस्य'** इस सूत्र से द्विरुक्ति का विधान सादृश्य अर्थ में है, अर्थात् यहाँ द्वित्व के कारण 'पटु-पटु' शब्द का अर्थ 'पटु के सदृश' होता है। 'जो व्यक्ति' शास्त्रों में अपटु होकर भी पटु की तरह अभिनय करता है, उसी सदृश अर्थ में 'पटु–पटुः' जैसे शब्द का प्रयोग है। 'पटुपटुर्देवदत्तः' में द्विर्भाव अर्थात् 'पटु' शब्द का दो बार प्रयोग ही सादृश्य का वाचक है। यही कारण है कि यहाँ वाचक का लोप न कहकर केवल धर्म का लोप कहा गया है। अतः यह धर्मलुप्ता है। यहाँ **'कर्मधारयवदुत्तरेषु'** इस सूत्र से एक पद्य विधान द्वारा वास्तव में समासत्व के अभाव से वाक्यगा एवं समासगा लुप्ता असंभव होने के कारण अलग ही धर्मलुप्ता है। वाचकलुप्ता 'णिनि' प्रत्यय के विना कोई ६: प्रकार से प्रदर्शित किए हैं। 'णिनि' प्रत्यय के साथ दूसरे लोग इसे ७ प्रकार के मानते हैं। इसमें क्विप् और तद्धित प्रत्यय भी दिखाई देते हैं—

'जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्ष के समान हो जाता है, उन शंभु को न भजने वाला मनुष्य, अपना हित न करने के कारण घास का पुतला ही है।'

इस तरह पाठ कर देने पर दोनों जगह धर्म भी सुनाई देने लगता है। वाक्य और समास की उपमानलुप्ता भी दिखाई जा चुकी है। **'उपनतमेतदकस्माद् आसीद् व काकतालीयम्'** इस तद्धित में भी दिखाई देती है। वाचक उपमानलुप्ता स्वरूप से ही उदाहृत नहीं है। वह भी 'काकतालीयम्' इस प्रकृतभूत समास में दिखाई देती है। धर्मोपमानलुप्ता भी तद्धित—'काकतालीयम्' में दिखाई देती है। धर्मवाचक लुप्ता क्विप् प्रत्यय तथा समास की तरह तद्धित में भी दिखाई देती है। 'उस शिव को न भजने वाला पुरुष, जगत में घास के बने पुतले के समान है, यह पहले ही उदाहृत हो चुका है। अतः लुप्ता के भेद यहाँ प्राचीनों ने दिङ्मात्र ही प्रदर्शित किया है, न कि सम्पूर्ण रूप से भेदप्रदर्शन है।

विमर्श— अप्पय दीक्षित की धर्मलुप्ता जो वाक्य, समास और तद्धित में दिखाई गई है। इसके सम्बन्ध में भी पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में कुछ आपत्तियाँ की हैं। उनके अनुसार यह द्विरुक्ति में भी होती है। जैसे, **'पटुपटुर्देवदत्तः'** अर्थात देवदत्त चतुर की तरह है। यहाँ पा० व्या० के **'प्रकारे गुणवचनस्य'** इस सूत्र से सादृश्य के अर्थ में द्विरुक्ति का विधान है। द्विरुक्ति के कारण ही ऐसे स्थल में एक पटु का सदृश अर्थ है। किन्तु विचारणीय यह है कि यहाँ केवल 'धर्म' का ही लोप तो नहीं है, बल्कि वाचक का भी लोप है। अतः इसे धर्मलुप्ता कहने की अपेक्षा वाचकलुप्ता कहना ही श्रेयस्कर होता। अन्यथा जहाँ एक लुप्ता है, वहीं द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता का सन्निवेश हो जायेगा। पुनः उसका पृथक् ग्रहण ही निरर्थक हो जायेगा।

अगर 'पट्ट' की द्विरुक्ति को ही सादृश्यवाचक मानकर केवल धर्मलोप मानते हुए इसे 'धर्म-लुप्ता कहें, तो भी ऐसी स्थिति में द्विर्भाव को सादृश्यवाचक कहना 'महाभाष्य' एवं 'कैयट' के विरुद्ध हो जाता है। क्योंकि कैयट ने **'प्रकारे गुणवचनस्य'** इस सूत्र के भाष्य में—**'सिद्धन्तु'** इस प्रतीक को लेकर कहा है—

'द्विर्वचनस्य·प्रकृतिः स्थानी, इति तदर्थो विशिष्यते, न तु प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुण-वचनत्वाद् व्यभिचाराभावात्। तद्ग्रहणात् गुणवचनो यः शब्दो निर्ज्ञातस्तस्य सादृश्ये द्योत्ये द्वे भवत इति सूत्रार्थः।'

इस सूत्र की उक्त व्याख्या से सिद्ध होता है कि 'द्विरुक्ति' 'सादृश्य' का द्योतक है, वाचक नहीं। अतः 'पटुपटुर्देवदत्तः' में वाचक का भी लोप होने के कारण यह धर्मलुप्ता की अपेक्षा वाचक लुप्ता का उदाहरण होना चाहिए।

'गुरुमर्म प्रकाश' में पण्डितराज के इस विचार का डटकर खण्डन किया गया है। इस प्रसंग में लिखा है कि उक्त प्रकरण में 'वाचक' शब्द का अर्थ अभिधावृत्ति द्वारा सादृश्य का वाचक नहीं है। किंतु सादृश्य अथवा सादृश्य से युक्त अर्थ का बोधक है। और यहाँ किसी ऐसे शब्द के न होने पर वाचक का लोप माना जाता है, अन्यथा जो लोग 'इव' आदि को सादृश्य का द्योतक मानते हैं; उनके मत में 'चन्द्र इव मुखम्' इस जगह और 'इव' आदि को वाचक माननेवालों की दृष्टि से **'चन्द्रसुहन्मुखम्'** इस जगह भी वाचकलुप्ता का व्यवहार होने लगेगा। जब कि कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः द्योतक अर्थात् द्वित्व को भी बोधक मानने में कोई बाधा न होने के कारण वाचक को विद्यमान मानकर अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्र मीमांसा' में जो यहाँ धर्मलुप्ता माना है; वह सर्वथा युक्तिसंगत है तथा पण्डितराज का खण्डन असंगत ही प्रतीत होता है।

अप्पय दीक्षित ने अपनी चित्रमीमांसा में इसी प्रसंग में **'नृणां यं सेवमानानामित्यादि'** (**पूर्व व्याख्यात**) उदाहरण में **'अपवर्गति'** पद में क्विप् प्रत्यय का तथा 'चञ्चा' पद में 'कन्' प्रत्यय का लोप कह कर दोनों उपमा में क्रमशः वाचक और धर्म का लोप कहा है, पण्डितराज की दृष्टि में यह भी अयुक्तिकर ही है। क्योंकि उनके विचार से यहाँ वाचक 'कन्' प्रत्यय का लोप होने पर भी 'उन चन्द्रकलाधर को न भजने वाला' इस विशेषण के द्वारा सूचित 'शिव के भजन से रहित होना' रूपी धर्म, जो कि घास के पुतले और पुरुष दोनों में समान रूप से रहता है, जब इस पद्य में उक्त है तो धर्म का लोप कैसे कहा जा सकता है ?

दूसरी बात यह है कि **'चन्द्रकलाधरं भजति'** इस उपमेय को पुरुष के विशेषणरूप में मान-कर—सादृश्य विशेषण 'चञ्चा' में इसका अन्वय न हो सकने के कारण इसे साधारण धर्म नहीं कहकर केवल पुरुषधर्म की आशंका से 'यद् भक्तानामित्यादि' पूर्व व्याख्यात श्लोक में तथाकथित पाठभेद कर देने पर दोनों जगह धर्मश्रवण की बातें जो चित्रमीमांसा में उठाई गई है—उसमें स्वतः वदतोव्याघात होगा। क्योंकि यहाँ भी 'सुखमय' शब्द उपमेय—संसार के विशेषण के रूप में आया है। ऐसी दशा में 'सुखमय होने' रूपी धर्म का सादृश्य के विशेषण मोक्ष में अन्वय न होने के कारण इस धर्म को कैसे साधारण कहा जा सकता है।

उपमेयगत और उपमानगत दोनों में से किसी रूप में ग्रहण करने के कारण धर्म का दोनों में शब्द-सम्बन्धी अन्वय न होने पर भी वस्तुतः दोनों में रहने का ज्ञान ही साधारण का नियामक है—ऐसा मान लेने पर—अर्थात् शाब्दिकरूप में धर्म का अन्वय दोनों में न होने पर भी यदि

यह समझ भी लिया जाय कि वह धर्म जो वास्तव में दोनों में रहनेवाला है—उसे साधारण धर्म मान लिया जाता है, तो 'शिव के भजन से रहित होने' वाले विशेषण का क्या होगा ? क्योंकि यहाँ भी उपमेय का विशेषण होने पर भी वस्तुतः उपमान और उपमेय दोनों में रहने वाला धर्म है।

पण्डितराज के इस आक्षेप में भी कुछ अधिक तथ्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि धर्मलुप्तोपमा को सरस्वतीकंठाभरणकार ने 'लुप्तपूर्णा' उपमा कहा है। **'लोपे सामान्यधर्मस्य लुप्तपूर्णेति गण्यते—स० क० ४।१७'**। धर्मलुप्ता के चित्रमीमांसा में तथाकथित भेद 'लुप्तपूर्णा' की कल्पना में अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि विभाजन के आग्रह के कारण ही दीक्षित जी को लुप्तपूर्णा मान्य नहीं हुई, अन्यथा पण्डितराज का उक्त खण्डन स्वतः इससे प्रत्याख्यात हो जाता। ऐसे भी लगता है, 'शिव के भजन से रहित होना' में दीक्षित जी का अभिप्राय केवल उपमेय पुरुषधर्म से सम्बधित है और उपमान उपमेय का साधारण धर्म 'आत्महित न करना है'—और वह स्वतः लुप्त ही है। अतः यहाँ भी दीक्षित जी में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

अप्पय दीक्षित के द्वारा वाचकोपमेयलुप्ता में उदाहृत पूर्व व्याख्यात श्लोक 'रूप यौवन लावण्येत्यादि' में पण्डितराज को सर्वत्र अशुद्धि दर्शन ही होता है। इस श्लोक की आलोचना में तो पण्डितराज ने दीक्षित जी को व्याकरणज्ञानशून्य, मूर्ख तक की भी उपाधि दे डाली है। इनका कहना है कि उक्त श्लोक् में जो 'पुरतः' शब्द आया है, उसकी व्युत्पत्ति क्या होगी ? यदि 'पुर' शब्द से, जिसका अर्थ नगर होता है, 'तसिल' प्रत्यय करके इसे सिद्ध किया जाय तो अर्थ होगा—'मृगनयनियों के नगर से'—जो यहां असंगत है। अब यदि 'पुर' शब्द का अर्थ 'पूर्व' मानकर 'पुरतः' का अर्थ आगे अथवा सामने किया जाय तो ऐसा हो ही नहीं सकता। क्योंकि पूर्ववाची 'पुर' शब्द कहीं सुना नहीं गया है। बचा पूर्व शब्द, उससे तो **'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्'** इस सूत्र से **'असि'** प्रत्यय करने पर 'पुरः' बन सकता है, पुरतः नहीं। अत एव महाकवि कालिदास ने रघुवंश में लिखा है—

'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्री हतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुंभस्तननिःसुतानां स्कन्धस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥—रघुवंश, २।३६.

उक्त श्लोक में 'पुरः' का प्रयोग किया गया है। इसी तरह दीक्षित जी ने चित्रमीमांसा के दूसरे प्रकरण में **'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः इत्यप्रस्तुतप्रशंसा'** लिखा है। यह भी उसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतः अशुद्ध है। अपने पक्ष में युक्ति उपस्थित करते हुए पण्डितराज ने लिखा है कि 'पुरतः' प्रयोग अशुद्ध होने के कारण ही वैयाकरणों का कहना है कि—**'पश्या पुरतः परतः'**, **'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि'**, **'पुरतः सुबती सभागतं माम्'** इत्यादि के सभी शब्द अशुद्ध हैं। अतः 'पुरतः' शब्द का प्रयोग चित्रमीमांसाकार की व्याकरण सम्बन्धी अज्ञानता ही प्रकट करता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के इस आक्षेप का उत्तर नागेश भट्ट के शब्दों में दर्शनीय है। उन्होंने लिखा है कि पण्डितराज का यह आक्षेप बिलकुल निर्मूल है। दीक्षित जी के पुरतः प्रयोग के खण्डन में कोई बल नहीं है। क्योंकि 'पुरतः' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में कालिदास एवं भवभूति जैसे महाकवियों ने भी किया है। देखिए—

कालिदास—'इयं च तेऽन्या **पुरतो विडम्बना'**—कुमारसंभव।
भवभूति—'पश्यामितामित इतः **पुरतश्च पश्चात्'**—उत्तररामचरित।

इतना ही नहीं, 'पुरतः' शब्द की सिद्धि भी तीन प्रकार से होती है—

(१) कुछ लोग उसे निपात मानते हैं।

(२) कुछ लोग 'अच्' प्रत्ययान्त 'पुर' शब्द से 'अतसुच्' प्रत्यय करके सिद्ध करते हैं।

(३) वस्तुतः—यह पुरतः शब्द 'पुर अग्रगमने' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय और उससे 'तसि' प्रत्यय करने पर 'पुरतः' शब्द सिद्ध होता है।

अतः दीक्षित जी का यह प्रयोग भी शुद्ध ही है।

(सुधा)

एवं काव्यप्रकाशीयोपमाभेदं व्याख्याय तेषामनावश्यकतां प्रकाशयन् तत्कृतं भेदनियमञ्च दूषयति—एवमयमिति। एवमयम् = पूर्वं व्याख्यातः पूर्णालुप्ताविभागः षड्विंशतिप्रकाररूपः। वाक्यञ्च समासश्च प्रत्ययविशेषाश्च तेषां विषयतया शब्दशास्त्रे यद्व्युत्पत्तिकौशलं व्युत्पत्तिचातुर्यं तत्प्रदर्शनमेव प्रयोजनं यस्य तादृशोऽलङ्कारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामतीव नार्हति योग्यो न भवतीति। एतावन्त एवेति नियमोऽपि न सम्भवतीत्याह—न वेति। लुप्तानामयं पूर्वो विभागः सामस्त्येन, न ह्यन्येषामपि सम्भवादिति भावः। तदेवाह—तथा हीति। पञ्चविधा धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितगत्वेन पञ्चविधा दर्शिता, द्विर्भावेऽपि दृश्यते विलोक्यते 'पटुपटुर्देवदत्तः' अत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रेण द्वित्वम्। यः पुरुषः शास्त्रादिषु अपटुरेव पटुवदभिनयति स पटुसदृशः पटुपटुरित्युच्यते। वस्तुतोऽपटावेवायं प्रयोगः। अत्र 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति सूत्रेणैकपद्यविधानाद्वास्तवसमासत्वाभावाच्च वाक्यगासमासगयोरसम्भवात् पृथगेव धर्मलुप्तेति। रसगङ्गाधरकृतस्तु—अत्र वाचकस्याप्यनुपादानाद् वाचकधर्मलुप्तायामेतदाधिक्यं कथयितुमुचितम्, न तु धर्मलुप्तायाम्। धर्ममात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्ताशब्देन तैर्विवक्षणात्। अन्यथा एकलुप्तास्वेव द्विलुप्तानां त्रिलुप्तायाश्च ग्रहणात् पृथगुपादानमसम्बद्धमेव स्यात्। न चात्र द्वित्वस्यैव वाचकस्य सत्त्वात् तथोक्तिरिति वाच्यम्, द्वित्वस्य सादृश्यवाचकतोक्तौ भाष्यकैयटादिविरुद्धत्वात्। तथा च कैयटः—'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रे सिद्धं त्विति प्रतीकमुपादाय द्विर्वचनस्य प्रकृतिः स्थानी इति तदर्थो विशेष्यते, न तु प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुणवचनतया व्यभिचाराभावात्। तद्ग्रहणाद् गुणवचनो यः शब्दो ज्ञातः, तस्य सादृश्ये द्योत्ये द्वे भवत इति सूत्रार्थाद् इति वदन्ति। तन्न, एवमपि द्विलुप्ताया असम्भव एव, द्योत्ये तदनङ्गीकारात्। अन्यथा इवादीनामपि तत्त्वे 'चन्द्र इव' इत्यादावपि लुप्तोपमात्वप्रसङ्गात्, पदान्तरेण तादृशार्थबोधे सहकारित्वरूपस्य द्योतकत्वस्य सत्त्वे तद्वाचकत्वस्य पदान्तरे स्वीकारावश्यकत्वाच्च, तस्मादेकलुप्तैवेयमिति दीक्षिताशयः। आतिदेशिकसमाससामानाधिकरण्येनैवात्रोपमाविभागकरणेनातिदेशिककर्मधारयवद्भावेऽपि समासगायामेवान्तर्भावः। अत एव तत्र पुंवद्भावान्तोदात्तादयः सिध्यन्तीति तु प्रकाशकारमतानुयायिनः। वाचकलुप्ता प्रकाशमते षड्विधा। णिनिना सहापरैः सप्तविधा उक्ता। क्विप्तद्धितयोरधिका दृश्यते। तदेवाह—यद्भक्तानामिति। अपवर्गतीत्यत्र क्विपि इवस्य, चञ्चेत्यत्र सादृश्यार्थकनो 'लुम्मनुष्ये' इति लोपेन तद्धितेऽपि तत्सम्भवात्। भेदद्वयाधिक्यमेव। उपमानलुप्ता वाक्यसमासगतत्वेन द्विधोक्ता तृतीया तद्धितेऽपि दृश्यते। काकतालमिवेति प्रत्ययार्थोपमायां पतिततालकृतकाकवधरूपोपमानस्यानुपादानात् तत्सम्भवाच्च वाचकोपमानलुप्ता स्वरूपत एव नोदाहृता। सा समासेऽपि दृश्यते। धर्मोपमानलुप्ता वाक्य-

समासयोरुक्ता तद्धितेऽपि दृश्यते। किं ब्रूम इत्यादिपाठे काकागमनमिव तालपतनमिवेति समासार्थोपमायां काकागमनतालपतनरूपोपमानस्य वाचकेन इवेन सहानुपादानाद् वाचकोपमानलुप्तायाः सम्भवात्। अत्रैव पाठे काकतालमिव काकतालीयमिति प्रत्ययार्थोपमायामाकस्मिकोपनतत्वरूपधर्मस्य पतिततालकृतकाकवधरूपोपमानस्यानुपादानेन धर्मोपमानलुप्तासत्त्वात्। अत्र नव्याः—अत्रत्यसमासस्य स्वातन्त्र्येण प्रयोगाभावः, छप्रत्ययविधानबलेन प्रसिद्धस्य तस्य तद्धिते तदसम्भवात्, स्वातन्त्र्येण विभागयोग्यानामेव विभाजकत्वाङ्गीकारात्। अस्तु वा तद्बलेन समासस्तथापि नात्र वाचकलोपः, स्वार्थविहितसमासस्यैव वाचकस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा तद्धितस्यापि सादृश्यवाचकत्वप्रसङ्गात्। एवं धर्मोपमानलुप्तापि न सम्भवति। छप्रत्ययोत्पत्तिकाले काकतालपदस्य तालकृतकाकवधे लक्षणया तदाश्रयपदसत्त्वेनोपमानलोपस्याभावात्। न च लक्षणायां प्रामाण्यमन्वेषणीयम्, तत्पदस्योपमानपरत्वाभावेन तदुत्तरमिवार्थे तद्धितानुत्पत्तेरेव प्रामाण्यसत्त्वादिति वदन्ति। क्विप्समासभेदेन धर्मवाचकलुप्ता द्विधोक्ता, सा तद्धितेऽपि दृश्यते। कुत्रेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुदाहरणमाह—तमिति। चन्द्रकलाधरं तं शिवं जगत्यसेवमानः पुरुषः चक्षा, तं कमित्याह—यं सेवमानानां नृणां संसारोऽपि अपवर्गति। अत्र सुखमयत्वधर्मस्य इवार्थक्विपोऽचेतनादेर्धर्मस्य इवार्थविहितकनश्च लोपाद् धर्मवाचकलुप्तायाः सम्भवात्। अत्र शिवभजनराहित्यमेव सामान्यधर्मः, तत्सत्त्वे कथं धर्मलोपः? न च तस्योपमेयविशेषणतयोपमाने सादृश्योपसर्जने चक्षारूपेऽन्वयाभावान्न साधारणधर्मतेति वाच्यम्, पाठान्तरे त्वयोक्तधर्मश्रवणस्यासङ्गतत्वापत्तेः। उपमेयतावच्छेदकीभूतसंसारत्वावच्छिन्नोपमेयविशेषणतयोपात्तसुखमयत्वादेः सादृश्योपसर्जनीभूतापवर्गरूपेऽपि अन्वयाभावात्, उभयवृत्तित्वज्ञानस्यैव सामान्यधर्मप्रयोजकत्वाङ्गीकारात्, स्वात्महिताकरणमेव सामान्यधर्म इति नियमे प्रमाणाभावात्। 'चन्द्र इव मुखं रमणीयम्' इत्यत्रापि धर्मलुप्ताप्रसङ्गाच्च। रमणीयत्वातिरिक्ताह्लादकत्वरूपधर्मस्यापि तथा विवक्षया तदनुपादानस्यापि सम्भवाच्चेत्याहुः। प्रकरणमुपसंहरति—तस्मादिति। यतो लुप्तायां षड्विंशतिभेदाः सम्भवन्ति तस्मात्तद्विभागे दिङ्मात्रदर्शनमेव प्राचां सम्भवति, न तु सामस्त्येनेति भावः। सामस्त्येन तु पूर्णालुप्तयोर्द्वात्रिंशद्भेदा इति दीक्षिताशयः। अत्र रसगङ्गाधरकृतस्तु कर्माधारक्यचि क्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचामसङ्गतम्, धर्मस्यापि तत्र लोपात्। प्रत्ययार्थाचारस्य तु न धर्मत्वम्, धर्ममात्राचारस्योपमायामप्रयोजकत्वात्। 'नारीयते सपत्नसेना' इत्यत्र वृत्त्यन्तरनिवेदितकातरत्वाद्यभेदाध्यवसिताचारस्योपमानिष्पादकत्वात्। प्रत्ययार्थाचारस्योपमानिष्पादकत्वे 'त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वादिरूपाचारोपस्थितावपि तदनिष्पत्तेः, साधारणस्यापि क्यङाद्यर्थस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात्। उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण साधारणधर्मवाचकरहितत्वस्यैव धर्मलोपशब्देन कथनाच्च। अन्यथा 'मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पङ्कजम्' इत्यादौ पूर्णोपमापत्तेरिति वदन्ति।

(चित्र०)

ये चान्ये काव्यालोकादिषूपमायां प्रकारभेदा दर्शितास्ते सर्वे तेष्वेव द्रष्टव्याः। दर्शिताश्चेहापि लेशतो लक्षणविचारप्रस्तावे। रूपकप्रकरणे चास्याः प्रकारभेदान् कांश्चित् प्रदर्शयिष्यामः।

(भारती)

जो कोई विद्वान् काव्यालोक प्रभृति अलंकार ग्रंथों में उपमा के अन्य भेद दिखाये हैं, उनको उन्हीं ग्रंथों में देखना चाहिए। उन प्रदर्शित भेदों में से कुछ के लक्षण पर इस ग्रंथ में विचार किया गया है। उपमा के कुछ भेदों को रूपकप्रकरण में हम भी दिखायेंगे।

(सुधा)

अन्यभेदानामनुक्त्या न्यूनतां परिहरन्नाह—ये चान्ये काव्यालोकादिषूपमायां प्रकारभेदा रसनोपमादयो दर्शितास्ते सर्वे अत्रैव द्रष्टव्याः। तथाहि—पूर्वपूर्वोपमेयस्योत्तरोत्तरोपमानत्ववर्णनं रसनोपमा। सा द्विधा साधारणधर्मस्य भेदाभेदरूपत्वात्। भेदे यथा श्रीविश्वेश्वरचरणानाम्—'अधर इवोक्तिर्मधुरा तनुलक्ष्मीरुक्तिवद्विशदवर्णा। तनुरिव मनोहरा दृग् दृगिव मृगाक्ष्याः सुदुस्सहो विरहः॥' अत्र माधुर्यादिभेदेन साधारणधर्मकथनम्। अभेदेऽपि तेषामेव यथा—'अतितारुण्यविकासादनुदिवसविजृम्भमाणमदनायाः। दृगिव गतिर्गतिरिव गीर्गीरिव धीर्धीरिवातिवक्रा भूः॥' अत्र वक्रत्वं सर्वत्र एक एव साधारणधर्मः। एकस्मिन् बहूपमानसम्बन्धो मालोपमा, सापि पूर्ववद् द्वेधा। आद्या यथा—

'वाहिव्व वेज्जरहिओ धणरहिओ सुअणगेहवासोव्व।
रिउरिद्धि दंसणं विअ दूसहणिज्जो तुह विओऊ॥
(व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः सुजनगेहवास इव।
रिपुऋद्धिदर्शनमिव दुःसहस्तव वियोगः॥)

अत्र सर्वत्र दुःसहत्वमेक एव धर्मः। धर्मभेदे यथा—'मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय दुःखम्। कीर्तिं च दिक्षु वितनोति तनोति लक्ष्मीं किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥' अत्र रक्षणादयो धर्मा भिन्नाः। प्रशंसायामुपमा यथा-'आलप्य तां विशालाक्षीं तुतोष मनुजाधिपः। मुनिभिः साधितां कृत्वा सिद्धिं मूर्तिमतीमिव॥ 'सा त्वं सर्वगुणैर्हीनं संश्रिता पुरुषाधमम्। वने कण्टकिनं वल्ली दवदग्धमिव द्रुमम्॥' इति दिक्। किञ्च लक्षणविचारप्रस्तावे इहापि=मूलेऽपि, उक्ताः, अस्या उपमायाः कांश्चिद्भेदान् रूपके प्रदर्शयिष्यामः। तदनुसारेण इहैव ते भेदाः प्रकरणसाहित्येन व्याख्यायन्ते। रूपकवदुपमा अष्टविधा—केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषयसावयवा, एकदेशविवर्तिसावयवा, केवलश्लिष्टपरम्परिता, मालारूपश्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेति भेदात्। केवलत्वं मालानन्तर्गतत्वम्, निरवयवत्वञ्चोपमान्तरनिरपेक्षत्वम्। आद्या यथा—'उद्गाढदुर्दिनविसंष्ठुलवृत्तिरारादारब्धगात्रमलिनो वसनान्तलक्ष्मी। आमृष्टगण्डतिलकानि मुखान्यचुम्बद्रागीव रेणुरवनेः पुरसुन्दरीणाम्॥' यद्वा 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यादावाद्या। 'आह्लादिनी नयनयो रुचिरेन्दवीव कण्ठे कृतातिशिशिराम्बुजमालिकेव। आनन्दिनी हृदि गता रसभावनेव सा नैव विस्मृतिपथं मम जातु याति॥' इति द्वितीया। मालारूपत्वं चैकोपमेयकानेकोपमासामानाधिकरण्यमेव। 'कमलति वदनं यस्यामलयन्त्यलका मृणालतो बाहू। शैवालति रोमावलिरद्भुतसरसीव सा बाला॥' उपमानोपमेयानां शाब्दत्वात् सावयवा तृतीया। 'निश्वासा मलयानिला इव पिकालापानुकारा गिरो रक्ताशोकलताप्रवालसदृशं पाणिद्वयं वर्तते। हक्प्रोल्लासविजृम्भितं सुतनु ते श्रक्प्रतामायते स प्राप्याऽसमसायकोऽपि भवतीं लोकत्रयीनायकः॥' अत्र शाब्दीभिरुपमाभिः नायिकाया वसन्तलक्ष्मीसादृश्यसिद्धेरार्थत्वादेकदेशविवर्तनी सावयवा चतुर्थी।

'नगरान्तर्महीन्द्रस्य महेन्द्रमहितश्रियः। सुरालये खलु क्षीबा देवा इव विरेजिरे ॥' अत्रोपमेयस्यापि तेन सुमेरुणा मदिरागारस्योपमा क्षीबानां देवोपमाया उपाय इति श्लिष्टपरम्परिता पञ्चमी। 'लेखेव या चान्द्रमसी कलानां रसस्य या पुष्करिणीव पूर्णा। निष्कैतवस्थानमियं रुचीनामानन्दवद्भाति सरोरुहाक्षी ॥' अत्र चतुष्षष्टिकलाशृङ्गारकान्तीनां षोडशकलाजलेच्छासादृश्यात् षष्ठी। 'राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः। द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाभवत् ॥' इयं सप्तमी। 'ज्योत्स्नायन्ते तव गुणगणाः पूर्णचन्द्रायसे त्वं धारायन्ते विशिखनिवहा वारिवाहायसे त्वम्। एधायन्ते रिपुनृपतयो हव्यवाहायसे त्वं भृङ्गायन्ते विबुधनिवहा वीर पद्मायसे त्वम् ॥' इत्यष्टमी। 'ततः प्रतस्थे कौबेरीम्' इत्यादौ सावयवोपमाया विशिष्टोपमा। 'विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः' इत्यत्र पृष्ठगतसर्वतानिधिनेव तद्विशेष्यपृष्ठविधेर्विशेषणोपमया विशेष्योपमा, वैकृतप्रधानविधिनेव प्राकृततदङ्गकलापविधौ विशेष्यया तया विशेषणोपमा, अङ्गप्रधानगोचरप्रत्येकविधिकलापेनेव सर्वाङ्गविशिष्टप्रधानगोचरप्रयोगविधौ अवयवोपमया विशिष्टोपमा। 'हस्त इव भूतिमलिनो यथा यथा लङ्घयति खलः सुजनम्। दर्पणमिव तं कुरुते तथा तथा निर्मलच्छायम् ॥' इत्यत्र वाक्यभेदेन सेति भेदः। 'त्वदाननमधीराक्षम्' इत्यादौ विशिष्टोपमया अवयवोपमा। एवमसंख्या उपमाभेदा बोध्याः।

(चित्र०)

पुनश्चेयमुपमा संक्षेपतस्त्रिधा—क्वचित् स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, यथा—'स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादौ। क्वचिदुक्तार्थोपपादनपरा, यथा—'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादौ। यथा वा—

विश्रब्धघातदोषः स्ववधाय खलस्य वीरकोपकरः।
वनतरुभङ्गध्वनिरिव हरिनिद्रातस्करः करिणः ॥

क्वचिद्व्यङ्ग्यप्रधाना सा, व्यङ्ग्यस्य वस्त्वलङ्काररसरूपतया त्रैविध्यात् त्रिविधा। तत्र वस्तुध्वनिर्यथा—

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट-
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणरोचिः।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥

(भारती)

अत्र कृपाणस्य कुपितकालीकटाक्षसादृश्यवर्णनेन सकलरिपुबलक्षयः क्षणादेव करिष्यत इति वस्तु व्यज्यते। अलङ्कारध्वनिर्यथा—

पुनः यह उपमा संक्षेपतः तीन प्रकार की है—(१) स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता (२) उक्तार्थोपपादानपरा और (३) व्यङ्ग्यप्रधाना।

(१) स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता—जब उपमा का चमत्कार किसी दूसरे अर्थ को पुष्ट न करके अपने में ही समाप्त हो जाय, तो वहाँ स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता होती है। जैसे—

'नीचे भूतल में रक्त से नष्ट की गई तथा उसके ऊपर में हवा से कम्पित इधर-उधर उड़ाई

जाती हुई—वह धूलि, अंगार मात्र बची हुई अग्नि के पहले ऊपर उठे हुए धुएं के समान शोभित होती थी।' यहाँ स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता उपमा है।

(२) उक्तार्थोपपादान परा—जब किसी उक्त या कथित अर्थ (प्रतिपादित विषय) में अधिक स्पष्टता लाने के लिए उपमा प्रयुक्त होती है, तो वहाँ उक्तार्थोपपादानपराउपमा है। जैसे—

'असंख्य रत्नों के होने से हिमालय का वर्फ सौन्दर्य का नाशक नहीं हुआ, क्योंकि एक दोष गुण के समुदाय में चन्द्र की किरणों में कलंक की तरह लीन हो जाता है। यहाँ उक्तार्थोपपादान-परा उपमा है। इसी प्रकार 'विश्रब्धघातदोषः' इस श्लोक में भी उक्तार्थोपपादानपरा उपमा ही है।

(३) व्यंग्यप्रधाना—जहाँ पर उपमा किसी अलंकार या रस की सहायिका होती है, वहाँ व्यंग्यप्रधाना होती है। जैसे—

'सग्राम में आने पर योद्धाओं ने राजा के हाथ में मदान्ध गन्धगज (विजयावह हाथी) के मस्तकरूपी कपाट के अग्रभाग में प्रविष्ट एवं दृढ़ सम्बद्ध सघन शोणितरक्तिमा के समान कान्ति-वाला अत एव क्रोध से रक्तवर्ण शोभा को धारण करनेवाली भगवती काली के कटाक्ष के समान उस कृपाण (तलवार) को देखा।

यहाँ तलवार का काली कटाक्ष के साथ सादृश्य वर्णन के द्वारा ये राजा क्षण भर में ही सारे शत्रुओं का विनाश कर देंगे—यह वस्तु ध्वनित होती है। अलंकारध्वनि का उदाहरण जैसे—

(सुधा)

एवं रूपके प्रोक्तान् भेदान् कथयित्वा पुनः प्रकारान्तरेणोक्तानां भेदानां व्याख्यानमुप-क्रमितुं मूलमुत्थापयति—पुनश्चेति। इयमुपमा संक्षेपेण त्रिधा—स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, उक्तार्थोपपादनपरा, व्यङ्ग्यप्रधाना चेति भेदात्। उदाहरणान्याह—'स च्छिन्नमूलः' इत्यत्र प्रथमा, 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादौ द्वितीया। पूर्वमेतच्छ्लोकद्वयं व्याख्यातम्। व्यङ्ग्य-प्रधानां विभजते—व्यङ्ग्यस्येति। वस्त्वलङ्काररसरूपतया व्यङ्ग्यस्य त्रैविध्यात् तत्प्रधानो-पमापि त्रिविधेत्यर्थः। तत्राद्यामुदाहरति—दर्पान्ध इति। यस्य राज्ञः करे कृपाणः खड्गो युधि युद्धे, वीरैः कालीकटाक्ष इव व्यलोकि दृष्टः। कीदृशो दर्पेण मदेनान्धस्य गन्ध-गजस्य—'यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः। तं गन्धहस्तिनं विद्यान्नृपतेर्विज-यावहम्॥' इत्युक्तलक्षणस्य कुम्भ एव विशालतया तन्मध्यभाग एव कपाटम्, तस्य कूटे अग्रभागे या सङ्क्रान्तिः प्रवेशस्तदधीनं तेन वा निघ्नं दृढसम्बन्धं घनं निबिडं यच्छोणि-तम्, तेन शोणा रक्ता रोचिर्दीप्तिर्यस्य तादृशः, कटाक्षः कीदृशः? कोपेन कषाया लोहिता कान्तिर्यस्य तथाभूतः। वसन्ततिलकावृत्तम्—'प्रोक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इत्युक्तेः। अत्र वस्तुव्यङ्ग्यमवतारयति—अत्रेति। खड्गस्य क्रुद्धकालीकटाक्षोपमया सकल-रिपुक्षयः क्षणात् करिष्यत इति वस्तुव्यङ्ग्यसत्त्वादाद्या।

(चित्र०)

यशसि तव विकसितेऽनृप हिमकरकिरणच्छटाधवले।
भ्रमर इव पुण्डरीके विराजते विष्णुपदमेतत्॥

अत्रोपमालङ्कारेण यशसः पुण्डरीकवद्वैपुल्यस्य गगनस्य च भ्रमरवदल्प-त्वस्य प्रतीतेराश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यलक्षणोऽधिकालङ्कारो व्यज्यते। रसध्वनिः 'वागर्थाविव' इत्यादावुदाहृतः।

(भारती)

'चन्द्रमा की किरणों की छटाओं से भी अधिक धवल एवं आकाश में विकसित तुम्हारे यश रूपी चाँदनी में यह विष्णु के काले चरणचिह्न कमल में काले भौंरे की तरह शोभते हैं।'

इस उदाहरण में भ्रमर और गगन का उपमा अलंकार से यश का कमल की तरह, विस्तृत गगन का भ्रमर की तरह अल्पत्व प्रतीति, विस्तृत आधार से आधेयाधिक्य का वर्णन अधिक अलंकार का व्यंग्यत्व से अलंकारध्वनि की प्रतीति है। इसी प्रकार रसध्वनि का रघुवंश का प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव' व्याख्यात ही है।

(सुधा)

द्वितीयामुदाहरति—यशसीति । हिमकरश्चन्द्रः, तस्य किरणानां छटाभिः धवले विकसिते तव यशसि, एतद्विष्णुपदं वियत् पुण्डरीके भ्रमर इव विराजते। अलङ्कारध्वनिमाह—अत्रेति। भ्रमरगगनयोरुपमालङ्कारेण यशसा पुण्डरीकवद् वैपुल्यस्य गगनस्य च भ्रमरवदल्पत्वस्य प्रतीतेः पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनमित्युक्तलक्षणादनानुरूप्यलक्षणाधिकालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वाद् द्वितीया। तृतीया तु 'वागर्थौ' इत्यादौ स्पष्टैव।

(चित्र०)

कचिदेकत्रैव त्रिविधोऽपि ध्वनिर्दृश्यते यथा—

पश्यात्र नलिनीपत्रे बलाकापरिदृश्यते।
हरिन्मणिमये पात्रे शुक्तिकेव प्रतिष्ठिता॥

किमावयोः सङ्केतस्थानं भविष्यतीति प्रष्टुमनसो जनसमक्षमपृच्छतश्च प्रच्छन्नकामुकस्याभिप्रायमिङ्गितेन विदितवत्या विदग्धायाः सङ्केतस्थानसूचनार्थमिदं वचनम्। अत्र पद्मपत्रस्थितबलाकाया मरकतपात्रप्रतिष्ठितशुक्तिकासादृश्यवर्णनेन तस्यास्तद्वन्निश्चलत्वप्रतीतेराश्वस्तत्वं व्यज्यते। तेन तत्प्रदेशस्य निर्जनत्वं व्यज्यत इति वस्तुध्वनिः।

ततश्च तदेव सङ्केतस्थानमावयोरिति प्रकाशनात् संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनरूपसूक्ष्मालङ्कारध्वनिः।

एवं तदभिप्रायानुरूपवर्णनात् परस्परं रतिभावो व्यज्यत इति रसध्वनिश्च।

ननु रसादिध्वनिरसंलक्ष्यक्रम इति प्रसिद्धिः, कथमत्र तस्यानुरणनेन व्यङ्ग्यतोच्यते ? मैवम्; यत्र विभावानुभावादिवशादाशु भाविनी रसाभिव्यक्तिः, तत्रासंलक्ष्यक्रमता। अन्यत्र तु रसादिध्वनिरपि संलक्ष्यक्रम एव। तदुक्तमभिनवगुप्तपादाचार्यैः—'यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव, न वाच्यः कदाचिदपि; तथापि न सर्वोऽसंलक्ष्यक्रमस्य विषयः' इति। अत एव ध्वनिकारोऽपि—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इत्यत्र लज्जाख्यं सञ्चारिभावमनुरणनव्यङ्ग्यमुदाजहार।

(भारती)

कहीं कहीं एक ही जगह तीनों प्रकार की ध्वनि परिलक्षित होती है। जैसे—

'इस कमल के पत्र पर वलाका दिखाई पड़ती है, तुम देखो, केवल हरित मणि के पात्रपर शुक्ति की तरह यह प्रतिष्ठित प्रतीत होती है।'

यहाँ तीनों प्रकार की ध्वनि की एक साथ अवतारणा है। हम दोनों का एकान्त-मिलन स्थान कहाँ होगा? यह जानने के लिए आकुल हृदय—किन्तु अन्य लोगों के सामने विना पूछे ही, कामुक प्रिय की गुप्त चेष्टा से ही अभिप्राय को समझती हुई उस विदग्धा नायिका के संकेत-ज्ञापन के लिए यह श्लोक प्रयुक्त है। इस श्लोक में कमल के पत्ते पर स्थित वलाका से मरकत पात्र पर प्रतिष्ठित शुक्ति का सादृश्य वर्णन से उस नायिका का उस वलाका की तरह निश्चिन्तता से आश्वस्तता अभिव्यक्त होती है और उस वर्णन से ही उस प्रदेश की निर्जनता भी अभिव्यक्त होती है।— यह वस्तु-ध्वनि है।

उसके बाद उसी तथाकथित संकेत-स्थान पर हम दोनों का मिलन होगा—इस अभिव्यक्ति से संलक्षित सूक्ष्म अर्थप्रकाशन रूप सूक्ष्मालंकार ध्वनि है।

इसी प्रकार उस अभिप्राय के अनुरूप वर्णन से परस्पर रतिभाव अभिव्यक्त होने के कारण रसध्वनि भी है। फलतः हम कह सकते हैं कि यहाँ एक साथ वस्तु, अलंकार और रसध्वनि है।)

अब शंका करते हैं—रसादिध्वनि तो असंलक्ष्यक्रम के रूप में प्रसिद्ध है, फिर यहाँ उसके अनुरणन से कैसे व्यंग्यता कही गई—ऐसा नहीं कह सकते?। क्योंकि विभाव एवं अनुभाव आदि के वश से जहाँ शीघ्र उत्पन्न होने वाले रस की अभिव्यक्ति है—वहाँ स्पष्टतः असंलक्ष्यक्रमता है। दूसरी जगह तो रसादि ध्वनि भी संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ही है। अपने इस कथन के समर्थन में अभिनवगुप्ताचार्य के मत प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करते हैं—

'यद्यपि रसाभावादि रूप जो अर्थ है, वह ध्वन्यमान ही है—वह कभी भी वाच्य नहीं है— फिर भी सभी असंलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं हैं।'

इस प्रसंग में अर्थात् रसादिध्वनि भी संलक्ष्यक्रम ही है, इसके प्रमाण स्वरूप ध्वनिकार के मत भी प्रमाणस्वरूप उपस्थित करते हैं। जैसे—

'अंगिरा ऋषि के बोलने के समय नम्रमुखी पार्वती अपने पिता के पास बैठकर लज्जावश लीला-कमलपत्रों को गिन रही थी।'

यहाँ लीलाकमलपत्र की गणना से लज्जा नामक संचारिभाव की ध्वनि अनुरणन रूप से अभिव्यक्त है।

(सुधा)

त्रयाणामपि एकत्र दर्शनमित्याह—क्वचिदिति। उदाहरणमाह—यथेति।

अत्र नलिनीपत्रे बलाका विपकण्ठिका दृश्यते, त्वं पश्य, केव हरिन्मणिमये पात्रे प्रतिष्ठिता शुक्तिकेव। अत्र त्रिविधमपि ध्वनिमवतारयति—किमिति। आवयोः सङ्केतस्थानं भविष्यतीति प्रष्टुं चित्तस्य अपरसमक्षमपृष्ट्छतश्च गुप्तकामुकस्य चेष्टितेनाभिप्रायं ज्ञातवती या विदग्धा, तस्याः संकेतज्ञापनायेदं वाक्यम्। अत्र पद्मपत्रस्थबलाकाया मरकतपात्रस्थ-शुक्तिकोपमया तद्वन्निश्चलत्वप्रतीतेराश्वस्तरूपव्यङ्ग्येन प्रदेशस्य निर्जनतारूपवस्तुनो व्यञ्-

नाद्वस्तुध्वनिः। अलङ्कारध्वनिमाह—ततश्चेति। आवयोः संकेतस्थानमित्यर्थस्य ततः प्रकाशनात् सम्यग् लक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनात्मकप्रतिभया ज्ञातार्थस्यान्यानवगमप्रकारेण प्रकाशनलक्षणसूक्ष्मालङ्कारव्यञ्जनादलङ्कारध्वनिः। रसध्वनिमाह—एवमिति। एवमुपनायिकानुरोधेन वर्णनान्मिथो रतेरभिव्यक्ते रसध्वनिश्चेति समुदायार्थः। ननु ध्वनिद्वयं प्रथमोक्तमस्तु, रसध्वनिस्तु न संभवति, तस्यालक्ष्यक्रमत्वात्, 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः' इति सिद्धान्तादत्र क्रमस्य लक्ष्यत्वेन तदसम्भवादित्याशङ्कते—नन्विति। यत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिराशु रसाभिव्यञ्जनम्, तत्रालक्ष्यक्रम एवेति। अन्यत्र तु नियमो नेति समाधत्ते—मैवमिति। तत्र प्रमाणमाह—तदुक्तमिति। अभिनवगुप्तपादाचार्यैरुक्तं दर्शयति—रसभावादिरूपो योऽर्थः स ध्वन्यमान एव, न कदाचिदपि वाच्यः, तथापि सर्वोऽसंलक्ष्यक्रमस्य न विषयः, विभावादीनां स्पष्टतयानभिव्यक्तेः, किन्त्वनुरणनरूपस्यापि विषय इति तदर्थः। तत्र तद्ग्रन्थानुकूलध्वनिकारोक्तिमपि प्रमाणयति—अत एवेति। यतो रसादिध्वनेरपि संलक्ष्यक्रमत्वं तत एवेत्यर्थः। ध्वनिकारोऽपि लज्जाख्यसञ्चारिभावस्यानुरणनव्यङ्ग्यत्वमुदाहृतवानित्यर्थः। तद्वृत्तमुदाहरणमाह—एवमिति। देवर्षौ एवंवादिनि सति पितुः पार्श्वे अधोमुखी, लज्जयेति शेषः। तदुत्पन्नभावत्वाद् अधोमुखीति भावः। लीलाकमलपत्राणि गणयामास सञ्चख्यौ। लीलाकमलपत्त्रगणनया लज्जाख्यसञ्चारिभावध्वनिरिति, अवहित्थाख्यसञ्चारिणो व्यक्तिरिति तु मल्लिनाथादयः। रसगङ्गाधरकृतस्तु—'स्ववैचित्र्यमात्रपरः' इत्यादिविभागनियमोऽयुक्त एव, 'नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव।' इति वाच्यवस्तूपस्कारिकायाः शरदिन्दूपमाया अक्रोडीकरणात्। अलङ्कारभूतोपमासु स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ताया उपमायाः संग्रहे व्यङ्ग्योपमाव्यावर्तकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणस्य दुराग्रहत्वादलक्षणीयासंग्रहे लक्षणीयाया असंग्रहस्यान्याय्यत्वात्। इयञ्चोपमा मुख्यार्थस्य साक्षादुपस्कारिणी, क्वचित् परम्परया। आद्योदाहृता। द्वितीया यथा—'नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः' पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे वन्दिनः। इदं तदवधि प्रभो यदवधि प्रवृद्धा न ते 'युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥' अत्र मुख्यार्थस्य राजविषयककविरतेरुपस्कारस्य यदैव तव कोपोदयः तदैव रिपूणां सम्पदो भस्मसाद्भविष्यन्तीति वस्तुन उपकारिका नयनकोणशोणद्युतेर्युगान्तदहनोपमा। व्यङ्ग्योऽप्ययमलङ्कारः—'अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृष्यसि। भूमण्डलमिदं मूढ केन वा विनिभालितम्॥' कस्यचिद्विदेशस्थितस्य किरणैरात्मानं सन्तापयन्तं चन्द्रं प्रत्येषोक्तिः। अस्ति मम प्रियायाः कदापि बहिरनिर्गतायाः, अत एव त्वयाप्यदृष्टाया आननं त्वत्सदृशमिति प्रतीयमाना उपमा ध्वन्यमानायां चन्द्रविषयासूयायां वक्तृगताया-मलङ्कारः। एवं प्राचीनैर्बहुधोपमा निरूपिता।

एषैव यदा सकलवाक्येन प्राधान्येन ध्वन्यते, तदालङ्कारभावं परिहृत्य ध्वनिव्यपदेशहेतुः। क्वचिदियं शब्दशक्तिमूलानुरणनविषया, क्वचिदर्थशक्तिमूलानुरणनविषया। आद्या यथा—'अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः। धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम्॥' इति। अनेकार्थशब्दानां प्रकरणेन कृतेऽपि शक्तिसङ्कोचे तन्मूलध्वननेन प्रतीयमानदिग्गजस्याप्रस्तुतस्याभिधानं मा भूदिति प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयरूपः प्रधानवाक्यार्थतया कल्प्यते। द्वितीयो यथा—'अद्वितीयं रुचात्मानं दृष्ट्वा किं चन्द्र हृष्यसि। भूमण्डलमिदं सर्वं केन वा परिशोधितम्॥' अत्र मूढादिपदाप्रयोगादसूयादेरप्रत्ययान्मुख्यतयोपमैव व्यङ्ग्या, इति वदन्ति।

(चित्र०)

अथोपमाव्यङ्ग्यप्रसङ्गादुपमाध्वनयः प्रदर्श्यन्ते। तत्र शब्दशक्तिमूलोपमाध्वनिर्यथा—

किरति प्रकरं गवां प्रकामं सुमनःस्वच्छतरं निधौ कलानाम्।
कतिचित् कलयन्ति यत्प्रबोधं कतिचिन्नेति स तत्स्वभाव एव॥

एकस्माद् गुरोर्विद्यां शिक्षमाणानां केचित्प्रगल्भन्ते, नान्य इतिविशेषो बोधकस्य गुरोस्तेषु तेषु बोधनविशेषकृतो न भवति; किन्तु तत्स्वभावकृत इत्यस्मिन्नर्थे प्रकृतेऽप्रकृतार्थस्योपमानत्वकल्पनयाऽत्रैवमुपमा व्यज्यते। यथा चन्द्रे किरणानां प्रकरमविशेषेण सर्वपुष्पेषु विकिरति कानिचिद्विकसन्ति नान्यानीत्येष विशेषस्तत्तत्पुष्पस्वभावकृत एव, न तु चन्द्रस्य किरणविशेषकृतः। एवं गुरौ सर्वशिष्येष्वविशेषेण वाङ्मयं विकिरति, तेषु बोधाबोधविशेषोऽपि तत्तत्स्वभावकृत एवेत्यत्र श्लिष्टानां गोसुमनःकलानिधिशब्दानां वागादिपर्यायपरिवृत्त्यसहिष्णुत्वाच्छब्दशक्तिमूलानुरणनरूपध्वनिः।

(भारती)

इसके बाद उपमा व्यंग्य के प्रसंग से उपमाध्वनि भी प्रदर्शित करते हैं। उसमें सर्वप्रथम शब्दशक्तिमूल उपमाध्वनि के उदाहरण देते हैं। जैसे—

'कलाओं के निधि चन्द्रमा एवं गुरु पुष्पों में तथा शिष्यों में क्रमशः किरण एवं ज्ञान रूपी किरणों का समान रूप से वितरण करते हैं। किन्तु उन किरणों से कुछ पुष्प खिलते हैं, कुछ नहीं—इसी प्रकार गुरु-ज्ञान से कुछ शिष्य प्रबुद्ध होते हैं और कुछ नहीं। इसमें किरण का क्या दोष? यह तो अपना-अपना स्वभाव ही है।'

एक ही गुरु से अनेक शिष्य विद्याग्रहण एक ही साथ करते हैं। किन्तु गुरु से विद्याग्रहण करते हुए शिष्यों के बीच कुछ शिष्य प्रगल्भता प्राप्त करते हैं, कुछ नहीं। यह विशेषता गुरु के गुण के कारण नहीं होती, प्रत्युत शिष्यों के अपने-अपने स्वभाव से ही होती है। इस अर्थ में प्रकृत से अप्रकृत अर्थ का उपमानत्व की कल्पना से शब्दशक्ति उपमा रूप से अभिव्यक्त होती है। जैसे—चन्द्रमा अपनी किरणें सभी पुष्पों पर समान रूप से वितरित करता है। उन पुष्पों में से कुछ विकसित होते हैं, सभी नहीं। इसमें चन्द्रकिरण की कोई विशेषता नहीं होती, अपितु पुष्पों के अपने गुण होते हैं। इसी प्रकार गुरु सभी शिष्यों में समान रूप से अपनी वाणीविशेष का वितरण करते हैं—किंतु, उनमें कुछ को अधिक बोध होता है और कुछ अबुद्ध ही रह जाते हैं। यह उनके अपने-अपने अलग अलग स्वभावकृत गुण-दोष ही हैं।

इस उदाहरण में श्लिष्ट 'गवादि' शब्दों का 'वागादि' रूप पर्याय का परिवृत्ति असहिष्णुत्व से शब्दशक्तिमूलक जो अनुरणन है—इसी रूप में ध्वनि है।

(सुधा)

उपमाध्वनीन् कथयिष्यमाणस्तदवतरणिकामाह—अथेति। ध्वनिर्द्विविधः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। आद्यमुदाहरति—तत्रेति। कलानां निधौ चन्द्रे गुरौ च सुमनस्सु

पुष्पेषु शिष्येषु च अच्छतरं स्वच्छं गवां किरणानाञ्च समूहं प्रकरं किरति सति यत् कतिचित् शिष्याः पुष्पाणि प्रबोधं ज्ञानं विकसनं च कलयन्ति कतिचिन्न, तत् सतः पदार्थस्य स्वभाव एवेत्यन्वयः। अत्र शब्दशक्त्या उपमाध्वनिं प्रतिपादयति—एकस्मादिति। गुरोर्विद्या शिक्षमाणानां शिष्याणां मध्ये केषाञ्चिदेव प्रागल्भ्यं नान्येषामिति विशेषो गुरोर्गुणैः शिष्येषु ज्ञापनविशेषेण कृतो न भवति, किन्तु शिष्यस्वभावकृत एव। अस्मिन्नर्थे प्रकृते अप्रकृतार्थस्योपमानत्वकल्पनं शब्दशक्त्योपमारूपं व्यज्यते। अप्रकृतार्थं दर्शयति—यथेति। समूहम् अविशेषेण = विशेष्याभावेन पुष्पमात्रे किरति = विक्षिपति, तेषु केषाञ्चिद् विकसनं नान्येषामेव विशेषः, पुष्पस्वभावकृतश्चन्द्रकिरणविक्षेपविशेषेण यथा न कृतः। एवं सर्वशिष्येषु विशेषाभावेन वाङ्मयं विकिरति गुरौ शिष्येषु बोधाबोधविशेषोऽपि शिष्यस्वभावकृत एव। अत्र श्लिष्टानां गवादिशब्दानां वागादिरूपपर्य्यायस्य परिवृत्तेरसहिष्णुत्वात् शब्दशक्तिमूलं यदनुरणनं तद्रूपो ध्वनिः।

(चित्र०)

अर्थशक्तिमूलो वस्तुनोपमाध्वनिर्यथा—

वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥

अत्रार्थशक्त्या चन्द्रे दृष्टिसमागम इत्यनेन चन्द्रे सीतामुखसादृश्यं व्यज्यते।

(भारती)

अर्थशक्तिमूलक वस्तु से उपमा ध्वनि के उदाहरण। जैसे—

(राम की उक्ति है)—'हे वायु! तुम—जहाँ मेरी कान्ता है—वहाँ जाओ। वहाँ कान्ता के शरीर का स्पर्शकर लौटने के वाद मेरे शरीर का भी स्पर्श करो। ऐसा करने से तुममें मेरे गात्र स्पर्श से चन्द्र-दृष्टि-समागम की अनुभूति होती है।'

इस उदाहरण में अर्थशक्ति से 'चन्द्र दृष्टि समागम' के द्वारा चन्द्रमा में सीता के मुख सादृश्य की अभिव्यक्ति होती है।

(सुधा)

अर्थशक्तिमूलमाह—वाहीति। रामोक्तिः, यत्र कान्ता, तत्र वाहि=गच्छ, तां कान्तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश। त्वयि मे गात्रसंस्पर्शः चन्द्रे दृष्टेः समागमः। तं ध्वनिं प्रकटीकरोति—चन्द्रे दृष्टिसमागम इत्यर्थशक्त्या चन्द्रे सीतामुखसादृश्यं व्यज्यत इत्यर्थशक्तिमूलध्वनिः।

(चित्र०)

अलङ्कारेणोपमाध्वनिर्यथा—

यैर्दृष्टोऽसि तदा ललाटपतितप्रासप्रहारो युधि
स्फीतासृक्स्रुतिपाटलीकृतपुरोभागः परान् दारयन्।
तेषां दुःसहकामदेहदहनप्रोद्भूतनेत्रानल-
ज्वालालीभरभासुरे पुररिपावस्तं गतं कौतुकम्॥

अत्रान्यत्कार्यं प्रकुर्वतोऽशक्यान्यवस्तुकरणात्मको विशेषालङ्कारः। उक्तरूपं

त्वां पश्यतो यथोक्तविशेषणविशिष्टपुररिपुदर्शनमासीदिति निबन्धनात् करणस्य क्रियासामान्यात्मनो दर्शनेऽपि सद्भावाद्यद्यप्ययमर्थो न वाच्यस्तथापि तस्मिन् कौतुकास्तमयवर्णनाद् व्यङ्ग्यः। तेन तदा त्वं तथाभूतः पुररिपुरिव स्थितोऽसीत्युपमा व्यज्यते। एवमुपमादिगुदाहृता।

(भारती)

अलंकार से उपमाध्वनि। जैसे—

'हे राजन्! तुम जिन पुरुषों के द्वारा—उस युद्ध में ललाटपर प्रास (भाला) के प्रहार से रक्त प्रस्रवण के कारण आरक्त हुए अग्रभाग वाले दुश्मनों का संहार करते हुए पुररिपु भगवान शंकर की तरह देखे गए, क्योंकि उन पुरुषों के तथा कामदेव के दुःसह देहों को जलाने के निमित्त नेत्र रूपी अग्नि की रक्ताभ ज्वाला भगवान शंकर के स्वरूप को भी आश्चर्यचकित कर रही थी।'

इस उदाहरण में अन्य कार्य करते हुए अशक्ति से अन्य वस्तु करणात्मक विशेषालङ्कार है। पूर्व कथित रूप में तुम को देखते हुए तथाकथित विशेषणों से विशिष्ट भगवान शंकर के दर्शन हुए। इस निबन्धन से करण का क्रिया सामान्यात्मक दर्शन में भी उसकी उपस्थिति से यदपि यह अर्थ वाच्य नहीं है, तथापि उसमें 'कौतुकास्तमय' वर्णन से व्यंग्य है। उससे उस समय तुम उस प्रकारपुररिपु अर्थात् भगवान शंकर की तरह स्थित थे, यह उपमा अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार दिंमात्र उपमा उदाहृत हुई।

(सुधा)

क्वचिदलङ्कारेणोपमाध्वनिरपि दृश्यते। तमुदाहरति—अलङ्कारेणेति। यैरिति। हे राजन् त्वं यैः पुरुषैः तदा युधि ललाटे पतितः प्रासप्रहारो यस्य, स्फीतस्य प्रवृद्धस्यासृजो रुधिरस्य स्रुतिः प्रस्रवणं तेन पाटलीकृतोऽरुणीकृतः पुरो भागो यस्य, परान् शत्रून् दारयन् त्वं दृष्टोऽसि, तेषां पुरुषाणां दुस्सहश्चासौ कामश्च तस्य देहस्तस्य दहननिमित्तं प्रोद्भूतो यो नेत्राग्निः तस्य ज्वालास्तासां पङ्क्तिभरेण भासुरे रक्ते पुररिपौ शिवे आश्चर्यमस्तङ्गतमित्यन्वयः। अत्र उदाहरण इत्यर्थः। राजदर्शनक्रियया तादृशविशेषणविशिष्टशिवदर्शनवर्णनादन्यत् कर्तुं प्रवृत्तस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च स इत्युक्तलक्षणोऽन्यत् कार्यं कुर्वतः तदन्यवस्तुकरणरूपो विशेषालङ्कारः। क्रियाकरणाभावं दर्शने आशङ्कय निराकरोति—करणस्येति। क्रियासामान्यरूपकृञर्थीभूतकरणस्य दर्शनेऽपि सत्त्वान्न दोषः। अत्राशङ्कते, यद्यप्ययमलङ्कारोऽर्थेन वाच्यो न व्यङ्गय इति शेषः। तथापि कौतुकास्तमयरूपे न तद्वर्णनाद्व्यङ्गयः। तेनोपमाध्वनिमाह—तेनेति। तदा त्वं तथाभूतः पुररिपुरिव स्थितोऽसि इत्युपमा व्यज्यते। तथा चालङ्कारध्वनिः। प्रकरणमुपसंहरति—एवमिति। वस्तुतस्तु तद्भेदानामानन्त्यमिति भावः। तथा च भरतः—

'एकस्यैकेन साङ्कर्यादेकस्य बहुभिस्तथा। अनेकेषां तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा॥'

काव्यालोककारः—'अपर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोर्यतः।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्॥' इति।

(चित्र०)

अथोपमादोषाश्चिन्त्यन्ते—न्यूनत्वमधिकत्वं लिङ्गभेदो वचनभेदोऽसादृश्यमसंभव इत्यस्याः षड् दोषानाहुः।

तत्रोपमेयादुपमानस्यापकृष्टत्वं न्यूनत्वम् ; उत्कृष्टत्वमाधिक्यम् । द्वयमपि जात्या प्रमाणेन धर्मतो वेति प्रत्येकं त्रिविधम् । तत्र जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिक्ये यथा—

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ।
वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ।
अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥
पातालमिव नाभिस्ते पर्वताविव च स्तनौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसंनिभः ॥

(भारती)

इसके बाद उपमा के दोष पर विचार करते हैं; (१) न्यूनत्व, (२) अधिकत्व, (३) लिङ्गभेद, (४) वचनभेद, (५) असादृश्य एवं (६) असंभव । ये उपमा के ६ दोष हैं । उपमेय से जहाँ उपमान की अपकृष्टता द्योतित होती है, वहाँ न्यूनत्व दोष होता है । उत्कृष्टत्व से आधिक्य का बोध होता है । दोनों ही जात्या प्रमाण से अथवा धर्म से होते हुए प्रत्येक तीन प्रकार के दोष हैं । उनमें जाति प्रमाणगत न्यूनत्वाधिक्य में उदाहरण जैसे—

'चाण्डालों की तरह तुमने अत्यधिक साहस किया । वह्नि स्फुलिंग अर्थात् अग्निकण की तरह यह सूर्य शोभता है । पद्मासनासीन अर्थात् कमल के आसन पर आसीन यह चक्रवाक युग के आदि में प्रजा का निर्माण करते हुए भगवान ब्रह्मा की तरह शोभ रहा है । तुम्हारी नाभि पाताल की तरह है और तुम्हारे स्तनद्वय पहाड़ की तरह हैं और तुम्हारी चोटी यमुना नदी की तरह है ।'

जातिन्यूनता के उदाहरण, जैसे—'तुमने चाण्डालों की तरह परम साहस किए ।' यहाँ जाति से उपमान की न्यूनता है । प्रमाण से न्यूनत्व के उदाहरण, जैसे—'वह्निस्फुलिंग की तरह यह सूर्य शोभता है ।' यहाँ स्फुलिंग उपमान की अपेक्षा सूर्य उपमेय की न्यूनता है । जातितः आधिक्य के उदाहरण, जैसे—'कमलस्थित चक्रवाक शोभित है' 'युगादि में प्रजा का निर्माण करते हुए ब्रह्मा की तरह ।' यहाँ चक्रवाक् से ब्रह्मा का आधिक्य है । प्रमाणाधिक्य के उदाहरण देते हैं—'तुम्हारी नाभि पाताल की तरह है और तुम्हारे स्तनद्वय पहाड़ की तरह हैं ।' यहाँ प्रमाण से नाभि एवं स्तनद्वय रूपी उपमेय से क्रमशः पाताल एवं पहाड़ रूपी उपमान का आधिक्य है ।

(सुधा)

उपमादोषान् वक्तुमारभते—अथेति । न्यूनत्वादीनस्याः षड् दोषानाहुः । तथा च वामनः—'हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्यासंभवास्तद्दोषाः' इति । 'हीनत्वं जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य' इति वामनोक्त्या हीनत्वमपि । त्रिधेति । तत्र न्यूनत्वादीनि यथा—न्यूनत्वमधिकत्वं लिङ्गभेदो वचनभेदोऽसादृश्यमसम्भवश्चेति । उपमेयादुपमानस्यापकृष्टत्वं न्यूनत्वम् तदाधिक्यमधिकत्वम् । वामनोक्तमेतद्द्वयोर्विभागमाह—द्वयमपीति । जातिप्रमाणधर्मैः प्रत्येकं तद्द्वयं त्रिविधमित्यर्थः । क्रमेणोदाहरति—तत्रेति । जातिन्यूनतोदाहरणमाह—चण्डालैरिति । 'युष्माभिश्चाण्डालैरिव परमं साहसं कृतम्' इत्यत्र जात्या उपमानस्य न्यूनता । प्रमाणतो न्यूनत्वमाह—वह्निस्फुलिङ्ग इति । इह स्फुलिङ्ग उपमानं सूर्योपमेयापेक्षया न्यूनता । जातित आधिक्यं यथा—अयमिति ।

पद्मस्थितश्चक्रवाको विराजते । युगादौ प्रजा विनिर्मित्सुर्भगवान् ब्रह्मेव । अत्र चक्रवाकाद् ब्रह्मण आधिक्यम् । प्रमाणाधिक्यमुदाहरति—पातालमिति । अत्र प्रमाणतो नाभ्यादे-रुपमेयात् पातालाद्युपमानस्याधिक्यम् । न च जातेरुत्कर्षापकर्षानुपपत्तिः व्यक्तौ तत्सत्त्वेन तदभेदेन स्थिताया जातेरपि तत्सम्भवात् ।

(चित्र०)

अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यन्तमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थ-तायामिमे न्यूनत्वाधिक्ये पर्यवस्यतः । धर्मतो न्यूनत्वाधिक्ये तु हीनाधिकपद-त्वरूपौ दोषौ । यथा—

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥
स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥

अत्राद्य उपमानस्य मौञ्जीप्रतिबिम्बस्तडिल्लक्षणधर्मो न निबद्ध इति न्यूनत्वम् । द्वितीये उपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशेन शशिनो ग्रहणमतिरिच्यत इत्याधिक्यम् ।

(भारती)

यहाँ पूर्व कथित चारो प्रकार के उदाहरणों में चाण्डाल प्रभृति उपमान से उपमेय अर्थ कदर्थित है । इस अनुचितार्थ दोष में उन दोनों का पर्यवसान है । धर्मसे न्यूनत्व और आधिक्य में हीन और अधिकपदत्व रूप दोष के उदाहरण देते हैं । जैसे—

'मेखला से चिह्नित काले मृगचर्म रूपी वस्त्र को धारण करते हुए वे मुनि नारद नील वर्ण मेघ से आश्लिष्ट सूर्य की तरह शोभते हैं ।'

'पीतवस्त्र पहने हुए वे भगवान श्रीकृष्ण हाथ में शंख धारण कर अत्यन्त मनोहर भीम शरीर की शोभा प्राप्त की । वे रात के उस मेघ की तरह शोभ रहे थे–जो बिजली, इन्द्रधनुष एवं चन्द्रमा से सुशोभित हो ।'

यहाँ प्रथम उदाहरण में उपमान का मौञ्जी प्रतिबिम्ब एवं तडिल्लक्षण धर्म निबद्ध नहीं रहने के कारण न्यूनत्व है । दूसरे में उपमेय का शंखादि के निर्देश से उससे प्रतिबिम्बोपमानीभूत चन्द्रमा उपमान से आधिक्य है ।

(सुधा)

अत्रेति । चतुर्षूदाहरणेष्वित्यर्थः । उपमानैश्चण्डालादिभिरुपमेयार्थः कदर्थित इत्यनु-चितार्थदोषे तयोः पर्यवसानमित्यर्थः । धर्मतो न्यूनत्वाधिक्ययोस्तु हीनाधिकपदत्वरूपपद-दोषयोरन्तर्भाव इत्याह—धर्मत इति । उपमेयापेक्षयोपमानस्य न्यूनधर्मतामुदाहरति—स मुनिरिति । मौञ्ज्या मेखलया लाञ्छितश्चिह्नितः कृष्णाजिनपटं वहन् स मुनिर्नारदः नीलमेघभागेनाश्लिष्टो रविरिव व्यराजत । अत्र मौञ्जीनिरूपितोपमानवाचकपद-न्यूनता । आधिक्यमुदाहरति—स इति । प्रगृहीतशार्ङ्गः पीतवासाः स कृष्णः मनोज्ञभीमं

वपुः प्राप। विद्युदिन्द्रायुधवान् रात्रौ शशिना संसृज्यमानो मेघ इवेत्यन्वयः। अत्र शङ्करूपोपमेयानिर्देशेन तत्प्रतिबिम्बोपमानीभूतशशिन उपमानादाधिक्यमिति। एतदेवाह—अत्राद्य इत्यादिना।

(चित्र०)

लिङ्गवचनभेदो यथा—

भाग्याभावात् करस्थोऽपि चिन्तारत्नमिव च्युतः।
सक्तवो भक्षिता देव शुद्धा कुलवधूरिव॥

इमौ प्रक्रमभङ्गान्तर्भूतौ। कथं च्युतत्वादिरत्र साधारणधर्मो भवितुं नार्हति। उपमानोपमेययोर्मध्ये यत्र लिङ्गवचनसारूप्यं-तत्रैवास्य समन्वयेनोभयान्वयाभावात्। तथा चोपात्तविशेषणविशिष्टस्यैवोपमानत्वमुपमेयत्वं वा भवेत्। प्रतीयमानेन तु धर्मान्तरेणोपमा निर्वाह्या स्यात्। ततश्चोपमानोपमेययोः कस्यचित् सविशेषणत्वमन्यस्य नेत्येव विशेषणप्रक्रमभङ्गरूपता।

(भारती)

लिंगवचन भेद के उदाहरण, जैसे—

'भाग्य ठीक नहीं रहने पर हाथ में आए चिन्तामणि रत्न भी खो जाता है। जिस प्रकार शुद्धा कुल वधू सत्तू खाकर भी निर्वाह करती है।'

यहाँ पूर्वार्द्ध में लिङ्ग-भेद है। उत्तरार्द्ध में वचनभेद है। 'च्युत' इस पुंल्लिंग का 'रत्न' नपुंसक लिङ्ग के साथ समन्वय है। इसी प्रकार कुलवधू इस एक वचन का 'सक्तवः' इस बहुवचन के साथ अन्वय है। इसीका समर्थन करते हुए लिखते हैं—'च्युतत्वादि' का यहाँ साधारण धर्म संभव नहीं है। क्योंकि जहाँ उपमान और उपमेय वृत्ति का लिङ्गादि से सारूप्य है—वहीं इसका अन्वय संभव है। यहाँ दोनों में इस दृष्टि से अन्वय का अभाव है। फलस्वरूप उपात्त विशेषण से विशिष्ट का ही उपमानत्व अथवा उपमेयत्व होता है। प्रतीयमान से तो धर्मान्तर के द्वारा उपमा का निर्वाह होता है। उसके बाद उपमान और उपमेय का कहीं सविशेषणत्व और कहीं उसका न होना ही विशेषण प्रक्रमभङ्ग रूपता दोष है।

(सुधा)

लिङ्गभेदवचनभेदावुदाहरति—यथेति। पूर्वार्द्धे लिङ्गभेदः, उत्तरार्द्धे वचनभेदः। च्युत इति पुंल्लिङ्गस्य रत्ने क्लीबेन, कुलवधूरित्येकवचनस्य सक्तव इति बहुवचनेन अन्वयसत्वात्। एतयोर्भग्नप्रक्रमान्तर्गतत्वमित्याह—इमाविति। तदेव समर्थयते—कथमित्यादि। च्युतत्वादीनां साधारण्यं न सम्भवति, यत्रोपमानोपमेयवृत्तिलिङ्गादिसारूप्यं तत्रैव तदन्वयसत्त्वेन इहोभयत्रान्वयाभावात्। तत्फलितमाह—तथा चेति। गृहीतविशेषणावच्छिन्नस्योपमानोपमेयता स्यात्। प्रतीयमानधर्मेण तु तस्यानिर्वाह्यत्वम्। तयोर्मध्ये एकस्य सविशेषणत्वेऽन्यस्य तदभावे अर्थविशेषस्य भङ्गात् क्रमभङ्गरूपतैव।

(चित्र०)

केचित्तु कालपुरुषलोडर्थादिभेदमपि दोषमाहुः। यथा—

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः।

त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥

अत्र समुद्रनेमिमत्यजमित्यन्वेति न तु त्यक्ष्यामीति । पुरुषभेदो यथा—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥

नीवारे आभातीत्यन्वेति न त्वाभासीति । विध्यादिभेदो यथा—

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥

भवन्तमलभतेत्यन्वेति, न तु लभस्वेत्याशीः । असादृश्यासंभवावुपमाया-मनुचितार्थतायां पर्यवस्यतः । असादृश्यं यथा—

ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।

काव्यस्य शशिना सादृश्यमप्रसिद्धम् । यद्यर्थानां रश्मीनां च सादृश्यं प्रसिद्धं स्यात्तदा तदीयबिम्बप्रतिबिम्बभावेन काव्यशशिनोः सादृश्यमप्रसिद्धम-प्यानीयेत, न च तदप्यस्ति । यथा वा—

एष विन्ध्याचलः सान्द्रकुञ्जोल्लसितनिर्झरः ।
भालेक्षणफुरद्वह्निशिखाटोप इवेश्वरः ॥

(भारती)

कुछ लोग कालभेद, पुरुषभेद तथा विध्यादिभेद को भी दोष कहते हैं । जैसे—

'उस अपयश को दूर करने के लिए फल को मालूम करते हुए भी निःस्पृह होकर, सीता को पिता की आज्ञा से सम्पूर्ण पृथ्वी के समान छोड़ दूँगा ।'

यहाँ उपमान में 'अत्यजम्' इसके साथ अन्वय है न कि 'त्यक्ष्यामि' के साथ । अतः यहाँ काल-भेद दोष है । पुरुष भेद का उदाहरण देते हैं, जैसे—

'हे राजन् ! सत्पात्रों को अपनी सारी सम्पत्ति दे डालने से बचे हुए शरीर से स्थित आप वनके रहने वाले मुनिजनों से फल तोड़ लिए जाने पर डंडी मात्र से बचे हुए नीवार नामक मुनि-धान्य के समान सुशोभित हो रहे हैं ।'

यहाँ 'नीवार' में 'आभाति' के साथ अन्वय की जगह 'त्वम् आभासि' ऐसा अन्वय है । अतः यहाँ पुरुषभेद दोष है । विध्यादि भेद के दोष दिखाते हैं । जैसे—

'पुत्र के अतिरिक्त सभी प्रकार के श्रेय तुम्हें प्राप्त हैं । पुनरुक्तभूत सभी आशीर्वाद से सिद्ध वस्तुएँ भी तुम्हें उपलब्ध हैं । किन्तु तुम्हारे पिता की तरह स्तुत्य आत्मगुणानुरूप पुत्र तुम प्राप्त करो, यही आशीर्वाद है ।'

'भवन्तम्' यहाँ 'अलभत' इसके साथ अन्वय है । न कि 'लभस्व' इसका आशीर्वाद के साथ । यही यहाँ विध्यादि दोष है । इन सबों का अनुचित अर्थ में पर्यवसान है । क्योंकि उपमा में असादृश्य असंभव है । असादृश्य का उदाहरण, जैसे—

फैली हुई अर्थरश्मि वाले काव्यस्वरूप चन्द्रमा को गूंथता हूँ। इस उदाहरण में काव्य का चन्द्रमा के साथ सादृश्य प्रसिद्ध नहीं है। यदि अर्थों का रश्मि के साथ सादृश्य प्रसिद्ध हो तो उसके द्वारा निरूपित बिम्बप्रतिबिम्बभाव से काव्य और चन्द्र के अप्रसिद्धि सादृश्य को भी लाया जा सकता है। न कि ऐसा कहें कि वह भी है हीं। जैसे—'अत्यन्त निविड़ कुञ्जों से प्रवाहित निर्झर वाला यह विन्ध्यनामक पर्वत मस्तिष्क पर स्फुरित वह्निशिखा वाले ईश्वर की तरह है। यहाँ बिलकुल ही सादृश्य नहीं है।

(सुधा)

मतान्तरमाह—केचिदिति। कालभेदपुरुषभेदविध्यादिभेदानां दोषं वदन्ति। तत्र कालभेदमुदाहरति—तस्येति। तस्यावर्णस्यापनोदाय फलप्रवृत्तौ अपत्योत्पत्तौ उपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षः निस्पृहः सन् वैदेहसुतां पुरस्तात् पूर्वं पितुराज्ञया समुद्रनेमिं भूमिमिव त्यक्ष्यामि। उपमानेऽत्यजमित्यन्वेति, न तु त्यक्ष्यामीति कालभेदः। पुरुषभेदमुदाहरति—शरीरमात्रेणेति। हे नरेन्द्र! तीर्थं सत्पात्रे प्रतिपादिता ऋद्धिर्येन 'तीर्थं शास्त्रेऽध्वरे पात्रे' इति विश्वः। 'पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद् दर्शनेष्वपि' इति हलायुधः। शरीरमात्रेण, अरण्ये भवा मनुष्या आरण्यकाः मुन्यादयः, 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ्। तैरुपात्ता फलप्रसूतिर्यस्य, स्तम्बेन काण्डेनावशिष्टो नीवार इव, प्रकृत्यादित्वात्तृतीया, आभासि शोभसे। नीवारे आभातीत्यस्यान्वयात्; त्वम् आभासीत्यन्वयात; पुरुषभेदः। विध्यादिभेदमुदाहरति—आशास्यमिति। सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुषः प्राप्तवतः ते तव अन्यत् पुत्रातिरिक्तम्, आशास्यम् आशीःसाध्यम् आशंसनीयम्, आशास्यं पुनरुक्तम्, सर्वं सिद्धमित्यर्थः, किन्तु ईड्यं स्तुत्यं भवन्तं भवतः पितेव आत्मगुणानुरूपं स्वानुगुणमित्यर्थः। पुत्रं लभस्व प्राप्नुहीत्यन्वयः। भवन्तमित्यत्र अलभतेत्यन्वयाल्लभस्वेत्यस्यानन्वयाद्विध्यादिभेदः। एतेषामनुचितार्थे पर्यवसानम्, उपमायां सादृश्यासम्भवादिति तदाशयः। असादृश्यमुदाहरति—ग्रथ्नामीति। अत्रोदाहरणे काव्यस्य शशिना सादृश्यं प्रसिद्धं न भवति, अर्थानां रश्मिभिः सादृश्यप्रसिद्धौ तन्निरूपितबिम्बप्रतिबिम्बभावेन तयोरप्रसिद्धयोरप्यानयनं घटेत। न चार्थरश्मिसादृश्यं प्रसिद्धमिति, न तयोः सादृश्यमित्याशयः। उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। एष इति। सान्द्रा निबिडाः कुञ्जेभ्यः उच्चलिता निर्झराः प्रवाहा यस्य तादृश एष विन्ध्यः पर्वतः, भालेक्षणात् स्फुरन् वह्निशिखानामारोपो यस्य तादृश ईश्वर इव वर्तते। अत्र सर्वथैव सादृश्यं नास्तीति पूर्वतो विशेषः।

(चित्र०)

असंभवो यथा—

निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात्॥

ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न संभवन्तीत्यसंभवः।

केचिदुपमानाप्रसिद्धिं पृथग्दोषमाहुः। यथा—

बाष्पदिग्धेक्षणं वक्त्रं तरुण्याः परिदृश्यते।
तुषारसिक्तच्छदनं तरङ्गिण्या इवोत्पलम्॥

अत्र बाष्पदिग्धेक्षणं तुषारसिक्तच्छदनमित्यनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन सादृश्यसंभवेऽप्युत्पलस्य मुखं प्रत्युपमानत्वाप्रसिद्धिरेव दोषः।

(भारती)

असंभव दोष के उदाहरण देते हैं; जैसे—

'मण्डलाकार धनुष के बीच से प्रदीप्त बाण उसके मुख से उसी प्रकार गिरे जैसे प्रकाशित सूर्य मंडल से वारिधारा गिरती हो।'

जल की धारा प्रकाशमान सूर्यमंडल से कभी गिरती नहीं, अतः यहाँ असंभव दोष है।

कोई उपमान की अप्रसिद्धि को अलग दोष मानते हैं; जैसे—अश्रु से आप्लावित आँखों से युत उस नायिका के मुख तुषारपात से कुम्हलाया नदी के कमल की तरह दिखाई पड़ता है।

इस उदाहरण में 'वाष्पदिग्ध नेत्र' और 'तुषारसिक्तच्छदन' का विम्वप्रतिविम्बभाव से सादृश्य रहने पर भी उत्पल का मुख के प्रति उपमानत्व की अप्रसिद्धि ही दोष है।

(सुधा)

असम्भवमुदाहरति—यथेति। धनुर्मण्डलमध्यभाजो दीप्ताः शराः, तस्य आस्यादिव निपेतुः। दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्काद् जाज्वल्यमाना वारिधारा इवेत्यन्वयः। अत्र दोषं व्याकरोति—ज्वलन्त्य इति। अम्बुधाराः प्रकाशमानाः अर्कमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्यसम्भवः। क्वचिन्मतेऽन्योऽपि दोष उपमाया भवतीति तन्मतमाह—केचिदिति। उपमानाप्रसिद्धमुदाहरति—यथेति। तरुण्या नायिकायाः वाष्पदिग्धे ईक्षणे यत्र तत्=आननं तरङ्गिण्या नद्यास्तुषारेण सिक्तदलमुत्पलमिव परिदृश्यते इत्यन्वयः। अत्र दोषं प्रकटयति—अत्रेति। वाष्पदिग्धनेत्रतुषारसिक्तच्छदनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन सादृश्यसत्त्वेऽपि उत्पलस्य मुखं प्रति उपमानत्वस्य प्रसिद्धेरभाव एव दोषः।

(चित्र०)

अथैषां दोषाणां यथासंभवमपवादाः प्रदर्श्यन्ते—कविसमयसम्मतेषु जात्या प्रमाणेन च न्यूनत्वाधिक्ये न दोषौ। यथा—

तवाननसमश्चन्द्रश्चन्द्रतुल्यं त्वदाननम्।
द्व्यणुकं मध्यसदृशं मध्यं द्व्यणुकसंन्निभम्॥

अत्र कविसमयप्रसिद्धेर्न किञ्चिदनौचित्यम्। उपमेयोपमानगताधिकधर्मोपादानस्यैकैकधर्मकानेकोपमार्थत्वेन वा साधारणधर्मवत्तासंपादनार्थत्वेन वा धर्मिस्वरूपविशेषलाभार्थत्वेन वा विधान्तरेण वा प्रस्तुतकार्यान्तरार्थत्वे धर्मतो न्यूनत्वाधिक्ये न दोषौ। यथा—

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवं क्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना॥

इत्यत्रोपमेयगताधिकविशेषणोपादानस्यैकैकविशेषणकानेकोपमानार्थत्वात्।

क्षीरोदवेला च सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रा च शरत्त्रिधामा।
अनुव्यधात् क्षौमनिवासिनीं तामच्छप्रभं दर्पणमादधानाम्॥

इत्यस्यैव श्लोकस्य पाठे उपमानगतानेकधर्मोपादानमेकैकधर्मकोपमाद्वयार्थमित्युपमानस्य धर्मत आधिक्यान्न दोषः।

(भारती)

पूर्वकथित यथासंभव इन दोषों के अपवाद दिखाते हैं—कविसंकेत सम्मतों में जाति और प्रमाण से न्यूनत्व और आधिक्य में दोष नहीं होता, जैसे—

'तुम्हारे मुख के समान चन्द्रमा है और चन्द्रमा के सदृश तुम्हारा मुख है। द्व्यणुक मध्य के सदृश है और मध्य द्व्यणुक के समान है।'

इस उदाहरण में कविसमयप्रसिद्धि के कारण किसी भी प्रकार का अनौचित्य दोष नहीं है। उपमेय और उपमानगत अधिक धर्म के उपादान का एक-एक धर्म के अथवा अनेक उपमा अर्थ से साधारण धर्मवत्ता अथवा संपादन अर्थ में अथवा धर्मिस्वरूप विशेष लाभ के अर्थ से अथवा विधान्तर से, अथवा प्रस्तुत कार्यान्तर अर्थ में धर्म से न्यूनत्व और आधिक्य में दोष नहीं है।

इसी श्लोक के पाठ में उपमानगत अनेक धर्म के उपादान में एक-एक धर्मक दोनों उपमा के अर्थ में उपमान का धर्म से आधिक्य होने पर दोष नहीं है।

(सुधा)

अत्र कथितदोषापवादं दर्शयितुमारभते—अथेति। न्यूनत्वाधिक्ययोः दोषाभावमाह—कवीति। कविसङ्केतसम्मतेषु जात्यादिना तौ न दोषाविति उदाहरति—तवेति। अत्रोपमेयोपमालङ्कारः। अस्मिन् कविसंकेतप्रसिद्धेरनौचित्याभावान्न दोषः। प्रकारान्तरेण तयोरपवादमाह—एकैकधर्मकानेकोपमार्थत्वेन; साधारणधर्मवत्तासम्पादनार्थत्वेन; विधानान्तरेण; उपमेयोपमानगताधिकधर्मोपादानस्य प्रस्तुतकाव्यान्तरार्थता चेत्, धर्मतो न्यूनत्वाधिकत्वयोर्न दोष इत्यन्वयः। आद्यहेतुना न्यूनत्वरूपदोषाभावमुदाहरति—यथेति। सफेनपुञ्जा क्षीरोदवेला इव पर्याप्तचन्द्रा शरत्त्रियामेव नवक्षौमवासिनी भूयो नवं दर्पणमादधती सा बभावित्यन्वयः। अत्र न्यूनत्वस्यादोषतामाह—अत्रेति। वेलात्रियामयोरुपमानयोर्दर्पणक्षौमप्रतिबिम्बीभूतधर्मस्यानुपादानेऽप्येकैकधर्मकानेकोपमारूपप्रयोजनसत्त्वेन न्यूनत्वं न दोषः। आधिक्यस्यादोषतां तेनैव हेतुनोदाहरति—फेनपुञ्जयुता क्षीरोदवेला परिपूर्णचन्द्रा शरत्त्रियामा च क्षौमनिवासिनीमच्छकान्ति दर्पणमादधतीं तामनुव्यधादिति पाठान्तरेऽन्वयः। उपमानगतं यदनेकधर्मोपादानम्, तस्यैकैकधर्मकोपमाद्वयप्रयोजकतयोपमानस्य धर्मत आधिक्यं न दोषः।

(चित्र०)

इति विज्ञापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः॥

अत्र विज्ञापितविशेषणं ध्यानस्तिमितलोचन इति साधारणधर्मवत्तासंपादनार्थमिति न्यूनत्वं न दोषः।

ज्यानिनादमभिगृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाच्छविः।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी॥

१० चित्र०

अत्र निबिडेति विशेषणं कालिकायां बहुलक्षपाच्छविरिति साधारणधर्मवत्तासंपादनार्थमित्याधिक्यं न दोषः।

(भारती)

'इस प्रकार राजा दिलीप से निवेदन किए गए वशिष्ठऋषि ध्यान से दोनों आँखें मुंदे हुए क्षण मात्र, सुप्त मछलियों वाले अगाध जलाशय की तरह स्थिर हुए।'

इस उदाहरण में विज्ञापित विशेषण को 'ध्यानस्तिमितलोचन' इस साधारण धर्मवत्ता को सम्पादनार्थ न्यूनत्व दोष नहीं हुआ।

इस प्रकार उन दोनों द्वारा किए गए धनुष टंकार को सुनकर कृष्णपक्ष की रात्रि के समान शोभावाली अर्थात् काली और चंचल कपालकुण्डलों वाली ताड़का—बलाकायुक्त सघन मेघावली के समान वहाँ पहुँच गई। यहाँ निविड़ अर्थात् सघन विशेषण घनावली में काली रात की अधिक छवि रूपी साधारण धर्मवत्ता सम्पादन के अर्थ रहने पर भी आधिक्य दोष से मुक्त है।

(सुधा)

साधारणधर्मवत्तासम्पादनार्थत्वेन न्यूनत्वस्यादोषत्वमुदाहरति—इतीति। इति राज्ञा दिलीपेन विज्ञापितः ऋषिर्वसिष्ठो ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य निश्चलाक्षः सन् क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ इत्यन्वयः। अत्र विज्ञापित इति विशेषणस्य ध्यानस्तिमितलोचनरूपसाधारणधर्मवत्तासम्पादनप्रयोजनतयोपमाने तत्प्रतिबिम्बीभूतविशेषणानुपादानरूपन्यूनत्वस्य न दोषत्वम्। तेनैवाधिक्यादोषतामुदाहरति—ज्यानिनादमिति। अथ तयो रामलक्ष्मणयोः ज्यानिनादमभिगृह्णती शृण्वतीत्यर्थः। बहुलक्षपाच्छविः कृष्णपक्षरात्रिवर्णा 'बहुलः कृष्णपक्षे च सिते च बहुला गवि' इति विश्वः। चले कपाल एव कुण्डले यस्याः सा ताडका निबिडा सान्द्रा बलाकावती 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इतीनिः, कालिकेव घनावलीव 'कालिका योगिनीभेदे कार्ष्ण्ये गौर्यां घनावलौ' इति विश्वः। प्रादुरास प्रादुर्बभूवेत्यन्वयः। अत्र निबिडेति विशेषणं घनावल्यां बहुलक्षपाच्छविरिति साधारणधर्मवत्तासम्पादनार्थमिति हेतोराधिक्यं न दोषः।

(चित्र०)

अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुद्वती।
पश्चिमाद्यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना॥

अत्रातिथिं नामेति विशेषणं धर्मिस्वरूपविशेषलाभार्थमित्याधिक्यं न दोषः।

(भारती)

कुमुदनामक नाग की छोटी बहन कुमुद्वती ने कुश से 'अतिथि' नामक पुत्र को उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार चेतना अर्थात् बुद्धि रात्रि के अन्तिम प्रहर से प्रसाद अर्थात् स्वच्छता प्राप्त करती है।

इस उदाहरण में विज्ञापित अतिथि नाम विशेषण का धर्मिविशेष लाभार्थ से प्रसाद अर्थात् स्वच्छता में उसके अभाव कथन रूप न्यूनत्व का दोष नहीं है।

(सुधा)

धर्मिस्वरूपविशेषलाभार्थरूपहेतुनाऽन्यूनतामुदाहरति—अतिथिमिति । कुमुद्वती काकुत्स्थाद् कुशात् अतिथिं नाम पुत्रं चेतना बुद्धिः पश्चिमादन्तिमाद् यामिन्या रात्रेर्यामात् प्रहरात् प्रसादं वैशद्यमिव प्राप । अत्र श्लोके अतिथिनामविशेषणस्य धर्मिणो विशेषलाभार्थतया प्रसादे तदभावकथनरूपस्य न्यूनत्वस्य न दोषता ।

(चित्र०)

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥

अत्र दिव्यमिति विशेषणं धर्मिविशेषणं लाभार्थमित्यधिकत्वं न दोषः । एवं प्रकृतकथासंघटनचमत्कारादिकार्यान्तरत्वेऽपि द्रष्टव्यम् ।

एवं च प्रस्तुतकार्यान्तरोपयोगरहितानां बिम्बप्रतिबिम्बभावेऽपि न साधारणधर्मतैकप्रयोजनतया संभाव्यमानानामुपमेयोपमानविशेषणानां प्रतिविशेषणानिर्देश एव न्यूनत्वमधिकत्वं च दोषः ।

(भारती)

एकरस अर्थात् सर्वदा मधुर रसवाला वर्षा का जल प्रत्येक स्थान में अन्य लवणादि रसों को जिस प्रकार प्राप्त करता है, उसी प्रकार विकाररहित तुम भी सत्वादि गुणों में (सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं विनाशकर्त्ता रूप) विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हो ।

यहाँ 'दिव्यम्' यह विशेषण धर्मिविशेष लाभार्थ प्रयुक्त होने से दोषमुक्त है ।

इस प्रकार से प्रकृत अर्थसदृश जो चमत्कारादि अन्य कार्य है, उस अर्थ में भी वहां-वहां इन दोनों की अदोषता दर्शनीय है ।

इसी प्रकार प्रस्तुत जो कार्यान्तर है, उससे प्रयोजनशून्य बिम्बप्रतिबिम्ब भाव में साधारणधर्मता नहीं है, तथा एक प्रयोजनत्व से संभाव्यमान उपमेय एवं उपमानों के विशेषणों का प्रतिबिम्ब विशेषण के निर्देश में न्यूनत्व एवं अधिकत्व दोष है ।

(सुधा)

तेनवाधिक्यादोषतामुदाहरति—रसान्तराणीति । एकरसं मधुररसं हि विभवं दिव्यं पयः वर्षोदकं देशे देशे ऊषरादिनानादेशे अन्यान् रसान् रसान्तराणि लवणादीनि यथाऽश्नुते प्राप्नोति । एवमविक्रियो निर्विकार एकरूप इत्यर्थः । त्वं गुणेषु सत्त्वादिषूपाधिषु स्थिते इत्यर्थः, अवस्थाः स्रष्टृत्वादिरूपा अश्नुषे इत्यन्वयः । अत्र दिव्यमिति विशेषणस्य धर्मे विशेषलाभार्थतया अधिकत्वं न दोषः । उपसंहरति—एवं प्रकारेण प्रकृतार्थसदृशं यच्चमत्कारादि कार्यान्तरं तदर्थत्वेऽपि तत्र तत्रानयोरदोषत्वं द्रष्टव्यम् । कुत्र तयोर्दोषत्वमत आह—एवञ्चेति । प्रस्तुतं यत्कार्यान्तरम् तत्प्रयोजनशून्यानां बिम्बप्रतिबिम्बभावे न साधारणधर्मता, तथा एकप्रयोजनत्वेन सम्भाव्यमानानामुपमेयोपमानयोर्विशेषणानां प्रतिबिम्बविशेषणस्य निर्देशे तयोर्दोषत्वमित्यर्थः ।

(चित्र०)

कार्यान्तरार्थानामप्यनुगामिनामतया विशेषणनिर्देशेन वा साधारणीकरणे त्वधिको गुणः। यथा—'ज्यानिनादमभिगृह्णती' इति श्लोके ज्यानिनादमभिगृह्णतीत्युपमेयविशेषणं ताडका स्वयमेव जिघांसया प्रादुर्भूय प्रथममभिद्रुतवती। रामेण हतेति स्त्रीवधानौचित्यपरिहारार्थत्वेऽप्युपमानसाधारणम्। कालिकायामपि गर्जितशालिन्यामतिशयोक्त्या तद्विशेषणानुवृत्तेः।

तथा—'नृपं तमावर्त–' इति श्लोके 'अन्यवधूर्भवित्री' इत्यस्य व्यतिक्रमणार्थत्वेऽपि सागरगामिनीति तत्प्रति विशेषणनिर्देशः कृतः।

(भारती)

कार्यान्तर प्रयोजन रूप विशेषणों के अनुगामित्व से अथवा विशेषण निर्देश से जहाँ साधारणीकरण होता है, वहाँ आधिक्य का गुणत्व दोष नहीं होता। उदाहरणस्वरूप पूर्वव्याख्यात श्लोक 'ज्यानिनाद……' उपमेय 'ज्यानिनाद' इत्यादि विशेषण का स्वयं राम को मारने की इच्छा से प्रादुर्भूत ताड़का प्रथम दौड़ने या उद्यत होने के कारण राम के द्वारा मारी जाने पर **'स्त्रीवध रूप जो अयोग्यता है'** उसके परिहार में **'गर्जितशालिन्याम्'** इस अतिशयोक्ति से उसके विशेषण की अनुवृत्ति के द्वारा उपमान साधारणत्व से उसका आधिक्य गुण ही है।

तथा—**'नृपं तमावर्त्त'** पूर्व व्याख्यात इस श्लोक में **'दूसरे की पत्नी होगी'** इस व्यतिक्रमण अर्थ में भी **'सागरगामिनी'** यह विशेषण उसके प्रति निर्देशित है।

(सुधा)

विधान्तरं दर्शयति—कार्यान्तरार्थानामिति। कार्यान्तरप्रयोजनानां विशेषणानामनुगामित्वेन विशेषणनिर्देशेन वा यत्र साधारणीकरणं तत्राधिक्यस्य गुणत्वं न दोषतेति तद्भावः। आद्यमुदाहरति—ज्यानिनादमिति। उपमेये ज्यानिनादमित्यादिविशेषणस्य स्वयमेव जिघांसया रामं हन्तुमिच्छया प्रादुर्भूतताडका प्रथमाभिद्रवणेन हेतुना रामेण हतेति स्त्रीवधरूपं यदयोग्यत्वं तत्परिहारार्थत्वे गर्जितशालिन्यां कालिकायामतिशयोक्त्या तद्विशेषणस्यानुवृत्तेरुपमानसाधारणत्वात्तदाधिक्यं गुण एवेति भावः। द्वितीयमुदाहरति—नृपमिति। 'अन्यवधूर्भवित्री' इत्यस्य व्यतिक्रमणार्थतायामपि सागरगामिनीति विशेषणस्य साधारण्यादाधिक्यस्य गुणत्वमिति तदर्थः।

(चित्र०)

यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते, स तत्र न दोषः, उभयानुगतिक्षमत्वात्। यथा—'भीमकान्तैर्नृपगुणैः'।

तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव॥

(भारती)

जहाँ लिंग वचन भेद में भी सामान्याभिधायी पद का रूप भेदों की आपत्ति है, वहाँ उन दोनों की अदोषता है। क्योंकि यहाँ उपमेय और उपमान दोनों अनुगत समर्थ हैं। जैसे—भयानक

और मनोरम राजगुणों के कारण आश्रितों को वह राजा दिलीप, जलजंतु और रत्नों के कारण समुद्र के समान दूर रहने योग्य और सेवा करने योग्य हुए।

यहाँ नृप गुणों के और रत्नों के अर्थात् उपमेय और उपमान के पुंल्लिग एवं नपुंसक लिंगजन्य लिंगभेद रूप दोष नहीं है।

अन्य ललनाओं से भिन्न उसके मधुर वेप उसी के विभ्रम की तरह अत्यन्त शोभाधायक हैं।

यहाँ ऊपर शोभाधारण रूप साधारण धर्म, वाचक पद का रूपभेद के अभाव 'वेप' और 'विभ्रम' में एक वचन और बहुवचन रूप वचनभेद का दोप नहीं है।

(सुधा)

अथ लिङ्गभेदवचनभेदयोरदोषतामाह—यत्रेति। यत्र तयोर्भेदेऽपि सामान्याभिधायिपदस्य रूपभेदानापत्तिस्तत्र तयोरदोषत्वम्, उपमेयोपमानानुगतौ समर्थत्वात्। तत्र लिङ्गभेदस्यादोषत्वमुदाहरति यथा—भीमकान्तैरिति। अत्राधृष्यत्वाभिगम्यत्वरूपसाधारणधर्मस्य रूपान्तरप्राप्तेरभावात्, नृपगुणानां यादोरत्नानां चोपमेयोपमानानां पुंल्लिङ्गनपुंसकरूपलिङ्गभेदो न दोष इत्यर्थः। वचनभेदस्यादोषतामुदाहरति—तद्वेष इति। अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः तद्वेषः तस्याः वेषः मधुरतामृतः तदीया विभ्रमा इव परां शोभां दधते स्म, इत्यन्वयः। अपरशोभाधारणरूपसाधारणधर्मवाचकस्य पदस्य रूपभेदाभावेन वेषविभ्रमयोरेकवचनबहुवचनरूपवचनभेदस्य न दोषः।

(चित्र०)

सामान्याभिधायिपदस्य स्वरूपभेदापत्तावपि लिङ्गवचनभेदो महाकविप्रयोगेषु दृश्यते।

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥
प्रवृद्धो हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी॥ इत्यादौ।

(भारती)

कहीं साधारण धर्मवाचक पद का स्वरूप भेद आपत्ति में भी महाकवि के प्रयोगों में लिंग, वचन भेद दिखाई देते हैं। जैसे—

जिस प्रकार रोगी को कड़वी किन्तु हितकर औषधि भी प्यारी होती है, उसी प्रकार उस राजा दिलीप का द्वेप करने योग्य 'वैरी' होता हुआ भी सज्जन प्यारा होता था और प्रिय होते हुए भी दुर्जन सांप से काटी हुई अँगुली की भाँति त्याज्य होता था।

बढ़े हुए चन्द्रमा और समुद्र भी समय पर क्षीण होते हैं। किन्तु उन चन्द्रमा एवं समुद्र के समान सतत बढ़नेवाले वे 'अतिथि' नामक राजा हुए जो उक्त दोनों की तरह वर्धिष्णु तो थे, किन्तु क्षयी नहीं थे अर्थात् सर्वदा वे समृद्धिशाली ही बने रहे। इन दोनों उदाहरणों में महाकवि प्रयोग के कारण वचन भेद दोष नहीं है।

(सुधा)

क्वचित् साधारणधर्मवाचकपदस्य स्वरूपभेदापत्तावपि महाकविप्रयोगेषु लिंगवचन-

भेदसत्त्वमित्याह—सामान्याभिधायीति। उदाहरति—द्वेष्योऽपीति । शिष्टो जनो द्वेष्यः शत्रुरपि आर्तस्य रोगिण औषधमिव तस्य संमतोऽनुमत आसीत्। दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि उरगेण क्षता सर्पक्षताङ्गुलिरिव त्याज्य आसीत। अत्र त्याज्यादेः स्वरूपभेदापत्तावपि तदुपादानाल्लिङ्गभेदो न दोषः। वचनभेदमुदाहरति—प्रवृद्ध—इति। प्रवृद्धश्चन्द्रो हीयते, समुद्रोऽपि तथाविधश्चन्द्रवदेव हीयते। स राजा ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समा वृद्धिर्यस्य तत्समवृद्धिश्चाभूत्। तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयी नाभूत्।

(चित्र०)

कालादिभेदेन तु भूयांस्युदाहरणानि। 'एतादृशीषु लोकसिद्धत्वाल्लिङ्गादिभेदो न दोषः' इति वामनः। एवं गुणदोषव्यवस्थायां सहृदयानां हृदयमेव प्रमाणम्। उक्तं हि दण्डिना—

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकते अपि।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥
स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयं वक्त्येषा स्त्री पुमानिव।
प्राणा इव प्रियोऽयं मे विद्या धनमिवार्जिता॥
भवानिव महीपाल देवराजो विराजते।
अलमंशुमतः कक्षामारोढुं तेजसा नृपः॥
इत्येवमादि सौभाग्यं न जहात्येव जातुचित्।
अस्ति च क्वचिदुद्वेगः प्रयोगे वाग्विदां यथा॥
हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः।
भर्तृभक्तो भटः श्वेव खद्योतो भाति भानुवत्॥
ईदृशं वर्ज्यते सद्भिः कारणं तत्र चिन्त्यताम्। इति।

कविसमयप्रसिद्धौ सत्यामसादृश्यं न दोषः। यथा—'चन्द्रधवला कीर्तिः' इत्यादौ।

(भारती)

काल आदि भेदों के तो अनेकों उदाहरण हैं। 'ऐसी उपमाओं में लोकसिद्धि के कारण लिङ्गादि भेद दोष नहीं माने जाते हैं'—ऐसी मान्यता वामन की है। ऐसी गुण दोष की व्यवस्था में सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं। उक्त कथन की प्रामाणिकता में दण्डी के द्वारा प्रतिपादित वचन देते हैं। जैसे—

भिन्न लिङ्ग वचन में तथा–न्यूनता और अधिकता में भी जहां बुद्धिमान लोगों को उद्वेग नहीं होता—उपमा के लिए दोष नहीं माना जाता है। इसका उदाहरण देते हैं—नारी की तरह यह षण्ढ (क्लीव) चलता है और यह स्त्री पुरुष की तरह चलती है। धन की तरह अर्जित यह मेरी विद्या प्राणों की तरह प्रिय है। आपकी तरह यह पृथ्वीपति देवराज की तरह विराज रहे हैं। यह राजा अपने तेज से सूर्यमंडल पर भी आरोहण में समर्थ है। इस प्रकार ये सौभाग्य कहीं नहीं छोड़ते हैं। (जहाँ उद्वेग है—उसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं) वाग्विद् के प्रयोगों में कहीं-कहीं उद्वेग भी है। जैसे—हंसी की तरह शुभ्र चन्द्र है और सरसी की भाँति निर्मल आकाश है। स्वामिभक्त

वीर कुत्ते की तरह हैं और सूर्य की तरह जुगनू शोभते हैं। सज्जन लोग ऐसे प्रयोगों को वर्जित समझते हैं, इसका कारण विचारणीय है।

कविसमय प्रसिद्धि में असादृश्य रहने पर भी दोष नहीं है। जैसे 'चन्द्रधवलाकीर्त्तिः' इत्यादि में। यहाँ कीर्त्ति में धवलत्व की प्रसिद्धि के अभाव में तथा असादृश्य में भी कविसंकेत प्रसिद्धि के कारण दोष नहीं है।

(सुधा)

अत्र वचनभेदो न दोषो महाकविप्रयोगात्। उपसंहरति—कालादिभेदेनेति। बहून्युदाहरणानि ज्ञातव्यानीति शेषः। अत्र वामनोक्तिं प्रमाणयति—एतादृशीष्विति। उपमासु इत्यर्थः। उभयोः कथनयोः विनिगमकाभावमाशंक्य परिहरति—एवमिति। सहृदयानामिति। काव्यवासनापरिपक्वबुद्धीनामित्यर्थः। एतदेवार्थं दण्डयुक्त्या प्रमाणयति—नेत्यादि। भिन्ने लिङ्गवचने उपमादूषणायालं न, हीनाधिकते अपि तथा, तदर्थमलं नेत्यर्थः। कुत्रेत्याह—यत्र बुद्धिमतामुद्वेगो नेत्यर्थः। तदुदाहरति-स्त्रीवेति। यत्रोद्वेगः, तदुदाहरति—अस्ति चेति। अत्र कारणं सहृदयहृदयमेव चिन्त्यतां विचार्यतामित्यर्थः।

कविसंकेतप्रसिद्धावसादृश्यस्य दोषत्वं नास्तीत्याह—कविसमयेति। उदाहरति—यथेति। कीर्तौ धवलत्वस्य प्रसिद्धत्वाभावेऽपि असादृश्येऽपि कविसंकेतप्रसिद्धेः सत्वान्न दोषः।

(चित्र०)

उपमेयगतासंभावितत्वविवक्षायामुपमानस्यासंभवो न दोषाय। यथा—'चन्द्रबिम्बादिव विषम्' इत्यादौ। श्लिष्टसाधारणधर्मायामन्यत्रापि सहृदयहृदयाह्लादिन्यां कल्पितोपमानायामुपमायामप्रसिद्धत्वं न दोषः। यथा—

कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभातवेलेव।
हरमूर्तिरिव हसन्ती भाति विधूमानलोपेता॥
'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्द्धि नारङ्गकम्'॥

इत्यादौ।

एवमन्येऽपि दोषापवादप्रकारा विद्वद्भिश्चिन्तनीयाः।

इति चित्रमीमांसायामुपमाप्रकरणम्।

(भारती)

उपमेयगत असंभावितत्व की विवक्षा में उपमान का असंभव दोष नहीं होता है। जैसे—'चन्द्रबिम्ब की तरह जहर' इत्यादि में। इसी प्रकार श्लिष्ट साधारण धर्म में दूसरी जगह भी सहृदय हृदय के लिए आह्लादक कविकल्पित उपमान और उपमा में अप्रसिद्धि दोष नहीं होता है। जैसे—

बहुत वितर्कों से युक्त कवि की मति की भांति सम्मिलित चक्रवाक, प्रातःकालीन समय की तरह धूमरहित अग्निरूप लोचन से युक्त भगवान शिव की मूर्त्ति की तरह आयासप्रचुरा

चक्राकारा रचना शोभती है। यहाँ अप्रसिद्ध रहने पर भी दोष नहीं है। पूर्व व्याख्यात दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर कहते हैं—ऐसे मत्तहूण के चिबुकरूपी उपमान का कविकल्पित होने के कारण अप्रसिद्ध रहने के कारण दोष नहीं है। उपमा के दोषों का उपसंहार करते हुए दीक्षित जी लिखते हैं—इस प्रकार अन्य दोषों के अपवाद भी विद्वज्जन स्वयं विचारें।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायामुपमालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

उपमेये असम्भवत्वविवक्षायामुपमानासम्भवस्यापि कविसंकेतप्रसिद्धासम्भवस्यापि न दोषत्वमित्याह—उपमेयगतेति। तदुदाहरति—चन्द्रबिम्बादिति। श्लिष्टसाधारणधर्मोपमायां सहृदयहृदयाह्लादिन्यां कविकल्पितोपमानोपमायां चाप्रसिद्धेर्न दोषत्वमित्याह—श्लिष्टेति। तत्राद्यामुदाहरति—कविमतिरिति। बहुलवितर्कयुता कविमतिरिव मिलितचक्रवाका प्रभातवेलेव धूमरहिताग्निरूपलोचनोपेता शिवमूर्तिरिव बहुलोहमयी आयसप्रचुरा रचितचक्राकारा धूमरहिताग्न्युपेता हसन्ती भाति शोभते इत्यर्न्वयः। अत्राप्रसिद्धेर्न दोषत्वमित्यर्थः।

द्वितीयमुदाहरति—सद्य इति। अत्र तादृशमत्तहूणचिबुकस्योपमानस्य कविकल्पितत्वेनाप्रसिद्धेर्न दोषत्वमित्यर्थः। उपमादोषापवादानुपसंहरति—एवमन्येऽपीति। तथा हि—लौकिक्यां समासाभिधानायां उपमाप्रपञ्चे च लिङ्गवचनभेदयोरदुष्टत्वमिति वामनाचार्यः। लौकिक्यां समासगम्यायां चोपमायामुपमाप्रपञ्चे प्रतिवस्तूपमादौ चेत्यर्थः। लौकिक्यां लिङ्गभेदो यथा—'छायेव पुरुषस्तस्याः पुरुष इव स्त्री' इति। अत्र छायापदे पुंस्त्वस्य पुरुषपदे च स्त्रीत्वस्य बाधितत्वेऽपि लौकिकत्वान्न दोषः। तत्रैव वचनभेदो यथा—'पश्यामि लोचने तस्याः पुष्पं पुष्पलिहो यथा।' इहोपमानोपमेययोर्भिन्नवचनत्वम्। समासाभिहितायां यथा—

> अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
> अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जडतामबलाजनः॥

'भुजलता' इत्यत्र लिङ्गभेदस्य न दोषः। तत्रैव वचनभेदो यथा—

> सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
> विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः।
> ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
> च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः॥

अत्र न्याय इव प्रसूनाञ्जलिरञ्जलिस्थानि प्रसूनानीत्युपायति प्रकाशकारोक्तेर्वचनभेदः। एवं साधारणधर्मसमासेऽपि लिङ्गभेदो न दोषः। यथा—

> मुक्तं मुक्तागौरमिह क्षीरमिवाभ्रैर्वापीष्वन्तर्लीनमहानीलशिलासु।
> शस्त्रीश्यामैरंशुभिराशु द्रुतमम्भश्छायामच्छामृच्छति नीलां सलिलस्य॥

इत्यत्र साधारणधर्मसमासे भिन्नलिङ्गत्वं न दोषः। उपमाप्रपञ्चो यथा—

> शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
> दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

अत्राश्रमवासिजनवनलतयोर्लिङ्गभेदो निन्दायामेव तात्पर्ये उपमानस्य जातिहीनता न दोषः। यथा—

चाण्डालश्च दरिद्रश्च समाविति मतिर्मम।
चाण्डालस्य न गृह्णन्ति दरिद्रो न प्रयच्छति॥

एवमुपमानपदे तद्धर्मविशिष्टोपमानबोधकतया तद्धर्मप्रतिपादने उपमेये धर्मस्याधिक्यं न दोषः।

अभिहन्ति हन्त कथमेष माधवं सुकुमारकायमनवग्रहः स्मरः।
अचिरेण वैकृतविवर्तदारुणः कलभं कठोर इव कूटपाकलः॥

अत्र कलभपदेनैव सुकुमारकायताप्रतीत्या तदंशे न तदपेक्षा। एवं न्यूनपरिमाणताप्रत्यायनतात्पर्ये उपमानस्य परिमाणहीनत्वं न दोषः। यथा—'दिव्यहरेर्मुखकुहरे विस्तीर्णे पर्णंति व्योम' अत्र पर्णस्योपमानस्य गगनापेक्षया हीनपरिमाणत्वेऽपि नृसिंहमुखपरिणाहवर्णन एव तात्पर्यात् तस्य न दोषत्वमित्याद्यूह्यम्। एतदन्तःकृत्याह—अन्येऽपीति। प्रकारभेदा विचारणीया इत्यलम्।

धरानन्दविरचितोपमाव्याख्यानसंग्रहे।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम्॥

इति भरतपुरनिवासिनो वसिष्ठगोत्रीयमिश्ररामबलस्य सुतेन धरानन्देन रचितायां
चित्रमीमांसाटीकायां सुधाख्यायामुपमालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अथोपमेयोपमानिरूपणम्

उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि ।
उपमेयोपमा सा स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्तिता ॥

(भारती)

यदि दोनों पदार्थ क्रमशः पर्याय से उपमान और उपमेय हों, तो वह उपमेयोपमा होती है और इसके दो भेद हैं।

विमर्श—मुख्यतः इस अलंकार में उपमेय से उपमान की और उपमान से उपमेय की समता दिखाई जाती है। उपमेय तथा उपमान को परस्पर उपमान तथा उपमेय इसलिए कहते हैं कि उसके लिए कवि को तीसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस अलङ्कार में कवि की मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह उपमेय एवं उपमान के अतिरिक्त अन्य को अपने भाव का आधार नहीं बना पाता। उसे उपमेय एवं उपमान में इस प्रकार की समता दिखाई पड़ती है कि उपमेय को देखकर उसकी मानसिक तृप्ति उपमान से हो जाती है एवं उपमान की महत्ता का अनुभव होने पर, अन्य उपमान के अभाव में पुनः उपमेय पर ही अपने विचार को केन्द्रस्थ कर—उपमान का उपमान, उपमेय को ही बना देता है।

इस अलङ्कार का प्रमुख उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार है। यहाँ उपमानान्तर से तात्पर्य है—उपमेय भिन्न अन्य उपमान अर्थात् इसका जो 'तिरस्कार' रहा करता है वह 'उपमा' से जहाँ दो भिन्न वस्तुओं में उपमानोपमेय भाव विवक्षित है, वहाँ एक विलक्षण ही चमत्कार है। यही कारण है कि विभिन्न आलङ्कारिकों ने उपमा से 'उपमेयोपमा' को एक पृथक् वाच्य और सौन्दर्य माना है तथा उसे एक अतिरिक्त अलङ्कार के रूप में स्वीकृत किया है।

(सुधा)

एवमुपमालङ्कारं व्याकृत्य तत्त्वेन संग्राह्यामुपमेयोपमामनन्वयात् पूर्वं व्याकर्तुमुपक्रमते—अथेति। अनन्वये उपमित्यनिष्पत्तेरुपमात्वेन संग्राह्यत्वाभावात्। अत एव द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलमनन्वयमतिक्रम्य तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलिकाया एतस्या पूर्वमेवोपपादनम्। अत एव 'अस्या भेद उपमेयोपमा निरूप्यते' इति रसगङ्गाधरेऽपि एतत्प्रारम्भे प्रतिपादितम्। निरूपणमिति। निरूपणञ्च प्रारम्भजनकशब्दप्रयोगः। तत्र प्राचीनोक्तमुपमेयोपमालक्षणं सव्याख्यानं खण्डयितुमुपन्यस्यति—उपमानोपमेयत्वमिति। यदि द्वयोः पर्यायत उपमानोपमेयत्वं वर्ण्यते, सा उपमेयोपमा। एषा साधारण्यवस्तुप्रतिवस्तुभावाभ्यां द्विविधा प्रकीर्तिता इति लक्षणप्रतिपादककारिकान्वयः।

(चित्र०)

यदि द्वयोर्यद् वर्ण्यते, सोपमेयोपमेत्युच्यते तदा तुल्ययोगितायामतिव्याप्तिः। तत्र—

जनस्य तस्मिन् समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थो नृपतिः शशी च ॥

इति द्वयोर्नृपशशिनोर्युगपदेकधर्मान्वयवर्णनात् । अतः पर्यायेणेत्युक्तम् ।

(भारती)

यदि दोनों जो वर्णन हैं—वही उपमेयोपमा है—यह कहा जाय तो 'तुल्ययोगिता अलङ्कार' में अतिव्याप्ति होती है। यहाँ जैसे—

ताप चन्द्र पक्ष में—गर्मी तथा कुश पक्ष में—संताप के अत्यन्त तीव्र होने पर लोगों के लिए (पूर्वकथित अर्थ में) तापों को दूर करने में समर्थ पादों—चन्द्र पक्षमें किरणों तथा कुश पक्ष में चरणों की सेवा वाले उदय प्राप्त राजा कुश और चन्द्रमा—ये दोनों ही अत्यन्त ही प्रिय हुए।

इस उदाहरण में दोनों—अर्थात् राजा रघु और चन्द्रमा में एक साथ एक धर्म में अन्वय वर्णन होने के कारण तुल्ययोगिता में उक्त लक्षण से अतिव्याप्ति दोष होता है। अतः इस दोष को हटाने के लिए लक्षण में 'पर्यायेण' विशेषण का समावेश किया गया है।

(सुधा)

अत्र पदानां सार्थकत्वं कथयितुमुपक्रमते—यदीति । द्वयोर्यद्वर्णनं सोपमेयोपमा इत्येतावन्मात्रोक्तौ तुल्ययोगितायामतिव्याप्तिः । अतिव्याप्तेः स्थलं दर्शयति—जनस्येति । तस्मिन् समये ग्रीष्मे विगाढे कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेषं यथा तथा कान्तौ बभूवतुः । कौ द्वौ ? तापापनोदे क्लेशस्फोटने क्षमा योग्या पादयोरङ्घ्र्योः पादानां रश्मीनाञ्च सेवा ययोस्तौ उदयस्थो नृपतिः कुशः, शशी चन्द्रश्चेत्यन्वयः । अत्र नृपशशिनोः युगपदेकस्मिन् मनोहरत्वरूपधर्मान्वयदर्शनाद् द्वयोरपि वर्ण्यत्वेन वर्तमानयोर्धर्मैक्यरूपतल्लक्षणस्य सत्त्वेनातिव्याप्तेः स्फुटत्वात् । तद्व्यावर्तकविशेषणमाह—अतः पर्यायेणेति । तथा च पर्यायेण वर्णनाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः ।

(चित्र०)

तथापि—

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात् खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय भूयः ॥

इत्यत्रातिव्याप्तिः; तत्र रेणुपङ्कयोः पर्यायेण पङ्करेणुभाववर्णनात् अत उपमानोपमेयत्वमित्युक्तम् । द्वयोर्यदुपमानोपमेयत्वं वर्ण्यते, सोपमेयोपमेत्युक्तेऽपि—

'व्युष्टं प्रयाणं च वियोगवेदनाविदूननारीकमभूत्समं तदा'

इत्युभयविश्रान्तसादृश्यायामुपमायामतिव्याप्तिः । न च तत्रोभयोरपिसादृश्याश्रयत्वरूपस्योपमेयत्वस्यैव प्रतिपादनमस्ति, न सादृश्यप्रतियोगित्वरूपस्योपमानत्वस्य; अतो नातिव्याप्तिरिति वाच्यम् ? मुखतः प्रतिपादनाभावेऽपि तयोः परस्परमुपमानत्वस्यार्थात् प्रतीतेः । न ह्युपमानोपमेयत्वं यत्र वाच्यमिति लक्षणे विवक्षितम्, व्यङ्ग्योपमेयोपमासंग्रहाभावप्रसङ्गात् । अतः

पर्यायेणेत्युक्तम्। एवमपि—'भणितिरिव मतिर्मतिविर चेष्टा' इत्यादिरसनोपमायां मतिचेष्टयोः पर्यायभेदेनोपमानत्वस्योपमेयत्वस्य च सत्त्वेनातिव्याप्तिपरिहारायैकस्मिन् पर्याये यं प्रत्यूपमानत्वं तं प्रत्येव पर्यायान्तरे उपमेयत्वं विवक्षणीयम्।

(भारती)

लक्षण में 'पर्यायेण' विशेषण के समावेश से यद्यपि पूर्व उदाहरण में तो अतिव्याप्ति दोष मिट जाता है—फिर भी यहाँ—

नायक कुश के हाथियों के मदजल के सिञ्चन से और घोड़ों के खुरों के आघात से रास्ते में क्रमशः धूलि, कीचड़ हो गयी और कीचड़, धूलि बन गया।

अतिव्याप्ति हो ही जाती है। क्योंकि यहाँ धूलि और कीचड़ में पर्याय से पङ्क और रेणु भाव का वर्णन है। इसीलिए लक्षण में 'उपमानोपमेयत्व' पद का समावेश है। अतः जहाँ दोनों अर्थात् उपमानत्व और उपमेयत्व का वर्णन है, वहीं उपमेयोपमालङ्कार है—यदि ऐसा कहें, तो भी अर्थात् ऐसा लक्षणार्थ कहने पर भी—

शुक्लैः सतारैर्मुकुलीकृतः स्थलैः कुमुद्वतीनां कुमुदाकरैरिव।
व्युष्टं प्रयाणं च वियोगवेदनाविदूननारीकमभूत् समं तदा॥

उस समय भगवान श्री कृष्ण के प्रयाण का अवसर एवं प्रभात का आगमन—ये दोनों ही एक दूसरे के समान हो गये। प्रभात के समय जलाशय के कुमुद श्वेत वर्ण के थे, कर्णिका से युक्त थे, मुकुलित हो गये थे, तथा रमणियों की विरहवेदना से युक्त थे। इसी प्रकार श्री कृष्ण के प्रयाण के समय श्वेतवर्ण तम्बुओं से युक्त थे, जिनमें डोरियां लगी थीं और जो समेटे जाने के कारण विलासिनी रमणियों की विरह वेदना के संताप से युक्त थे। इस प्रकार ये दोनों ही स्थिति, उस कुमुदिनी भरे स्थल के लिए बराबर ही दुःखदायी सिद्ध हुई।

इस उभय विश्रान्त सादृश्य उपमा में अतिव्याप्ति निवारण के लिए ही लक्षण में उक्त विशेषण का समावेश किया गया। इस पर पुनः दीक्षित जी 'नच' से शंका करते हैं—यहाँ 'प्रभात' और 'प्रयाण' दोनों में सादृश्याधिकरणत्व रूप उपमेय मात्र का प्रतिपादन है—उसके प्रतियोगिता रूप उपमान का प्रतिपादन तो है ही नहीं, फिर यहाँ अतिव्याप्ति दोष कैसा?

इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि 'इव' आदिशब्दों से, उसके प्रतिपादन में भी 'प्रभात' और 'प्रयाण' उन दोनों के परस्पर उपमानत्व के अर्थ में प्रतीति है। यदि आप शब्दवाच्यता के रहने से तत्त्व नियम मानते हैं, तो लक्षण में उन दोनों की शब्दवाच्यता के प्रवेश का अभाव है और उसकी विवक्षा में व्यङ्ग्य उपमा में अव्याप्ति दोष हो जाता है। अतः उक्त अतिव्याप्ति के निवारण के लिए 'पर्यायेण' विशेषण का लक्षण में समावेश अति आवश्यक है। पुनः शंका करते हैं—ऐसा करने पर भी—

इस राजा की बुद्धि, इसकी वाणी जैसी, चेष्टा इसकी बुद्धि जैसी और कीर्त्ति इसकी चेष्टा जैसी विमल है।

'रसनोपमा' के इस उदाहरण में 'मति' और 'चेष्टा' का पर्यायभेद से उपमानत्व और उपमेयत्व के रहने से अतिव्याप्ति दोष निवारण के लिए—एक ही पर्याय में—जिसके प्रति उपमानत्व है, उसके ही प्रति, पर्यायान्तर में उपमेयत्व की विवक्षा है।

(सुधा)

उपमानोपमेयत्वमित्यस्य सार्थकतामाह—तथापीति। द्वयोः पर्यायेण यद्वर्णनं सोपमेयोपमेत्युक्तेऽपीत्यर्थः। तस्य द्विपानां मदजलस्य सेकात् तुरङ्गमाणां खुराभिघाताच्च पथि रेणुः पङ्कभावं प्रपेदे। पङ्कोऽपि भूयो रेणुत्वमियाय, इत्यत्र रेणुपङ्कयोः पर्यायेण पङ्करेणुभाववर्णनादतिव्याप्तिः। अत उपमानोपमेयत्वमिति। तथा च रेणुपङ्कयोः पर्यायेण तद्भाववर्णनेऽप्युपमानोपमेयत्ववर्णनाभावान्नातिव्याप्तिः। द्वयोर्यदुपमानोपमेयत्ववर्णनं सोपमेयोपमेति लक्षणे सति जनस्येत्यादौ तुल्ययोगितायां द्वयोरेव वर्ण्यत्वेनोपमानोपमेयत्वादतिव्याप्तिनिरासे पर्यायपदव्यर्थत्वाशङ्कायां तत्प्रयोजनमवतारयति—द्वयोरित्याद्युक्तेऽपि शुक्लैः सतारैः मुकुलीकृतैः स्थूलैः कुमुद्वतीनां कुमुदाकारैरिव व्युष्टं प्रयाणं चेत्यादि। कुमुद्वतीनां सेनानां नदीनां वा शुक्लैः धवलैः सतारैः सचन्द्रकैः मुकुलीकृतैः संवेष्टितैः मुकुलितैश्च कुमुदाकारैरिव स्थूलः वस्त्रगृहैः 'दूष्यं वस्त्रगृहं स्थूलम्' इत्यतिकोशात्। उपलक्षितं व्युष्टं प्रभातं प्रयाणञ्च वियोगवेदनया व्यथया विदूना दुःखिता नार्यो यत्र तत् तदा समं तुल्यमभूत्। इत्युभयविश्रान्तसादृश्यायामुपमायामतिव्याप्तिवारणार्थं पर्यायेणेति पदोपादानम्। अत्र शङ्कते—न चेति। प्रभातप्रयाणयोरपि सादृश्याधिकरणत्वरूपोपमेयमात्रस्य प्रतिपादनम्, तत्प्रतियोग्युपमानस्य प्रतिपादनं नास्तीति कुतोऽतिव्याप्तिरित्याशङ्कार्थः। समाधत्ते—मुखत इति। शब्दत इति। इवादिशब्देन तदप्रतिपादनेऽपि तयोर्व्युष्टप्रयाणयोः परस्परमुपमानत्वस्यार्थात् प्रतीतेः। न च शब्दवाच्यतायाः सत्त्वेन तत्त्वनियमः, लक्षणे तयोः शब्दवाच्यत्वस्य प्रवेशाभावात्। तद्विवक्षायां व्यङ्ग्योपमायामव्याप्तेश्चेति। तस्मादतिव्याप्तेर्वारणाय पर्यायेणेति पदमावश्यकमिति भावः। शङ्कते—एवमपीति। द्वयोः पर्यायेणोपमानोपमेयतावर्णनमुपमेयोपमेति लक्षणे कृतेऽपि "अनवरतकनकवितरणधृतजललवकरतरङ्गितार्थिततेः। भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला॥" इति रशनोपमायां पूर्वत्रोपमेयस्योत्तरत्रोपमानत्वकल्पनरूपायां मतिचेष्टयोः पर्यायेणोपमानत्वोपमेयत्वयोः सत्त्वादतिव्याप्तिः। यमुपमेयतावच्छेदकावच्छिन्नं प्रति यस्योपमानत्वं तं प्रत्येवोपमेयत्वविवक्षायां दोषाभावात्, मतित्वावच्छिन्नं प्रति भणितेरुपमानत्वम्, तां प्रत्येव भणितेरुपमेयत्वाभावादित्याशयः।

(चित्र०)

द्विविधैषेत्युक्तम्। द्वैविध्यं धर्मस्य साधारण्यवस्तुप्रतिवस्तुभावाभ्याम्।

सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम्।
अम्भोजमिव ते वक्त्रं त्वद्वक्त्रमिव पङ्कजम्॥
सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाम्बुजाः।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गनाः॥

इति क्रमेणोदाहरणे।

(भारती)

यह उपमेयोपमा धर्म के साधारण्य एवं वस्तुप्रतिवस्तु भाव रहने के कारण दो प्रकार की है। इसका क्रमशः उदाहरण है—

(१) सुगन्ध युक्त, नेत्रानन्दजनक, और मदिरा के मद से आरक्त तुम्हारा मुख कमल की तरह है और कमल तुम्हारे मुख की तरह है।

यहाँ सुगन्ध आदि धर्मों का मुखादि वृत्तित्व में सम्बन्ध ऐक्य से अनुगामित्व रूप साधारण्य है।

(२) शोभायुक्त कमल ही हैं मुख जिनके वही अङ्गना की तरह शोभती हैं अथवा शोभायुक्त कमल की तरह मुख हैं जिनके वे अङ्गनायें शोभती हैं।

यहाँ मुख और कमल में विम्बप्रतिविम्ब भाव है। इन दोनों के 'सच्छायत्व' रूप धर्म एक ही है। अतः यहाँ विम्बप्रतिविम्ब भाव का वस्तु प्रतिवस्तुभावरूप विशेषण है।

(सुधा)

एनां विभजते—द्विविधेति। द्वैविध्ये हेतुमाह—धर्मस्येति। भेदयोरुदाहरणमाह—सुगन्धीति। सुगन्धयुतं नेत्रानन्दजनकं मदिरामदात्ताम्रं त्वद्वक्त्रं कमलमिव, कमलं त्वद्वक्त्रमिव। सुगन्धादेः धर्मस्य मुखादिवृत्तित्वे सम्बन्धैक्यादनुगामित्वात्मकं धर्मसाधारण्यम्। द्वितीयमुदाहरति—सच्छायेति। सच्छायानि शोभायुतानि अम्भोजानि कमलानि तान्येव वदनानि यासां ता वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति। सच्छायान्यम्भोजानीव वदनानि यासां ता वाप्य इव यत्राङ्गना आभान्तीत्यन्वयः। अत्र वदनाम्भोजयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तयोश्च सच्छायत्वरूपो धर्म एक एवोपात्तोऽतः बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावो विशेषणमिति तद्विवेकः।

(चित्र०)

अत्रेदं विचार्यते—लक्षणस्य 'त्वद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्' इति प्रागुदाहृतायां युगपदुपमेयोपमायामव्याप्तिः। न चेयमुपमेयोपमा न भवति, किन्तूभयविश्रान्तोपमामात्रमिति शङ्कनीयम्। परस्परतुलामित्यनेन द्वयोरपि-प्रतियोगित्वस्यापि प्रतिपाद्यमानतया उपमेयोपमेत्यवयवार्थस्याविशिष्टत्वात्।

अर्थादपि सिद्धयतः परस्परप्रतियोगित्वस्य मुखतः प्रतिपादनेन तृतीय सदृशव्यवच्छेदरूपफललाभाच्च।

(भारती)

यहाँ अब विचार करते हैं कि दोनों के पर्याय से उपमानोपमेयत्व वर्णन रूप लक्षण का पूर्व उदाहृत इस श्लोक में अव्याप्ति दोष होगा। जैसे—

बन्दीजन प्रातःकाल राजकुमार रघु को जगाते हुए कहते हैं—

हे राजकुमार ! सौन्दर्यपूर्ण विकासयुक्त इस प्रभातवेला में ये दो वस्तुएँ परस्पर की तुलना प्राप्त करें—एकतो जिनके अन्दर कोमल पुतलियां चंचल हो उठीं हैं, वे आप की आँखें, और दूसरे भौंरे जिनके भीतर चंचल हो उठे हैं वे कमल।

कालिदास के इस पद्य में प्रतिपादित उपमेयोपमा में जिसमें एक साथ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता आ जाती है, वहाँ अव्याप्ति होगी। क्योंकि इस उपमेयोपमा में वाक्य-भेद नहीं है अर्थात् उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता—भिन्न भिन्न दो वाक्यों से नहीं वर्णित की गयी है—और पूर्व कथित लक्षण के अनुसार वैसा अवश्य होना चाहिए।

यदि आप इसका निराकरण यह कह कर करना चाहें कि तथाकथित 'उपमेयोपमा' में ऊपर से शब्दों के परस्पर एक होने पर भी अन्त में वाक्यभेद हो जाता है। अर्थात् 'परस्पर की तुलना को

प्राप्त करें' इस एक वाक्य में अन्ततः विचार करने पर, 'आप की आँखें कमल की समानता को प्राप्त करें और कमल आप की आँखों की समानता को'—इस तरह ये दो भिन्न भिन्न वाक्य बन जाते हैं और इसके फलस्वरूप यहाँ कोई दोष रह नहीं जाता है।

(सुधा)

एवं व्याख्यानं प्राचीनोक्तं लक्षणमुपन्यस्य खण्डयितुमुपक्रमते—अत्रेति। प्राचीनलक्षण इत्यर्थः। इदं वक्ष्यमाणम्। लक्षणस्येति। द्वयोः पर्यायेणोपमानोपमेयत्ववर्णनरूपस्येत्यर्थः। तद्वल्गुनेत्यादौ युगपदुपमेयोपमायामव्याप्तिः। न चेयमुभयविश्रान्तसादृश्योपमेयेति शंकनीयम्। तथा चोपमेयोपमाभावान्नाव्याप्तिः। अत्रोच्यते—परस्परतुल्यामित्यनेन परस्परस्य सादृश्यप्रतियोगित्वेनोपमेयोपमेत्यवयवार्थे विशेषाभावात्। न हि पृथक् शब्दवाच्यपरस्परप्रतियोगिकस्यैव तृतीयसदृशव्यवच्छेदः फलमिति नियमाभावमाह—अर्थादपीति। लिष्यतः द्वयोः प्रतियोगित्वस्य प्रधानतया प्रतिपादनेन तृतीयसदृशनिषेधस्य फलस्य सत्त्वादित्यर्थः।

(चित्र०)

किञ्च, 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इति प्रागुदाहृतायां परस्परोपमायामतिव्याप्तिः; न च तत्राप्युपमेयोपमा, तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतीतेः। 'द्विविधैषा प्रकीर्तिता' इति विभागासामञ्जस्यप्रसङ्गाच्च। न ह्यत्र धर्मस्य साधारण्यं वस्तुप्रतिवस्तुभावो वास्ति, गगनस्य भूतलेन सादृश्ये रजोव्याप्तत्वं साधारणधर्मः, भूतलस्य गगनेन सादृश्ये गजानां मेघानां च बिम्बप्रतिबिम्बभाव इत्यत्यन्तविलक्षणत्वात् अत एवात्र तृतीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदरूपं फलमपि न सिद्ध्यति।

(भारती)

किन्तु—

'रथों की उड़ी हुई धूलियों से आकाश को भूतल के समान और मेघों के सदृश हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाता हुआ।' इस पूर्वोदाहृत 'परस्परोपमा' में अतिव्याप्ति होगी।

अगर आप यह कहें कि वहां भी उपमेयोपमा अन्य सदृश अर्थात् तृतीय सदृश का निवारण रूप फल की सिद्धि का अभाव है और यह दो प्रकार की कही गयी है। इस प्रकार इसके जो विभाग किये गये हैं—उसके सामञ्जस्य का भी प्रसंग है। इतना ही नहीं यहां धर्म का साधारण अथवा वस्तुप्रतिवस्तु भाव भी नहीं है। क्योंकि गगन का भूतल के साथ सादृश्य में रजोव्याप्तत्व साधारण धर्म है और भूतल का गज के साथ सादृश्य में गजों का और मेघों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव अन्त विलक्षणत्व से है। यही कारण है कि तृतीय सदृश निषेधरूप फल भी सिद्ध नहीं होता है।

(सुधा)

तद्वल्गुनेत्यादावुभयविश्रान्तोपमैवेति वादिनां मतमनुसरन् दूषणान्तरमाह—किञ्चेति। रजोभिरित्यादौ परस्परोपमायामतिव्याप्तिः। न च तत्राप्युपमेयोपमा, तत्फलस्याभावात्, तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्य फलत्वात्। न च तद्भेदोऽपि सम्भवतीत्याह—

द्विविधेति । द्विविधेति भेदकथनस्य व्यर्थत्वापत्तेरित्यर्थः । तद्भेदाभावमेव प्रतिपादयति—न ह्यत्रेति । तत्र हेतुमाह—गगनस्येति । भूतलेन खस्य सादृश्ये रजोव्याप्तत्वं साधारणधर्मः । भूतलस्य खेन सादृश्ये गजमेघयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति वैलक्षण्यात् । तृतीयसदृशव्य-वच्छेदरूपं तत्फलमपि निषेधयति—अत एवेति । अत्रेति परस्परोपमायामित्यर्थः । तृतीय-सदृशव्यवच्छेदफलसिद्धेरभावः । उपमेयोपमाभावे चन्द्र इव मुखमित्यत्र मुखे चन्द्रसाम्ये वर्णिते चन्द्रेऽपि मुखसादृश्यमर्थतः सिद्धमेव, पुनः मुखमिव चन्द्र इति कथनं तृतीयसदृशनि-षेधलाभार्थम् । प्रधानतया शब्देन तथाप्राप्तस्य पुनर्वचनं तदितरसंख्यापरिहारार्थमिति न्यायप्रवृत्तेः ।

(चित्र०)

एकधर्माश्रयेण परस्परसाम्ये वर्ण्यमाने ह्यनयोरस्मिन् विषये तृतीयः सब्रह्मचारी नास्तीति फलति । कस्यचित् केनचित् सादृश्ये वर्णिते तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थासिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमानं तृतीयसदृशव्यवच्छेदार्थं भवतीति हि तत्फलकत्वे बीजम् । न चैतद्धर्मसाधारण्य इव धर्मभेदेऽपि लभ्यते । रजोभिर्गगनस्य भूतलसादृश्यवर्णनेन भूतलस्य मेघाकारैर्गजैर्गगनसादृश्यस्यार्थतः सिद्ध्यभावात् ।

(भारती)

एक धर्म के आश्रय से अर्थात् जहाँ दोनों उपमा में एक धर्म है, वहाँ उसका फल उपमेयोपमा होता है । किसी धर्म और अर्थ के बीच में अन्वयार्थकसादृश्य की उपस्थिति आवश्यक है । क्योंकि किसी धर्म का किसी अर्थ के साथ अन्वय रहनेपर सादृश्य में वर्णित अर्थ का भी धर्म के साथ सादृश्य स्थापित किया जाता है । अर्थात् सिद्ध रहने पर भी पुनः उसका वर्णन किसी शब्द के द्वारा प्रतिपादन–तृतीय सादृश्य का निषेधक है । प्रकृत में 'नचैतत' से उस अभाव का प्रतिपादन करते हैं जो तृतीय सदृशनिष्ठरूप व्यङ्ग्य है । क्योंकि धर्म के साधारणत्व में इसकी जैसी उपलब्धि है, वैसी उपलब्धि धर्म के भेद में नहीं है । धूलियों से आकाश और धरती का सादृश्य वर्णन के द्वारा धरती का मेघतुल्य गजों से गगन सादृश्य के अर्थ में–सिद्धि का अभाव है । क्योंकि यहां रजों की व्याप्ति और मेघतुल्य गजों की व्याप्ति में—धर्म की भिन्नता के ही कारण पूर्वोक्त सिद्धि का अभाव है । और भी,–पूर्व उपमा से सिद्ध गगन के सादृश्य का ही उत्तर उपमा से प्रतिपादन होने के कारण परस्पर उपमात्व की ही वहाँ उपस्थिति होती है । फलतः इस पारस्परिक उपमा में पूर्वकथित अति-व्याप्ति रह ही जाती है ।

(सुधा)

एतत्सर्वं मनसि निधाय-एकेति । यत्रोपमाद्वये एकधर्मसत्त्वम्, तत्र तत्फलमुपमेयो-पमा च भवतीति, तदेवाह-कस्यचिदिति । धर्मार्थयोर्मध्ये धर्मस्य केनचिद् अर्थादिना श्रीमत्त्वेन सादृश्ये वर्णितेऽर्थस्यापि धर्मेण सादृश्यमर्थात् सिद्धमपि पुनस्तद्वर्णनं शब्देन तत्प्रतिपादनं तृतीयसादृश्यनिषेधकम् । प्रकृते तदभावं प्रतिपादयति—न चैतदिति । एतत्तृतीयसदृश-निष्ठरूपं व्यङ्ग्यम् । धर्मस्य साधारणत्वे यथा लभ्यते तथा धर्मभेदे सति न लभ्यते, रजो-भिर्गगनस्य भूतलस्य सादृश्यवर्णनेन भूतलस्य मेघतुल्यगजैः गगनसादृश्यस्यार्थात् सिद्धेर-भावात् । रजोव्याप्तत्वमेघतुल्यगजव्याप्तत्वधर्मयोर्भिन्नत्वात् । तथा च पूर्वोपमया सिद्ध–

गगनसादृशस्यैवोत्तरोपमया प्रतिपादनात् परस्परोपमात्वस्यैव तत्र सत्त्वादित्याशयः। तथा च परस्परोपमायामतिव्याप्तिः स्यादेवेत्यभिप्रायः। ननु अलंकारसर्वस्वकारमते रजोभिरित्यादावुपमेयोपमैव, द्वयोः पर्यायेणोपमानोपमेयभाववर्णनमिति तल्लक्षणस्य तत्र समन्वयात्। वाक्यभेदो द्विधा—शाब्दः, आर्थश्च। आद्यः 'रजोभिः' इत्यादेः, द्वितीयः 'तद्वल्गुना' इत्यादाविति तद्व्याख्यानकृदुक्तेश्च। तथा च नातिव्याप्तिः।

(चित्र०)

अपि च—

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन।
पुत्रस्तथैवाधिकवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान् बभूव॥

इति व्यत्यस्तधर्मिबिम्बप्रतिबिम्बकोपमायामतिव्याप्तिः।

(भारती)

और भी—

'जिस प्रकार सेवा में तत्पर उस पुत्र से पिता सत्पुत्रवान हुए, उसी प्रकार पुत्रवत्सल उस पिता से वह पुत्र भी श्रेष्ठ पिता वाला हुआ।

यहां व्यस्तधर्मि विम्वप्रतिविम्वक रूप उपमा में अतिव्याप्ति है।

(सुधा)

अतो दूषणान्तरमाह—अपि चेति। 'पिता समाराधन' इत्यादौ व्यत्यस्तधर्मिबिम्ब-प्रतिबिम्बकोपमायामतिव्याप्तिः। स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूषापरेण तेन पुत्रेण यथा पुत्री बभूव तथैव स पुत्रो देवानीक आत्मनि अतिवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान् बभूवेत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र हि पुत्रः पिता चेत्युभावुपमेयोपमानभूतौ धर्मिणौ। तयोस्तावेव व्यत्यासेन पितृमत्त्वं पुत्रित्वमिति साधारणधर्मकोटिप्रविष्टतयोपात्तौ। तयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बरूपसाधारण्यापादको धर्मो मतुबिनिप्रत्ययोपात्तं प्राशस्त्यम्। प्रशंसायां ह्यत्र तौ प्रत्ययौ, पित्रा पितृमानिति संबन्धमात्रस्यावक्तव्यत्वात्। एवं च पुत्रस्य तितुश्च प्रशस्तपितृमत्त्वं प्रशस्तपुत्रवत्त्वं च बिम्बप्रतिबिम्बकरम्बितेन वस्तुप्रतिवस्तुभावेन साधारणधर्मे इति लभ्यते। तयोश्च पितापुत्रयोः प्राशस्त्यप्रतिपादके, अधिकवत्सलेन समाराधनतत्परेणेति च विशेषणे।

(भारती)

इस उदाहरण में, पुत्र और पिता दोनों में, उपमेय और उपमानता रूप धर्म की उपस्थिति है। अतः उन दोनों अर्थात् पुत्र और पिता का पुत्र और पिता के साथ ही विपर्यास से पितृमत्व और पुत्रत्व रूपी साधारण धर्म विशेषण के रूपमें स्वीकृत है।

अगर आप कहें, पूर्व कथित धर्मसाधारण के अभाव से यहाँ अतिव्याप्ति नहीं है, तो इसका समाधान यह है कि धर्म विशेषता की स्वीकृति से विम्वप्रतिविम्वभाव रूप जो यहां साधारण्य है,

उसके प्रतिपादक पुत्र का प्रशस्त 'पितृमत्व' और पिता का प्रशस्त 'पुत्रवत्व' विम्वप्रतिविम्वभाव से मिश्रित जो वस्तुप्रतिवस्तुभाव है, उसके द्वारा साधारण धर्म की उपलब्धि है। यहां प्रशंसा के अर्थ में 'मतुप्' और 'इनि' प्रत्यय की स्वीकृति है। क्योंकि उक्त उदाहरण में पुत्र और पिता दोनों की प्रशंसा स्वीकृत है। इस प्रशंसा के प्रतिपादक-पिता की समाराधना में पुत्र की 'तत्परता' और पुत्र के प्रति पिता की अधिक 'वत्सलता' है। इसके द्वारा पिता की जिस प्रकार 'प्रशस्त पुत्रिता' है, उसी प्रकार पुत्र की 'प्रशस्तपितृमत्ता' की भी स्वीकृति है। पिता के साथ 'पितृमान' इत्याकारक सम्बन्ध रहने के कारण तथा वाक्यार्थबलसे और साधारण धर्म के लाभ से भी उसका अभाव नहीं है। फलतः प्राशस्त्य की उपपादकता विशेषण के रूप में तो उन दोनों में स्वीकृत है ही।

(सुधा)

अतिव्याप्तिमेव प्रकाशयति—अत्र इति। पुत्रपित्रोरुपमेयोपमानता। तयोः पुत्रपित्रोः तावेव पुत्रपितरावेव विपर्यासेन पितृमत्त्वं पुत्रित्वमित्यत्र साधारणधर्मकोटौ प्रविष्टतया साधारणधर्मविशेषणतयेत्यर्थः। उपात्तौ = अङ्गीकृतावित्यर्थः। ननु तत्सत्त्वे धर्मसाधारण्याभावाद् नातिव्याप्तिरिति चेत्, अत्र समाधत्ते—तयोश्चेति। धर्मविशेषणतयोपात्तयोश्चेत्यर्थः। बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपं यत् साधर्म्यम्, तदापादकः पुत्रस्य प्रशस्तपितृमत्त्वं पितुश्च प्रशस्तपुत्रवत्त्वञ्च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन करम्बितो यो वस्तुप्रतिवस्तुभावः, तेन साधारणधर्म इति लभ्यते। प्राशस्त्यलाभमेवोपपादयति—अत्र प्राशस्त्यं मतुप्—इनिप्रत्ययाभ्यामुपात्तम्, तयोः प्रशंसायां सत्त्वात्। तदुपपादकं समाराधनतत्परत्वमधिकवत्सलत्वञ्च। तेन पितुः यथा प्रशस्तपुत्रिता तथा पुत्रस्य प्रशस्तपितृमत्तेति वाक्यार्थः, भवतीति शेषः। पित्रा पितृमानित्याकारकसम्बन्धस्य वक्तुमयोग्यत्वाद् इत्यस्य तद्धेतुत्वात्। तथा च वाक्यार्थबलेन साधारणधर्मस्य लाभान्न तदभाव इत्याशयः। प्राशस्त्योपपादकाभावं निराकरोति—तयोश्चेति। प्राशस्त्यस्योपपादकता च विशेषणयोरस्त्येवेति तद्भावः।

(चित्र०)

ततश्च धर्म्युपमायां यः पिता पुत्रस्योपमानं स एव तस्य तदुपपादके बिम्बप्रतिबिम्बनिर्देशे उपमेय इति लक्षणस्य वर्तनं तावत् स्पष्टम्।

न चेयमुपमेयोपमा, पुत्रपित्रोर्धर्मिणोरुपमायां प्रशस्तपितृमत्त्वं प्रशस्तपुत्रवत्त्वं च वस्तुप्रतिवस्तुभावेन बिम्बप्रितिबिम्बभावकरम्बितेन साधारणो धर्मः। पितापुत्रयोस्तु धर्मकोटिनिविष्टयोर्वात्सल्यभक्त्यतिशयकृतं-प्राशस्त्यमनुगतसाधारणधर्म इति पूर्वोदाहरणसारूप्यात् समुच्चयोपमया पुत्रोऽपि पितृभक्त्या प्रशस्तः, पितापि पुत्रवात्सल्येन प्रशस्त इत्यर्थलाभेऽपि तृतीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदालाभाच्च। न चात्र इवशब्दद्वयादियुक्तपर्यायद्वयाभावात् पर्यायविशेषणेनैवातिव्याप्तिनिरासः स्यादिति वाच्यम्? वाच्यकक्षायां पुत्रपित्रोरुपमाव्यङ्ग्यकक्षायां पितापुत्रयोरिति पर्यायद्वयसत्त्वात्। न हि पर्यायद्वयस्यापि वाच्यत्वमत्र विवक्षितम्। येनेवशब्दद्वययुक्तपर्यायद्वयाभावादतिव्याप्तिर्निरस्येत। तथा सति हि व्यङ्ग्योपमेयोपमासाधारण्यं न-स्यादित्युक्तम्।

न चात्र धर्मिणोरेवोपमा धर्मयोस्तु उपमानोपमेयसाधारण्यार्थमभेद एव प्रतीयते नोपमेति वाच्यम्—

नलिन्या इव तन्वङ्ग्यास्तस्याः पद्ममिवाननम् ।
मया मधुकरेणेव पायम्पायमतृप्यत ॥

इत्यादौ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोस्तन्वीनलिन्यादिकयोरुपमाया अपि दर्शनेन धर्मयोः सादृश्येन साधारणीकरणस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात् । तस्मात्तन्नातिव्याप्तिशङ्का दुर्वारा । अतोऽनुपपन्नमेवेदं लक्षणं लक्ष्यते ।

अत्र ब्रूमः—

(भारती)

धर्मी उपमा में-पुत्र का उपमानभूत पिता के धर्म-उपपादक बिम्बप्रतिबिम्बभाव के निर्देश में-पुत्र को प्रत्युपमेयत्व से स्वतः उपलब्ध है । अतः लक्षण का समन्वय यहां स्पष्ट रूप से है ही ।

'नच' शब्द से उदाहरण में लक्ष्यत्व का निराकरण करते हैं । 'इयम्' यह अर्थात् व्यत्यस्त धर्मि बिम्बप्रतिबिम्बक उपमा-उपमेयोपमा है । इसमें कारण बताते हैं कि धर्मी पुत्र और पिता रूप उपमा में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव मिश्रित वस्तु प्रतिवस्तु भाव से उक्त उदाहरण में प्रशस्त पितृमत्व और प्रशस्तपुत्रवत्वात्मक साधारण धर्म है । इस प्रकार की धर्मकोटि में प्रविष्ट पिता और पुत्र की वत्सलता और भक्ति रचित जो प्राशस्त्य रूपी साधारण धर्म है, वह कथित उदाहरण में समान रूप से समुचित उपमा के द्वारा—जैसे पुत्र की पितृभक्ति से प्रशस्तत्व और पिता की भी उसकी वत्सलता से जो प्राशस्ति अर्थ की उपलब्धि है—उस अर्थ की उपलब्धि होने पर भी, तृतीय सादृश्य निषेध के उस फल की अप्राप्ति से स्वतः लक्ष्यत्व है ही नहीं ।

पुनः नच से आशंका करते हैं—इस उदाहरण में 'इव' द्वय के अभाव से उक्त उदाहरण में पर्याय द्वय का अभाव है । ऐसी स्थिति में फिर पर्याय पद का लक्षण में समावेश नहीं करने से ही अतिव्याप्तिदोष का स्वतः निराकरण हो ही जाता है । इसका समाधान 'व्याच्यम्' से करते हुए कहते हैं कि 'यथा' पदोपादान की कक्षा में पुत्र और पिता की उपमा है, वैसे ही व्यङ्ग्य की कोटि में पिता और पुत्र रूपी पर्याय द्वय की विद्यमानता है । किन्तु, इवादि द्वय के अभाव में भी अतिव्याप्ति असंभव' ही है । क्योंकि पर्याय पद में 'वाच्यत्व विशेषणीभूत' का लक्षण में समावेश नहीं है । आक्षेपादि के द्वारा वाच्यत्व की अवगति में तो लक्षण के व्यङ्ग्य उपमेयोपमा के साधारण्य की अनापत्ति है ।

'नच' से पुनः आशंका करते हैं—धर्मी पुत्र और पिता के ही उपमा धर्म के प्रशस्त पुत्रत्वादि रूप उपमानोपमेय साधारण्य के लिए अभेद की ही प्रतीति में द्वितीय उपमा की असंभवता से किसी प्रकार की अतिव्याप्ति नहीं है । अधोङ्कित उदाहरण से इसका समाधान करते हैं—

नलिनी की तरह इस तन्वङ्गी के कमल सदृशमुख, मधुकर अर्थात् भौंरे रूपी मुझसे पी-पी कर संतुष्ट है ।

इसमें बिम्बप्रतिबिम्ब भाव विशिष्ट तन्वी और नलिनी आदि उपमा के भी दर्शन से धर्म की सादृश्यता के कारण जो साधारणीकरण है—उसका भी उपमा में प्रयोजकत्व है । अन्यथा 'तन्वी'

और नलिनी के उपमा-कथन की अनुपपत्ति होती है। इसलिए उक्त लक्षण के उदाहरण में अतिव्याप्ति के दुर्निवारत्व से—प्राचीनों के उपमेयोपमा के लक्षण अयुक्त ही हैं।

इस प्रकार प्राचीनों के लक्षण का खण्डन कर दीक्षित जी स्वयंकृत उपमेयोपमा के लक्षण का प्रतिपादन करते हैं—

(सुधा)

लक्षणसमन्वयं दर्शयति—ततश्चेति। धर्म्युपमायां पुत्रस्योपमानभूतपितुर्धर्मोपपादके बिम्बप्रतिबिम्बनिर्देशे पुत्रं प्रत्युपमेयत्ववर्णनेन लक्षणसमन्वयस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः। उदाहरणस्य लक्ष्यत्वं निराकरोति—न चेति। इयमिति व्यत्यस्तधर्मिबिम्बप्रतिबिम्बकोपमेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—पुत्रपित्रोरिति। धर्मिणोः पुत्रपित्रोरुपमायां बिम्बप्रतिबिम्बभावमिश्रितवस्तुप्रतिवस्तुभावेन प्रशस्तपितृमत्त्वप्रशस्तपुत्रवत्त्वात्मकः साधारणो धर्मः। एतद्धर्मकोटिप्रविष्टपित्रापुत्रयोर्वात्सल्यभक्त्यतिशयाभ्यां कृतं रचितं यत् प्राशस्त्यं तत्साधरणो धर्म इति पूर्वोदाहरणस्य सच्छायाम्भोजेत्यादिरूपस्य समानरूपत्वात् समुचितोपमया यथा पुत्रस्य पितृभक्त्या प्रशस्तत्वं तथा पितुरपि तद्वात्सल्येन प्रशस्ततेत्यर्थस्य लाभेऽपि तृतीयसहशनिषेधस्य तत्फलस्य लाभासम्भवान्न लक्ष्यत्वमित्याशयः। अत्राशंकते—न चेति।

अत्रोदाहरणे इवद्वयाभावेन तदुक्तपर्यायद्वयस्याभावात् पर्यायपदाकथनेनैवातिव्याप्तेर्निरास इत्याशङ्कार्थः। समाधानमाह—वाच्येति। यथापदोपादानवत्यां कक्षायां पुत्रपित्रोरुपमा, तथा व्यङ्ग्यकक्षायां पितृपुत्रयोरिति पर्यायद्वयस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः। किञ्च, इवादिद्वयाभावेऽप्यतिव्याप्तेरसम्भव एव, पर्यायपदे वाच्यत्वस्य विशेषणीभूतस्य लक्षणकरणाभावात्। आक्षेपादिना वाच्यत्वावगतौ तु लक्षणस्य व्यङ्ग्योपमेयोपमासाधारण्यानापत्तेश्च।

पुनराशङ्कते—न चेति। धर्मिणोः पुत्रपित्रोरेवोपमाधर्मयोः प्रशस्तपुत्रत्वादिरूपयोरुपमानोपमेययोः साधारण्यायाभेदस्यैव प्रतीतौ द्वितीयोपमाया असम्भवेन नातिव्याप्तिरित्याशङ्कार्थः। अत्र समाधत्ते—नलिन्या इति। नलिन्या इव तस्याः तन्वङ्ग्याः पद्ममिव मुखं मधुकरेण मया पायम्पायं पीत्वा पीत्वा णमुलन्तमेतत्, अतृप्यतेत्यन्वयः। अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावविशिष्टयोस्तन्वीनलिन्यादिकयोरूपमाया अपि दर्शनेन धर्मयोः सादृश्येन यत् साधरणीकरणम्, तस्याप्युमायां प्रयोजकत्वात्। अन्यथा तन्वीनलिन्योरुपमाकथनानुपपत्तेः। तस्मात्तत्रोदाहरणे लक्षणातिव्याप्तेर्दुष्परिहरत्वादयुक्तमेवेदं प्राचामुपमेयोपमालक्षणमिति दिक्।

(चित्र०)

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।
एकधर्माश्रया या स्यात् सोपमेयोपमा मता॥

अन्योन्येनेति विशेषणान्न रशनोपमायामतिव्याप्तिः। व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा बोध्येति विशेषणाच्च नोभयविश्रान्तसादृश्योपमायामतिव्याप्तिः।

परस्परप्रतिक्षेपकविकल्पार्थेन वाकारेण हि या परस्परप्रतियोगिकत्वविशिष्टोपमा, तद्विषयवृत्त्यन्तरनिरपेक्षव्यक्तिबोध्या, तद्विषयव्यक्तिनिरपेक्षवृत्त्यन्तरबोध्या वा भवति, सोपमेयोपमेति पर्यवस्यति।

(भारती)

'अन्योन्येन अर्थात् परस्पर की प्रतियोगिता सहित, जो उपमा, व्यक्ता अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अथवा वृत्यन्तरेण अर्थात् अभिधावृत्ति के द्वारा ज्ञात होती हो एवं जो एक धर्म द्वारा सिद्ध होती हो, उस उपमा अर्थात् सादृश्य को उपमेयोपमा माना जाता है ।'

निष्कर्ष—जहाँ एक ही धर्म का आश्रय लेकर उपमेय और उपमान में परस्पर व्यञ्जना वृत्ति से अथवा अभिधावृत्ति से उपमा का प्रतिपादन हो वहां उपमेयोपमा होती है ।

'भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा' (पृ.१५६) अर्थात् कथन और बुद्धि, बुद्धि और चेष्टा समान हैं, इस रसनोपमा में अतिव्याप्ति दोष के निवारण के लिए लक्षण में 'अन्योन्येन' अर्थात् 'परस्पर की प्रतियोगिता सहित' इस विशेषण का समावेश किया गया है । यद्यपि इस प्रकार की उपमा में एक दूसरे के सादृश्य का प्रतियोगी है—अर्थात् इस वाक्य से 'भणिति' का 'सादृश्य' मति में और मति का सादृश्य भणिति में—इस तरह दोनों का सादृश्य दोनों में सिद्ध हो जाता है । किसी एक का किसी एक में नहीं । फिर भी, यहाँ प्रतियोगिता, व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ज्ञात होती है और उपमा अभिधावृत्ति के द्वारा । ऐसी स्थिति में प्रतियोगिता सहित उपमा का अन्यवृत्ति की अपेक्षा से रहित अर्थ का एक वृत्ति के द्वारा बोध नहीं हो पाता । क्योंकि प्रतियोगिता ज्ञान के लिए अभिधा को व्यञ्जना की अपेक्षा रहती है और उपमा ज्ञान के लिए व्यञ्जना को अभिधा की अपेक्षा रहती है । किन्तु, यहाँ लक्षण के अनुसार होना चाहिए 'अन्यवृत्ति' की अपेक्षा से रहित एक वृत्ति द्वारा प्रतियोगिता सहित सादृश्य का बोध । अतः उभय विश्रान्त सादृश्य उपमा में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए **'वृत्त्यन्तरेण वा बोध्या'** विशेषण का लक्षण में समावेश किया गया है ।

अगर आप यह कहें कि लक्षण में 'अन्यवृत्ति की अपेक्षा से रहित' इसका समावेश तो है नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि लक्षण में 'वा' अर्थात् अथवा का समावेश है । इसी अथवा का अर्थ यह है । अर्थात् अथवा कहने का यहाँ यही अभिप्राय है कि या तो 'पूर्वोक्त प्रतियोगिता सहित उपमा केवल व्यञ्जनावृत्ति से ही प्रतिपादित होनी चाहिए अथवा अभिधावृत्ति से ही । एक वृत्ति में दूसरी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिए । ऐसे ही स्थल में उपमेयोपमा अलङ्कार होता है ।

(सुधा)

एवं प्राचां लक्षणं खण्डयित्वा स्वयं कृतमुपमेयोपमालक्षणं प्रतिपादयति—अन्योन्येनेति । या अन्योन्येन व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण बोध्या एकधर्माश्रया उपमा, सा उपमेयोपमेत्यन्वयः । अन्योन्येत्यत्र प्रतियोगित्वं तृतीयार्थः । तस्य विशेषणतयोपमायामन्वयः । व्यक्तिश्चात्र व्यञ्जना, वृत्त्यन्तरं शक्तिरेव, आश्रयपदं प्रयोज्यार्थकम् । तथा च अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्टा व्यञ्जनाव्यापारेण शक्त्या वा बोध्या । एकधर्मप्रयोज्या उपमा उपमेयोपमेति लक्षणार्थः । विशेषणफलं विचारयति—अन्योन्येनेति । भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टेति रसनोपमायामतिव्याप्तिवारणाय विशिष्टान्तम् । भणितिनिरूपितसादृश्यप्रतियोगित्वं भणितौ; अनुयोगित्वं मतावस्ति, न त्वन्योन्यप्रतियोगित्ववैशिष्ट्यमतो नातिव्याप्तिः । उभयविश्रान्तसादृश्योपमायामतिव्याप्तिवारणाय बोध्यान्तं विशेषणम् । एतदतिव्याप्तिवारणाय स्वयमपि लक्षणं व्याकरोति—परस्परप्रतिक्षेपकविकल्पो वार्थः । या परस्परप्रतियोगित्वेन विशिष्टा, तत्पदमुपमापरम्, उपमाविषयं यद्वृत्त्यन्तरं शक्तिरूपम्, तदपेक्षा-

रहितव्यञ्जना बोध्या। उपमाविषयव्यञ्जनानिरपेक्षशक्तिबोध्या वा भवति, सा उपमेयोपमेति पर्यवसितोऽर्थः।

(चित्र०)

ततश्चोभयविश्रान्तसादृश्योपमायामन्योन्यप्रतियोगिकत्वांशे व्यक्तिः सादृश्यरूपोपमांशे वृत्त्यन्तरमिति तयोः करम्बितत्वान्नातिव्याप्तिशङ्का। सामान्यलक्षणसिध्यर्थं च व्यक्तिवृत्त्यन्तरयोरन्योन्यत्वेन क्रोडीकृतयोर्ग्रहणम्। एवं हि तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यः' इत्यत्र वृत्त्यन्तरापेक्षव्यक्तिबोध्यायामनलङ्कारभूतायां व्यक्तिनिरपेक्षवृत्त्यन्तरबोध्यायामलङ्कारभूतायां चोपमायां लक्षणमनुगतं भवति।

(भारती)

इसके बाद 'व्युष्टं प्रयाणञ्च' इत्यादि में उभय विश्रान्त सादृश्य उपमा में, अन्योन्य प्रतियोगिता के अंश में व्यञ्जना है और समानार्थक सादृश्य उपमा में शक्ति है। ऐसी स्थिति में इन दोनों के एकत्र मिल जाने से यहाँ अतिव्याप्ति की आशंका नहीं की जा सकती है। वृत्ति की भिन्न विषयता से ही यहाँ विलक्षणता की प्रतीति है। विकल्पार्थक 'वा' शब्द के द्वारा परस्पर निरपेक्षवृत्ति से बोध्यता के ही लाभ से भी ऐसी प्रतीति है। सामान्य लक्षण का सभी जगह व्यापक लक्षण की सिद्धि के लिए परस्पर एकीकृत वृत्ति के ग्रहण से भी उक्त 'अन्विति' संभव है। इसी प्रकार उक्त दोनों जगहों में लक्षण का समन्वय दिखाते हैं:—

प्रवात नीलोत्पल निर्विशेषमधीर विप्रेक्षितमायताक्ष्या,
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः।

मन्द पवन से हिलने वाले नील कमल की तरह सुन्दर कटाक्ष अवलोकन को पार्वती ने हरिणियों से सीखा था? अथवा हरिणियों ने पार्वती से सीखा था? इस बात का विचार करने पर भी निश्चय नहीं होता था।

इस उदाहरण में शक्ति निरपेक्ष व्यञ्जना वृत्ति से बोधित अनलङ्कार भूत उपमेयोपमा में अन्योन्य प्रतियोगित्व विशिष्ट शक्ति निरपेक्ष व्यञ्जना वृत्ति बोधित एक धर्म प्रयोज्य उपमा की उपस्थिति रहने के कारण ही लक्षण का समन्वय है। इसी प्रकार **'सुगन्धि नयनानन्दि'** इस उदाहरण में—अलङ्कारभूत उपमा में अन्योन्य प्रतियोगी विशिष्ट सादृश्य विषय से निरपेक्ष शक्ति द्वारा बोधित एक धर्म प्रयोज्य उपमा की उपस्थिति के कारण लक्षणानुगत है।

विमर्श—यहाँ प्रतियोगी का अर्थ है निरूपण करने वाला और मुख है उसका आधार। जैसे—'कमल की भाँति मुख' यहाँ कमल का अर्थ है सादृश्य का निरूपण करने वाला और मुख है आधार। क्योंकि कथित वाक्य में कमल का सादृश्य मुख में बताया जा रहा है। सादृश्य समानता का पर्यायवाची शब्द है, जिसका सम्बन्ध सर्वदा दो पदार्थों के बीच पाया जाता है। इन्हीं दो पदार्थों में से एक निरूपण करने वाला होता है और दूसरा आधार होता है। अर्थात् जिससे तुलना की जाती है वह प्रतियोगी होता है और जिसकी तुलना की जाती है वह अनुयोगी होता है।

(सुधा)

'व्युष्टं प्रयाणं च वियोगवेदनाविदूननारीकमभूत् समं तदा' इत्युभयविश्रान्तसादृश्योपमायामन्योन्यप्रतियोगितांशे व्यञ्जना, सादृश्योपमांशे शक्तिरिति तयोरेकत्र मिलित्वा-

व्याप्तिः। वृत्त्योर्भिन्नविषयतया एव विलक्षणत्वात्, विकल्पार्थकवाशब्देन परस्परनिरपेक्षवृत्तिबोध्यत्वस्यैव लाभाच्च। सामान्यलक्षणस्य सर्वत्र व्यापकलक्षणस्य सिद्धये परस्परमेकीकृत्य गृहीतयोर्वृत्त्योर्ग्रहणाच्च। तथैवोभयत्र लक्षणसमन्वयं दर्शयति—एवं हीति। "प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या। तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥" इति श्लोकशेषः। प्रवाते प्रभूतवातस्थले यन्नीलोत्पलं निर्विशेषं निर्भेदं तत्सदृशमित्यर्थः। अधीरविप्रेक्षितं चकितविलोकनम्, आयताक्ष्या विशालनेत्रया तया पार्वत्या मृगाङ्गनाभ्यो हरिणीभ्यो गृहीतमभ्यस्तम्, अथवा मृगाङ्गनाभिस्ततः पार्वत्याः। 'पञ्चम्यास्तसिल्'। गृहीतमभ्यस्तं नु इत्यन्वयः। अत्र शक्तिनिरपेक्षव्यञ्जनावृत्तिबोध्यानलंकारभूतोपमेयोपमायामन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्टशक्तिनिरपेक्षव्यञ्जनाबोध्यैकधर्मप्रयोज्याया उपमाया अत्र सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः। 'सुगन्धि नयनानन्दि' इत्यादावलङ्कारभूतोपमायामन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टसादृश्यविषयव्यञ्जनानिरपेक्षशक्तिबोध्यैकधर्मप्रयोज्याया उपमायाः सत्त्वाल्लक्षणानुगतिरित्यर्थः।

(चित्र०)

यद्यपि व्यङ्ग्यायामप्युपमेयोपमायां शब्दस्य सहकारित्वेन तद्गतशक्तेरप्यपेक्षितत्वात् 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादौ वाच्यायामपि गम्यसाधारणधर्मांशे तस्यां धर्मांशे व्यक्तेरपेक्षितत्वात् परस्परनैरपेक्ष्यमसंभवि, तथाप्यन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टसादृश्यविषयवृत्त्यन्तरनिरपेक्षकत्वं व्यक्तेस्तद्विषयव्यक्तिनिरपेक्षत्वं वृत्त्यन्तरस्य चास्त्येव।

(भारती)

अब सन्देह करते हैं कि पूर्व कथित लक्षणानुगति की संभावना नहीं है। क्योंकि, अर्थ की व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता की उक्ति से व्यङ्ग्य उपमेयोपमा में शक्ति की सहकारिता अपेक्षित है। फिर वाच्य उपमेयोपमा के इस उदाहरण में—'खमिव जलं जलमिव खम्' अर्थात् 'जल आकाश के समान हो रहा है और आकाश जल के समान' यहाँ आकाश और जल का जो सादृश्य के साथ अन्वय होता है उनमें प्रतीत होने वाली प्रतियोगिता संसर्ग रूप है। अर्थात् यहाँ धर्म का गम्यत्व के द्वारा उस अंश के कथन में व्यञ्जना की अपेक्षा से वृत्ति की निरपेक्षता का यहाँ सर्वथा अभाव है। फिर भी परस्पर की प्रतियोगिता सहित जो सादृश्य है, उसका बोध यहाँ व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा अथवा अभिधा के द्वारा एक धर्माश्रय होने के कारण रूप कथन की आवश्यकता से किसी प्रकार का दोष नहीं रह जाता है।

(सुधा)

नन्वेतन्न संभवति, अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता इत्युक्त्या व्यङ्ग्योपमेयोपमायां शक्तेः सहकारितया अपेक्षितत्वात्। वाच्योपमेयोपमायाम् 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्युपमेयोपमायां धर्मस्य गम्यत्वेन तदंशकथने व्यञ्जनाया अपेक्षितत्वाद् वृत्त्योर्निरपेक्षत्वस्य सर्वथाऽसम्भवादित्याशंकते—यद्यपीत्यादि। समाधत्ते—तथापीति। अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टं यत् सादृश्यम्, तद्विषयशक्तिनिरपेक्षकत्व व्यञ्जनायाः, तादृशसादृश्यविषयव्यञ्जनानिरपेक्षत्वं शक्तेरिति कथनस्यावश्यकत्वान्न दोष इति समाधानाशयः।

(चित्र०)

इदमेव च व्यक्तिपदानपेक्षयालङ्कारूपाया विशेषलक्षणमपि। तत्र व्यक्तिपदपरित्यागे वृत्त्यन्तरमात्रबोध्येत्येतद्विशेषणं पर्यवस्यति। ततश्चोभयविश्रान्तसादृश्योपमाव्यावृत्तिः। न च तस्यामेकस्यैवोपमानत्वम्, न तु द्वयोरित्यन्योन्यपदेनैव व्यावृत्ताविदं व्यर्थमिति वाच्यम्, प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः सादृश्यवर्णनेऽप्राकरणिकस्यैवोपमानत्वलाभेऽप्युभयोरपि प्राकरणिकत्वे विनिगमनाविरहेण परस्परोपमानत्वप्रतीतेः। एवं धर्माश्रयविशेषणात् 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इति परस्परोपमायां नातिव्याप्तिः उक्तविशेषणबलादेव 'पिता समाराधनतत्परेण' इत्युपमायामपि नातिव्याप्तिः, उभयत्राप्युपमेययोर्भिन्नधर्माश्रयत्वात्। एकधर्माश्रयेत्यस्य चायमर्थः—कस्यचिदन्येनोपमायां यो धर्मः साधारणो वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नो वा, स एवान्यस्य तेनोपमायामपीति, न त्वनुगामिधर्माश्रयेत्यर्थः। बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तुप्रतिवस्तुभावनिर्देशे तदभावादिति दिक्।

(भारती)

'इदम्' पद से यहां उपमेयोपमा के सामान्य लक्षण की व्याख्या कर विशेष लक्षण कहते हैं। उक्त लक्षण में व्यक्ति पद के परित्याग में वृत्त्यन्तर मात्र की बोध्यता होती है–यही उसका विशेष लक्षण हुआ। ऐसा करने से **'व्युष्टं प्रयाणम्'** इत्यादि रूप उभय विश्रान्त सादृश्य के उदाहरण में उपमा की व्यावृत्ति होती है। अगर आप यह कहें कि उक्त उदाहरण में एक का ही उपमानत्व है न कि दोनों का। अतः अन्योन्य पद से ही व्यावृत्ति जब संभव है तो उक्त विशेषण व्यर्थ ही है तो उसका उत्तर यह है कि प्राकरणिक और अप्राकरणिक के सादृश्य वर्णन में अप्राकरणिक का ही यदि उपमानत्व लाभ हो तो उसमें दोनों के ही प्राकरणिकत्व में विनिगमन के अभाव से परस्पर उपमानत्व की प्रतीति होती है।

'एक धर्माश्रया अर्थात् जिसका अर्थ एक धर्म द्वारा सिद्ध होता हो' इस विशेषण का फल यह है कि 'रजों से आकाश पृथ्वी की तरह हो गया है।' और 'मेघों के समान गजों से धरती आकाश की तरह हो गयी है' इस उदाहरण में परस्पर की उपमा का वर्णन किया गया है। उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार उक्त विशेषण के बल से ही **'पिता की समाराधना में तत्पर'** इत्यादि रूप उपमा में भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है। क्योंकि दोनों ही जगह उपमेय भिन्न धर्माश्रय है। अर्थात् दोनों उपमाओं को सिद्ध करने वाला धर्म एक नहीं है। भूतल को उपमान मान कर जो उपमा दी गयी है उसमें 'रज' रूपी अनुगामी धर्म है और आकाश तल को उपमान मानकर जो उपमा दी गयी है उसमें **'मेघों के समान गज'** रूपी विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्म है। अतः यहाँ दोनों ही धर्म भिन्न भिन्न हैं।

एक धर्माश्रय का यह अर्थ हुआ—किसी अन्य के द्वारा उपमा में जो साधारण धर्म अथवा वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हो उसका ही अन्य उपमा में उपस्थिति का बोध हो जाता है, न कि अनुगामी धर्माश्रय का। क्योंकि उसमें विम्बप्रतिविम्बभाव और वस्तुप्रतिवस्तु भाव का अभाव ही है।

(सुधा)

एवं सामान्यलक्षणं व्याकृत्य विशेषलक्षणमाह—इदमेवेत्यादि। 'अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्टसादृश्यविषयशक्तिबोध्यत्वे सत्येकधर्मप्रयोज्योपमात्वमेव तत्त्वम्' इति तस्या विशेषलक्षणम्। शक्तिबोध्यत्वे सतीति विशेषणात् 'त्वयुष्टं प्रयाणञ्च वियोगवेदनाविदूननारीकमभूत् समं तदा' इत्युभयविश्रान्तसादृश्योपमायां नातिव्याप्तिः। 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इति परस्परोपमायामतिव्याप्तिवारणाय—एकधर्मप्रयोज्येति। आशंकते—न चेति। उभयविश्रान्तसादृश्योपमायामेकस्यैवोपमानताया वाच्यत्वेन द्वयोस्तदभावादन्योन्यपक्षकथनेनैव तद्व्यावृत्तौ शक्तिबोध्येति पदस्य व्यर्थत्वापत्तिः। अत्र समाधत्ते—प्रकृताप्रकृतयोः सादृश्यवर्णनेऽप्रकृतस्यैवोपमानत्वेऽपि द्वयोः प्रकृतत्वे विनिगमनाभावात् परस्परोपमानत्वप्रतीतौ बाधाभावात्। पिता 'समाराधनतत्परेण' इत्यत्र व्यस्तधर्मिप्रतिबिम्बकोपमायामतिव्याप्तिवारणाय एकधर्मप्रयोज्येति विशेषणम्। तत्र भिन्नधर्माश्रयत्वान्नातिव्याप्तिः। एकधर्माश्रयेत्यस्य अनुगामिधर्माश्रयेति नार्थः, बिम्बप्रतिबिम्बभाववस्तुप्रतिवस्तुभावयोस्तदभावेनातिप्रसंगात्। किन्त्वेकस्यामुपमायां यः साधरणो धर्मो वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नो वा, तस्यैवान्योपमायां सत्त्वस्यैव तदर्थत्वादित्याह—एकधर्म इत्यादि। दिगिति। तदर्थस्तु—उपमेयोपमायामौचित्यबलादुपमानोपमेयसादृश्यवाचकपदानामुभयत्रैक्यस्य विवक्षा आवश्यकी। अन्यथा सहृदयहृदयोद्वेजकतया अदोषत्वापत्तेः। क्रमेण यथा—"वदनं कमलायते तदीयं शतपत्रं वदनायते सुबत्याः। असितोत्पलमालिकान्त्यपांगा नयनान्तस्त्यसितोत्पलस्य मालाः॥' इत्यादि विशेषरूपो बोध्यः।

(चित्र०)

इदं तूपमेयोपमात्वप्रयोजकं लक्षणम्। अनुगतानतिप्रसक्तलक्षणं तु—

सदृशस्य तृतीयस्य व्यवच्छेदाय यद्भवेत्।
अन्योन्येनोपमेयत्वं सोपमेयोपमा मता॥

इति द्रष्टव्यम्।

अत्रान्योन्येनेति विशेषणम् 'अहमेव गुरुः सुदारुणानाम्' इति प्रतीपविशेषव्यावृत्त्यर्थम्।

(भारती)

'अन्योन्य अर्थात् परस्पर की प्रतियोगिता सहित' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण तो उपमेयोपमात्व रूप जो सामान्य है उसका प्रयोजक है। अलङ्कारता साधारण का विशेष लक्षण तो—

तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति का बोध—अर्थात् उन दोनों पदार्थों की परस्पर की तुलना हो सकती है, अन्य किसी से नहीं यह ज्ञान जिसका फल है उस वर्णन में आने वाला, परस्पर उपमान उपमेय बने पदार्थों का सादृश्य 'उपमेयोपमा' अलङ्कार कहलाता है। इसे भी देखना चाहिए।

लक्षण में उपमेय एवं उपमान की परस्पर तुलना एवं दोनों के सुन्दर सादृश्य को 'उपमेयोपमा' कहा गया है। इस विशेषण के फलस्वरूप प्रतीप अलङ्कार के इस भेद के उदाहरण में

'अरे हालाहल! (जहर) तेरा यह कैसा अभिमान कि संसार की दारुण वस्तुओं में तूही

महा दारुण है। अरे! इस संसार में तो तुम्हारे जैसे खलवचनों की कोई कमी ही नहीं है।' अतिव्याप्ति दोष का निवारण हो जाता है।

विमर्श—यहां उपमेयोपमा की भ्रान्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि जहां उपमेयोपमा में परस्पर उपमानोपमेयभाव की प्रतीति अपेक्षित हैं, वहां प्रतीप में उपमान की उपमेयरूप से कल्पना इसलिए है कि इसके द्वारा उपमान की अपकृष्टता का बोध हो। यहां दारुणता में निरुपम हालाहल का, खलवचनों के उपमान के रूप में कथन किया गया है, जिससे अनुपम वस्तु की उपमानता के उपन्यास में एक अन्य ही प्रतीप प्रकार स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

(सुधा)

लक्षणमुपसंहरति—इन्द्वन्विति। अन्योन्येत्यादिपूर्वमुक्तं लक्षणमुपमेयोपमात्वरूपं यत्सामान्यं तत्प्रयोजकमित्यर्थः। अलंकारतासाधारणं तद्विशेषलक्षणमवतारयति—अनुगतेति। अलंकारवृत्तितदसाधारणलक्षणं तु इदं द्रष्टव्यमित्यन्वयः। तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकमुपमानोपमेययोरन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्टोपमारूपं यत्, सा उपमेयोपमेति लक्षणस्वरूपं बोध्यम्। अत्रान्योन्यस्येति पदस्य फलं विचारयति—अत्रेत्यादि। "अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मास्म दृप्यः। ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्॥" इति प्रतीपभेदेऽतिव्याप्तिवारणाय अन्योन्येति विशेषणम्। अत्र हालाहलस्य दुर्जनवचनसाम्यप्रतिपादने तेषामपि तेनार्थतः साम्यसिद्धौ तत्सदृशतृतीयस्य निषेधविषयतयोपमासत्त्वेन लक्षणसमन्वयेऽपि यथा—'धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीः' इत्यादौ सादृश्यप्रतियोगित्वमर्थस्येतरत्रसादृश्यप्रतियोगित्वम्, तथा वोपमानोपमेययोरन्योन्यप्रतियोगित्वं सिद्धम्। अत्र तथा प्रतियोगिकत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति दिक्। यत्त्वत्र पूर्वलक्षणमुद्दिश्य—"अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः। गवेषणेनालमिहापरेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति॥" इत्यत्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टाया उपमायास्तत्तुल्यत्वादिरूपैकधर्मप्रयोज्यायाः शक्त्या बोधनादुपमेयोपमात्वापत्तेः। न चेदं लक्ष्यमेवेति वाच्यम्? उत्तरोपमाया गर्वमात्रनिरासपरत्वेन तृतीयसदृशव्यवच्छेदरूपकफलस्याभावात्, तस्यैव तज्जीवितत्वात्। अन्यथा परस्परोपमानिवारणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेरिति रसगङ्गाधरकृता दूषणमभिहितम्। तन्न विधेयेति विशेषणाध्याहारेणात्र गवेषणनिषेधस्यैव विधेयतया एषापीत्याद्युपमाया विधेयत्वाभावेन दोषाभावात्।

(चित्र०)

अथोदाहरणानि। तत्र धर्मस्य साधारण्ये यथा—

खमिव जलं जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि॥

इयं प्रतीयमानसाधारणधर्मा। वाच्यसाधारणधर्मा यथा—'सुगन्धि नयनानन्दि' इत्यादि।

यथा वा—

गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चकैर्विभाति गिरिः।
निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झरः स्रवति॥

अत्रोपमेयोपमाद्वयस्य परस्परानुगृहीतत्वेन विच्छत्तिविशेषोऽधिकः।
वस्तुप्रतिवस्तुभावो यथा—'सच्छायाम्भोजवदना' इत्यादि।
इदं वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य बिम्बप्रतिबिम्बविशेषणत्वे उदाहरणम्।

(भारती)

उपमेयोपमा प्रथमतः दो प्रकार की है। एक व्यक्तधर्मा—जिसमें समानधर्म व्यञ्जना से ज्ञात हो अर्थात् लुप्त हो। दूसरी वाच्यधर्मा—जिसमें समानधर्म स्पष्ट शब्दों में लिखा हो। प्रथम व्यक्त-धर्मा का उदाहरण है:—

जल आकाश के समान हो रहा है और आकाश जल के समान हो रहा है। हंस चन्द्रमा के समान हो रहा है और चन्द्रमा हंस के समान हो रहा है। कुमुद तारे की तरह हो रहे हैं और तारे कुमुद की तरह हो रहे हैं।

इस उदाहरण में निर्मलत्वादिधर्म की व्यंजना व्यङ्ग्यतया व्यक्त है। अतः यहां व्यक्तधर्मा उपमेयोपमा अलङ्कार है।

वाच्यसाधारण धर्म के उदाहरण। जैसे—

'सुगन्ध युत नेत्रानन्दजनक और मदिरा के मद से ताम्रवर्ण तुम्हारा मुख कमल की तरह है और कमल तुम्हारे मुख की तरह है।'

यहाँ सुगन्धादि धर्म की मुखादि वृत्तित्व में सम्बन्ध ऐक्य से अनुगामित्वात्मक साधारण धर्म वाच्य है। इसी प्रकार वाच्य साधारण धर्म का दूसरा उदाहरण। जैसे—यह गजराज पर्वत की तरह अत्युच्च होने के कारण शोभ रहा है और यह पर्वत अत्युच्च होने के कारण गजराज की तरह शोभ रहा है। इसकी मदधारा निर्झर की तरह प्रवाहित है और पहाड़ का निर्झर गजराज की मदधारा की तरह प्रस्रवित है।

यहाँ सर्वनाम के परामर्श से गज का प्रकृतत्व है। 'उच्चकैः' और 'स्रवति' इन दोनों में साधारण धर्म रहने के कारण यह वाच्यधर्मा उपमेयोपमा का उदाहरण हुआ। यहाँ उपमेय और उपमान दोनों की परस्पर अनुग्राहकता से प्रथम विशेष के भेद से वस्तुप्रतिवस्तु भावकृत साधारण धर्म का उदाहरण देते हैं। वे दो प्रकार के हैं—(१) विशेषण रूप से और (२) विशेष्य रूप से।

उनमें प्रथम वस्तु प्रतिवस्तु रूप विशेषण का उदाहरण देते हैं:—**'सच्छायाम्भोजवदना'** अर्थात् शोभा सम्पन्न कमल ही है मुख जिस नारी का, उसी की तरह शोभती है।

यहाँ 'वदन' और 'कमल' में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है उसमें शोभारूप जो एक धर्म है, वह वस्तु-प्रतिवस्तु भाव रूप विशेषण से निर्दिष्ट है।

(सुधा)

अथोदाहरणानि—तत्रोपमेयोपमा द्विविधा—व्यक्तधर्मा, वाच्यधर्मा च। तत्र व्यक्त-धर्मा यथा—'खमिव' इति शरद्वर्णने पद्यमिदम्। जलं खमिव, खं जलमिव, चन्द्रो हंस इव, हंसश्चन्द्र इव, तारा कुमुदाकाराः कुमुदानि ताराकाराणि—इत्यन्वयः। इह निर्म्मल-त्वादिधर्मस्य व्यञ्जनाव्यङ्ग्यतया व्यक्तधर्मा। द्वितीया यथा—'सुगन्धि नयनानन्दि' इत्येव। अस्य एवोदाहरणम्—गिरिरिति। अयं गजराजो गिरिरिव उच्चकैर्विभाति, गिरि-

गजराज इव उच्चकैर्विभाति, अस्य मदधारा निर्झर इव स्रवति, निर्झरो मदधारेव स्रवतीत्यन्वयः। अत्र सर्वनामपरामर्शेन गजस्य प्रकृतत्वम्। अत्रोच्चकैः स्रवतीत्युभयत्र धर्मसत्वात् वाच्यधर्मा। उपमेयोपमाद्वयस्य परस्परमनुग्राहकत्वात् पूर्वतो विच्छुति विशेषाद्भेदः वस्तुप्रतिवस्तुभावकृतं धर्मसाधारण्यमुदाहरति। तद् द्विविधम्—विशेषणतया, विशेष्यतया वेति। आद्या यथा—सच्छायेत्यादि। अत्र वदनकमलयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तस्य च सशोभतारूप एको धर्मो वस्तुप्रतिवस्तुभावरूपो विशेषणतया निर्दिष्टः।

(चित्र०)

तद्विशेष्यत्वे यथा—

वक्त्रं पद्ममिवैतस्या नेत्रं भृङ्गमनोहरम्।
पद्मं वक्त्रमिवाभाति भृङ्गलोचनभूषितम्॥

एतानि पर्यायोपमेयोपमोदाहरणानि।

(भारती)

विशेष्य रूप से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

इसका मुख कमल के सदृश है और आँखें भौंरों की तरह हैं और भौंरे की तरह आँखों से युत इसका मनोहर मुख कमल की तरह शोभ रहा है। कमल भौंरे की तरह कजरारी आँखों से युत मुख की तरह शोभ रहा है।

पर्याय उपमेयोपमा के ये सभी उदाहरण हैं।

(सुधा)

विशेष्यतया यथा—वक्त्रमिति। एतस्या मुखं पद्ममिव नेत्रे भृङ्गाविव ताभ्यां मनोहरं वक्त्रं कमलमिवाभाति। कमलं भृगांविव लोचने ताभ्यां मनोहरं मुखमिव आभातीत्यन्वयः। अत्र भृंगनेत्रादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तस्य च भानरूप एक एव धर्मो विशेष्यतया प्रोक्तः। एतेषामुदाहरणानां पर्यायोपमेयोपमात्वं बोध्यम्।

(चित्र०)

युगपदुपमेयोपमोदाहरणं तु—'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन' इत्यादि। तत्रापि यथासम्भवं पूर्वोक्ता भेदा उन्नेयाः।

इति चित्रमीमांसायामुपमेयोपमाप्रकरणम्।

(भारती)

युगपद् उपमेयोपमा के उदाहरण। जैसे—

इस लक्ष्मी के स्वीकार करने से जो सुन्दर—साथ ही साथ एक ही क्षण में आँखों का खुलना और कमलों का खिलना—ये दोनों व्यापार हैं। उनसे शीघ्र उसी क्षण में दोनों ही परस्पर एक दूसरे की बराबरी प्राप्त करें। वे दोनों कौन? एकतो भीतर कुछ कुछ चलती हुई चिकनी काली

पुतलियों वाली तुम्हारी आँखें और दूसरे भीतर कुछ कुछ चलते हुए भौंरों से युक्त कमल, अर्थात् साथ ही साथ खुलने और खिलने से आँखों की और कमलों की पूर्ण रूप से समानता हो जायेगी। अर्थात् आँखें खोलें—कमल खिल रहे हैं। इत्यादि।

इतना कहने के बाद भी यथा संभव पूर्वोक्त भेदों को समझना चाहिए।

विमर्श—दीक्षित जी की 'चित्रमीमांसा' में लिखित 'उपमेयोपमा' का यह लक्षण तथा उसकी इतनी परिष्कृत व्याख्या के बावजूद पण्डितराज जगन्नाथ को कई आपत्तियां हैं। सर्वप्रथम उन्होंने लिखा है कि दीक्षित जी के उक्त लक्षण के अनुसार तो—

अहंलतायाः संदृशीत्यखर्वं गौरांगि गर्वम्र न कदापि याया।
गवेषणेनालमिहप्परेयामेषापितुल्यातव तावदस्ति ॥

अर्थात् हे गौराङ्गि ! मैं लता के समान हूं। इस तरह का महान गर्व तुम कभी न करना। क्योंकि इसके लिए किसी दूसरे को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। यह लता ही तुम्हारे समान है। तात्पर्य यह है कि यह लता तो अनायास ही तुम्हारे सदृश निकल आयी और यदि इस तुलना को खोजा जाय तो पता नहीं कितनी ऐसी वस्तुएँ सामने उपस्थित हो जायें।

इस उदाहरण में भी उपमेयोपमा अलङ्कार होने लगेगा। क्योंकि यहां भी परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा 'कृशता' आदि एक धर्म से सिद्ध और अभिधारूपी एक वृत्ति से बोधित होती है।

यदि यह कहा जाय कि उक्त उदाहरण में कथित 'लतायाः सदृशी' तथा 'तुल्यातव' इन पदों से 'गौराङ्गि' आदि शब्दों में लता आदि से सम्बन्ध रखने वाले सादृश्य का आश्रय होना ही प्रतीत होता है, प्रतियोगी होना नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—ऐसा कहने से लक्षण की—**'मुखस्य सदृशश्चन्द्रश्चन्द्रस्य सदृशंमुखम्'** इस उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति दोष होगा। क्यों कि पूर्व कथित बातों की यहां भी उपस्थिति के कारण उपमेयोपमान हो सकेगा। अतः ऐसे स्थलों के लिए विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि—शब्दतः प्रतियोगिता के प्रतीत न होने पर भी अर्थतः उसकी प्रतीति हो जाती है। ऐसी दशा में दीक्षित जी के लक्षण के अनुसार उक्त उदाहरण में उपमेयोपमा का होना अनिवार्य हो जाता है।

अगर यह कहा जाय कि उपर्युक्त उदाहरण में उपमेयोपमा मान लेने पर विवाद समाप्त हो जायेगा तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि उक्त उदाहरण के उतरार्द्ध की उपमा में तो केवल गर्व हटा देने में है—इससे तो तीसरे सदृश की निवृत्ति का प्रतिपादन नहीं होता। अतएव 'और भी तेरे समान हैं ही, पर—उनके खोजने से क्या फल ?' इस अर्थ का प्रतिपादक उत्तरार्द्ध संगत होता है। अन्यथा वह असंगत हो जायगा। इतना ही नहीं तृतीय सदृश पदार्थ की जब तक निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक उपमेयोपमा भी तो नहीं हो सकती ? यदि यह कहा जाय कि तृतीय सदृश की निवृत्ति जहां हो, वहीं उपमेयोपमा होती है तो इसका उत्तर यह है कि तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति ही उपमेयोपमा का जीवन है। जहाँ वह न हो, वहाँ उपमेयोपमा होती ही नहीं—यह आलङ्कारिकों का सिद्धान्त है। स्वयं दीक्षित जी ने भी **'भुवस्तलमिवव्योमं कुर्वन्'** इत्यादि रघुवंश के श्लोक में उपमेयोपमा के निवारण का यत्न किया है—वही व्यर्थ हो जायेगा।

यदि आप 'अहंलतायाः' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष निवारण के लिए

'तृतीय सदृश की निवृत्ति जिसका फल हो' यह विशेषण और लगा देगें तो आपकी उपमेयोपमा के लक्षण के सारे अन्य विशेषण व्यर्थ हो जायेंगे। क्यों कि अन्य विशेषणों के माध्यम से आप जिन सारी बातों को हटाना चाहते थे वे सभी केवल इसी एक विशेपण से हट जायेंगी।

दूसरी बात यह भी है कि दीक्षित जी के लक्षण में जो यह कहा गया है कि—'परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा एक वृत्तिमात्र से बोधित होनी चाहिए' यह कथन भी स्वतः अयुक्तिकर हो जायेगा। क्यों कि **'खमिव जलम् जलमिव खम्'** इस उपमेयोपमा में आकाश और जल का जो सादृश्य के साथ अन्वय होता है, उसमें प्रतीत होने वाली प्रतियोगिता संसर्ग रूप है। अतः वह किसी वृत्ति से प्रतिपादित नहीं होती। क्यों कि वृत्ति द्वारा ज्ञात होने वाले पदार्थों का संसर्ग वृत्ति द्वारा ही ज्ञात नहीं होता—यह एक आलङ्कारिक नियम है। अर्थात् पदार्थों का बोध ही वृत्ति द्वारा होता है, न कि पदार्थों के सम्बन्धों का। अन्यथा सम्बन्ध भी विशेषण रूप हो जायेंगे जो कि सर्वथा सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। अतः यदि 'प्रतियोगिता सहित उपमा का एक वृत्ति मात्र से बोधित होना' आप स्वीकार करेगें तो 'खमिवजलमित्यादि स्थल में भी उपमेयोपमा न हो सकेगी। ये सारे आक्षेप हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि पण्डित जी के इन आक्षेपों में कितने तथ्य हैं?

सर्वप्रथम उपमेयोपमा अलङ्कार का उल्लेख आचार्य भामह ने किया। दण्डी ने इसे स्वतंत्र अलंकार के रूप में स्वीकृत न कर उपमा का एक भेद के रूप में ही इसे माना। इसके बाद उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनाथ, दीक्षित तथा जगन्नाथ प्रभृति ने अपने-अपने ढंग से इसका विवेचन किया, जिन विवेचनों के आधार पर उपमेयोपमा की ये प्रमुख विशेषताएँ हैं:—

इसका अर्थ है उपमेय के द्वारा उपमा। अर्थात् उपमान के तिरस्कार को ही उपमेयोपमा का आधार माना गया है। उपमेय और उपमान का कथन जिन दो पदार्थों से किया जाता है, उस की समानता के लिए तीसरी वस्तु उपयुक्त नहीं हो पाती। क्यों कि इसमें दो पदार्थों का पर्याय से उपमान और उपमेयत्व का वर्णन किया जाता है। फलतः इस अलंकार में दो वाक्य होते हैं—प्रथम, उपमेय को द्वितीय वाक्य में उपमान एवं प्रथम उपमान को द्वितीय वाक्य में उपमेय बनाया जाता है। इसमें तृतीय सदृश की निवृत्ति होती है। क्यों कि इसमें उपमेय ही उपमान बनता है, तथा उपमान ही उपमेय बन जाता है। इसमें उपमेय की उपमा उपमान से दी जाती है, और उपमान की उपमा उपमेय से। क्यों कि औपम्य निर्वाह के लिए तृतीय पदार्थ की आवश्यकता पड़ती ही नहीं।

मुख्यतः कवि जब किसी पदार्थ के गुण या धर्म को दूसरी जगह खोजते हुए अन्य अर्थात् उपमान में प्राप्त कर लेता है तब अन्य पदार्थों का 'सादृश्य सम्बन्धी क्षेत्र' इनके क्षेत्र से अलग हो जाता है। इस प्रकार पहली वस्तु का साम्य दूसरी वस्तु के साथ सहज ही स्थापित हो जाता है। किन्तु, जब उसे द्वितीय पदार्थ अर्थात् उपमान के समान अन्य पदार्थ की खोज करनी पड़ती है तो निराश होकर अन्ततः उसे उपमेय या प्रथम पदार्थ की ही शरण लेनी पड़ती है। अतः कवि को ऐसी स्थिति में अगत्या यह उद्घोषित करना पड़ता है कि उपमेय के सदृश उपमान है और उपमान के समान उपमेय। कवि की इसी मान्यता से उपमेयोपमा की उत्पत्ति होती है।

उदाहरण के लिए—**'कमलेवमतिर्मतिरिव कमला'** इस वाक्य को रक्खा जा सकता है। यहां

कमल अर्थात् लक्ष्मी और मति को एक दूसरे का उपमान और उपमेय बनाया गया है। क्यों कि कवि का औपम्य निर्वाह 'कमला' और 'मति' तक ही सीमित रहता है और इससे आगे बढ़ नहीं पाता। अतः यहां उपमेयोपमालङ्कार होता है।

पण्डितराज ने 'अहं लता या सदृशीत्यादि' उदाहरण में परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा 'कृशता' आदि एक धर्म से सिद्ध और अभिधारूपी एक वृत्ति से बोधित कहकर, दीक्षित जी के लक्षण को जो अतिव्याप्ति दोष दुष्ट कहा है—उसमें तथ्य नहीं प्रतीत होता। क्यों कि उक्त उदाहरण की दो वस्तुओं में उपमानोपमेय भाव का यथा कथंचिद् पर्यायतः परिवर्तन मान भी लिया जाय तो भी यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं हो सकता। क्यों कि इसका उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार नहीं अपितु 'लता के समान' और 'तेरे समान' में सादृश्य रूप संवेगों के कारण मन की भावना का प्रदर्शन है। उपमेयोपमा में भी साधारण धर्म की एकरूपता और बिम्बप्रतिबिम्ब तथा वस्तुप्रतिवस्तु रूपता की संभावनायें संगत हैं। साधारण धर्म की एकरूपता में उपमेयोपमा का दीक्षित जी का यह उदाहरण एक सुन्दर निदर्शन है। **'रविरिवजलं जलमिवखम्'** (इस उदाहरण की व्याख्या हो चुकी है) यहां यह स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में उपमेयोपमा का दीक्षित जी का 'सच्छायाम्भोज' इत्यादि उदाहरण भी दर्शनीय है। इतना ही नहीं पण्डित जी द्वारा स्वयं उदाहृत यह सूक्ति भी—**'रमणीयस्तवकयुता'** इत्यादि भी विशेष रूप से ध्यातव्य है। यहां परस्पर वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न 'रमणीयता' और सुन्दरता रूपी विशेषणों तथा युक्तता और शोभा रूपी विशेष्यों से सम्पुटित पुष्पों के गुच्छे और स्तनरूपी धर्म परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भावापन्न हैं। यहां जो उपमेयोपमा का स्वरूप स्पष्ट रूप से झलक रहा है उसे कहां ले जायेंगे।

इतना ही नहीं—पण्डितजी ने 'प्रतियोगिता सहित उपमा का एक वृत्ति मात्र से बोधित होना' कह कर 'खमिव जलम्' इत्यादि में उपमेयोपमा का खण्डन किया है—उस खण्डन का खण्डन नागेश भट्ट के शब्दों में भी दर्शनीय है—'एक वृत्ति से बोधित होने का अर्थ है—अन्य किसी वृत्ति से बोधित न होना, अतः इस उदाहरण में किसी प्रकार का दोष नहीं है। क्यों कि संसर्गों का बोध अन्य किसी वृत्ति से नहीं होता।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायामुपमेयोपमाप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

युगपदुपमेयोपमोदाहरणं तु 'तद्वदगुना' इत्यादिरूपं बोध्यम्। उदाहरणान्युपसंहरति—तत्रापीति। पूर्वोक्ता भेदा धर्मकृताः, श्रौत्यार्थीत्वकृताश्च। यथासम्भवमिति। ते यथा—तत्रानुगामितया यथा—

"त्वन्नयनमुत्पलमिव त्वन्नयनमिवोत्पलं कान्ते।
विद्रुम इव त्वदधरस्त्वदधर इव विद्रुमः शोणः॥"
पूर्वार्धे आर्थः, उत्तरार्धे शाब्द इति भेदः।

बिम्बप्रतिबिम्बभाववस्तुप्रतिवस्तुभावौ मिलितावेवोदाहृतौ ।

उपचारो यथा—

"अचला इव विद्वांसो विद्वांस इव अचला गुरवः।

शास्त्राणि तोयनिधिवत्तोयनिधिः शास्त्रवद्बहुगम्भीरः ॥" इति ।

अत्र गुरुत्वगम्भीरत्वयोर्विद्वच्छास्त्रेपूपचारः । समासभेदो यथा—

"उल्लसितकुसुमहस्ता रमणीयस्तबकवक्षोजा ।

वल्लिरिव वामनयना विभाति वल्ली च वामनयनेव॥"

श्लेषो यथा—

"विचरद्ग्राहसमूहश्चन्द्रमयूखाङ्कुरोल्लसितः

आकाश इव समुद्रः समुद्र इव सोऽयमाकाशः ॥"

पूर्वपादे शब्दश्लेषः, द्वितीये त्वर्थश्लेष इति विशेषः । इयं ध्वनिरूपापि—

"संसारसिन्धावनुबिम्बमात्रं जागर्ति जाने तव वैरिसेनिः ।

बिम्बानुबिम्बौ हि विधाय धातुर्न जातु दृष्टातिसरूपसृष्टिः ॥"

दोषा अप्यत्र ये उपमाप्रोक्ताः ते सर्वे बोध्याः ।

अयमस्या विशेषो दोषः—एकत्र श्रौती, अपरत्रार्थीति । यथा—

'कमलेमिव वदनमस्या वदनेन समं तथाकमलम्' इति ।

पूर्णालुप्तादयो भेदा यथायथं बोध्याः, लेशत उदाहरणमपीति दिक् ।

उपमेयोपमाध्ये कृतं व्याख्यानमुत्तमम् ।
धरानन्देन टीकायां सुधायामाप पूर्णताम् ॥

इति भरतपुरनिवासिनो वसिष्ठगोत्रीय-मिश्ररामबलस्य सुतेन धरानन्देन
कृतायां चित्रमीमांसाव्याख्यायां सुधाख्यायाम्
उपमेयोपमालंकारप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ अनन्वयनिरूपणम्

एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः ।

(भारती)

अनन्वय वह अलङ्कार है, जिसमें एक ही वस्तु एक ही औपम्यप्रतिपादक वाक्य में उपमान और उपमेय दोनों रूपों में प्रतीत होती है।

विमर्श—अनन्वय शब्द की व्युत्पत्ति है—'न विद्यतेऽन्वयः सम्बन्धः उपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वयः ।' अर्थात् किसी उपमेय का अपने से भिन्न किसी उपमान से साधारणधर्मत्व रूप सम्बन्ध का न रखना। सारांश यह कि किसी प्रकार के भेद के अभाव में भी भेदमूलक सादृश्य का उपचार करके जहाँ एक ही वस्तु में उपमानोपमेयभाव प्रतिपादित किया जाय, जिससे यह प्रतीत हो कि उसके सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं और न तो उसका कोई अन्यत्र साधर्म्य है, तो वहां जो अलङ्कार होता है—वह अनन्वय है। अर्थात् जहां उपमेय की किसी अन्य उपमान से समता नहीं प्रदर्शित की जाती तथा अपने से अतिरिक्त किसी अन्य उपमान का निषेध किया जाता है। निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि अपने से ही अपनी उपमा रखना अनन्वय है। इस अलङ्कार में अनुभूति की सान्द्रता के कारण कवि-कल्पना क्रियाशील नहीं हो पायी है। इसमें उपमेय के प्रति कवि की आस्था अत्यन्त दृढ़ होती है। अतः उपमेय के सदृश कवि अन्य किसी पदार्थ की कल्पना ही नहीं कर पाता है। फलतः इसमें उपमेय स्वयं उपमान बनकर अन्य उपमानों का निराकरण कर देता है। उपमा का सौन्दर्य तो साम्य की प्रतीति में है। किन्तु, अनन्वय का चमत्कार अन्य उपमानों से साधर्म्यसम्बन्ध के व्यवच्छेद में है। फलतः उपमा में उपमान और उपमेय का वास्तविक भेद और अनन्वय में आहार्य भेद होने के कारण दोनों का चमत्कार अलग अलग है।

(सुधा)

एवमुपमितिक्रियानिष्पत्तिसत्त्वेनोपमाविशेषरूपामुपमेयोपमां निरूप्य तदभाववत्त्वेनोपमातिरिक्तमनन्वयं निरूपयितुं प्रतिजानीते—अथेति । उपमाविशेषोपमेयोपमाकथनानन्तरमित्यर्थः। तस्य प्राचीनोक्तं लक्षणं प्रथमं प्रतिपादयति—एकस्यैवेति । एकस्यैवोपमानत्वमुपमेयत्वं चेद्भवति, सोऽनन्वय इत्यर्थः ।

(चित्र०)

एवकारबलादेकस्यामेवोपमितिक्रियायामिति गम्यते । तेनोपमेयोपमायां रसनोपमायां च नातिव्याप्तिः । उदाहरणम्—'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।' अयं प्रतीयमानधर्मः । निर्दिष्टधर्मो यथा—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥

(भारती)

लक्षण में 'एव' पद के सन्निवेश से एक में ही उपमितिक्रिया में वैसा वर्णन होता है ! फलस्वरूप इससे उपमेयोपमा के **'खमिव जलं जलमिव खम्'** इस उदाहरण में तथा रसनोपमा के **'भणितिरिव मतिः मतिरिव चेष्टा'** इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष नहीं होता । क्योंकि एक ही उपमिति क्रिया का दोनों जगह अभाव है ।

उदाहरण कथन के द्वारा अनन्वय के दो भेद बताते हैं । प्रथम भेद है 'प्रतीयमानधर्म' और दूसरा भेद है 'निर्दिष्टधर्म' । प्रथम प्रतीयमानधर्म का उदाहरण देते हैं । जैसे—

'आकाश आकाश की तरह ही सुन्दर है और सागर की उपमा सागर ही है । इसी प्रकार राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध की तरह ही है ।' इस उदाहरण में एक ही गगन उपमानत्व और उपमेयत्व दोनों है । गम्भीरता और दारुणतारूपी धर्मों में वाच्यता के अभाव से प्रतीयमानधर्म की ही विवक्षा है । इसी प्रकार निर्दिष्टधर्म के उदाहरण । जैसे—

'परम सुन्दरी वह नितम्बिनी उसी नितम्बिनी की भाँति अर्थात् अपनी ही तरह सुन्दर ही नहीं लगती, बल्कि इसमें कामदेव थिरक रहा है, ऐसे उसके हावभाव भी उसी के विलास की भाँति है ।'

यहाँ 'वह नितम्बिनी अपने ही समान है और उसके हाव-भाव भी उसी के हाव-भाव के समान है' यह प्रतीति अनन्वय में उपमानान्तर सम्बन्धाभाव की प्रतीति है, जिसके कारण यहां अनन्वय अलंकार है । यहां प्रकाशन रूप धर्म की शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्यत्व से निर्दिष्ट धर्मता है ।

(सुधा)

पूर्वेत्यस्य प्रयोजनमाह—एवकारबलादिति । एकस्यामेवोपमितिक्रियायां तादृशवर्णनमित्यर्थः । तत्प्रयोजनमाह—तेनेति । उपमेयोपमायाम् 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादिरूपायां रसनोपमायाम् 'भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा' इतिरूपायाञ्च नातिव्याप्तेः, एकस्या एवोपमितिक्रियाया उभयत्राप्यभावादित्याशयः । उदाहरणकथनद्वारा तद्विभागमाह—उदाहरणमिति । 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः । रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥' इति पद्यशेषः । अत्रैकस्यैव गगनादेरुपमानत्वमुपमेयत्वञ्च । अत्र वैपुल्यगाम्भीर्यदारुणत्वानां धर्माणां वाच्यत्वाभावादस्य प्रतीयमानधर्मत्वम् । निर्दिष्टधर्मो यथा—न केवलमिति । नितान्तकान्तिः सा नितम्बिनी एव केवलं नितम्बिनीव न भाति, यावद्विलासायुधः कामः, तस्य लास्यं नृत्यं तन्निवासास्ते तस्या विलासास्तद्विलासा इव भान्तीत्यन्वयः । अत्र प्रकाशनरूपधर्मस्य शक्त्यां प्रतिपाद्यत्वान्निर्दिष्टधर्मत्वम् । अत्र धर्मस्यानुगामित्वमेव, न बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नता । तथाधर्मोक्तौ किञ्चिद् धर्मावच्छिन्नेन तत्त्वेन धर्मान्तरावच्छिन्ने स्वस्मिन् सादृश्यान्वये बाधकाभावादुपमात्वापत्तावनन्वयस्य विलोपापत्तेः ।

अनन्वयोऽपि द्विधा—पूर्णो लुप्तश्च । पूर्णं उपमावदेव षड्विधः । यथा—'गङ्गा द्रुधा यथा गङ्गा गङ्गा गाङ्गेव पाविनी । हरिणा सदृशो बन्धुर्हरितुल्यः परो हरिः ॥ गुरुवद्गुरुराराध्यो गुरुवद्गौरवं गुरोः ।' इत्यत्र षड्विधोऽपि पूर्णोऽनन्वयो दर्शितः । लुप्तेऽपि पञ्चविधो धर्मलोपः, यथा—'गङ्गा भुवि यथा गङ्गा गङ्गा गङ्गेव दृश्यते । हरिणा सदृशो लोके हरितुल्यस्तथा हरिः ॥ गुरुवद् गुरुरत्रास्ति गुरुवद्वर्तते गुरोः ।' वाचकलुप्तो यथा—'रामायमाणः श्रीरामः सीता सीतामनोहरा ।' इत्यत्र वाचकलोपः क्यङ्समासयोः । 'लङ्कापुरादति-

तरां कुपितः फणीव निर्गत्य जातु पृतनापतिसम्परीतः। क्रुद्धं रणे सपदि दाशरथिं दशास्यः संरब्धदाशरथिदर्शसहो ददर्श॥' एतत् कर्मणलुप्ति। एवं कर्तृणमुलादावपि। 'अम्बरयत्य-म्बरं यद्वत् समुद्रोऽपि समुद्रति। विक्रमार्कमहीपाल तथा त्वं विक्रमार्कसि॥' अत्र धर्म-वाचकयोर्लोपः। 'एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे। केनोपमीयतां तज्ज्ञै रामो राम-पराक्रमः॥' अत्र वाचकधर्मोपमानानां लोपः उपमानलुप्तादीनामसम्भवात्, अहृद्यत्वाच्च नोदाहरणसम्भव इत्यलम्।

(चित्र०)

ननु—

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्॥

इत्यत्रैकस्यैव रघुपतेरुपमानत्वमुपमेयत्वं च, न च तत्रानन्वयः। समुच्चयो-पमया तस्य धर्मार्थकामेष्वनुजेषु च समवृत्तिमात्रस्यैव प्रतिपाद्यतया सदृशान्त-रव्यवच्छेदे तात्पर्याभावात्। तथा 'त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव' इत्यत्राप्यस्ति स्वस्यैवोपमानत्वमुपमेयत्वं च। तत्रापि नानन्वयः। पितृनियोगात् क्षितित्याग इवापवादात् सीतात्यागे स सदृशान्तरप्रसक्त्यभावेन तद्व्यवच्छेदस्य फलत्वायोगाच्च।

(भारती)

प्राचीनोक्त इस अनन्वय में दोष दिखाते हुए दीक्षित जी स्वयं अपने लक्षण को स्पष्ट करने के लिए 'ननु' से उपक्रमक स्थापित करते हुए कहते हैं—

'इस प्रकार पिता की आज्ञा से वनवास समाप्त कर राज्य को पाये हुए राम ने धर्म, अर्थ और काम में तथा अपने छोटे भाइयों में समान रूप से व्यवहार करना प्रारंभ किया।'

इस उदाहरण में एक ही राम का उपमानत्व और उपमेयत्व भी है। किन्तु, यहां अनन्वय नहीं है। समुच्चयोपमा से धर्मादि में और छोटे भाईयों में राम की समवृत्तिता मात्र के ही प्रति-पादन से द्वितीय सदृश निषेध में तात्पर्य का अभाव है। फलतः समुच्चय उपमा में अतिव्याप्ति होगी। इसके अतिरिक्त अन्य दोष भी दिखाते हुए रघुवंश के १४ वें सर्ग के ३९ वां श्लोक उद्धृत करते हैं।

'उस अपयश को दूर करने के लिए फल को मालूम करते हुए भी निःस्पृह होकर पिता की आज्ञा से सम्पूर्ण पृथ्वी की तरह सीता को छोड़ दूँगा।'

यहां भी राम का ही उपमानत्व एवं उपमेयत्व दोनों ही है। फिर भी यहां अनन्वयालङ्कार नहीं है। क्योंकि यहां भी दूसरे सदृश के निषेध के तात्पर्य का अभाव है। यहां द्वितीय सदृश की प्रसिद्धि भी नहीं है। पिता की आज्ञा से राज्यत्याग में और निन्दा के भय से सीता के त्याग में अन्य सदृश पदार्थ के अभाव से उसके निषेध के फल की संभावना भी यहां नहीं है।

(सुधा)

स्वयं लक्षणं कर्तुं प्राचीनोक्तं पूर्वं लक्षणमव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिना दूषयति—नन्विति। पितुरिति। राम एवं पितुर्नियोगात् शासनाद् वनवासस्य दुःखं निस्तीर्य, अनन्तरं प्रति-

पञ्चराज्यः सन् धर्मार्थकामेषु वृत्तिर्यथा तथैवावरजेष्वनुजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे। इत्यत्रैकस्यैव रामस्योपमानत्वमुपमेयत्वञ्चास्ति। तस्य लक्षणत्वं वारयति—न चेति। अनन्वयस्त्वत्र नास्ति, समुच्चयोपमया धर्मादिषु भ्रातृषु च रामस्य समवृत्तित्वमात्रस्यैव प्रतिपाद्यतया द्वितीयसदृशनिषेधे तात्पर्याभावात्। तस्मात् समुच्चयोपमायामतिव्याप्तिरित्याशयः। दूषणान्तरमाह—त्यक्ष्यामीति। 'तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः' इति पूर्वार्धम्। तस्य वर्ण्यस्यापवादस्येत्यर्थः। अपनोदाय फलप्रवृत्तौ अपत्योत्पत्तावुपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षः निस्स्पृहः सन् वैदेहसुतां पुरस्तात् पूर्वं पितुराज्ञया समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा, तां भूमिमिव त्यक्ष्यामीत्यन्वयः। अत्र रामस्यैवोपमानत्वम्, उपमेयत्वम्। न चात्रानन्वयोऽस्ति, द्वितीयसदृशनिषेधतात्पर्याभावात्। पित्राज्ञया क्षितित्याग इवापवादात् सीतात्यागेऽप्यहं भवता न निषेद्धव्य इत्येतावति श्लोकस्य तात्पर्यसत्त्वात्। द्वितीयसादृश्यप्रसिद्धिरपि नास्तीत्याह—पितृनियोगादिति। पित्राज्ञया राज्यत्यागे, निन्दाभयात् सीतात्यागे च, अन्यस्य सदृशपदार्थस्याभावेन तन्निषेधस्य फलत्वासम्भवाच्च।

(चित्र०)

एवम्—

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे॥

इत्यादावप्येकस्यैवोपमानोपमेयभावः स्पष्टः। न चैतेषु क्वचिद्धर्मादिषु वृत्तेरवरजेषु वृत्तेश्चोपमानोपमेयभावः। अन्यत्र क्षितित्यागस्य सीतात्यागस्य चापरत्र गङ्गापतनस्य दुकूलसंनिधानस्य च, न तु क्वचिदप्येकस्यैव धर्मिण उपमानोपमेयभावः। विशिष्टान्वयिनोऽपि विशेष्यबोधे विशेषणसंक्रमौचित्यादिति वाच्यम्, यथा धर्मार्थकामेषु समवृत्तिं प्रपेदे तथाऽवरजेष्वित्यादिप्रकारेणैकस्यैवोपमानोपमेयभावे निबद्धेऽपि तस्य विशेषणसंक्रान्तिकल्पने 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादीनामपि हारनिर्झरादीनामेवोपमानोपमेयभावः स्यादिति बिम्बप्रतिबिम्बोदाहरणमात्रविलोपप्रसङ्गात्।

(भारती)

इसी प्रकार—

'सूर्य ने विश्वकर्मा से बनाया गया विवाहार्थ शंकर का नूतन छत्र धारण किया, शिर के समीप छत्र के लटकते हुए पट से मालूम होता था मानो गंगा ही गिर रही हों।'

इस उदाहरण में भी शिव का उपमानत्व और उपमेयत्व रहने के कारण अतिव्याप्ति दोष है। पूर्व उदाहरण पर विचार करते हैं कि इन सबों में कहीं धर्मादिकों में वृत्ति है और कहीं छोटे भाइयों में वृत्ति रहने के कारण ही उपमानोपमेय भाव है। तत्त्व तो क्षितित्याग का है न कि कहीं भी एक ही धर्मी रामादिका है। इसी प्रकार क्षितित्याग और सीतात्याग की तरह ऊपर के उदाहरण में भी गंगापतन और दुकूलत्याग का तत्त्व है। न कि कहीं एक ही धर्मी में उपमानोपमेय भाव है। विशिष्टान्वय करने पर अर्थात् विशेषण से संक्रमण के औचित्य से विशेष्यबोध में विशेषण

का संक्रमण होता है। फलतः यहां किसी प्रकार के अतिप्रसंग की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर इसका समाधान करते हैं कि जैसे धर्म, अर्थ और कामों में समानवृत्ति है उसी प्रकार भाइयों में भी प्रकार से एक ही में उपमानत्व एवं उपमेयत्व का निबन्धन है।

'विशेषण संक्रमौचित्य' न्यायके स्वीकार करने पर 'पाण्ड्योऽयमंशार्पितलम्बहारः' इस पूर्व व्याख्यात उदाहरण में—उसी उक्त न्याय से हार और निर्भरादिका उपमानोपमेयत्वापत्ति से बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की विलयापत्ति होगी।

(सुधा)

दूषणान्तरमाह—एवमिति। 'उपाददे तस्य' इत्यादौ शिवस्यैवोपमानोपमेयता-स्त्वादतिव्याप्तिः। अत्राशङ्कते—न चेति। धर्मादिषु वृत्तेरवरजेषु वृत्तेश्चोपमानोपमे-यभावः। क्षितित्यागस्य च तत्त्वमस्तु, न तु क्वचिदप्येकस्यैव धर्मिणो रामादेस्तत्त्वम्, विशिष्य बोधे विशिष्टान्वयिनो विशेषणसंक्रमस्यौचित्यात। तथा च नातिप्रसक्तशङ्केति पूर्वपक्षाभिप्रायः। समाधत्ते—यथेति। यथा धर्मार्थकामेषु समां वृत्तिं प्रपेदे, तथा भ्रातृष्व-पीत्यादिप्रकारेणैकस्यैवोपमानोपमेयत्वस्य निबद्धत्वात्। न्यायाङ्गीकारे दोषमाह—तस्य विशेष्यस्येत्यर्थः। तत्त्वे 'पाण्ड्योऽयम्' इत्यादौ पूर्वोक्तन्यायेन हारनिर्झरादीनामुपमानो-पमेयत्वापत्त्या बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य विलयापत्तेः।

(चित्र०)

'रामरावणयोर्युद्धम्' इत्यादावभेदेऽप्युपमानोपमेयभावमभ्युपगच्छतामाल-ङ्कारिकाणां विशेष्यबाधस्यापरिहरणीयत्वाच्च। तस्मादत्र 'सविशेषणे हि' इति न्यायोपन्यासो वाक्यमीमांसकानां शोभते, नालङ्कारमीमांसकानाम्। वाक्य-मीमांसका ह्यभेदे उपमानोपमेयभावनिर्देश एव नास्तीति मन्यमानाः 'रामरा-वणयोर्युद्धम्' इत्यादावद्यतनस्य पूर्वेद्युस्तनं युद्धमुपमानम्, एतत्कल्पगगनस्य कल्पान्तरगगनमुपमानमित्यादि कल्पयन्ति। तस्मादालङ्कारिकमते एतेष्वेकस्यै-वोपमानोपमेयभाव इति लक्षणमतिव्याप्तमिति चेत्?

(भारती)

'रामरावणयोर्युद्धम्' इत्यादि पूर्व व्याख्यात उपमेयोपमा के उदाहरण में—अभेद में भी उप-मानोपमेयभाव कहने वाले आलङ्कारिकों के विशेष्य पदबोध का अपरिहार असंभव होगा। अतः 'सविशेषणेहि' इस न्याय की मान्यता वाक्यमीमांसकों के मत में ही है न कि आलङ्कारिकों के मत में। वाक्यमीमांसक अभेद में उपमानोपमेयभाव मानते ही नहीं हैं। अतः वे 'रामरावणयो-र्युद्धम्' इत्यादि में भी आज के युग का पूर्व युग में हुए राम रावण का युद्ध उपमान है। इसी प्रकार इस कल्प के आकाश का कल्पनान्तर के आकाश उपमान है ऐसी कल्पना करते हैं। ऐसी स्थिति में आलङ्कारिकों के मत में इन सबों में एक ही उपमान और उपमेय की सम्भावना से प्राचीनों का पूर्वोक्त लक्षण पूर्णतः अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त हैं।

(सुधा)

रामरावणयोरित्यादावभेदेऽपि उपमानोपमेयभावं वदतामालङ्कारिकाणां विशेष्यपद-बोध्यस्यापरिहारासम्भवात्। तस्मात् 'सविशेषणे हि' इति न्यायो वाक्यमीमांसकानामेव

मते, न त्वालङ्कारिकाणाम् । वाक्यमीमांसका अभेदे उपमानोपमेयभावो नास्तीति मन्यन्ते । 'रामरावणयोर्युद्धम्' इत्यादावप्यद्यतनस्य पूर्वेद्युस्तनं युद्धमुपमानम् । एतत्कल्पीयगगनस्य कल्पान्तरगगनोपमानमिति कल्पयन्ति । तस्मादालङ्कारिकमते एतेष्वेकस्यैवोपमानोपमेयसम्भवादतिव्याप्तिग्रस्तमेतल्लक्षणमित्याशयः ।

(चित्र०)

अत्र ब्रूमः—

स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका ।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः ॥

स्वस्य स्वेनेति विशेषणादुपमेयोपमायां रसनोपमायां च नातिव्याप्तिः । अनुगाम्येकधर्मिकेति विशेषणादुदाहृतोपमाविशेषेषु नातिव्याप्तिः ।

यद्यपि तेष्वपि समां वृत्तिं प्रपेदे इत्याद्यंशेऽनुगामिधर्मप्रवेशः; तथाप्येको न भवति । धर्मार्थकामावरजादिबिम्बप्रतिबिम्बभावकरम्बितत्वात् । अत एवैकग्रहणमप्यर्थवत् ।

(भारती)

इस प्रकार प्राचीनों के पूर्वोक्त लक्षण में दोष दिखाकर दीक्षितजी अपना लक्षण कहते हैं—

'यदि अनुगामी धर्म के आधार पर एक वस्तु की उपमा उसी वस्तु के साथ दी जाय तो वहां अन्वर्थक अनन्वय अलङ्कार होता है।'

स्व का स्व के साथ विशेषण से—'धर्मोऽर्थः इव पूर्णश्रीः' इत्यादि उपमेयोपमा के इस उदाहरण में तथा—'भणितिरिव मतिः मतिरिव' इत्यादि रसनोपमा के उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण होता है।

यद्यपि 'तेष्वपि समां वृत्तिं प्रपेदे' इत्यादि अंश में अनुगामी धर्म है, फिर भी—वही एक नहीं है। क्योंकि धर्म, अर्थ और काम तथा अनुज आदि अंश में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है तथा यहां अनुगामी पद उपलक्षण परक है। उसी से दूसरे धर्म का ग्रहण भी शुद्धतापूर्वक ही है न कि अन्य मिश्रित रूप में। इसी अर्थ की ज्ञापना के लिए ही लक्षण में 'एक पदम्' का समावेश है।

विमर्श—अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द' दोनों ग्रन्थों में ही अनन्वय अलङ्कार का विवेचन किया है। कुवलयानन्द में एक ही पदार्थ के उपमानत्व और उपमेयत्व वर्णित करने को अनन्वय कहा गया है। अपने इस विचार को पल्लवित करते हुए दीक्षित जी ने कहा है कि यद्यपि एक पदार्थ स्वयं अपना उपमान नहीं हो सकता फिर भी, कवि इसका प्रयोग करता है। इस प्रकार का वर्णन कर कवि उपमेय की अनुपमता सिद्ध कर उपमेय के समान अन्य वस्तु का निराकरण करता है। चित्रमीमांसा का लक्षण इससे अधिक परिष्कृत एवं परिपक्व है।

(सुधा)

एवं तल्लक्षणं दूषयित्वा स्वयं लक्षणमाह—अत्रेति । या अनुगाम्येकधर्मतः स्वस्य स्वेनोपमा स्यात्, स अनन्वय इति योजना । कीदृशोऽन्वर्थनामधेय इत्यन्वयः । 'धर्मोऽर्थं इव पूर्णश्रीः' इत्याद्युपमेयोपमायाम्, 'भणितिरिव मतिः' इति रसनोपमायामतिव्याप्ति-

वारणाय स्वस्य स्वेनेति। पूर्वोदाहृतोपमाविशेषेष्वतिव्याप्तिवारणायानुगाम्येकधर्मेति इति। यद्यपि 'तेष्वपि समां वृत्तिं प्रपेदे' इत्याद्यंशेऽनुगामिधर्मस्तथा न स एवैकः, धर्मार्थकामावरजाद्यंशे बिम्बप्रतिबिम्बभावसत्त्वात। अनुगामिपदम् उपलक्षणपरम्। तेनान्यस्यापि धर्मस्य शुद्धतैव ग्राह्या, न त्वन्यमिश्रा। एतदर्थज्ञापनायैवैकपदम्।

(चित्र०)

अन्वर्थनामधेय इति तु न लक्षणान्तर्गतम्। किन्तु स्वेन स्वस्योपमाप्यनुगाम्येकधर्मा चेदेवानन्वयो नान्यथेत्यत्रोपपत्तिमात्रपरम्। धर्म्यैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इत्यन्वर्थं नाम भवति। अनन्वयत्यर्थनिबन्धनवशाच्चानुपमत्वद्योतनफलपर्यन्तं धावेत्। धर्मभेदे तु एकधर्मावच्छिन्नेन स्वेनैव धर्मान्तरावच्छिन्नस्य स्वस्योपमान्वेतीति, न तत्रान्वर्थं नाम न वानन्वयत्यर्थनिबन्धनाधीनानुपमत्वफललाभः।

(भारती)

लक्षण में 'अन्वर्थनामधेयोऽयमिति' विशेषण के समावेश का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि यह यद्यपि लक्षण के अन्तर्गत नहीं है, फिर भी लक्षण का नियमार्थक है। उस नियम का आकार बताते हैं—'स्व के साथ स्व की उपमा यदि अनुगतैक धर्मवती हो तभी अनन्वय होगा-अन्यथा नहीं।' धर्म की एकता में स्व का स्व के साथ उपमा का जहां अन्वय न हो, वहाँ अनन्वय है—यह यौगिक नाम होता है और, वह नाम अनन्वय रहने पर भी अर्थ की जो निबन्धन रचना है. उसके बल से अनुपमत्व द्योतन रूप जो फल है, वहाँ तक तात्पर्य जाता है। धर्मभेद में तो, बिम्बप्रतिबिम्बादि में एक धर्मावच्छेद से स्व के साथ ही धर्मान्तरावच्छिन्न का स्व की उपमा का अन्वय से उपमा ही होती है, वहाँ अन्वर्थक अनन्वय नहीं है। अनन्वय अर्थ का जो निबन्धन है, उसके अधीन अनुपमत्व फल के लाभ का अभाव है।

(सुधा)

अन्वर्थेत्यादिविशेषणस्य प्रयोजनमाह—अन्वर्थनामधेय इति। अस्य न लक्षणान्तर्गतत्वम्, किन्तु नियमार्थत्वम्।

तन्नियमाकारमाह—'स्वेन स्वस्योपमाप्यनुगतैकधर्मवती चेत्तदैवानन्वयो नान्यथेति। धर्मस्यैकत्वे स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इति यौगिकं नाम भवति। तच्च नामानन्वयिनोऽप्यर्थस्य यन्निबन्धनं रचना, तद्बलेनानुपमत्वद्योतनरूपं यत् फलं तत्पर्यन्तं तात्पर्यं धावति। धर्मभेदे बिम्बप्रतिबिम्बादावेकधर्मावच्छेदेन स्वेनैव धर्मान्तरावच्छिन्नस्य स्वस्योपमान्वयादुपमैव। न तत्रान्वर्थोऽनन्वयः, अनन्वयार्थस्य यन्निबन्धनं तदधीनानुपमत्वफललाभस्यासत्त्वाच्च।

(चित्र०)

इदमनन्वयत्वप्रयोजकं लक्षणम्। लक्षणमात्रं तु 'यत्र तेनैव तस्य स्यात्' इति भामहोक्तमनुसंधेयम्। 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ' इत्यतिशयोक्तिविशेषेऽनुपमत्वद्योतनफलसाम्यकल्पनावत्यतिव्याप्तिनिरासाय 'तेनैव तस्य' इति विशेषणम्।

(भारती)

अनन्वयत्व प्रयोजक सामान्य यह (उपर्युक्त) लक्षण है। लक्षण मात्र तो भामह के द्वारा उक्त, यह लक्षण विचारणीय है—यत्र तेनैव तस्य स्यात्' अर्थात् जिस वाक्य में यह सिद्ध करने के लिए कि उपमेय के समान अन्य वस्तु नहीं है-अतः उपमेय की उसी के साथ उपमेयता और उपमानता कही जाती है।

विमर्श—भामह के इस लक्षण में 'असादृश्य विवक्षा' के द्वारा अन्य उपमान का निराकरण किया गया है। इस लक्षण की मुख्यतः दो विशेषताएँ-यह हैं कि इसमें अन्य सदृश वस्तु या उपमान का निराकरण है।

दीक्षित जी का कहना है कि भामह के उक्त लक्षण में **'तेनैव तस्य'** विशेषण का समावेश इसलिये किया गया है कि—**'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ'** अर्थात् आकाश गंगा के जल के दोनों प्रवाह जिसमें अलग-अलग प्रवाहित हो रहे हों' इत्यादि में अनुपमात्वद्योतनफल साम्य कल्पना वाली अतिशयोक्ति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो।

(सुधा)

लक्षणमुपसंहरति—इदमिति। अनन्वयत्वप्रयोजकं सामान्यं लक्षणमिदम्। लक्षणमात्रन्तु भामहोक्तं विचारणीयम्। तदुक्तं लक्षणमाह—यत्रेति। यत्र वाक्ये, तस्य = वर्णनीयस्य, तेनैव=वर्णनीयेनैव उपमेयोपमानता स्यात्, असादृश्यविवक्षया तमनन्वयं वदन्तीति योजना। 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ' इत्यादावनुपमत्वद्योतनफलसाम्यकल्पनावति अतिशयोक्तिविशेषेऽतिव्याप्तिवारणाय 'तेनैव तस्य' इति विशेषणं बोध्यम्। स्यादेतत्-उपमैवेयं भवितुमर्हति, भेदकाभावात्। इवार्थभेदस्य स्वस्मिन्नसम्भवत्स्वरूपभेदकन्तु न सम्भवति, व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य स्वस्मिन्नपि सम्भवात् घटपटोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य घटादौ इष्टत्वाच्च देशकालादिभेदवतः स्वस्य स्वस्मिन् सत्त्वाच्च। न च 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यत्र मुखे चन्द्रगतधर्मप्रतीतेः फलत्वम्, अनन्वये त्वन्यस्मिन् चन्द्रगतसादृश्यप्रतियोगित्वाभावस्य फलत्वम्। तथा च फलभेदस्यैव भेदकत्वमिति वाच्यम्, चन्द्रे चन्द्रगतधर्मप्रतीतौ बाधकाभावात्। चन्द्रो न चन्द्रभिन्न इति बाधज्ञानस्यैतत्कालिकचन्द्रस्तत्कालीनचन्द्रभिन्न इति बोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वायोगात्।

अत्रोच्यते—यदा 'एतत्कालीनश्चन्द्रः तत्कालीनचन्द्रधर्मवान्' इति बोधे उपमात्वमेव। 'चन्द्रवृत्तिधर्मवाँश्चन्द्रः' इति बोधे त्वनन्वय एव। एतद्बोधस्य भेदभानेऽसम्भवात्। तस्माच्छाब्दबोधभेदस्यैव ततो भेदकत्वमित्यालङ्कारिकाणां सिद्धान्तः। ननु 'चन्द्र इव चन्द्र' इत्यादावारोपितभेदमादायोपमैवास्तु प्रामाणिकसम्मतत्वात्। तथा हि—उत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायतृतीयपादे 'दहर उत्तरेभ्यः' इति सूत्रम्। 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्यादि वाक्यं श्रूयते। तत्र दहरम् अल्पमित्यर्थः। पुण्डरीकं तत्सन्निवेशं हृदयमिति। तस्मिन् यो दहराकाशः, स किं भूताकाशो विज्ञानात्मा वा परमात्मा वेति संशयः। आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्यामाकाशस्य भूताकाशे परस्मिंश्च प्रयोगात्; उभयोः संशये भूताकाशे तस्य प्रसिद्धत्वात् तस्यैव दहरत्वम्। तस्य च दहरापेक्षया दहरत्वम्। यावान् वा अयमाकाशस्तावान् वा एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, बाह्याभ्यन्तरकृतभेदस्य उपमानोपमेय-

भावत्वादिति पूर्वपक्षिणा समर्थितम्। तत्र सिद्धान्तभाष्यम्—यद्यप्याकाशो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमानतोपपद्यत इति भूताकाशाशङ्का निवर्तिता भवति। ननु बाह्याभ्यान्तरत्वकल्पितभेदेनोपमानोपमेयसिद्धिरिति चेन्न, अगतिका हीयं गतिर्यत्कल्पनिकभेदाश्रयणम्। अत्र वाचस्पतिमिश्राः—'तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत्। अगत्या भेदमारोप्य गतौ तस्यां न विद्यते॥' इति। व्याख्यातं तत्कल्पतरुकारैः—ह्यस्तनाद्यतनत्वादिना वा युद्धभेदः क्रियते। एवं विधे स्थले भेदारोपणमूलिकोपमैवेति भवतां भेदविवक्षाभावेन न तत्समत्वम्। किञ्च, 'तेन तुल्यम्' इति पञ्चमाध्यायसूत्रे भाष्यप्रदीपे 'शयितेन तुल्यं शयितव्यमित्यत्र नास्त्यत्रोपमानोपमेयभावः, यथा—गौरिव गौः इति। येनैव हेतुना एको गौः, तेनापरोऽपीत्युपमानोपमेयभावः' इति कैयटप्रतिपादनविरोधश्चेति चेन्न, भेदविवक्षायामुपमाया अस्माभिरप्यङ्गीकारात्। उपमानान्तरव्यावृत्तावेव तात्पर्येऽनन्वय इत्यत्र तद्विरोधाभावात्। उपमानोपमेयभावो नास्तीति कैयटोक्तावपि सादृश्यपर्यवसानं नास्तीत्यर्थस्यैव लाभाच्च। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इत्यत्र यद्यप्युपमानोपमेययोरैक्यं तदा 'गौरिव गौः' इत्यत्राप्युपमानोपमेयभावः प्राप्नोतीति भाष्यस्याप्येतदभिप्रायकत्वाच्च। आरोपणभेदविवक्षाया लक्षणालक्ष्यत्वेन तद्भियैवाकाशसाम्यस्य दहराधिकरणे निराकरणाच्च। तद्व्यपदेशाच्चेत्यधिकरणे 'श्येनेन यजेत' इत्यत्र गुणविधिपक्षे श्येनशब्दस्य पक्षिविशेषे निरूढतया तस्यैव विधेयत्वापत्तौ 'यथा श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यमादत्ते' इत्युपमानोपमेयभावस्यालङ्कारत्वापत्तेः। सूत्रस्य स्वसादृश्याभावादिति पूर्वमीमांसायामुक्तेश्चेत्यलम्।

(चित्र०)

अयमनन्वयो व्यङ्ग्योऽप्यस्ति। यथा—

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥

अत्र गृहागतं श्रीकृष्णं प्रति विदुरवाक्ये इयं त्वदागमनप्रभवा प्रीतिर्बहुकालव्यवहितेन पुनरपि त्वदागमनेनैव भवेत्, नान्येनेत्युक्तभङ्ग्या त्वदागमनप्रभवप्रीतेः सैव सदृशी, न त्वितरप्रभवेति व्यज्यते। एतादृशव्यावृत्त्यर्थमनन्वयालङ्कारलक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणं पूर्ववद् द्रष्टव्यम्।

इति चित्रमीमांसायामनन्वयालङ्कारप्रकरणम्।

(भारती)

यह अनन्वय व्यङ्ग्य भी है। जैसे—

'हे गोविन्द! आज मेरे घर आपके आने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है—वह प्रसन्नता-किसी समय जब आप ही पुनः पधारेंगे तब ही हो सकती है।'

यह, घर पर आये श्रीकृष्ण के प्रति विदुर का कथन है। इसमें-यह आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता, बहुत समय के बाद, फिर भी आपके आगमन से ही हो सकती है, अन्य किसी वस्तु से नहीं। इस कथन के ढंग से यह अभिव्यक्त होता है कि—आप के आगमन की प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता हैं, अन्य किसी वस्तु से उत्पन्न प्रसन्नता वैसी नहीं हो सकती।' इस प्रकार व्यङ्ग्य अनन्वय के निराकरण के लिए लक्षण में अव्यङ्ग्यत्व विशेषण आवश्यक है। इसे पहले की तरह देखना चाहिए।

विमर्श—पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित जी के अनन्वय व्यङ्ग्य के **'अद्य या मम गोविन्द'** इत्यादि उदाहरण का खण्डन करते हुए लिखा है कि यहां श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता की तरह पुनः उन्हीं के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता की प्रतीति सर्वजनसुलभ है। इस कथन में किसी को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता एक सामान्य वस्तु है और समय-समय पर उत्पन्न होने वाली दो प्रसन्नताएं इसके अङ्ग हैं। इन दोनों प्रसन्नताओं को दो विभिन्न समयों में उत्पन्न होने के कारण इन्हें भिन्न-भिन्न मानने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है अतः ऐसी स्थिति में उक्त उदाहरण की दोनों प्रसन्नताओं का सादृश्य बाधित नहीं कहा जा सकता और सादृश्य के बाधित हुए बिना 'अनन्वय' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ यहाँ घटित होगा ही नहीं। फिर यहां अनन्वय कहना उचित नहीं है। उपमा प्रकरण में दीक्षित जी ने स्वयं लिखा है कि अपने सादृश्य का अन्वय अपने आप में नहीं हो सकता। अतः इसे अनन्वय कहते हैं।' फिर पूर्वोक्त ढंग से इस उदाहरण में जब सादृश्य का अन्वय हो जाता है तो यहाँ अनन्वय कैसे? यहाँ उपमेय है एक विशेष प्रकार की प्रसन्नता-उसकी तुलना जब उसी की तरह दूसरी प्रसन्नता से की जा रही है, तब तो अन्य सदृश के निवारण स्वतः बाधित हो गया। अतः इस उदाहरण में अनन्वय लेशमात्र भी नहीं है।

अब यदि इन दोनों प्रसन्नताओं के अङ्गि रूप सामान्य प्रसन्नता की अनुपमता को लेकर यहाँ अनन्वय की अभिव्ययक्ति मानी जाय तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि, सामान्य प्रसन्नता—यहाँ उपमेय नहीं है। किन्तु, विशेष प्रसन्नता है। अतः वह उसका उपमान नहीं बन सकती विशेष प्रकार की प्रसन्नतारूपी उपमेय का उपमान भी विशेष प्रकार की प्रीति ही हो सकती है। सामान्य प्रीति नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि पूर्वोदाहृत 'अनुहरति सुभग तस्याः' की तरह यह उदाहरण भी दूषित है।'

यदि यह कहा जाय की कहीं कहीं अवयवों की उपमा भी अवयवी की ही तरह अनुगमता का व्यञ्जक हुआ करती है। अतः इन दोनों अंगरूप विशेष प्रसन्नताओं के द्वारा प्रतीत सामान्य प्रसन्नता को, कृष्ण के आगमन से उत्पन्न सामान्य प्रीति के सदृश मान लेंगे और इस प्रकार विशेष प्रसन्नताओं की समानता के बीच में सामान्य प्रसन्नता की सामान्य प्रसन्नता के साथ सदृशता की कल्पना कर लेंगे—तो यह बात सहृदयहृदयसंवेद्य नहीं है। क्योंकि यह क्लिष्ट कल्पना-मात्र है।

यदि ऐसा कहा जाय कि रत्नाकर के द्वारा अनन्वय के व्याख्यात भेदों में से—'अनुहरति सुभग तस्याः' वाले भेद को व्यङ्ग्य बता रहे हैं तो यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि दोषपूर्ण होने के कारण यह अनन्वय का भेद है ही नहीं। अगर रत्नाकर के भेदों में से इसे अनन्वय का भेद स्वीकृत करना भी चाहें तो नहीं किया जा सकता। क्योंकि दीक्षित जी ने अनन्वय प्रकरण में कहीं इसका उल्लेख नहीं किया है।

अब विचारणीय यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी प्रसिद्ध आलंकारिकों ने 'अनन्वय' का विवेचन स्वतंत्ररूप से किया है यह एक तथ्य है। किन्तु, यह भी एक सत्य है कि सबों ने एक मत से उपमेय का उपमान उपमेय को ही स्वीकृत किया है। इस संदर्भ में आलङ्कारिकों के बीच केवल दो तथ्यों के मतभिन्नता प्रतीत होती है। वह है असादृश्य विवक्षा या उपमानान्तर व्यवच्छेद अर्थात् अनन्वय की परिभाषा में एक ही पदार्थ को उपमेय तथा उपमान मानने के अतिरिक्त 'असादृश्य विवक्षा' का भी सन्निवेश होना चाहिए। अन्य सदृश वस्तु अभाव का प्रदर्शन ही अनन्वय के चमत्कार का हेतु है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उक्त दृष्टि से पण्डित जी का खण्डन कहाँ तक युक्तिसंगत है। जहाँ तक 'अद्य या मम गोविन्द' इत्यादि उदाहरण में सादृश्य के अन्वय का प्रश्न है—कृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नतारूपी उपमेय का उपमान भी 'प्रसन्नता' ही है। वह चाहे इस आगमन से हो किंवा उस आगमन से। यहाँ अन्य सदृश वस्तु के अभाव का प्रदर्शन तो स्पष्ट रूप से है ही। अतः इसमें पण्डित जी का दीक्षित जी के साथ दृष्टिकोण की भिन्नता ही पार्थक्य का कारण प्रतीत होती है।

जहाँ तक अवयव और अवयवी की उपमा से अनुपमता की व्यञ्जना की अभिव्यक्ति का प्रश्न है—अनन्वय का प्रयोजन ही 'द्वितीय सब्रह्मचारि निवृत्ति' अथवा अपने अतिरिक्त अन्य उपमान का निषेध ही तो हुआ करता है। आचार्य भामह ने इसीलिये तो लिखा है **'यन्न तेनैव तस्य स्यात्'** इत्यादि। अनन्वय में शब्दभेद क्षम्य है। क्योंकि इसमें अर्थपौनरुक्त्य रहा करता है। इसी लिए 'अद्य या मम गोविन्द' इत्यादि उदाहरण में अनन्वय हो सकता है। वैसे अनन्वय को सर्वतोभद्र बनाने के लिए शब्दैक्य की अपेक्षा अवश्य है। तभी तो अवयव और अवयवीभाव सम्बन्ध से उक्त उदाहरण में प्रतिपादित श्रीकृष्ण के आगमनजन्य प्रसन्नता में उपमान और उपमेय की एकरूपता स्पष्टतः अभिव्यक्त है। अवयवों की उपमा अवयवी की अनुपमता की अभिव्यक्ति से तात्पर्य यह है कि अनन्वय में शब्द की एकता उद्देश्य और प्रति निर्देश की एकरूपता की रक्षा के लिए ही आवश्यक है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि उक्त उदाहरण में दीक्षित जी के अनन्वय की मान्यता भ्रम नहीं-उचित ही है। यहाँ भी केवल दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ही पण्डित जी को दोषदर्शन होता है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दी व्याख्यायामनन्वयप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

व्यङ्ग्यमनन्वयमुदाहरति—यथेति। 'हे गोविन्द अद्य मम या प्रीतिस्त्वयि गृहागते सति जाता, एषा पुनः कालेन तवैवागमनाद् भवेदित्यत्र गृहागतश्रीकृष्णोद्देश्यकविदुरवाक्ये त्वदागमानोत्पन्नेयं प्रीतिः बहुकालव्यवहितत्वादागमनेनैव भवेन्नान्येन' इत्युक्तिभङ्ग्या त्वदागमनप्रभवप्रीतेस्त्वदागमनप्रभवप्रीतिरेव सदृशी नान्यप्रभवेति व्यज्यत इति समुदायार्थः। एतद्व्यङ्ग्यानन्वयव्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणमावश्यकमिति पूर्ववदेव द्रष्टव्यम्।

अत्र रसगङ्गाधरकृतः—नायं व्यङ्ग्योऽनन्वयः। अमुष्यास्त्वदागमनप्रभवायाः प्रीतेर्वारान्तरत्वा-दागमनप्रभवा प्रीतिः सदृशीति प्रतीतेः सर्वजनसिद्धतया श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यावयवयोर्द्वयोः प्रीतिव्यक्त्योः सादृश्यस्याबाधितत्वेन यौगिकार्थाभावेन तस्यासम्भवात्। प्रीतिव्यक्तिविशेषरूपोपमेयस्य सदृशान्तरनिषेधे बाधात्तत्फलस्याप्यत्रासम्भवाच्चेति वदन्ति। रसगङ्गाधरमताश्रयणे तु इदमुदाहरणीयम्—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये नूनं धाता स विश्वकृत्।
न हि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति जगतीतले॥

अत्रान्या त्वत्सदृशी नास्ति इति भेदगर्भसादृश्यनिषेधात् त्वमेव त्वत्सदृशीति व्यङ्ग्यत्वादनन्वयव्यङ्ग्यता। नव्यास्तु—सर्वथोपमाननिषेधोऽसमालङ्कारः। अयञ्चानन्वये व्यङ्ग्योऽपि दीपकादावुपमेव पृथगलंकारव्यपदेशभाक्। अन्यथा दीपकादावपि सादृश्यस्य व्यङ्ग्यत्वादुपमान्तर्गतत्वापत्तेः। उदाहरणं यथा—

भूमीनाथ शहाबदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

इति वदन्ति। तत्रानन्वयध्वनिनैवोपपत्तौ पृथग्गणनस्या योग्यतैव। 'आरोपे सति निमित्तानुसरणं न निमित्ते स्त्यारोपः' इति न्यायात्। अन्यथा व्यङ्ग्योपमादीनामपि पृथगलङ्कारतापत्तेरित्यलम्।

धरानन्देन रचिता व्याख्यानान्वयसम्मता।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम्॥

इति भरतपुरनिवासिनो मिश्ररामबालस्य सुतेन धरानन्देन
रचितायां चित्रमीमांसा व्याख्यायां सुधाख्यायाम्
अनन्वयप्रकरणं समाप्तम्।

अथ स्मरणनिरूपणम्

स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृतिः सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥

यथा—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥

यथा वा—

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ता-
दम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काचिदुत्तरन्ती-
मस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥

(भारती)

जिसका मूल सादृश्य हो और जो किसी भिन्न वस्तु अर्थात् वह फिर सदृश हो अथवा असदृश—के विषय में हो, वह स्मृति 'अव्यङ्ग्यत्व विशेषण से युक्त हो—अर्थात् व्यङ्ग्य न हो तो स्मरणालङ्कार कहलाती है ।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि जब सादृश्य के आधार पर अन्य पदार्थ का स्मरण हो जाय और वह व्यङ्ग्य न होकर वाच्य हो तो वहाँ स्मरणालङ्कार होगा । जैसे—

'शिकार से निकले राजा दशरथ के घोड़े के समीप से उड़ते हुए भी सुन्दर पूछों वाले मोर को, चित्र विचित्र मालाओं से व्याप्त अर्थात् गूंथे हुए तथा रतिकाल में बन्धन खुले हुए प्रिया के केश पाश अर्थात् सुसज्जित चोटी को स्मरण कर, वे राजा उसे अपने वाण का शिकार नहीं बनाये अर्थात् प्रिया की स्मृति के कारण उस पर वाण ही नहीं चलाये ।'

और भी जैसे—

'अपनी अद्भुत सुन्दरता से देवताओं को भी विस्मय में डालती हुई कोई सुन्दरी सामने के सरोवर से जब अपने दोनों सुन्दर हाथों में कमल लिए हुए वाहर निकली, तो उसे मथते हुए समुद्र के बीच से निकली हुई लक्ष्मी की भाँति देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने समुद्र मन्थन के दृश्य का स्मरण किया ।

(सुधा)

भेदज्ञानप्राधान्येन निरूपणीयत्वात् तल्लक्षणं प्रतिपादयति—स्मृतिरिति । या सादृश्यमूला वस्त्वन्तरसमाश्रया अव्यङ्ग्या स्मृतिः सा स्मरणालङ्कृतिः स्यादित्यन्वयः । स्मृतिः

स्वद्य स्मरामीत्यनुभवसाक्षिकजातिविशेषः। उदाहरति—अपीति। स नृपः तुरगसमीपादुत्पतन्तमपि सुप्रहारमपीत्यर्थः। रुचिरकलापं भास्वरबर्हम्, मञ्जुं रौतीति मयूरः। पृषोदरादित्वात् साधुः। चित्रेण माल्येनानुकीर्णे रत्यां विगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः प्रवृत्तचित्तः 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' न बाणलक्ष्यीचकार न प्रजहारेत्यन्वयः। उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। दिवि भवा दिव्यास्तेषामपि कृतविस्मयां सौन्दर्याधिक्येन जनिताद्भुतरसां स्फुरदरविन्दाभ्यां चारुहस्तौ यस्याः तां पद्महस्तामित्यर्थः। पुरस्तादग्रतः अम्भस्तो जलाद 'पञ्चम्यास्तसिल्' उत्तरन्तीं निष्क्रामन्तीं काञ्चित् स्त्रियं मथ्यमानात् समुद्रात् सद्यो निस्सृतां श्रियमिवोद्वीक्ष्य शौरिः कृष्णः, जलनिधिमन्थनस्य 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी, तन्मन्थनमित्यर्थः। अस्मार्षीत् स्मृतवानिति श्लोकान्वयः।

(चित्र०)

एकत्र सदृशदर्शनात् तत्सदृशधर्मिका स्मृतिः, इतरत्र सदृशदर्शनात् तत्सदृशलक्ष्मीसम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्य स्मृतिः; उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तरस्मृतित्वमविशिष्टम्। अत एव सदृशासदृशसाधारण्यार्थतया लक्षणे वस्त्वन्तरग्रहणमर्थवत्।

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद् विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
कासि प्रेयसि ? हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि !॥

(भारती)

इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में सदृश पदार्थ (मयूरपंख) के देखने से उसके सदृश प्रिया के विविध केशपाश की स्मृति हुई है और दूसरे उदाहरण में सदृश पदार्थ अर्थात् कमल हाथ में लिए नायिका को देखने से उसके सदृश लक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन की स्मृति हुई है। दोनों जगहों में सादृश्यमूलक और भिन्न वस्तु के विषय में होने वाली स्मृति समान ही है। अत एव लक्षण में सदृश और असदृश दोनों को समान रूप से प्रतिपादित करने वाले 'भिन्नवस्तु' शब्द का ग्रहण सार्थक है। क्योंकि यह लक्षण सदृश की स्मृति में भी लगता है और सदृश के सम्बन्धी की स्मृति में भी समान रूप से लगता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो केवल सदृशवस्तु के विषय की स्मृति का ही ग्रहण होता और इस तरह दूसरे उदाहरण में स्मरणालङ्कार के लक्षण की अतिव्याप्ति होती।

यह श्लोक हनुमन्नाटक से उद्धृत है। इसमें राम और लक्ष्मण का कथोपकथन है।

'राम ने कहा—हे लक्ष्मण चलो, अब हम लोग इस सामने के वृक्ष की छाया के नीचे चलें। क्योंकि यह प्रचण्ड किरण वाला सूर्य उदित हो रहा है। उत्तर में लक्ष्मण ने कहा—रघुपते ! इस रात्रि के समय सूर्य कहां से आया ? यह तो चन्द्रोदय हो रहा है। राम ने पुनः कहा—वत्स ! यह तुमने कैसे समझ लिया कि यह सूर्य नहीं चन्द्रमा है। लक्ष्मण ने कहा—इसलिए कि यह मृगचिह्न धारण कर रहा है। यह सुनते ही राम ने कहा—हा ! प्रियतमे ! चन्द्रानने ! कुरङ्गनयने ! जानकि ! तुम कहाँ हो ?'

पूर्वोदाहरणेन सिद्धावपरस्य व्यर्थत्वमाशङ्क्य द्वयोरपि प्रयोजनविशेषवत्तया सार्थकतां प्रतिपादयति—एकत्रेति। आद्योदाहरण इत्यर्थः। सदृशदर्शनाद् रुचिरबर्हदर्शनात्तत्सदृश-केशपाशस्मृतिः। इतरत्र=द्वितीय इत्यर्थः। सदृशदर्शनाद् लक्ष्मीसदृशस्त्रीदर्शनाल्लक्ष्मी-सम्बन्धिनः समुद्रमन्थनस्य स्मृतिः। लक्षणमुभयत्रानुगमयति—उभयत्रापीति। सादृश्य-मूलकवस्त्वन्तराश्रितस्मृतेरविशेषाल्लक्षणसमन्वयः। वस्त्वन्तरपदं सदृशासदृशसाधारण्या-र्थम्। अत एव तस्य सार्थकत्वमित्यर्थः। अव्यङ्ग्यत्वविशेषणस्य फलमुदाहरति—सौमित्रे इति। विरहातुररामस्योक्तिः—हे लक्ष्मण चण्डांशुः सूर्यः, उज्जृम्भते उदयति, ननु तरुतलं सेव्यताम्। लक्ष्मणोक्तिः—हे रघुपते रात्रौ रवेः का वार्ता ? अयं चन्द्र उन्मीलति उदयं गच्छति। पुना रामस्योक्तिः—एतद्भवता कथन्नु कथमिव ज्ञातम् ? यतः कुरङ्गं मृगं धत्त इति लक्ष्मणोक्तिः। हा प्रेयसि मृगाक्षि चन्द्रमुखि हे जानकि त्वं क्वासीति रामोक्तिः।

(चित्र०)

अत्र श्रुतकुरङ्गसम्बन्धिनस्तन्नयनस्य स्मरणात् तत्सदृशसीतानयनस्मृतिः, तत्सम्बन्धिसीतास्मृतिश्चेति। किन्त्वेषा व्यङ्ग्या, अलङ्कार्यभूता च। तद्व्या-वृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणम्।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः॥

(भारती)

इस उदाहरण में लक्ष्मण के मुख से 'मृग' शब्द सुनते ही मृग के नेत्रों की स्मृति आई और फिर उस स्मृति से उन नेत्रों के सदृश सीता की आँखों की स्मृति जगी और फिर सीता की आँखों की स्मृति से और चन्द्रमा की स्मृति से चन्द्रानना सीता की स्मृति हुई है। फिर भी यह स्मृति व्यङ्ग्य और अलङ्कार्य है। ऐसी स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिये ही उक्त लक्षण में अव्यङ्ग्य विशेषण का समावेश किया गया है।

राजन्! जैसे ही विस्मय विभोर मैं पृथ्वी की स्तुति प्रारंभ करता हूँ—हे सर्वधात्री! चारों ओर इतने भारी भारी पहाड़, इतने बड़े-बड़े समुद्र, और इन सबों को धारण करने वाली तू! लेशमात्र भी तुम्हें कष्ट नहीं? कि इतने में ही इस पृथ्वी को भी धारण करने वाली तुम्हारी भुजाओं का स्मरण हो जाता है। और तब? तब तो पृथ्वी की स्तुति करने वाली मेरी वाणी सहसा स्तब्ध होकर रुक जाती है।'

(सुधा)

अत्रोदाहरणे श्रुतकुरङ्गसम्बन्धिनः कुरङ्गनेत्रसदृशसीतानेत्रस्मृतिः, नेत्रसम्बन्धविशिष्ट-सीतास्मृतिश्चेति। अलंकार्यरूपव्यञ्जनागम्यस्मरणेऽतिव्याप्तिनिवारणफलतया अव्यङ्ग्यत्ववि-शेषणस्य सफलतेत्यर्थः। प्रेयोऽलंकारस्य चिन्तामूलस्मरणस्य चालंकारत्वनिषेधकसादृश्य-मूलेति विशेषणस्यैतत्फलं प्रतिपादयति—अत्युच्चा इति। भावस्य भावाङ्गताया प्रेयोऽलङ्कार इति हि तल्लक्षणम्। तमुदाहरणद्वारा दर्शयति—हे पृथ्वि परित अत्युच्चा गिरयः स्फुरन्ति,

तथा स्फारा विशाला अम्भोधयः समुद्राः स्फुरन्ति, तानपि बिभ्रत्यपि किमपि श्रान्ता नासि, तादृश्यै तुभ्यं नम इत्याश्चर्येण मुहुर्मुहुर्यावद् भुवः स्तुतिं प्रस्तौमि, तावदिमां पृथ्वीं बिभ्रत् तव भुजो बाहुः स्मृतः, ततो वाचो मुद्रिता इत्यन्वयः।

(चित्र०)

स्तूयमानभूसम्बन्धिनो भूभृद्भुजस्य स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति, नात्र स्मरणालङ्कारः, किन्तु स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूभृद्विषयरतिभावाङ्गत्वात् प्रेयोऽलङ्कारः।

स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः॥

(भारती)

यहाँ जिसकी स्तुति की जा रही है, उस पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाले राजा की स्मृति सादृश्य मूलक नहीं है। अतः यहाँ स्मरणालङ्कार नहीं है किन्तु, संचारीभावरूप स्मृति राजा के विषय में रतिरूपीभाव का अंग हो गयी है। अतः यहाँ प्रेयान् अलङ्कार है। यहाँ अतिव्याप्ति न होने के लिए 'स्मृति' को 'सादृश्यमूलम्' विशेषण दिया गया।

'इस तरह सखी से सन्देश पाकर शङ्कर ने—'मैं हिमालय से इसके लिए प्रार्थना करूँगा' कह कर असहनीय विरह के कारण किसी तरह पार्वती के यहाँ से आकर मरीच्यादि सप्तर्षियों का मन से स्मरण किया।'

(सुधा)

अत्र स्तूयमाना या भूः, तत्सम्बन्धवतो भूभृद्भुजस्य यद्यपि स्मृतिरस्ति, तथापि तस्याः सादृश्यमूलत्वाभावाद् नातिव्याप्तिः। किन्तु सञ्चारिभावरूपस्मृते राजरतिभावाङ्गत्वेन भावस्य भावाङ्गतया प्रेयोलङ्कारो बोध्यः। स इति। शास्तीति शासनः, बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्, स्मरस्य शासनः सः शिवः, तथा इति तथा करिष्यामीति प्रतिज्ञाय उमां कथमपि कृच्छ्रेण विसृज्य तत्र गाढानुरागत्वादिति भावः। ज्योतिर्मयान् ज्योतिःस्वरूपान् अङ्गिरःप्रभृतीन् सस्मार स्मृतवानित्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र चिन्तामूला स्मृतिः। विच्छित्तिविशेषाभावान्न कश्चिदलङ्कारः। एतदुभयव्यावृत्त्यर्थं सादृश्यमूलेति विशेषणम्।

एवमेते भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूला अलङ्काराः प्रदर्शिताः।

इति चित्रमीमांसायां स्मरणालङ्कारप्रकरणम्।

(भारती)

इस उदाहरण में चिन्तामूलक स्मृति है। यहाँ सादृश्य के अभाव से अतिव्याप्तिदोष नहीं है। विच्छित्ति विशेष के अभाव से यहाँ अलङ्कारता भी बाधित है। इस प्रकार की दोनों अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में 'सादृश्यमूला' विशेषण का समावेश है।

इन सभी—उपमादिक भेद और अभेदप्रधान साधारण साधर्म्यमूलक अलङ्कारों का प्रदर्शन किया गया है। अर्थात् भेदसाधर्म्यमूलक उपमा का, अभेदसाधर्म्यमूलक अनन्वय का, उभय साधर्म्यमूलक स्मरण का,—सादृश्य के उभयघटित होने से उसके लक्षण में उससे भिन्न पद की उपस्थिति और अनुपस्थिति के सिद्धान्तसम्मत होने के कारण अलङ्कारों का वर्णन किया गया है।

विमर्श—दीक्षित जी ने प्रथम दो उदाहरणों में सदृश और असदृश रूप प्रिया के केशपाश तथा 'समुद्रमन्थन' दोनों में दोषवारण के लिए जो अपने लक्षण में 'भिन्नवस्तु' विशेषण का समावेश किया है, उसे पण्डितराज जगन्नाथ निरर्थक मानते हैं। इनका कहना है कि सादृश्य-मूलक स्मृति को स्मरणालङ्कार कहते हैं। इतने कहने मात्र से ही केशपाश के स्मरण की तरह समुद्रमन्थन के स्मरण का भी संग्रह हो सकता है। अतः **'भिन्नवस्तु के सम्बन्ध में होने-वाली'** यह विशेषणपदोपादान निरर्थक ही है। प्रथम उदाहरण में सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न होने के कारण और दूसरे उदाहरण में सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्बुद्ध होने के कारण सादृश्यमूलकता समान ही है। अर्थात् एक जगह सादृश्य साक्षात् मूलक है और दूसरे उदाहरण में परम्परा से प्राप्त है। किन्तु, स्मृति का मूल सादृश्य होने में तो किसी प्रकार की बाधा ही नहीं है। लक्षण में 'सादृश्यमूलक' कथन से 'सादृश्य पदार्थ के विषय में होनेवाली' यह अर्थ तो निकलता नहीं कि जिससे 'समुद्रमंथन के स्मरण' का संग्रह न होगा। अतः भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली' यह विशेषण सर्वथा निरर्थक है।

विचारणीय विषय यह है कि स्मरण अलङ्कार मतभिन्नताओं के बीच इतना सर्वमान्य है कि यह अलङ्कार सादृश्यगर्भ-भेदाभेद प्रधान है। 'स्मरण' का अर्थ है—किसी सदृश वस्तु को देखकर तत्सदृश अन्यवस्तु का स्मरण होना। इसमें कभी उपमेय को देखकर उपमान की स्मृति का और कभी उपमान को देखकर उपमेय की स्मृति का वर्णन किया जाता है।

इस अलङ्कार में कहीं २ निकृष्ट वस्तु को देखकर भी उत्कृष्टवस्तु का स्मरण हो जाता है। अलङ्कार की परिधि में आने के लिए इसका चमत्कारपूर्ण होना आवश्यक है। केवल स्मरण के वर्णन से चमत्कार का आना असंभव है। क्योंकि ऐसे वर्णन में विच्छित्ति का अभाव रहता है। मुख्यतः यह अलंकार कवि की उस मनःस्थिति पर निर्भर है जिसमें कवि के पूर्वानुभूत संस्कार प्रेरक बन जाता है। कवि अपनी मानसिक प्रक्रिया पर आधारित परिस्थितिवश पूर्वानुभव को जगाकर तत्सदृश परिस्थिति एवं वातावरण का निर्माण कर इस अलङ्कार की रचना करता है।

फलतः इसके विवेचन में आलङ्कारिकों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कहीं दर्शन, कहीं अनुभव और कहीं ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि—यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रस्तुत वस्तु के सदृश ही अप्रस्तुत भी हो, बल्कि प्रस्तुत पदार्थ से असदृश पदार्थ के स्मरण में भी स्मरणालङ्कार हो सकता है।

जहाँ तक पण्डितराज के सन्दर्भगत आक्षेप का प्रश्न है। इस अलंकार का उनके स्वतः लक्षण ही विचारणीय है। इनके लक्षण के अनुसार प्रथमतः दो पदार्थों के सादृश्यज्ञान होने पर उसके आधार पर प्रथम से द्वितीय पदार्थ का स्मरण होता है। स्मरण में दो वस्तुओं के सादृश्यज्ञान के लिए दोनों की उपस्थिति आवश्यक होती है। स्मरण के द्वारा द्वितीय वस्तु की उपस्थिति होने पर ही दोनों वस्तुओं का सादृश्यज्ञान होता है। प्रथम पदार्थ को देखने से ही द्वितीय पदार्थ की स्मृति स्वतः हो जाती है। अतः पण्डितराज की दृष्टि में—जहाँ दीक्षित जी सादृश्य के आधार

पर ही अन्य पदार्थ की स्मृति को महत्त्व देते हैं, वहाँ इस स्मरण के लिए दोनों पदार्थों के सादृश्य ज्ञान को आवश्यक नहीं मानते।

पण्डितराज के लक्षण में 'ज्ञान' शब्द का विरोध स्पष्ट रूप से 'संस्कृत साहित्य में सादृश्य-मूलक अलंकारों का विकास' नामक पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक में कहा गया है कि इन्हें यदि अपनी परिभाषा में ज्ञान शब्द का समावेश आवश्यक ही प्रतीत हुआ तो पुनः इन्हें 'सादृश्य' की जगह 'सदृश वस्तु' शब्द भी रख देना चाहिए था। क्योंकि ऐसा करने से ही दीक्षित जी के लक्षण में सन्निविष्ट **'वस्त्वन्तरसमाश्रयाः'** का खण्डन संभव है। क्योंकि हमें सर्वप्रथम इससे पहले सदृश वस्तु का ज्ञान और इससे इसके समान द्वितीय वस्तु का स्मरण हो जायेगा। उसके स्मरण के लिए दोनों वस्तुओं के सादृश्यज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी।

इतना ही नहीं नागेश भट्ट ने तो खुले शब्दों में पण्डितराज के इस आक्षेप का खण्डन कर दीक्षित जी का सबल समर्थन किया है। उनका कहना है कि 'सादृश्य' के सम्बन्धी नियत होते हैं। अतः सम्बन्धी की आकांक्षा होने पर नियमतः उपस्थित 'स्मरण किये जाने वाले के सादृश्य' का ही उसके साथ अन्वय होगा न कि असदृश का। ऐसी दशा में 'सादृश्यमूलक' कहने से सदृश की स्मृति का ही संग्रह होगा, न कि सदृश के सम्बन्धी स्मृति का। अतः दीक्षित जी का 'भिन्न वस्तु के विषय में होने वाली' यह विशेषण पूर्णतः सार्थक है।

पण्डितराज का दूसरा विरोध है, दीक्षित जी के लक्षण में समाविष्ट 'अव्यङ्ग्य' पद से— **'सौमित्रे! ननु'** इत्यादि उदाहरण में अतिव्याप्तिवारण के लिए लक्षण में जो 'अव्यङ्ग्य' विशेषण दिया गया है—वह निरर्थक है। क्योंकि यहाँ स्मृति अलङ्कार्य नहीं है। बल्कि, यहाँ 'स्मृति' 'अलङ्कार' ही है। क्योंकि इस श्लोक में जानकी आलम्बन हैं और रात्रि का समय उद्दीपन। इसी प्रकार संतापादि अनुभाव है और उन्मादरूपी व्यभिचारीभाव पोषक। अतः यहाँ विप्रलम्भ शृंगार होने के कारण प्रकृत 'स्मृति' स्वतः अलंकार है। फलतः इसे हटाने के लिए लक्षण में अव्यङ्ग्य विशेषण अनावश्यक है। यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यङ्ग्य होने और अलङ्कार होने में परस्पर विरोध है--जो व्यङ्ग्य हो वह अलंकार हो ही नहीं सकता। नित्य व्यङ्ग्य जो कभी वाच्य होते ही नहीं, उन रस, भाव आदि को भी दूसरे के अंगरूप होने पर अलंकार माना जाता है। रही बात यह कि 'प्रधान व्यङ्ग्य अलंकार रूप नहीं हो सकता'। यह बात ठीक है क्योंकि सभी अलंकारों के लक्षणों में 'उपस्कारक' विशेषण आवश्यक होता है। किसी अन्य को उपस्कृत करने के कारण ही तो अलंकार नाम की सार्थकता है। किन्तु, उक्त उदाहरण में 'स्मृति प्रधान व्यङ्ग्य नहीं है। किन्तु, अङ्गरूप ही है। अतः दीक्षित जी की इस मान्यता में भी कुछ तथ्य नहीं है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि पण्डितराज के इस आक्षेप में ही कितना तथ्य है। इस पर कुछ अधिक नहीं कहकर केवल नागेश भट्ट का विचार व्यक्त करना ही पर्याप्त होगा। भट्ट जी का कहना है कि इस उदाहरण में 'हा' शब्द का तो कहीं उल्लेख ही नहीं है। इसमें तो मुख्यतः प्रिया-वियुक्त राम की प्रियाजन्य स्मृति ही अभिव्यक्त हुई है। अतः 'विवाह के लिए जाते हुए सेवकों के साथ चलने वाले राजा' की तरह अथवा 'शठेन विधिना दरिद्रीकृतः' इत्यादि में 'शठ' आदि पदों से अभिव्यक्त असूया की तरह स्मृति ही प्रधान होने से वही अलंकार्य है। वह किसी को अलंकृत नहीं करती, प्रत्युत विप्रलम्भ ही उसे अलंकृत करता है। अतः उसे अलंकार्य होने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है।

बची बात—'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः' इत्यादि उदाहरण में स्मृतिरूपी संचारीभाव राजा के विषय में होनेवाली रति का अङ्ग है। अतः यह प्रेयान् अलङ्कार है। दीक्षित जी का यह कथन भी पण्डितराज की दृष्टि में अनर्गल ही है। क्योंकि इनके विचार में जब कोई भाव किसी दूसरे भाव का अङ्ग हो तभी 'प्रेयान' अलङ्कार होता है। किन्तु, इस पद्य में स्मृतिभाव रूप ही नहीं है। कारण स्मृति का वाचक 'स्मृ' धातु उक्त श्लोक में उल्लिखित है। अतः यह वाच्य है और वाच्यव्यभिचारी को भाव कहना उचित नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' अर्थात् व्यङ्ग्य व्यभिचारीभाव कहलाता है काव्य प्रकाश के इस सिद्धान्त का विरोध होता है।

इतना ही नहीं 'अलंकारसर्वस्वकार ने भी प्रेयान् अलंकार का विषय 'सादृश्य' के अतिरिक्त किसी अन्य निमित्त से उद्‌बोधित 'स्मृति' को ही मानते हैं और वह भी विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने पर ही। जैसे, **'अहो! कोपेऽपि कान्तं मुखम्'** (आश्चर्य है कि उसका मुख क्रोध में भी सुन्दर था)। अपने वाचक शब्द से प्रतिपादित होने पर स्मृति भाव रूप नहीं होती। जैसे—

अत्रानुगोदं मृगया निवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥

सीता के प्रति यह राम की उक्ति है—'शिकार खेलकर गोदावरी नदी के किनारे जब मैं थककर लौटता था तथा उस नदी की ठंढी लहरियों से आप्लावित होकर, खेदरहित एकान्त में तुम्हारी गोद में सिर रखकर जो मैं इस वेत्रलता के मण्डप में सो जाया करता था—उसकी स्मृति इस स्थान को देखते ही जग उठती है।

इस उदाहरण में 'स्मृ' धातु द्वारा स्मरण का स्पष्टतः प्रतिपादन है। अब यदि प्रेयान् अलंकार का लक्षण 'भावादि का अंगरूप केवल संचारीभाव' मानकर 'भावादि का अंगरूप भाव' का होना अस्वीकृत करते हैं, तो वाचक शब्द द्वारा प्रतिपादित होने के कारण 'स्मरण' के भाव रूप न होने पर भी संचारी होने में तो किसी प्रकार की बाधा होगी ही नहीं। अतः उक्त उदाहरण में प्रेयान अलंकार कहना अनुचित नहीं है। तब ऐसी स्थिति में 'दूसरे का अङ्ग रूप' इत्यादि स्थायीभाव को ही रसालङ्कार कहेंगे न कि अभिव्यक्त होने वाले को।

इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अभिव्यक्त स्थायीभाव जब अन्य का अंग होता है; तब रसालंकार होता है। उसी प्रकार अभिव्यक्त ही संचारीभाव जब भावादि का अंग होता है, तब 'प्रेयान्' अलंकार होता है। ऐसी स्थिति में **'अत्युच्चाः परितः'** इत्यादि उदाहरण में वाच्य-स्मृति को लेकर 'प्रेयान्' अलंकार नहीं कहा जा सकता। किन्तु, पूर्वार्द्ध द्वारा अभिव्यक्त पृथ्वी के विषय की रति, उत्तरार्द्ध द्वारा अभिव्यक्त राजा के विषय की रति का अंग हो गयी है, इसे लेकर यहाँ 'प्रेयान्' अलंकार कहना उचित है। जैसा कि इस पद्य के विषय में मम्मट का कथन है—

'यहाँ जो भाव अर्थात् पृथ्वी के प्रति कवि का भक्तिभाव निबद्ध है वह 'अपराङ्ग व्यंग्य' रूप से निबद्ध है, क्योंकि वह वस्तुतः कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का ही अन्त में परिपोषण करता प्रतीत हो रहा है।'

इस प्रकार तो काव्यप्रकाश का विरोध हुआ। इसके अतिरिक्त 'कुवलयानन्द' में दीक्षित जी ने स्वयं लिखा है—विभाव और अनुभाव से अभिव्यक्त 'निर्वेद' आदिका भाव जहाँ किसी दूसरे का अंग हो जाता है, वहाँ 'प्रेयान्' अलंकार होता है।' इससे स्वकथन का भी विरोध होता है। अतः दीक्षित जी के इस सम्बन्ध में ये सारे प्रयास पण्डितराज के प्रति विरोधप्रदर्शन मात्र हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'अत्युच्चाः परितः' इस श्लोक में 'प्रेयान्' अलंकार है अथवा नहीं। 'प्रेयान्' अलंकार जिसे आलंकारिकों का अत्यधिक आवर्जक अथवा सहृदयों का अत्यधिक मनोरंजक अलंकार कहा करते हैं। 'अत्युच्चाः परितः' इस उदाहरण में तो स्पष्टरूप से यह अलंकार है ही।

'यहाँ 'प्रेयान्' अलंकार इसलिए है कि यहाँ जो 'पृथ्वी विषयक स्तुति उपनिबद्ध है वह राजा की स्तुतिजन्य 'स्मृति' रूप भाव का अधिकाधिक परिपोषक होने से अंगरूप से ही उपनिबद्ध है। और यह 'स्मृति' रूप 'व्यभिचारीभाव' अन्ततोगत्वा, यहाँ के अंगीरस 'राजस्तुतिरूप' वीररस के उत्कट रूप से उद्दीपक होने के कारण, अंगरूप से ही उपनिबद्ध पड़ा है। अतः उक्त उदाहरण में 'प्रेयान्' अलंकार स्पष्ट रूप से है। जिसकी अतिव्याप्ति कारण के लिए दीक्षित जी ने लक्षण में 'जिसका मूल सादृश्य हो' इस विशेषण का समावेश किया है। फलतः उक्त उदाहरण में संचारी-भाव रूप 'स्मृति' राजा के विषय में रतिरूपी भाव का अंग बनने के कारण 'प्रेयान्' अलंकार होने से लक्षण का समन्वय नहीं हो सका। क्योंकि यहाँ उस पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाले राजा की स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है। अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं हुआ।

बची मम्मट के विरोध की बातें—वह तो स्पष्ट ही है कि काव्यप्रकाश में 'प्रेयान्' अलंकार की ही मान्यता नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि में रसध्वनिवादी आनन्दवर्द्धनाचार्य की यह मान्यता ही स्वीकृत है कि 'रस, भाव' आदि सभी अलंकार्य हैं—अलंकार नहीं। रस, भाव आदि की अंगरूप योजना 'गुणीभूतव्यंग्य काव्य' का विषय है न कि अलंकार अथवा वाच्य, वाचक, वैचित्र्य का। काव्य-प्रकाश के अनुसार 'प्रेयान्' अलंकार अपराङ्ग गुणीभूत व्यंग्यकाव्य के रूप में है। महापात्र विश्वनाथ ने भी 'प्रेयान्' अलंकार में **'इत्यस्य रसादेरङ्गं रसादि व्यङ्ग्यम्'** कह कर रस में अन्तर्भूत करते हुए भी अलंकार वर्णन में 'अलंकारसर्वस्व' का ही अनुसरण किया है। फलतः दीक्षित जी का इस दृष्टि से मम्मट के साथ कुछ विरोध नहीं दीखता। जहाँ तक उनके कुवलयानन्द की बात है—'व्यभिचारी भावों की 'अङ्गता' में उनका 'प्रेयान्' अलंकार होना स्वाभाविक है। व्यभिचारीभावों की मुख्यतः तीन श्रेणियाँ हैं, जिनमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी-भाव कहीं रसाभिव्यंजन के साधनरूप से उपनिबद्ध दिखाई दिया करते हैं और कहीं व्यभिचारी भाव स्वयं अभिव्यंग्य रूप से प्रतीत हुआ करते हैं और कहीं वही 'निर्वेद' व्यभिचारीभाव वर्ण्य विषय के अङ्गरूप से व्यवस्थित होने के कारण प्रेयान् अलंकार के रूप में देखे जा सकते हैं। इस श्रेणी विभाग की व्यवस्था से उक्त उदाहरण में 'प्रेयान्' अलंकार की मान्यता में कहीं स्वविरोध की छाया नहीं दीखती। इस दृष्टि से विचार करने पर दीक्षित जी का लक्षण निर्दुष्ट अथ च स्पष्ट प्रतीत होता है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायां स्मरणनिरूपणं समाप्तम्।

(सुधा)

अत्र स्मृतेश्चिन्तामूलतया सादृश्यमूलत्वाभावान्नातिव्याप्तिः, विच्छित्तिविशेषाभावेनालङ्कारताया बाधात्। उभयत्र विशेषणफलमाह—एतदुभयेति। उभयत्रातिव्याप्तिवारणाय—सादृश्यमूलेति विशेषणम्। अत्र रसगङ्गाधरकृतः—सदृशासदृशयोः केशपाशजलनिधिमन्थनयोः स्मरणसंग्रहाय वस्त्वन्तरग्रहणमर्थवदित्युक्तमयुक्तम्। सादृश्यमूला

स्मृतिः स्मरणमित्येतावता केशपाशस्येव जलनिधिमन्थनस्मरणस्यापि संग्रहेण तद्विशेषणस्य व्यर्थत्वात्। सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वस्य सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यलक्ष्मीस्मरणोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वस्य च सादृश्यमूलतया विशेषाभावात्। यदपि 'सौमित्रे' इत्यादौ व्यङ्ग्यस्मृतिवारणाय अव्यङ्ग्यमित्युक्तम, तदप्ययुक्तम्; जानक्यालम्बनो निशासमयोद्दीपितः सन्तापाद्यनुभावित उन्मादादिसञ्चारिपोषितो विप्रलम्भः प्रधानतया व्यङ्ग्यः। तत्र च स्मृतेरुत्कर्षहेतुत्वादलङ्कारताया एव कथनौचित्यात्, तदर्थं तदुपादानस्य सुतरां व्यर्थत्वाच्च। यत्तु—'अत्युच्चाः' इत्यादौ स्मृतेः सञ्चारिभावस्य राजविषयकरतिभावस्याङ्गत्वात् प्रेयोऽलङ्कारः, तद्व्यावृत्तये सादृश्यमूलेति विशेषणम्, तदप्ययुक्तम्; अत्र स्मृतेर्भावत्वाभावात, व्यज्यमानस्यैव सञ्चारिणो भावत्वात्। स्मरतिना वाचकेन वाच्यस्य तस्य तस्य? एवे 'व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता' इत्युक्त्या दोषग्रस्तत्वात् कथमस्य प्रेयोऽलङ्कारता? 'भुविषयकरते राजविषयकरतिरूपभावाङ्गतयैव भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयकरतिभावस्याङ्गमित्यादिना तस्य काव्यप्रकाशकारादिभिः प्रतिपादितत्वात्' इति वदन्ति।

तत्रोच्यते—'सादृश्यमूलत्वं स्मृतित्वम्' इत्येतावदुक्तौ स्त्रीसादृश्येन श्रियः स्मरणस्यैव साक्षात् सादृश्यमूलतया तत्सम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्य स्मृतेर्वस्त्वन्तरसमाश्रयणरूपविशेषणबलेनैव लाभात्। वस्त्वन्तरं लक्ष्मीरूपं तत्सम्बन्धेनैव तत्स्मृतेर्योग्यत्वात्। किञ्च 'सौमित्रे' इत्यादावपि कुरङ्गसम्बन्धिनयनसदृशजानकीनेत्रस्मरणस्य शब्दशक्त्यप्रतिपाद्यत्वेन व्यञ्जनागम्यतया व्यङ्ग्यस्मृतेः प्रधानतया रामविषयकविप्रलम्भरूपव्यङ्ग्यपोषकतया व्यङ्ग्यत्वसत्त्वे तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणस्यावश्यकत्वात्। 'स तथेति' इत्यादौ चिन्तामूलस्मरणेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यमूलेति विशेषणस्याप्यावश्यकत्वात्। भुजस्मरणेन वाचोमुद्रणस्य सत्त्वेन तस्य राजविषयकरतेः परिपोष्यतया स्वशब्दवाच्यत्वे दोषाभावान्न दोषः, स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिण इत्युक्तत्वात्। शुद्ध भावस्य भावाङ्गत्वेन प्रेयोऽलङ्कारत्वसिद्धये मम्मटादिना तथोक्तिः, न तु स्मृतेः सञ्चारित्वव्यावर्तनपरा इत्यलम्।

उपसंहरति—एवमिति। एते उपमादय इत्यर्थः। तत्र भेदसाधर्म्यमूलत्वमनन्वयस्य उभयसाधर्म्यं मूलता स्मरणस्य, सादृश्यस्योभयघटितत्वात्, तल्लक्षणे तद्भिन्नपदस्य सत्त्वासत्त्वयोः सिद्धान्तसम्मतत्वाच्चेति दिक्।

स्मरणालङ्कृतेर्व्याख्या धरानन्देन निर्मिता।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम्॥

इति भरतपुरनिवासिनो मिश्ररामबलस्य सुतेन धरानन्देन रचितायां
चित्रमीमांसाव्याख्यासुधाख्यायां स्मरणालङ्कार-
प्रकरणव्याख्या समाप्ता।

अथ रूपकनिरूपणम्

अथाभेदप्रधानेषु प्रथमं रूपकं निरूप्यते—

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिणः ।
उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम् ॥

(भारती)

अभेदप्रधान अलंकारों में सर्वप्रथम रूपकालंकार का निरूपण करते हैं—

'आरोप्यमाण या उपमान का विरोधान-रहित होकर आरोप विषय या उपमेय को अपने रंग में उपरंजन या रंगना ही रूपक है ।

विमर्श—विद्यानाथ जी ने अपने प्रतापरुद्रिय में रूपक का ही लक्षण लिखा है । इनके अनुसार इसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं । यथा—'विषयी या उपमान को विषय का उपरंजक होना से तात्पर्य है कि विषयी और विषय में अभेदत्व की स्थापना हो । इस अभेदत्व की स्थापना से उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति की अतिव्याप्ति का स्वतः वारण हो जाता है । क्योंकि उत्प्रेक्षा में कोई भी विषय—आरोप क्रिया का विषय नहीं बनता और अतिशयोक्ति में विषयी के द्वारा विषय का निगरण हो जाता है । इन दोनों अलंकारों में आरोपाभाव होता है ।

'अतिरोहितरूपिणः' पद के द्वारा रूपक से अपह्नुति, भ्रान्तिमान् और सन्देह का पार्थक्य दिखलाया गया है या तीनों का एक साथ निवारण किया गया है । सन्देह में विषय के सत्यासत्य का निर्णय नहीं होता या विषय का सन्देह होता है तो अपह्नुति में विषय का निषेध होता है । इसी प्रकार भ्रान्तिमान में कविकल्पित मिथ्याज्ञान होता है ।

इसी प्रकार उक्त लक्षण में 'उपरंजक' पद के समावेश के कारण 'परिणाम' अलंकार की व्यावृत्ति होती है । परिणाम में विषय का विषयी के रूप में उपरंजन न होकर विषयी का विषय के रूप में परिणत होकर प्रकृतोपयोगी होने का वर्णन होता है ।

इतनी सूक्ष्मता के साथ निर्दुष्ट तत्त्वों के समावेश के बावजूद विद्यानाथ के लक्षण में दीक्षित जी ने 'चित्रमीमांसा' में कतिपय दोषों की ओर स्पष्ट संकेत किया है, जिसका उल्लेख नीचे यथावसर किया गया है ।

(सुधा)

एवमुपमाद्यलङ्कारान् निरूप्य अभेदप्रधानालङ्कारान् निरूपयितुकामस्तेषु प्रथमं रूपकं निरूपयितुमारभते—अथेति । तत्र प्राचीनं लक्षणं निराकर्तुं पूर्वं तदुपपादयति—आरोपविषयस्येति । आरोप्यं चन्द्रत्वादिकम् , तस्य अतिरोहितरूपिणोऽनिह्नुतरूपवद् आरोपविषयस्य मुखादेर्यत्रोपरञ्जकत्वम् , विषये स्वताद्रूप्यापादकत्वं भवेत् , तद्रूपकं मतमित्यन्वयार्थः ।

(चित्र०)

अत्रारोपविषयस्येत्यनेनोत्प्रेक्षातिशयोक्त्योर्व्यावृत्तिः । तत्र मुखादेरारोप-

विषयत्वाभावात् अतिरोहितरूपिण इत्यनेन ससन्देहभ्रान्तिमदपह्नुतीनां व्यावृत्तिः। तेषु सन्देहभ्रान्त्यपह्नवैर्विषयस्य तिरोधानात्। उपरञ्जकमित्यनेन समासोक्तिपरिणामव्यावृत्तिः। तयोर्हि नोपरञ्जकत्वं विषयेष्वताद्रूप्यापादकत्वलक्षणम्। समासोक्तौ व्यवहारमात्रसमारोपेण ताद्रूप्यप्रतीतेरेवाभावात्। परिणामे आरोप्यमाणस्यैव विषयताद्रूप्यापत्त्या विषयस्यारोप्यमाणताद्रूप्यापत्त्यभावादित्याहुः।

(भारती)

विद्यानाथ के उक्त लक्षण में 'आरोपस्य' पद के समावेश से **'धूमस्तोमं तमः शंके'** इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा का निराकरण होता है। यहाँ प्रकृत की संभावना के विषयत्व से आरोपविषयत्व का अभाव है। अगर यह कहा जाय कि दोनों की उक्ति के अभेदप्रतिपत्ति से आरोपविषयत्व की यहाँ सत्ता है ही, तो **'नूनं मुखं चन्द्रः'** ऐसे उदाहरण में वैसे आरोप की सत्ता रहने पर भी अतिशयोक्ति दोष नहीं है। इस शंका को ध्यान में रखकर ही प्रयोजनान्तर बताते हैं कि **'नीलोत्पलदलाक्षिस्सरन्ति शिताः शराः'** अतिशयोक्ति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में उक्त पद का समावेश किया गया है। क्योंकि यहाँ आरोपविषय का शब्दशक्ति से सर्वथा ही अप्रतिपादन है।

इसी प्रकार सन्देह, भ्रान्तिमान एवं अपह्नुति में अतिव्याप्ति वारण के लिए **'अतिरोहितरूपिणः'** पद का लक्षण में समावेश किया गया है। **'त्वन्मुखं कमलमुत चन्द्रः'** सन्देह के इस उदाहरण में मुख का सन्देहास्पदत्व से 'तिरोधानवति' होने के कारण अतिव्याप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार भ्रान्तिमान् के **'पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः'** इस उदाहरण में अर्थात् तोते की चोंच को पलाश की कली समझ कर भौंरा उस पर झपटता है और तोता भी उसे जामुन का फल समझ कर पकड़ना चाहता है। यहाँ शुकतुण्ड तथा पलाश मुकुल एवं भौंरा तथा जम्बू फल में सादृश्य के कारण दोनों ओर से भ्रान्ति हो रही है, किन्तु मुख तथा शुकतुण्ड के तिरोधान से अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार अपह्नुति के **'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिः'** अर्थात् यह नभोमण्डल नहीं सागर है। इस उदाहरण में तिरोधान की उपस्थिति से अतिव्याप्ति का निवारण हुआ है।

इसी प्रकार **'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तः श्चुम्बति चन्द्रमा'** समासोक्ति के इस उदाहरण में तथा **'भ्रमरी-कवरी-भारभ्रमरी—मुखरीकृतम्'** परिणामोक्ति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष वारण के लिए लक्षण में 'अपरंजकम्' विशेषण का समावेश किया गया है। यहाँ समासोक्ति में व्यवहारमात्र के समारोप से तद्रूपता की प्रतीति के अभाव के कारण अतिव्याप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार व्यवहारमात्र के समारोप से आरोप्यमाण पंकज की चरण की तद्रूपतापत्ति से विषय का विषयी के रूप में उपरंजन न होकर विषयी का विषय के रूप में परिणत होकर प्रकृतोपयोगी होने के कारण अतिव्याप्ति का निराकरण है। अत एव, रूपकका यह लक्षण निर्दुष्ट है, यह प्राचीनों का मत हुआ।

(सुधा)

तत्र लक्षणपदानां सप्रयोजनतां विचारयति—अत्रेति। आरोपविषयस्येत्यनेन 'धूमस्तोमं तमः शङ्के' इत्युत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः। तत्र प्रकृतस्य सम्भावनाविषयत्वेनारोपवि-

षयत्वाभावात्। उक्तयोस्तयोरभेदप्रतिपत्तेरारोपतया 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादौ तादृशारोपसत्त्वेनातिव्याप्तिरेवेत्याशङ्क्य प्रयोजनान्तरमाह—अतिशयोक्तिरिति। 'नीलोत्पलदलान्निस्सरन्ति शिताः शराः' इत्यत्रातिव्याप्तिः, तत्रारोपविषयस्य शब्दशक्त्या सर्वथवाप्रतिपादनादित्यर्थः। ससन्देहभ्रान्तिमदपह्नुतिष्वतिव्याप्तिवारणाय 'अतिरोहितरूपिणः' इति। 'त्वन्मुखं कमलमुत चन्द्रः' इति सन्देहे मुखस्य सन्देहास्पदत्वेन तिरोधानवत्त्वान्नातिव्याप्तिः। एवं 'पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः' इति भ्रान्तिमति, 'नेदं मुखं किन्तु चन्द्रः' इत्यपह्नुतौ च पलाशकुसुमभ्रमेण शुकतुण्डस्य नञा मुखस्य च तिरोधानसत्त्वान्नातिव्याप्तिः। समासोक्तिपरिणामयोरतिव्याप्तिवारणाय 'उपरञ्जकम्' इति विशेषणम्। 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' इति समासोक्तौ। 'अमरीकबरीभारभ्रमरीमुखरीकृतम्। दूरीकरोतु दुरितं गौरीचरणपङ्कजम्॥' इति परिणामे च विशेषणबलाद् व्यावहारमात्रसमारोपेणारोप्यमाणस्य पङ्कजस्य चरणताद्रूप्यापत्त्या विषयस्य चन्द्रचरणादेस्ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरूपोपरञ्जकत्वाभावेनातिव्याप्तिनिरासात्। तस्मादिदं रूपकलक्षणं निर्दोषमिति प्राचीना आहुः।

(चित्र०)

अत्रेदं विचार्यते—आरोपध्यवसाययोः कीदृशं भेदमभिसन्धायारोपविषयस्येत्यनेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिरुच्यते ? यदि विषयविषयिणोरभिहितयोरभेदप्रतिपत्तिरारोपः ? विषयनिगरणेन विषयिणस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति भेदमभिसन्धाय, तदोत्प्रेक्षारोपमूलैव स्यात्। तत्र 'नूनं मुखं चन्द्रः' इति विषयस्य मुखस्याप्यभिधानेन तन्निगरणाभावात्। ततश्च तत्रातिव्याप्तिरनिवारितैव स्यात्। ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेदः। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिरूपके चन्द्रस्य यद्रूपं चन्द्रत्वं तेन रूपवत्तामात्र मुखस्य प्रतीयते, न तु प्रसिद्धचन्द्राभेदः। मुखविषयायाम् 'चन्द्रः' इत्याद्यतिशयोक्तौ तु तदभेद एव प्रतीयत इति चेत् ? न; वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्।

(भारती)

प्राचीनों के पूर्वोक्त लक्षण में अब दोष का विचार करते हैं। उक्त लक्षण के निराकरण के लिए सर्वप्रथम अभेद और अध्यवसाय के भेद में विप्रत्तिपत्ति की व्यवस्था करते हैं। यहाँ आरोप और अध्यवसाय की विप्रतिपत्ति दो तरह से मानते हैं। कुछ लोगों के मत में—विषय और विषयी से अभिहित उन दोनों के अभेद की प्रतिपत्ति ही आरोप है तथा विषय अर्थात् उपमेय के—निगरण से विषयी के अभेदप्रतिपत्ति को अध्यवसाय मानते हैं तथा इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यगण 'ताद्रूप्यप्रतिपत्ति' को आरोप मानते हैं और उसके अभेदप्रतिपत्ति को अध्यवसाय मानते हैं।

अब यदि प्रथम मत स्वीकार कर आरोपविषय का इससे उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति स्वीकृत करते हैं, तब उत्प्रेक्षा के आरोपमूलत्व से वहाँ तो अतिव्याप्ति है ही। 'नूनं मुखं चन्द्रः' यहाँ विषय मुख का भी अभिधान से—विषयनिगरण के अभाव से अतिव्याप्ति दोष दुर्निवार है। दूसरे मत को स्वीकृत कर 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपक में चन्द्र का जो 'रूप-चन्द्रत्व' है, उसी के द्वारा मुख की रूपवत्ता की प्रतीति से प्रसिद्ध चन्द्रमा से अभेद के अभाव से लक्षण का समन्वय होगा। मुखविषय में 'चन्द्रः' इत्यादि अतिशयोक्ति में उन दोनों के अभेदत्व से अतिव्याप्ति नहीं है। उत्प्रेक्षा में यद्यपि

चन्द्रत्वेन मुख की रूपवत्ता की प्रतीति है, फिर भी संभावना के विषयत्व से निश्चयाभाव के द्वारा उसके अभाव से अतिव्याप्ति दोष न होगा—ऐसी संभावना है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि यहाँ वैपरीत्य भी नहीं कहा जा सकता। वैपरीत्य से तात्पर्य है रूपक में अभेद की प्रतिपत्ति। अतिशयोक्ति में ताद्रूप्य की प्रतिपत्ति भी कह सकते हैं। वहाँ भी उसकी कल्पना में विनिगमक का अभाव है।

(सुधा)

एतल्लक्षणं खण्डयितुमारभते—अत्रेति। प्राचीनलक्षण इत्यर्थः। इदमिति। दूषणमित्यर्थः। तत्र लक्षणं निराकर्तुं पूर्वमभेदाध्यवसाययोर्भेदे विप्रतिपत्तिं व्यवस्थापयति—आरोपाध्यवसाययोरिति। तत्रेत्थं विप्रतिपत्तिः—स्वरूपविषयविषयिणोरभिहितयोरभेदप्रतिपत्तिरारोपः; विषयनिगरणेन विषयिणस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति केचिद् मन्यन्ते। ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इत्यन्ये मन्यन्ते। तत्र प्रथममतमङ्गीकृत्य यथारोपविषयस्येत्यनेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिरङ्गीक्रियते चेद्! तदोत्प्रेक्षाया आरोपमूलत्वेन तत्रातिव्याप्तिरेव स्यात्। 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यत्र विषयस्य मुखस्याप्यभिधानेन विषयनिगरणाभावेनातिव्याप्तेर्दुर्निवारत्वात्।

ननु द्वितीयमतमाश्रित्य 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिरूपके चन्द्रस्य यद्रूपं चन्द्रत्वं तेनैव मुखस्य रूपवत्ताप्रतीत्या प्रसिद्धचन्द्राभेदाभावेन लक्षणसमन्वयः। मुखविषयायाम् 'चन्द्रः' इत्याद्यतिशयोक्तौ तयोरभेदान्नातिव्याप्तिः। उत्प्रेक्षायां यद्यपि चन्द्रत्वेन मुखस्य रूपवत्ताप्रतीतिरस्ति; तथापि सम्भावनाविषयत्वान्निश्चयाभावेन तदभावान्नातिव्याप्तिरित्यपि न सम्भवतीत्याह—इति चेन्नेति। हेतुमाह—वैपरीत्यस्यापीति। रूपकेऽभेदप्रतिपत्तिः, अतिशयोक्तौ ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। तत्रैव तत्कल्पने विनिविनिगमकस्याप्यभावाच्च।

(चित्र०)

न च वाच्यम्—

इन्दोरपि मृगाक्षीणां मुखेन्दुरतिरिच्यते।
निर्जरैः पीयमानोऽपि यः कदाचिन्न हीयते॥

इति मुखचन्द्रस्य प्रसिद्धचन्द्राद् व्यतिरेकवर्णनं तदभेदप्रतिपत्तौ न सम्भवतीति रूपके ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरेवेति। तथा सति हि—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम्।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः॥

'अपरः पाकशासनः' इत्याद्यतिशयोक्तौ 'अपर इव पाकशासनः' इत्याद्युत्प्रेक्षायां च रूपकवदेव प्रसिद्धचन्द्राद्यभेदप्रतिपत्त्यभावेन ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरेव स्यादिति तयोर्लक्षणस्यातिव्याप्तिरनेनानिवारिता स्यात्।

(भारती)

वहाँ विनिगमक दिखाते हुए रूपक में ताद्रूप्यप्रतिपत्ति की शंका 'न च' से करते हैं—

'हिरणाक्षियों के मुखचन्द्र चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर होता है। क्योंकि वह देवताओं से पिए जाने पर भी कभी कान्तिरहित नहीं होता।'

यहाँ मुखचन्द्र का प्रसिद्ध चन्द्र से व्यतिरेकवर्णन का अभेदप्रतिपत्ति में असंभव, कहीं विनिगमकता से रूपक में ताद्रूप्य की प्रतिपत्ति उसके अनुरोध से आवश्यक हो जाता है।

पूर्व कथित दोष का निराकरण करते हुए लिखते हैं—ऐसा होने पर विदग्धशालभञ्जिका में, संगमर्मरी राजभवन के कोंठे पर बैठी हुई मृगांक-लेखा को देखकर विदूषक के प्रति राजा की इस उक्तिरूप उदाहरण में—

'ओ विदूषक ! तुम जरा अपनी आँखों को सामने राजभवन की छतों पर तो डालो ? देखो, कोठे पर विना आकाश के ही यह कैसा चन्द्रोदय हुआ है। इस चन्द्रमा में मृगचिह्न नहीं रहने के कारण निष्कलंक प्रतीत होता है। (इससे प्रसिद्ध चन्द्र से मुखचन्द्र का उत्कर्षाधिक्य वर्णित है।) इतना ही नहीं, सुधा में आवद्ध अभिलाषा है, जिसकी ऐसे उपवन चकोरों से यहाँ अनुसृत हो रहा है तथा फलपाक अर्थात् लवलीलताविशेप के प्रति स्नेह प्रकट करने वाली अपनी कान्तिरूपी स्वच्छ ज्योत्स्ना की किरणों में भी यह प्रसारित कर रही है।'

'अपरः पाकशासनः' इत्यादि अतिशयोक्ति में और 'अपर इव पाके शासनः' इत्यादि उत्प्रेक्षा में रूपक की ही तरह प्रसिद्ध चन्द्रादि के अभेद की प्रतिपत्ति के अभाव से ताद्रूप्य की प्रतिपत्ति ही यहाँ है। उन दोनों के लक्षणों का अतिव्याप्ति दोष इससे निवारित नहीं होता।

(सुधा)

तत्र विनिगमकं दर्शयन् रूपके ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरेवेति शङ्कते—न चेति। इन्दोरपीति। मृगाक्षीणां मुखचन्द्र इन्दोरपि अतिरिच्यतेऽधिको भवति, कुतः? यैर्देवैः तरुणैश्च पीयमानोऽपि कदाचिन्न हीयते, न हीनो भवतीति व्यतिरेकवर्णनस्याभेदप्रतिपत्तावसम्भवस्यैव विनिगमकतया रूपके ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरेव तदनुरोधादावश्यकीत्याशङ्कार्थः। तदपि निराकरोति—तथा सति हीति। सुधेति। विदग्धशालभञ्जिकायां स्फाटिकप्राकारशिखरस्थां मृगाङ्कलेखां विलोक्य विदूषकं प्रति नृपस्योक्तिः—त्वम्, उपप्राकाराग्रं नयने प्रहिणु = प्रेरय मनागीषत्तर्कय, अनाकाशे = अनन्तरिक्षे अयं शीतकिरणचन्द्रः क इति, प्राकारसमीपे अथ कीदृशो गलितश्च्युतो हरिणो यस्मान्निष्कलङ्कतया उत्कर्षाधिक्यम्, पुनः कीदृक्? सुधायां बद्धो ग्रासोऽभिलाषो यैस्तैरुपवनसम्बन्धिभिश्चकोरैरनुसृतां लवल्याः फलपाकस्य प्रणयिनीं सदृशीम् अच्छां स्वच्छां ज्योत्स्नां तत्त्वेनाध्यवसितां कान्तिप्रभाञ्च किरन् प्रसारयन् इत्यर्थः। लवली लताविशेषः, हरफारेवडीति प्रसिद्धः। 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः। 'अपरः पाकशासनः' इत्यतिशयोक्तौ, आदिशब्दात्—'अनुच्छिष्टो देवैरपरिदलितो राहुदशनैः, कलंकैर्नाश्लिष्टो न खलु परिभूतो दिनकृता। कुहूभिर्नोलिप्तो न च युवतिवक्त्रेण विजितः, कलानाथः कोऽयं कनकलतिकायामुदयते॥' इत्यादाविर्त्यर्थः। 'अपर इव पाकशासनः' इत्युत्प्रेक्षायाम्, आदिशब्देन—'बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि। सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥' इत्यादाविर्त्यर्थः।

(चित्र०)

अथ तत्र प्रसिद्धचन्द्राद्यभेदप्रतिपत्त्यभावेऽप्युपात्तकल्पितापरचन्द्राद्यभेदप्रतिपत्तिः सम्भवतीति चेत् ? रूपकेऽप्येवं वक्तुं शक्यमित्यसम्भव एव लक्षणस्य स्यात्। किञ्च, अतिरोहितरूपण इत्यनेन ससन्देहभ्रान्तिमतोरतिव्याप्तिवारणेऽपि नापह्नवेऽतिव्याप्तिवारणम्। 'नेदं मुखं किन्तु चन्द्रः' इत्यत्र मुखे मुखत्वाभावारोपस्य चन्द्रत्वारोपस्य चाहार्यत्वेन विषयतिरोधायकत्वाभावात्। आहार्यारोपस्यापि तिरोधायकत्वे रूपकेऽपि लक्षणस्यासम्भवः स्यात्। उत्प्रेक्षाया अप्याहार्यसम्भावनारूपाया अतिरोहितरूपिण इत्यनेनैव व्यावृत्तिसिद्धावारोपविषयस्येति विशेषणस्य वैयर्थ्यं च स्यात्। अतिशयोक्तौ विषयस्य निगीर्णस्य तिरोहितत्वेन तस्या अप्यनेनैव व्यावृत्तिः।

(भारती)

वहाँ प्रसिद्ध चन्द्रादि के अभेदप्रतिपत्ति के अभाव में भी उपात्तकल्पित जो अन्य चन्द्रादि है, उसकी अभेदप्रतिपत्ति तो यहाँ है। इस शंका का समाधान करते हैं—कल्पित अपर चन्द्रादि के अभेदसिद्ध रूपक में भी यदि ऐसा कहेंगे तो लक्षण का असंभव दोषी स्पष्ट होगा। इसलिए दोनों पक्षों में भी–'आरोपविषयस्य' यहविशेषण दोषदुष्ट ही है।

इसके बाद अन्य विशेषण का खण्डन करते हुए कहते हैं—'अतिरोहितरूपिणः' विशेषण भी लक्षण में निरर्थक ही है। क्योंकि संदेह और भ्रान्तिमान में इससे यद्यपि अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो भी जाता है, फिर भी, अपह्नुति अलंकार में इस विशेषण से अतिव्याप्ति दोष का निवरण असंभव ही है। 'यह मुख नहीं किन्तु चन्द्रमा है' यहाँ मुख में मुखत्वाभाव का आरोप है, उसके चन्द्रत्वारोप का आहार्यत्व से विषयरूप उपमेय का तिरोधायकत्व का अभाव है। उसे भी स्वीकार करने पर रूपक में भी उसी प्रकार के प्रतिरोधक रहने से अतिरोहितरूपत्व की असंभवापत्ति है। विशेषणं स्वीकृत करने पर भी अन्य दोष बताते हैं—आहार्यसंभावना रूप उत्प्रेक्षा की इस विशेषण से व्यावृत्ति सिद्ध रहने पर भी आरोपविषयक विशेषण की व्यर्थत्वापत्ति होगी। वहाँ भी निगीर्ण उपमान के तिरोहित रूपत्व से अतिशयोक्ति की भी इस विशेषण से व्यावृत्ति सिद्ध है।

(सुधा)

रूपकवदेव प्रसिद्धचन्द्रादेरभेदस्य प्रतिपत्तेरसम्भवेन ताद्रूप्यप्रतिपत्तिभावेन तयोः प्राप्तातिव्याप्तेर्दुनिवारत्वात्। ताद्रूप्यप्रतिपत्तिसत्त्वेन तत्र लक्षणसमन्वयसत्त्वाच्च पुनराशङ्कते-अथ तत्र–अतिशयोक्त्यादावित्यर्थः। प्रसिद्धचन्द्रादेरभेदस्य प्रतिपत्तेरभावे उपात्तं कल्पितं यदपरं चन्द्रादि च, तस्याभेदप्रतिपत्तिरत्रास्तीत्येवेति शङ्कार्थः। समाधत्ते–कल्पितापरचन्द्रादेरभेदसिद्धे रूपकेऽपि वक्तुं शक्यत्वेऽसम्भव एव लक्षणस्य स्यात्। तस्मात् पक्षद्वयेऽप्यारोपविषयस्येति विशेषणं दूषणदुष्टमेव। विशेषणान्तरं खण्डयितुमुपक्रमते–अतिरोहितरूपिण इति। ससन्देहभ्रान्तिमदपह्नुतीनां व्यावृत्त्यर्थं तद्विशेषणमित्युक्तम्। तत्र द्वयोरतिव्याप्तिवारणेऽप्यपह्नुतावतिव्याप्तिनिवारणं न सम्भवतीति। 'नेदं मुखं किन्तु चन्द्रः' इत्यत्र मुखे मुखत्वाभावस्य य आरोपः, तस्य चन्द्रत्वारोपस्य च आहार्यत्वेनाहृतुं योग्य-

त्वेन विषयस्योपमेयस्य तिरोधायकत्वाभावात्। तस्यापि तदङ्गीकारे रूपकेऽपि तादृश-तिरोधायकत्वसत्त्वेनातिरोहितरूपत्वाभावादसम्भवापत्तेः। विशेषणाङ्गीकारे दूषणान्तर-माह—उत्प्रेक्षाया इति। आहार्यसम्भावनारूपोत्प्रेक्षाया अनेन विशेषणेन व्यावृत्तिसिद्धा-वारोपविषयस्येति विशेषणस्य व्यर्थत्वापत्तेः। अतिशयोक्तिव्यावृत्तिं तद्विशेषणफलीभूता-मपि निराकरोति—अतिशयोक्ताविति। तत्रापि निगीर्णस्योपमानस्य तिरोहितरूपत्वेना-तिशयोक्तेरप्यनेन विशेषणेन व्यावृत्तेः सिद्धेश्च।

(चित्र०)

अपि च,

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥

इति निदर्शनायामतिव्याप्तिः। तत्रोपमेयवाक्यार्थे उपमानवाक्यार्थताद्रू-प्यारोपसद्भावात। यदि चारोपविषयस्य पदार्थस्येति विशेषणम्, तथाप्यलक्त-ककृतत्वत्पादनखमार्जनं श्रीखण्डलेपकृतविधुपाण्डुरीकरणमिति निदर्शनायाम-तिव्याप्तिः,

अङ्घ्रिदण्डो हरेरूर्ध्वमुत्क्षिप्तो बलिनिग्रहे।
विधिविष्टरपद्मस्य नालदण्डो मुदेऽस्तु वः॥

इति रूपकेऽव्याप्तिश्च।

(भारती)

और भी—

'रत्न सदृश आपके चरण नखों का जो अलक्त (महावर) से साफ करन अर्थात् रंगना है, यह चन्दन के लेप से चन्द्रमा का श्वेत बनाना है।'

इस निदर्शना के उदाहरण में अतिव्याप्तिदोष है। यहाँ पूर्वार्द्ध प्रतिपाद्य उपमेय वाक्यार्थ में उपमान वाक्यार्थ के ताद्रूप्य का जो आरोप है—उससे अतिव्याप्ति आवश्यक है। प्रकारान्तर से समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि इस आरोप विषय का आक्षेप से प्राप्त पदार्थविशेषण से वाक्यार्थ निदर्शना में अतिव्याप्ति का निराकरण हो भी जाता है तो वहाँ पदार्थ आरोप विषय के असंभवता से तथा महावर से तुम्हारे पद-नख के मार्जन एवं श्रीखण्डलेप से चन्द्रमा के पाण्डुरी-करण रूप निदर्शना में अतिव्याप्ति दोष दुर्निवार है। इसी प्रकार—

'बलि नामक दैत्यविशेष के बन्धन के लिए ऊपर की ओर उत्क्षिप्त भगवान् विष्णु के—ब्रह्मा के—आसन कमल के नाल दण्ड रूप अंघ्रि(चरण)दण्ड हमें प्रसन्नता दे।'

इस प्रकार से प्रसिद्ध विशिष्टरूपक में अतिव्याप्ति दोष है। यहाँ आरोपविषयीभूत पदार्थ की विद्यमानता है। अतः दोनों पक्षों में भी प्राचीनों के उक्त लक्षण दूषण दुष्ट ही है।

(सुधा)

अन्यदूषणान्तरमाह—त्वदिति। यत् त्वत्पादनखरत्नानामलक्तकेन मार्जनम्, इदं श्रीखण्डलेपेन इन्दोः पाण्डुरीकरणम्, इति निदर्शनायामतिव्याप्तिः। यदिदंशब्दाभ्यां सदृशवाक्यार्थयोरेकत्वारोपसत्त्वेन निदर्शनालक्षणस्य सत्त्वात् तत्त्वाप्रसिद्धेः। अत्र पूर्वार्धं

प्रतिपाद्योपमेयवाक्यार्थे उपमानवाक्यार्थस्य यस्ताद्रूप्यस्यारोपः, तस्य सद्भावादतिव्याप्ते-रावश्यकत्वम्। प्रकारान्तरेण समाधानमाशङ्क्य निराकरोति—यदि चेति। आरोपविषय-स्येत्यस्याक्षेपलभ्यपदार्थविशेषणतया वाक्यार्थनिदर्शनायामतिव्याप्तिनिरासः। तत्र पदार्था-रोपविषयस्यासम्भवात्, तथालक्तककृतत्वत्पादनखमार्जनं श्रीखण्डलेपकृतविधुपाण्डुरी-करणमित्युक्तरूपनिदर्शनायामतिव्याप्तेः सत्वात्। त्वत्पादेत्यादौ वाक्यार्थनिदर्शनाया एव प्रसिद्धिः। तथा च पदार्थस्येति विषणेनातिव्याप्तिनिवारणमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह—अङ्घ्रिदण्ड इति। बलेर्दैत्यविशेषस्य बन्धने कर्तव्ये ऊर्ध्वमुत्क्षिप्तो हरेरङ्घ्रिदण्डो वो मुदेऽस्तु। कीदृशः विधेः ब्रह्मणो विष्टरः आसनं तद्रूपस्य पद्मस्य नालदण्ड इत्यर्थः। एवं प्रकारेण प्रसिद्धे विशिष्टरूपकेऽव्याप्तिश्च। अत्रारोपविषयीभूतपदार्थस्याविद्यमानत्वादित्यर्थः। तस्मात् पक्षद्वयेऽपि प्राचीनोक्तमेतल्लक्षणं दूषणदुष्टमेवेति दिक्।

(चित्र०)

यत्तु सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तं लक्षणम्—

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः॥ इति।

तदप्यतिशयोक्तावतिव्याप्तम्; 'मुखं चन्द्रः' इति रूपके चन्द्रशब्दस्य मुखे गौणसारोप्यलक्षणा, 'चन्द्रः' इत्यतिशयोक्तौ साध्यवसानलक्षणेत्यालङ्कारिक-सिद्धान्तात्।

(भारती)

यत्तु से भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में कथित रूपक के लक्षण की अवतारणा करते हैं—'जब उपमान के वाचक शब्दों का गौण वृत्ति या लक्षणा के आश्रयों से उपमेय के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब उसे रूपक कहते हैं।'

इस परिभाषा से भी अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति हो जाती है। अतिशयोक्ति अलंकार में भी गौण वृत्ति के आश्रय को लेकर उपमान का प्रयोग उपमेय के अर्थ में होता है। 'मुखं चन्द्रः' इस रूपक में गौणी सारोपा लक्षणा होती है। और यदि मुख को देखकर कहा जाय तो गौणी साध्य-वसाना लक्षणा होगी। अत एव गौण वृत्ति के आश्रय के कारण रूपक मानने पर अतिशयोक्ति में भी रूपक की स्थिति हो जायगी।

(सुधा)

सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजराजोक्तं लक्षणं दूषयितुं पूर्वं तत्प्रतिपादयति—यत्त्विति यदेति। उपमानवाचकशब्दानां गौणवृत्तेः सारोपलक्षणाया विशेषत आश्रयाद् उपमेये यदा वृत्तिर्भवेत्तदा रूपकमलङ्कारं विदुरित्यन्वयः। तद्दूषयति—तदपीति। 'पश्य नीलो-त्पलदलाक्लिस्सरन्ति शिताः शराः' इत्याद्यतिशयोक्तौ साध्यवसानरूपगौणवृत्तेराश्रयणा-दारोपसत्त्वेनातिव्याप्तेर्दुर्निवारत्वात्। न च तत्रातिशयोक्तौ साध्यवसाना नास्तीति वाच्यम्? रूपके गौणी सारोपा अतिशयोक्तौ साध्यवसाना इत्यादिप्रसिद्धेः सर्वालङ्कारिक-सम्मतत्वात्।

(चित्र०)

वस्तुतस्त्वतिशयोक्तावेव लक्षणा, न तु रूपके इति शक्यं व्यवस्थापयितुम्। तथा हि—अतिशयोक्तौ विषयाभिधायिमुखादिपदाप्रयोगाच्चन्द्रादिपदेनैव तत्प्रत्यायनं कार्यमिति तस्य तत्र लक्षणावश्यमास्थेया। रूपके विषयविषयिणोः स्वस्ववाचकाभिहितयोरभेदप्रतिपत्तिः संसर्गमर्यादयैव सम्भवतीति किमर्थं तत्र लक्षणा, अशक्या च तत्र लक्षणाभ्युपगन्तुम्, कथम् 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्र लक्षणया मुखे प्रवर्तमानं चन्द्रत्वं केन निमित्तेन प्रवर्तेत; मुखत्वेन वा मुखासाधारणकान्तिविशेषेण वा, चन्द्रत्वेन वा, चन्द्रासाधारणकान्तिविशेषेण वा, मुखचन्द्रोभयानुगतकान्तिसामान्येन वा, मुखगतचन्द्रसादृश्येन वा? नाद्यः, मुखपदेन पौनरुक्त्यापत्तेः; मुखत्वस्य शक्यासम्बन्धित्वेन तेन निमित्तेन लक्षणायोगाच्च। अत एव न द्वितीयः, नापि तृतीयचतुर्थौ, मुखावृत्तिधर्मयोस्तत्र प्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्। न पञ्चमः, 'कान्तिमान्मुखचन्द्रः' इत्यत्र कान्तिमत्पदेन पौनरुक्त्यापत्तेः। नापि षष्ठः, सादृश्यस्य शब्दप्रतिपाद्यत्वेनाव्यङ्ग्यत्वेन रूपकस्योपमापृथग्भावानुपपत्तेः। अभेदप्रधानं रूपकमिति सिद्धान्तविरोधाच्च। तस्माद्रूपके स्वस्वपदाभिहितयोर्विषयविषयिणोरभेदप्रतिपत्तिः संसर्गमर्यादयेत्येव वक्तव्यमिति लक्षणस्यासम्भवोऽपि दोषः। यदा तु 'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते', 'द्वौ चन्द्रौ जगतो राजन् स दिवि, त्वं महीतले' इत्यादौ विषयस्य प्रसिद्धचन्द्राभेदप्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति कथञ्चिदिन्द्रादिपदस्य विषये लक्षणा कल्प्यते; तथापि 'कान्तिमान् मुखचन्द्रः' इत्यादौ काठकाध्यापकादिवत् संसर्गमर्यादयैवाभेदप्रतिपत्तिसम्भवेनातिक्लिष्टलक्षणाश्रयणायोगात्तत्राव्याप्तिर्वज्रलेपायेत।

(भारती)

वस्तुतः से दीक्षित जी यहाँ स्वमत की स्थापना करते हुए लिखते हैं कि अतिशयोक्ति में ही लक्षणा स्वीकृत है, न कि रूपक में। अतिशयोक्ति में उपमेयवाचक मुखादि पद के प्रयोग के अभाव से चन्द्र पद कथन से ही मुख की प्रतीति करने के कारण वहाँ लक्षणा आवश्यक है। रूपक में तो स्ववाच्य और वाचक पद से अभिहित उपमेय और उपमान के नामार्थ के साथ अभेदान्वय है और वह अभेदान्वयसंसर्गमर्यादा से ही अभेदप्रतिपत्ति से लक्षणा का यहाँ अभ्युपगमन अशक्य है। क्योंकि, यहाँ गौणी लक्षणा है। मुख में प्रवर्त्तमान चन्द्रपद किस निमित्त से प्रवर्त्तित है? उत्तर में कहते हैं—इस विचार पर यहाँ छः पक्ष हैं—(१) मुखत्व से, (२) उस असाधारण में कान्ति विशेष से, (३) चन्द्रत्व से, (४) उस असाधारण कान्तिविशेष से, (५) दोनों के अनुगत कान्ति साम्य से, अथवा (६) मुखगत चन्द्रमा के सादृश्य से।

यहां प्रथम पक्ष नहीं है क्यों कि—यदि मुखत्व से चन्द्रादि का मुखादि में प्रवृत्ति स्वीकार करने में मुख पद में ही पौनरुक्त्यापत्ति होती है मुखत्व का चन्द्रादि के असम्बन्ध से उसके द्वारा मुखत्व के निमित्त से लक्षणा का अयोग है। मुख के असाधारण कान्तिविशेष का भी चन्द्र के असम्बन्धित्व से लक्षणा के अभाव से दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है।

तृतीय, चतुर्थ पक्ष भी नहीं कह सकते । क्योंकि चन्द्रत्वादि का मुख में असंभव रहने के कारण उन दोनों के प्रवृत्ति-निवृतत्व का भी अयोग है। शक्य रहने पर शक्यवृत्तित्व में अपने से पृथक् अनधिकरणत्व का प्रवृत्ति निवृतत्व है । अतः यहाँ चन्द्रत्वादि का मुखादि में तत्त्वाभाव से उस कथन की भी अयोग्यता है। इसी प्रकार 'उभयानुगत' पंचम पक्ष भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उभयानुगतत्व से ही कान्तिमत्वादि के लाभ से 'कान्तिमान् मुखचन्द्रः' इत्यादि में पौन-रुक्त्यापत्ति है। इसी प्रकार 'मुखगतेत्यादि' छठे पक्ष की भी संभावना नहीं है। क्योंकि 'सादृश्य' का उस शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य होने के कारण व्यंग्यत्व के अभाव से रूपक का उपमा से पृथग्-भाव की अनुपपत्ति होगी। यदि इसे ही स्वीकृत करते हैं तो अभेदप्रधान रूपक और भेद-प्रधान उपमा इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का विरोध होता है। अतः स्ववाचक पद से कथित उपमान और उपमेय की अभेदप्रतिपत्ति का संसर्गमर्यादा से ही लाभ होने के कारण वहाँ लक्षणा तो कह ही नहीं सकते और उसे स्वीकार करने पर पूर्वकथित दोषों से वैसे लक्षण की असंभावना भी है। समाधानान्तर की आशंका से पुनः दोष देते हैं, जब—**'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशु-रुज्जृम्भते'** इस उदाहरण में तथा **'द्वौ चन्द्रौ जगतः राजन् स दिवि, त्वं महीतले'** इत्यादि में मुख का प्रसिद्ध चन्द्रमा से अभेदप्रतिपत्ति की संभावना नहीं है। तो अन्यथा अनुपपत्ति से चन्द्रादि पद का मुखादि में आवश्यक लक्षणा की यदि कल्पना करें भी तो काठकाध्यापकादि पद में जैसे काठक से अभिन्न अध्यापक की अभेदप्रतिपत्ति-संसर्गमर्यादा से होती है, उसी प्रकार कान्तिमान् मुखचन्द्रः' इत्यादि में भी संसर्गमर्यादा से ही अभेद की प्रतिपत्ति है। फिर इसकी संभावना से बाध की अपेक्षा से क्लिष्ट लक्षणा की अनुपस्थिति में अव्याप्तिदोष निश्चित रूप से यहाँ होगा ही।

(सुधा)

रूपके लक्षणा नास्त्येवेति स्वमतं व्यवस्थापयति—वस्तुत इति। अतिशयोक्तावेव लक्षणाङ्गीकारः, न तु रूपके इति स्वमतव्यवस्था। अतिशयोक्तावुपमेयवाचकमुखादिपदस्य प्रयोगाभावेन चन्द्रपदकथनेनैव मुखप्रतीतेः कर्तव्यतया तत्र लक्षणा आवश्यकी, रूपके तु स्ववाच्यवाचकपदाभ्यामभिहितयोरुपमेयोपमानयोर्नामार्थयोरभेदान्वय इति संसर्ग-मर्यादया एवाभेदप्रतिपत्तिसम्भवेन तत्र लक्षणाया अभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्। लक्षणायास्तत्रा-सम्भवं व्यवस्थापयति—कथमिति। 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्र लक्षणाया गौण्या इत्यर्थः। मुखे प्रवर्तमानं चन्द्रपदं केन निमित्तेन प्रवर्तेत ? अत्र षट् पक्षाः—(१) मुखत्वेन वा, (२) तदसाधारणे कान्तिविशेषेण वा, (३) चन्द्रत्वेन वा, (४) तदसाधारणकान्ति-विशेषेण वा, (५) उभयानुगतकान्तिसाम्येन वा, (६) मुखगतचन्द्रसादृश्येन वा।

यदि मुखत्वेन चन्द्रादेर्मुखादौ प्रवृत्त्यङ्गीकारे मुखपदे पौनरुक्त्यापत्तेः, मुखत्वस्य चन्द्रा-देरसम्बन्धितया तेन मुखत्वेन निमित्तेन लक्षणाया अयोगात्। मुखासाधारणकान्तिविशेष-स्यापि चन्द्रासम्बन्धित्वेन लक्षणाया अभावाद् द्वितीयोऽपि पक्षो नास्तीत्याशयः। तृतीय-चतुर्थयोर्दूषणमाह—नापीति। चन्द्रत्वादेर्मुखेऽसम्भवान्मुखे तयोः प्रवृत्तिनिमित्तत्वस्याप्य-योगात्, शक्यत्वे सति शक्यवृत्तित्वे च सति स्वभिन्नशक्यानधिकरणत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्त-त्वात्। यथा गोपदप्रवृत्तिनिमित्ते गोत्वादौ गोपदशक्यत्वं गोपदशक्यगवादिवृत्तित्वं गोत्वभिन्नं यद्गोपदशक्यम्, तदनधिकरणत्वस्य सत्वाल्लक्षणसमन्वयः। चन्द्रत्वादेर्मुखादौ तत्त्वाभावेन तत्कथनस्यायोग्यत्वात्। उभयानुगतेत्यादिपञ्चमोऽपि न, उभयानुगतत्वादेव कान्तिमत्वादेर्लाभसत्वेन कान्तिमान् मुखचन्द्र इत्यादौ पौनरुक्त्यापत्तेः। मुखगतेत्यादि-

षष्ठोऽपि न सम्भवति, सादृश्यस्य तच्छब्दप्रतिपाद्यतया व्यङ्ग्यत्वाभावेन रूपकस्योपमातः पृथग्भावानुपपत्तेः। इष्टापत्तौ त्वभेदप्रधानं रूपकं भेदप्रधानमुपमा इति सिद्धान्तविरोधाच्च। उपसंहरति—तस्मादिति। स्ववाचकपदकथितयोरुपमानोपमेययोरभेदप्रतिपत्तेः संसर्गमर्यादयैव लाभेन तत्र लक्षणा वक्तुमशक्यैव, तदङ्गीकारे पूर्वोक्तदूषणादिना तादृशलक्षणस्यासम्भवाच्च। समाधानान्तरमाशङ्क्य दूषयति—यदा त्विति। 'किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किम्, वृद्धिं वा वृषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्। वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते, दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥' इत्यत्र, 'द्वौ चन्द्रौ जगतो राजन् स दिवि त्वं महीतले' इत्यादौ च मुखस्य प्रसिद्धचन्द्रादभेदस्य प्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तदन्यथानुपपत्त्या चन्द्रादिपदस्य मुखादौ लक्षणा आवश्यकीति कल्प्यते चेत्? तथापि काठकाध्यापकादिपदे यथा काठकाभिन्नोऽध्यापक इति संसर्गमर्यादयाऽभेदप्रतिपत्तिः, तथा 'कान्तिमान् मुखचन्द्रः' इत्यादावपि संसर्गमर्यादयैवाभेदप्रतिपत्तिसम्भवेन बाधाद्यपेक्षत्वेनातिक्लिष्टाया लक्षणाया असत्त्वेनाव्याप्त्यापत्तेः।

(चित्र०)

अपि च—

सेतुः शैलैस्त्वया बद्धः पूर्वं जेतुं दशाननम्।
कं जेतुमद्य बध्नासि यशश्चन्द्रोपलैः प्रभो॥
चिरायत्कौतुकाविष्टं कल्पवृक्षमुदीक्षितुम्।
तन्मे सफलमद्यासीन्नेत्र त्वय्यवलोकिते॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यरूपके चाव्याप्तिः। अत्र ह्याद्ये वर्ण्यं प्रभुं प्रति रावणवधाय त्वया सेतुर्बद्ध इति निर्दिश्यमानेन वस्तुना त्वमेव राम इति रूपकं व्यज्यते, न च तत्र विषये गौणं रामपदमस्ति। द्वितीये त्वामवलोकयता मम नेत्रेण चिरकाङ्क्षितं कल्पमृक्षावलोकनं लब्धमिति प्रतीयमानेन विशेषालङ्कारेण त्वमेव कल्पवृक्ष इति रूपकं व्यज्यते तत्र कल्पवृक्षपदं प्रसिद्धकल्पवृक्षपरमेव, न विषयलक्षकमिति स्पष्टम्।

(भारती)

सरस्वतीकण्ठाभरण के लक्षण में और दोष बताते हैं—

'पहले दशानन रावण को जीतने के लिए हे राम! आपने पहाड़ों से सेतु का निर्माण किया था। आज पुनः यशचन्द्र रूपी पत्थर से किसे जीतने के लिए सेतु बना रहे हैं।'

इसी प्रकार—

'जिस कल्पवृक्ष को देखने के लिए मेरी आँखें बहुत दिनों से कौतुहलाविष्ट थीं—वही आखें आज तुम्हें देखकर सफल हुई।'

व्यंग्य रूपक के इन दोनों उदाहरणों में अव्याप्ति होगी। प्रथम श्लोक में वर्णित राजा के प्रति रावण वध के लिए सेतुबन्धन रूप निर्दिश्यमान वस्तु से तुम्हीं राम हो—इस व्यक्त रूपक में गौण वृत्ति से आश्रयीभूत राम पद के अभाव से अव्याप्ति दोष स्पष्ट है। इसी प्रकार दूसरे

उदाहरण में भी—तुम्हें देखनेवाली आँखों से बहुत दिनों से अभिलषित कल्पवृक्ष के अवलोकन रूपी लाभ के वर्णन से प्रतीयमान विशेष अलंकार से 'तुम्हीं कल्पवृक्ष हो' इस प्रकार के रूपक में व्यंजनागम्य होने के कारण कल्पवृक्षपद का प्रसिद्ध कल्पवृक्षपरत्व से उपमेयलक्षकत्वाभाव से अव्याप्ति स्पष्ट है।

(सुधा)

कण्ठाभरणोक्तलक्षणे दूषणान्तरमाह-अपि चेति। तल्लक्षणे व्यङ्ग्ये रूपकेऽव्याप्तिरित्ययमन्वयशेषः। व्यङ्ग्यरूपकस्योदाहरणद्वयं दर्शयति-सेतुरिति। पूर्वं दशाननं रावणं जेतुं त्वया रामेण शैलैः पर्वतैः सेतुर्बद्ध आसीत्, अद्य यशश्चन्द्रप्रस्तरैः कं जेतुं बध्नासीति प्रथमान्वयः। चिरादिति। यत् कल्पवृक्षं द्रष्टुं मे नेत्रं चिरात् कौतूहलाविष्टं बभूव, तन्नेत्रं त्वयि अवलोकिते सफलमासीदिति परस्यान्वयः। तत्राव्याप्तिमाह—वर्णनीयं राजानं प्रति रावणवधाय सेतुबन्धनरूपनिर्दिश्यमानवस्तुना त्वमेव राम इति रूपकव्यक्तौ गौणवृत्त्याश्रयीभूतरामपदाभावेनाव्याप्तेः स्फुटत्वात्। एवं द्वितीयेऽपि—त्वदवलोकनवता नेत्रेण चिरकाङ्क्षितकल्पवृक्षावलोकनलाभवर्णनात् प्रतीयमानविशेषालङ्कारेण 'त्वमेव कल्पवृक्षः' इति रूपके व्यञ्जनागम्ये, कल्पवृक्षपदस्य प्रसिद्धकल्पवृक्षपरत्वादुपमेयलक्षकत्वाभावादव्याप्तेश्च।

(चित्र०)

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता॥

इति शुद्धसारोपलक्षणामूलकरूपके चाव्याप्तिः। तत्र ह्यानन्दहेतुत्वादानन्दत्वरूपणं न त्वौपम्यात्।

(भारती)

'कामिनी के कपोल की तरह पाण्डु वर्ण वाले कुमुदिनी-नाथ तथा नेत्रों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा से पूरब की दिशा अलंकृत है।'

रूपक के इस उदाहरण में अव्याप्ति है। यहाँ नेत्रों को आनंद देनेवाले तथा चन्द्रमा के बीच हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध से शुद्धा सारोपा लक्षणा की उपस्थिति से गौणी सारोपा के अभाव से सरस्वतीकंठाभरण के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दुर्निवार है। क्योंकि आनन्दहेतुत्व अर्थ ही विशेषण है न कि औपम्यार्थ, इस उक्ति से हेतुहेतुमद्भाव की ही प्रतीति प्रतिपादित है।

(सुधा)

तयोर्मतान्तरे लघयत्वमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह—तत इति। कामिनीगण्ड इव पाण्डुः, तेन कुमुदनाथेन नेत्रानन्देन चन्द्रेण पूर्वा दिगलङ्कृता इत्यन्वयः। अत्र रूपकेऽव्याप्तिः। अत्र नेत्रानन्दचन्द्रयोर्हेतुहेतुमद्भावसम्बन्धेन शुद्धसारोपलक्षणाया विद्यमानतया गौणसारोपाया अभावात्, कण्ठाभरणोक्तलक्षणेऽव्याप्तेर्दुष्परिहरत्वात्, आनन्दहेतुत्वार्थमेवविशेषणम्, न त्वौपम्यार्थमित्युक्त्या हेतुहेतुमद्भावस्यैव प्रतीतेः स्फुटतया प्रतिपादनादिति दिक्।

(चित्र०)

यत्तु 'आयुर्घृतम्' इत्यादौ विच्छित्तिविशेषादर्शनाच्छुद्धसारोपलक्षणास्थले

न कश्चिदलङ्कार इति। तदयुक्तम्; 'गौर्वाहीकः' इत्यादौ विच्छित्तिविशेषादर्शनेन गौणसारोपलक्षणास्थलेऽप्यलङ्कारत्वाभावप्रसङ्गात्। कचिद्वैचित्र्यादर्शनेऽप्यन्यत्र वैचित्र्यवति स्थलेऽलङ्कारत्वमिहापि वक्तुं युक्तम्। 'नेत्रानन्देन चन्द्रेण' इति।

आयुर्दानमहोत्सवस्य विनतक्षोणीभृतां मूर्तिमान्
विश्वासो नयनोत्सवो मृगदृशां कीर्तेः प्रकाशः परः।
आनन्दः कलिताकृतिः सुमनसां बीरश्रियो जीवितं
धर्मस्यैष निकेतनं विजयते वीरः कलिङ्गेश्वरः॥

इत्यादौ शुद्धसारोपलक्षणास्थलेऽपि वैचित्र्यदशनात्। यदि तु हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुरिति मतान्तराश्रयेण तत्र हेत्वलङ्कारो न रूपकमित्यभ्युपगम्येत, तदा 'आरोपविषयस्य स्यात्' इति पूर्वोदाहृतलक्षणस्य तत्राव्याप्तिः। तत एव 'उपमैव तिरोभूतभेदारूपकमुच्यते' 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इत्यादिलक्षणेष्वप्यतिव्याप्त्यादिदोषा यथासम्भवमुन्नेयाः।

अत्र वदामः—

(भारती)

यहाँ 'यत्तु' से मतान्तर का प्रतिपादन करते हैं—शुद्धा सारोपा लक्षणा के 'आयुर्घृतम्' इस उदाहरण में किसी भी अलंकार की संभावना नहीं है। क्योंकि यहाँ किसी भी प्रकार के चमत्कार-विशेष का अभाव है। किसी वाक्य में चमत्कारविशेष के रहने पर ही अलंकार होता है अन्यथा नहीं—ऐसा कुछ लोगों का मत है। किन्तु, यह मत युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि गौणी सारोपा लक्षणा के 'गौर्वाहीकः' इस उदाहरण में चमत्कारविशेष के अभाव से अलंकार कथन की सर्वथा अयोग्यता है, वहां भी अलंकाराभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि 'गौर्वाहीकः' इत्यादि में अलंकाराभाव रहने पर भी चमत्कारविशेष मान लेते हैं तो 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि उदाहरण में 'अलंकार है ही' इसे भी स्वीकृत करते हैं तो 'आयुर्घृतं' इत्यादि में उसका अभाव रहने पर भी 'नेत्रानन्देन चन्द्रेण' इत्यादि में चमत्कारविशेष के दर्शन से अलंकार की भी स्वीकृति रहने पर दोषाभाव है। वहाँ है, वहाँ नहीं है, इस प्रकार की स्वीकृति का विनिगमक के अभाव से शपथ मात्र का ही निर्णय संभव है।

'नम्र राजाओं को जीवित दान देने रूप महान् उत्सव का शरीरधारी विश्वास, मृगनयनियों को नेत्रानन्दकीर्ति का श्रेष्ठ झलक, सुजनों (सहृदयों) के लिए मूर्तिमान आनन्द, वीर लक्ष्मी की जान, यह धर्म का गृह ऐसा कलिंग देश का राजा सर्वोत्कृष्टरूप से अवस्थित है।'

इसी प्रकार 'आयुर्दानमहोत्सवस्य' इत्यादि शुद्धा सारोपा लक्षणा के स्थल में चमत्कारविशेष के दर्शन से रूपक में भी अव्याप्ति होगी। यदि 'हेतुहेतुमतोरैक्यवर्णनं हेतुरुच्यते' इस मतान्तर के आश्रय के पूर्वोदाहृत स्थल में हेतु अलंकार ही है—न कि रूपक। इस तरह की स्वीकृति में तो 'आरोपविषयस्य स्यात्' इस विशेषण से पूर्वलक्षणद्वारा हेत्वलंकार में भी अतिव्याप्ति जानना चाहिए।

इसी प्रकार 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के पूर्वोक्त लक्षण में दोष दिखाकर अन्य लक्षणों का भी 'तत एवेति' से खण्डन करते हैं। 'तिरोभूतभेदा उपमेव रूपकम्' यह लक्षण भी अशुद्ध ही है।

क्योंकि इस लक्षण से अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति है। क्योंकि भेदांशविनिर्मुक्तसादृश्य की वहां सत्ता है।

इसी प्रकार काव्यप्रकाशकार के 'य उपमानोपमेययोरभेदः, तद्रूपकम्' इस लक्षण से भी अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति है और शुद्धा सारोपा लक्षणामूला हेतु अलंकार में भी अतिव्याप्ति है। इसी प्रकार अन्य दोष भी दर्शनीय है। फिर दूसरों के लक्षणों में तो दोषान्वेषण व्यर्थ ही है। इस प्रकार प्राचीनों के लक्षणों का खण्डन कर 'अत्र वादामः' से अपना लक्षण कहते हैं—

(सुधा)

मतान्तरं प्रतिपादयति—यत्तु इति। 'आयुर्घृतम्' इत्यादौ शुद्धसारोपलक्षणोदाहरणे कोऽप्यलङ्कारो न सम्भवति, चमत्कारविशेषस्य तत्राभावात्। चमत्कारविशेषस्यालङ्कार-प्रयोजकत्वेन तदभावेऽलङ्कारस्य वक्तुमयोग्यत्वादिति केचिद्वदन्ति। तन्मतं निराकरोति—तदयुक्तमिति। गौणसारोपलक्षणोदाहरणे 'गौर्वाहीकः' इत्यादावपि चमत्कारविशेषाभावेनालङ्कारकथनस्य सर्वथाऽयोग्यत्वात्, तत्राप्यलङ्काराभावप्रसङ्गात्। यदि तु 'गौर्वाहीकः' इत्यादावलङ्काराभावेऽपि चमत्कारविशेषवति 'मुखं चन्द्रः' इत्यादितदुदाहरणेऽलङ्कारोऽस्त्येवेत्यङ्गीकरोषि, तदा 'आयुर्घृतम्' इत्यादौ तदभावेऽपि 'नेत्रानन्देन चन्द्रेण' इत्यादौ चमत्कारविशेषदर्शनेनालङ्कारस्यापि स्वीकारे दोषाभावात्। तत्र सत्त्वं तत्रासत्त्वमित्यङ्गीकारस्य विनिगमकाभावेन शपथमात्रनिर्णयाच्च। शुद्धसारोपलक्षणास्थले उदाहरणान्तरमाह—आयुर्दानमहोत्सवस्येति। विनता नम्राश्च, ते क्षोणीभृतो राजानश्च, तेषामायुर्दानमहोत्सवस्य मूर्तिमान् विश्वासः, मृगदृशां नेत्रोत्सवः, कीर्तेः परः श्रेष्ठः प्रकाशः, सुमनसामङ्गीकृतवपुरानन्दः, वीरलक्ष्म्या जीवितं धर्मस्यैकं स्थानम्, तादृशो वीरः कलिङ्गाधिपतिः विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्ततामित्यन्वयः। इति शुद्धसारोपलक्षणास्थले चमत्कारविशेषदर्शनाद् रूपकेऽव्याप्तिः स्यादित्यर्थः। मतान्तरमाशङ्क्य दूषणं लक्षणान्तरे प्रतिपादयति—यदीति। 'हेतुहेतुमतोरैक्यवर्णनं हेतुरुच्यते' इति मतान्तरस्याश्रयणेन पूर्वत्र हेतुरलंकार एव, न तु रूपकमित्यङ्गीकारे तु 'आरोपविषयस्य स्यात्' इत्यादिपूर्वलक्षणस्य हेत्वलंकारेऽतिव्याप्तिरिति बोध्यम्। एवं सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तं लक्षणं दूषयित्वा लक्षणान्तरं खण्डयति—तत एवेति। यत एतल्लक्षणं दूषणदूषितम्, तत एवेत्यर्थः। 'तिरोभूतभेदा उपमैव रूपकम्' इत्यपि लक्षणमशुद्धमेव, अतिशयोक्तावतिव्याप्तेः, भेदांशविनिर्मुक्तसादृश्यस्य तत्र सत्त्वात्। प्रकाशोक्तमपि लक्षणं खण्डयति—'य उपमानोपमेययोरभेदः, तद्रूपकम्' इत्यप्यतिशयोक्तावतिव्याप्तम्, शुद्धसारोपलक्षणामूले हेत्वलंकारे चातिव्याप्तमित्याद्यन्यदपि दूषणमूहनीयमित्यलं परकीयलक्षणेषु दूषणगवेषणेन। एवं प्राचीनोक्तलक्षणानि दूषयित्वा ग्रन्थकारः स्वकीयं लक्षणमाह—अत्रोच्यते इति। स्वयं लक्षणं मयोच्यत इत्यर्थः।

(चित्र०)

बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥

बिम्बाविशिष्ट इति विशेषणात् 'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इति निदर्शनायां नातिव्याप्तिः। तत्र हि चन्द्रो यथा स्वतः शुभ्रत्वादनासञ्जनीयधावल्यः, तथा नखाः स्वतोऽरुणत्वादनासञ्जनीयारुण्या इति सादृश्येन नखानां चन्द्रस्य च

बिम्बप्रतिबिम्बभावः। अलक्तचन्दनयोरन्यत्र स्ववर्णसञ्जकत्वेन। ततश्च तत्र बिम्बभावान्नखालक्तकविशिष्टे एव रञ्जने तत्प्रतिबिम्बभूतचन्द्रचन्दनविशिष्ट-पाण्डुरीकरणमुपरञ्जकम्। एवमन्यत्रापि 'अरण्यरुदितं कृतम्' इत्यादिताद्रूप्या-रोपवन्निदर्शनोदाहरणे सर्वत्र बिम्बभावापन्नवस्तुविशिष्ट एवोपमेये तत्प्रति-बिम्बविशिष्टमुपमानमुपरञ्जकमिति न काप्यतिव्याप्तिः। रूपके तु न क्वचिदपि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टतया विषयविषयिणोरुपादानम्। सावयव-रूपकेऽपि विशेष्यरूपणात् पृथगेवावयवेषु रूपणं न त्ववयवविशिष्टरूपेण विशेष्ये। 'अङ्घ्रिदण्डो हरेरूर्ध्वम्' इत्यत्राप्यङ्घ्रिदण्डनालदण्डयोर्न बिम्बप्रति-बिम्बविशिष्टता, तयोः प्रतीयमानेन श्यामलत्वविधातृविष्टरकमलश्लिष्टत्वाद्यनुगा-मिधर्मेणैवोपमानोपमेयभावात्। किन्तु विधातृविष्टरकमलश्लिष्टत्वरूपसाधारण धर्मवत्तासम्पादनार्थं विशेषणविशिष्टतामात्रमुपमेयस्य।

(भारती)

'जब विषयी अर्थात् उपमान, बिम्ब अर्थात् जिसके प्रतिबिम्ब रूप से उपमान का विशेषण आवे ऐसे उपमेय के विशेषण से रहित विषयिबोधक से भिन्न शब्द के द्वारा बोधित और न छिपाए गए विषय अर्थात् उपमेय का उपरंजक बनता है, तब रूपक होता है।'

निष्कर्ष—जहाँ बिम्ब और प्रतिबिम्बभाव से रहित (बिम्बाविशिष्ट) होकर, शब्दतः निर्दिष्ट एवं अनिह्नुत अर्थात् जिसका—जिसका निषेध नहीं किया गया हो, ऐसे विषय (उपमेय) को यदि विषयी (उपमान) अपने रंग में रंग दे तो वहाँ रूपकालंकार होगा।

उक्त लक्षण में 'बिम्बाविशिष्टे' का प्रयोग 'त्वत्पादनखरत्नां' इत्यादि पूर्व व्याख्यात निदर्शना के उदाहरण में अतिव्याप्तिनिवारण के लिए किया गया है। यहाँ जैसे चन्द्रमा में स्वतः शुक्लता रहने पर भी अनासञ्जनीय धवलता है, उसी प्रकार नखों में भी स्वतः लालिमा रहने पर भी अनासञ्जनीय रक्तिमा है। अतः दोनों में सादृश्य रहने के कारण बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अलक्तक और चन्दन का स्ववर्णाञ्जकत्व से ऐसा है। उसके बाद बिम्बभावापन्न नख और महावर विशिष्ट ही रञ्जना में उसके प्रतिबिम्बभूत चन्द्रमा और चन्दन विशिष्ट पाण्डुरीकरण की उपरञ्जकता है।

इसी प्रकार दूसरी जगह भी तद्विशिष्ट निदर्शना में अतिव्याप्ति बताते हैं, 'अरण्यरुदितम्' इत्यादि में भी तद्रूपता का आरोप करते हैं। फलतः निदर्शना के उदाहरण में सभी जगह बिम्ब-भावापन्न वस्तु विशिष्ट ही उपमेय में, उसके प्रतिबिम्बविशिष्ट उपमान की उपरंजकता से कहीं अतिव्याप्ति दोष नहीं है। इस अतिव्याप्ति के वारक 'बिम्बाविशिष्टे' पदग्रहण से सारे दोषों का निवारण हो जाता है। रूपक अलंकार में तो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म की विशिष्टता से उपमेय और उपमान के कहीं भी ग्रहण का अभाव है। 'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला' इत्यादि सावयव रूपक के वक्ष्यमाण उदाहरण में भी विशेष्य के निरूपण से अलग ही उसके अवयवों में निरूपण है, न कि अवयवविशिष्ट रूप से विशेष्य में, जिसके द्वारा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न विशिष्टता होती।

इसी प्रकार 'अंघ्रिदण्डो हरेरूर्ध्वम्' यहाँ भी अंघ्रिदण्ड और नालदण्ड की वह विशिष्टता नहीं है। प्रतीयमान के द्वारा श्यामलता के विधायक विष्टर और कमल से श्लिष्टत्वादिरूप जो अनुगामी

धर्म है, उसी के द्वारा अंघ्रिदण्ड और नालदण्ड की उपमान और उपमेयता है। विधायक विष्टर और कमल शिष्टत्व रूप साधारण धर्मवत्ता के सम्पादन के लिए ही विशेषण विशिष्टता मात्र का ही उपमेय में प्रतिपादन है। इसी प्रकार सभी जगह रूपकमात्र में बिम्बप्रतिबिम्बभाव की विशिष्टता की संभावना नहीं है, यही दीक्षित जी के कहने का तात्पर्य है।

(सुधा)

विषयी = उपमानम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपविशेषरहितेऽपनिह्नुते = तिरोधानरहिते निर्देशार्हे उपमेये उपरञ्जकताम् = आहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतां यदेति = तां प्राप्नोति, तदा रूपकमित्यन्वयः। विशेषणानां साफल्यं विचारयितुमारभते—बिम्बाविशिष्ट इति। 'त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्। इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥' इति। बिम्बप्रतिबिम्बभावविशिष्टनिदर्शनालंकारेऽतिव्याप्तिवारणाय बिम्बाविशिष्ट इति पदम्। तत्र हि स्वत एव शुक्लत्वादनासञ्जनीयधावल्यं यथा चन्द्रे, तथा स्वत आरुण्यादनासञ्जनीयारुण्यं नखेषु इति सादृश्यात्तयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावः। अलक्तकचन्दनयोरन्यत्र स्ववर्णासञ्जकत्वेन सः। ततश्च बिम्बभावापन्ननखालक्तकविशिष्ट एव रञ्जने तत्प्रतिबिम्बभूतचन्द्रचन्दनविशिष्टपाण्डुरीकरणस्योपरञ्जकत्वात्। अन्यत्रापि तद्विशिष्टनिदर्शनायामतिव्याप्तिमाह—एवमिति।

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं,
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतो
धृतोऽन्धमुखदर्पणे यदबुधो जनः सेवितः॥

इत्यत्र ताद्रूप्यारोपवति निदर्शनोदाहरणे सर्वत्र बिम्बभावापन्नवस्तुविशिष्ट एवोपमेये तत्प्रतिबिम्बविशिष्टोपमानस्योपरञ्जकत्वेनातिव्याप्तौ तद्वारकेण तेन पदेनैव तन्निरासः। रूपकालंकारे तु बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टतयोपमेयोपमानयोः क्वचिदपि ग्रहणाभावात्। 'ज्योत्स्ना भस्मच्छुरणधवला' इत्यादिवक्ष्यमाणसावयवरूपकेऽपि विशेष्यरूपणात् पृथगेव तदवयवेषु रूपणम्, नत्ववयवविशिष्टरूपेण विशेष्ये, येन बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नविशिष्टता स्यात्। 'अङ्घ्रिदण्डो हरेरूर्ध्वम्' इत्यत्रापि अङ्घ्रिदण्डनालदण्डयोर्न तद्विशिष्टता। प्रतीयमानेन; श्यामलत्वविधातृविष्टरकमलश्लिष्टत्वादिरूपो योऽनुगामिधर्मः; तेनैवाङ्घ्रिदण्डनालदण्डयोरुपमानोपमेयतासत्त्वात्। विधातृविष्टरकमलश्लिष्टत्वरूपसाधारणधर्मवत्तासम्पादनायैव विशेषणविशिष्टतामात्रस्यैवोपमेये प्रतिपादनाच्च। तथा च सर्वत्र रूपकमात्रे बिम्बप्रतिबिम्बभाववैशिष्ट्यं न सम्भवतीति ग्रन्थकाराभिप्रायः।

(चित्र०)

निर्दिष्ट इति विशेषणान्न निगीर्णविषयायामतिशयोक्त्यामतिव्याप्तिः। व्यङ्ग्यरूपकोदाहरणेषु विषयिवाचकाप्रयोगसम्भवेऽपि विषयनिर्देशः सार्वत्रिक इति न तत्राव्याप्तिः। 'नेत्रानन्देन' इत्यादौ हेत्वलङ्कार इति मते विषय इत्यनेनोपमेय इत्येतदर्थकेन तद्व्यावृत्तिः। तत्रापि रूपकमित्येकावलीकारादिमते विषयपदं धर्मिमात्रपरं स्पष्टार्थम्। अनिह्नुते निषेधास्पृष्ट इति विशेषणादपह्नुतौ नातिव्याप्तिः।

(भारती)

लक्षण में 'निर्दिष्ट' इस विशेषण के प्रयोग से **'नीलोत्पलद्वन्द्वान्निस्सरन्ति शिताः शरा,** इस निगीर्ण विषयक अतिशयोक्ति का व्यवच्छेद या पार्थक्य किया गया है। (रूपक में विषय का स्वशब्द से निर्देश आवश्यक है, अन्यथा वहाँ अतिशयोक्ति हो जायगी।)

व्यङ्ग्य रूपक के उदाहरणों में उपमानवाचक प्रयोग के अभाव में भी उपमेय निर्देश की सभी जगह उपस्थिति रहने के कारण अव्याप्ति का अभाव है, । 'विषये' इसका 'उपमेय में' यही अर्थ है। इससे 'नेत्रानंदेन' इत्यादि में हेतु अलंकार कहनेवालों के मत में 'हेतु में' अतिव्याप्ति का निराकरण है। एकावलीकार ने यहाँ भी रूपक अलंकार ही कहा है। उनके मत से विषयपद धर्मिमात्रपरक ही है—यह तो स्पष्ट ही है। 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूप अपह्नुति अलंकार में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में 'अपह्नुते' इस विशेषण का समावेश किया गया है। फलतः इस विशेषण का सन्निवेश कर यह निर्दिष्ट किया गया है कि यहाँ विषम का निषेध नहीं होता है।

(सुधा)

विशेषणान्तरप्रयोजनं विचारयितुमारभते—निर्दिष्ट इति। 'नीलोत्पलदलान्निस्सरन्ति शिताः शराः' इति निगीर्णविषयातिशयोक्तावतिव्याप्तिवारणाय तद्विशेषणमिति भावः। व्यङ्ग्यरूपकोदाहरणेषूपमानवाचकस्य प्रयोगाभावेऽप्युपमेयनिर्देशस्य सर्वत्र सत्त्वेनाव्याप्ते-रभावाच्च। 'विषये' इत्यस्योपमेये इति तदर्थः। तेन 'नेत्रानन्देन' 'माहेन्द्री दिगलङ्कृता' इत्यादौ हेतोरलङ्कारतेतिवादिनां मते हेतावतिव्याप्तिनिरासः। एकावलीकारास्तु—तत्रापि रूपकमेवेच्छन्ति। तत्र विषयपदं धर्मिमात्रपरमेवेति स्पष्टार्थं बोध्यम्। 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यपह्नुतावतिव्याप्तिवारणाय—अनिह्नुतेति। निषेधास्पृष्ट इत्यर्थः।

(चित्र०)

उपरञ्जकतामाहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्यनेन ससंन्देहोत्प्रेक्षासमासोक्तिपरिणामभ्रान्तिमत्स्वतिव्याप्तिनिरासः, ससन्देहोत्प्रेक्षयोर्निश्चयस्यैवाभावात्। समासोक्तौ परिणामे च तस्य ताद्रूप्यागोचरत्वात्। समासोक्तौ व्यवहारमात्रसमारोपात्। परिणामे आरोप्यमाणस्यैव विषयताद्रूप्यगोचरत्वात्। भ्रान्तिमति सतः कल्पितस्य वा प्रवृत्त्यादिपर्यन्तस्य स्वारसिकस्यैव निबन्धने तस्यानाहार्यत्वात्।

अव्यङ्ग्यविशेषणाच्चैतदेवालङ्कारभूतस्य रूपकस्य लक्षणमिति सर्वं सुस्थम्।

(भारती)

उपरंजकता विशेषण से सन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम एवं भ्रान्तिमान अलंकारों में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण होता है। संदेह और उत्प्रेक्षा के बीच निश्चय का ही अभाव है। समासोक्ति और परिणाम में ताद्रूप्य विषयत्व का अभाव है। इसमें कारण बताते हैं **'समासोक्ताविति'** अर्थात् **'अयमैन्द्री मुखं पश्य रक्तःश्चुम्बति चन्द्रमा'** इत्यादि में यहाँ व्यवहारमात्र का समारोप है। **'दृगब्जेन वीक्षते'** इत्यादि में उपमान का ही उपमेय ताद्रूप्य विषयत्व है। **'अयं प्रमत्तमधुपः स्वं मुखं वेत्ति पंकजम्'** यहाँ स्वतः और—**'जटानेयं वेणीकृतकचकलापो**

न गरलम्' इत्यादि कल्पित भ्रान्तिमान में, प्रवृत्ति आदि पर्यन्त स्वाभाविक भ्रम का ही निबन्धन से भ्रम का आहार्यत्वाभाव है अर्थात् आरोपितत्व नहीं है। इसी प्रकार अव्यंग्य विशेषण से 'अव्यंग्य विशेषणविशिष्ट ही प्रथम अलंकारभूत रूपक का लक्षण है। निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं—दीक्षित जी के लक्षण में 'उपरंजकता' पद यह संकेत करता है कि रूपक में, कवि, विषय एवं विषयी (मुख तथा चन्द्रादि) को कल्पित ताद्रूप्य का विषय बनावें। इससे संदेह, उत्प्रेक्षा समोक्ति, परिणाम एवं भ्रान्तिमान में अतिव्याप्ति नहीं होती। दीक्षित जी का उपर्युक्त लक्षण रूपक का है, न कि रूपकालंकार का। इसके साथ 'अव्यंग्य' विशेषण लगा देने पर यह रूपक अलंकार का लक्षण हो जाता है।

विमर्श—दीक्षित जी के उपर्युक्त सिद्धान्त का भी पण्डितराज जगन्नाथ ने बड़ी कड़वीभाषा में खण्डन किया है। अपने रसगंगाधर में इस प्रसंग में इन्होंने लिखा है कि 'अलंकारसर्वस्वकार के धोखे में आकर ये दीर्घश्रवा यशस्वी किंवा गदहे महाराज दीक्षित का यह कथन सर्वथा अयुक्तिकर है कि 'यह रूपक नहीं है और रूपक में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं होता।' कारण कि जिन पदों में 'इव' शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा होती है, उनमें यदि एक का दूसरे पर आरोप हो तो रूपक होता है—यह नियम है। यदि आप इस उदाहरण में रूपक नहीं मानते तो फिर इसी उदाहरण में 'इव' अथवा 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा भी न मानिए। इसी प्रकार यदि आप—'हे राजन्! आप में कोप, चन्द्रमा में आग की तरह है।'—महाकवि कल्पित विशेषणयुक्त धर्मी अर्थात् अग्नियुत चन्द्रमा के साथ कोपयुक्त राजा का सादृश्य प्रतीत होता है। इसीलिए इसे उपमा कहते हैं तो उसमें से जब आप 'इव' पद निकाल दें तब—'हे राजन्! आप में क्रोध चन्द्रमा में आग है' यहाँ रूपक भी कहिए। यहाँ आपको संकोच क्यों होता है? अतः यह सिद्ध हुआ कि रूपक में भी विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समानधर्म होता है।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि—दीक्षित जी ने रूपक में साधारण धर्म एवं विम्बप्रतिविम्बभाव को नहीं माना। इनके अनुसार जहाँ 'साधारण धर्म के विम्बप्रतिविम्बभाव के साथ आरोप होगा, वहाँ निर्दशना होगी, रूपक नहीं।' पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित जी के उपर्युक्त मत का ही खण्डन किया है। विमर्शिनीकार जयरथ के आधार पर पंडितराज ने बताया है कि निर्दशना में भी विम्बप्रतिविम्बभाव होता है। अतः दीक्षित जी का लक्षण निर्दुष्ट नहीं है।

दीक्षित जी का खण्डन कर पण्डितराज ने स्वतः रूपक अलंकार की जो परिभाषा की है, उसमें 'चमत्कारत्व' पर विशेष बल दिया है। इन्होंने सादृश्यमूलक अभेद एवं रूपक की उपस्कारकता को अपने लक्षण में स्थान देकर पूर्ववर्ती 'आचार्यों की अपेक्षा नवीनता का सन्निवेश किया है। इनके अनुसार 'मुखत्व' को आगे रखकर, शब्दद्वारा निश्चित की जाने वाली, उपमेय में उपमान की एकरूपता ही रूपक है। यदि वह रूपक शोभाजनक हो तो रूपक अलंकार होगा। इस लक्षण का अपना वैशिष्ट्य है, विचार में नवीनता न होने पर भी नवीन शब्दावली के द्वारा रूपक अलंकार के विवेचन में गति लाने की चेष्टा की गई है।

(सुधा)

विशेषणान्तरसाफल्यं विचारयति—उपरञ्जकताभित्यनेन ससन्देहोत्प्रेक्षासमासोक्ति-परिणामभ्रान्तिमत्स्वतिव्याप्तिनिरासः। कथमिति चेत्? तत्राह—ससन्देहोत्प्रेक्षयोरिति। एतयोर्मध्ये निश्चयस्यैवाभावादित्यर्थः। समासोक्तौ परिणामे च ताद्रूप्यविषयत्वाभाव इत्यत्र हेतुमाह—समासोक्ताविति। 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' इत्यत्र

व्यवहारमात्रस्य समारोपात्। 'दृगब्जेन वीक्षते' इत्यादावुपमानस्यैवोपमेयताद्रूप्यविषयत्वात्। 'अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेत्ति पङ्कजम्' इत्यत्र स्वतः, 'जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलम्' इत्यादौ कल्पितभ्रान्तौ च प्रवृत्त्यादिपर्यन्तं स्वाभाविकभ्रमस्यैव निबन्धनेन भ्रमस्याहार्यत्वाभावात्। आरोपितत्वाभावादित्यर्थः। अलङ्कारभूतं रूपकलक्षणं प्रतिपादयति—अव्यङ्ग्यविशेषणादिति। अव्यङ्ग्यविशेषणविशिष्टमेव पूर्वमलङ्कारभूतरूपकलक्षणमिति सर्वं सुस्थम्। अव्यङ्ग्यत्वमिति विशेषणफलन्तु—'तिमिरं हरन्ति हरितां पुरःस्थितं तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्। वदनत्विषस्तव चकोरलोचने परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः॥' इत्यत्र 'वदनं चन्द्रः' इत्यस्य व्यज्यमानत्वेनातिव्याप्तिनिरास एवेति दिक्। अत्र रसगङ्गाधरकृतस्तु—'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इत्यादौ निदर्शनायामतिव्याप्तिवारणाय बिम्बाविशिष्टत्वं विषयविशेषणमशुद्धम्। तत्र वाक्यार्थरूपकस्वीकारेण निदर्शनात्वस्यैवाभावात्। यदपि रूपके सर्वथा बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीति, तदप्ययुक्तमेव। 'कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुमलिनैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं, संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रतेः। व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः सच्छाद्यमानोदरं 'पश्यैतच्छशिनः सुधासहचरं बिम्बं कलंकाङ्कितम्॥' इत्यलंकारसर्वस्वटीकाविमर्शिन्युदाहृतबिम्बप्रतिबिम्बभावविशिष्टरूपकेऽव्याप्त्यापत्तेः। कलंकस्य दानाम्ब्वादिभिः प्रतिबिम्बनम्, लाञ्छितत्वांकितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्॥' इत्युक्ततया शशिमण्डलरूपविषयस्य कलंकरूपबिम्बविशिष्टत्वेन तत्र रूपकाङ्गीकारसत्त्वाच्च। किञ्च, 'निर्दिष्टे' इति विशेषणं शब्देनाभिहिते इत्यर्थकमप्यशुद्धम्, तस्य दुर्निरूप्यत्वात्। तथा हि येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहिते इत्यर्थः, उपमेयतावच्छेदकरूपेणाभिहिते इत्यर्थो वा? नाद्यः—'सुन्दरं कमलं भाति लतायामिदमद्भुतम्' इत्यतिशयोक्तावतिव्याप्तेः, सुन्दरपदेन सुन्दरत्वेन रूपेण 'इदम्' पदेन च विषयस्याननस्य प्रतिपादनात्। कमलपदेन कमलताद्रूप्येणाननस्यैव लक्षणयोपस्थापनेन तत्रैव सुन्दरादिपदार्थानामन्वययोग्यतया विशेषणीभूतकमले तदन्वयस्याशंकितुमप्यनुचितत्वाच्च। न द्वितीयः—अपह्नुतिव्यावर्तकानिह्नुत इति विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेः। अपह्नुतावुपमेयतावच्छेदकस्य निषिध्यमानतया तेन रूपेण विषयस्यानिर्देशादेव लक्षणव्यावृत्तिसत्त्वात्। भ्रान्तिमदतिव्याप्तिवारणाय 'आहार्य' इति विशेषणवैयर्थ्याच्च। तत्र दोषविशेषेणोपमेयतावच्छेदकप्रकारकप्रतीत्यभावादेव व्यभिचारानवकाशात्। किञ्च, 'नायं सुधांशुः, किं तर्हि? सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इति त्वदुक्तापह्नुतावतिव्याप्तिः। सुधांशौ सुधांशुत्वनिह्नवेऽप्यारोपविषयस्य निह्नवाभावात्। अव्यङ्ग्यत्वविशेषणमपि व्यर्थम्। व्यङ्ग्यत्वालंकारत्वयोर्विरोधाभावात्। किञ्च, 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इति प्राचीनलक्षणमप्यसत्। अपह्नुत्यादावुपमानोपमेययोरभेदस्य प्रतीतिसिद्धतया तत्रातिव्याप्तेरिति वदन्ति। अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इत्यत्र वाक्यार्थरूपकसम्भवः। उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकमिति भवदीये लक्षणे 'चन्द्र इव चन्द्रः' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय मदगर्भस्यावश्यं वाच्यतया 'त्वत्पाद' इत्याद्युदाहरणस्य नखानां स्वत एव नैर्मल्यादिगुणयोगात्। तत्र यावकसम्बन्धो निरर्थक इत्यत्रैव तात्पर्ये सत्यलक्तककरणकनखकर्मकमार्जनं चन्दनकरणकचन्द्रकर्मकपाण्डुरीकरणमिति भेदेन बोधे जाते तादृशतात्पर्यस्यासिद्धेः।

तथा च, तत्र निदर्शनाया एव सत्त्वात् तद्वारकविशेषणस्यावश्यकतैव। यदपि बिम्बप्रतिबिम्बभाववैशिष्ट्यरूपकोदाहरणस्य सत्त्वेन प्रथमविशेषणे तत्राव्याप्तिरिति। तदपि न,

ग्रन्थकृता एव तत्परिहारस्य निदर्शनायां कुवलयानन्दे प्रतिपादनात्। तत्र हि विषयविषयिविशेषणानां परस्परसादृश्येन बिम्बप्रतिबिम्बभावोऽस्ति। यथा 'ज्योत्स्नाभस्म' इत्यादिसावयवरूपकोदाहरणे। तत्रापि विषयविषयिणोः, तद्विशेषणानां च प्रत्येकमेवैक्यारोपः, न तु ज्योत्स्नादिविशिष्टरात्रिरूपविषयस्य भस्मादिविशिष्टकापालिकीरूपविषयिणश्च विशिष्टरूपेणैक्यारोपोऽस्ति। प्रकृते तु अङ्कितत्वलाञ्छितत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नत्वेन तद्विशेषणतयैव बिम्बप्रतिबिम्बभावेन कलङ्कदानजलयोरुपादानत्वेन विषयस्य शशिमण्डलस्य बिम्बाविशिष्टसत्त्वेनाव्याप्त्यनवकाशात्। न च तद्विशेषणतयैव तत्प्रसिद्धिरिति वाच्यम्, उपमादौ तथात्वेऽपि रूपकलक्षणे साक्षाद्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टत्वाभावस्यैव तद्विशेषणवाच्यत्वात्। 'त्वत्पाद' इत्यादावव्याप्तिवारणस्य तावतैव सत्त्वात्, तत्र मार्जनपाण्डुरीकरणयोर्विपर्ययीभावापन्नत्वेन तत्र साक्षादेवालक्तकश्रीखण्डलेपयोर्विशेषणत्वात्। यत्तु, अनिर्दिष्टपदे दूषणमुक्तम्, तदपि न; उपमेयतावच्छेदकरूपेणाभिहिते, इत्यस्य विवक्षितत्वात्। अपह्नुतौ चोपमेयस्य निषेधेऽपि तद्रूपेणाभिधानसत्त्वादतिव्याप्तिसम्भवेन तद्वारकविशेषणान्तरस्यावश्यकत्वात्। यत्तु, 'निश्चय आहार्यत्वविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः' इत्युक्तम्, तदपि न, तत्रेष्टापत्तेरेव सत्त्वात्। उपरञ्जकतापदार्थस्य प्रकृते तन्निर्मुक्तस्यैवाभिधानेऽपि क्षतिविरहात्। यदपि 'नायं सुधांशुः, किन्तर्हि? सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्युक्तापह्नुतावतिव्याप्तिः, तत्र चन्द्रे सुधांशुत्वनिषेधेऽपि आरोपविषयस्यानपह्नुतत्वात्। न चेदं रूपकमेवेति वाच्यम्, 'स्वोक्तिविरोधापत्तेः' इति तैरुक्तम्। तदपि न; तत्र प्रसिद्धचन्द्रे सुधांशुत्वनिषेधान्मुखे प्रसिद्धचन्द्रभेदो नारोप्यते, बाधात्। किन्तु सुधांशुपदवाच्यत्वं चन्द्रे निषिध्य मुखमेव सुधांशुपदवाच्यमित्येवोच्यत इति न तद्विरोधः। यत्तु, अव्यङ्ग्यत्वविशेषणमपि व्यर्थम्, अलङ्काराणां तदुत्कर्षप्रयोजकतया साधनत्वेन ततो भेदस्यावश्यकतया तद्वारकविशेषणस्याप्यावश्यकत्वात्। आरोप्यमाणस्याभेदस्यापह्नुतावसत्त्वान्नातिव्याप्तिः। वस्तुतस्तल्लक्षणस्यापि अत्र ग्रन्थकृता दूषितत्वेन प्रकृते क्षतेरभावादिति दिक्।

(चित्र०)

तच्च रूपकं त्रिविधम् निरवयवं सावयवं परम्परितं च। निरवयम्—केवलम्, माला चेति द्विविधम्। सावयवं तु—समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विविधम्। परम्परितं च श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं सत् केवलं माला चेति द्वैविध्याच्चतुर्विधम्। एवमष्टविधो रूपकालङ्कारः। तत्र केवलं निरवयवं यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्॥

(भारती)

प्रथमतः रूपक के तीन भेद हैं- (१) निरवयव, (२) सावयव, और (३) परम्परित। निरवयव रूपक भी दो प्रकार का है-(१) केवल रूपक और (२) माला रूपक। सावयव रूपक भी दो प्रकार का है—(१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशवर्त्ती। परम्परित रूपक चार प्रकार का है

(१) केवल श्लिष्टपरम्परित, (२) मालारूप श्लिष्टपरम्परित। पुनः इसके दो भेद हैं—(१) केवल शुद्ध परम्परित, (२) मालारूप शुद्ध परम्परित। इस प्रकार कुल मिलाकर रूपक आठ प्रकार का कहा जाता है। ('सुधा' टीका में यथाक्रम से नाम अंकित हैं)

जहां अवयव से रहित उपमेय में उपमान का आरोप हो, वहां निरवयव या निरंग रूपक होता है। इसमें एक उपमेय में एक उपमान का आरोप होता है।

जहां एक उपमेय में एक उपमान का आरोप हो वहां केवल या शुद्ध निरवयव रूपक होता है जैसे-यहां किसी दासी के द्वारा किशोरी के वृत्तान्त का कथन है—

'यह बाला गीत की ध्वनि सुनते ही कुरंगी की भांति अपने अङ्गों को निश्चल बना देती है तथा पहले सुने हुये भी अपने प्रियतम के हाल बार-बार अपनी सहेली से पूछती रहती है। यह विना निद्रा के ही अर्थात् पलकों के खुले रहने पर भी सोती रहा करती है। इससे पता चलता है कि निश्चय ही कामदेव ने उसके हृदय में प्रेमलता का सिंचन आरम्भ कर दिया है।'

(यहां 'प्रेमलतिकाम्' में केवल निरवयव रूपक है। लता पर प्रेम का आरोप होने से यह श्लोक केवल निरवयव रूपक का उदाहरण हुआ। इसमें एक उपमेय में उपमान का आरोप है।)

(सुधा)

रूपकस्य विभागमाह—तच्चेति। रूपकमित्यर्थः। त्रैविध्यमेवाह—निरवयवमित्यादि। तेषु निरवयवस्य भेदद्वयमाह-केवलं माला चेति। सावयवस्यापि भेदद्वयमाह-समस्तवस्तुविषयमित्यादि। परम्परितस्य चतुरो भेदानाह-श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिन्बधनतया द्विविधं सत् केवलमालारूपाभ्यां द्विविधमिति चतुर्विधमित्यर्थः। तथा चाष्टौ भेदा रूपकस्य-(१) केवलं निरवयवम्, (२) मालानिरवयवम्, (३) समस्तवस्तुविषयं सावयवम्, (४) एकदेशविवर्ति सावयवम्, (५) केवलश्लिष्टशब्दनिबन्धनं परम्परितम्, (६) केवलाश्लिष्टशब्दनिबन्धनं परम्परितम्, (७) मालाश्लिष्टशब्दनिबन्धनं परम्परितम्, (८) मालाऽश्लिष्टशब्दनिबन्धनं परम्परितम्; एवं प्रकारेण बोद्धव्या इत्यर्थः।

तत्र अभेदान्तरप्रयोज्यत्वाभाववदभेदकत्वमेव निरवयवत्वम्, तस्य भेदद्वयमुदाहरन् शुद्धमुदाहरति-कुरङ्गीवेति। मालतीमाधवे पद्यम्। सा मालती गीतध्वनिषु कुरङ्गीव अङ्गानि स्तिमितयति निश्चलत···या स्थापयति, एवं कान्तोदन्तं सखीभ्यः श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति, अनिद्रं यथा स्यात् तथान्तः स्वपिति मूर्च्छति, सखी वक्ति-इत्यहं वेद्मि-अस्या अभिनवां प्रेमलतिकां मनसिजः कामः सेक्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः। अत्र प्रेम्णि लतात्वारोपे साधारणधर्माभावाच्छुद्धम्, केवलमित्यर्थः; निरङ्गमत्र द्रष्टव्यम्।

(चित्र०)

मालानिरवयवं यथा—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्ते कार्मणकर्म नर्मवचसामुल्लासनावासभूः।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
प्राणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया॥

(भारती)

(जहाँ एक उपमेय में अवयवरहित अनेक उपमानों का आरोप हो, वहाँ मालारूप निरवयव रूपक होता है ।) मालारूप निरवयव रूपक, जैसे—

'यह मेरी प्रियतमा सौन्दर्य की तरंगिणी है, यौवनोद्गम का आनंद है, कान्ति की वशीकरण क्रिया है, रतिविलास की निवासभूमि है, वक्रोक्तियों की विद्या है, विधाता की निस्सीम निर्माणकला की प्रत्यक्ष अनुभूति है, पञ्चबाण की शर-समष्टि है और है नारी जाति की शिरोमणि ।'

(यहां एक उपमेयभूत प्रियतमा में अनेक उपमान आरोपित किए गए हैं । यह निरवयव इस लिए है कि यहां तरङ्गिणी आदि के रूपण के परिपोषक अन्य रूपण नहीं है ।)

(सुधा)

मालारूपं निरवयवं यथा एकस्मिन्नेवोपमेये बह्वर्थारोपणं माला इति तल्लक्षणम् । सौन्दर्यस्येति—'सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी नदी, तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः, कान्तेः कार्मणकर्म, नर्मरहसामुल्लासनावासभूः, वक्रगिरां विद्याविधेः अनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया, पञ्चबाणस्य कामस्य प्राणाः, ललनाचूडामणिः सा प्रिया वर्तत इत्यन्वयः । एकस्यां तरङ्गिणीत्वादिधर्माणामारोपणान्मालात्वम् । मुखाद्यवयवाभावान्निरवयवत्वमित्यर्थः ।

(चित्र०)

समस्तवस्तुविषयं सावयवं यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥

(भारती)

(जहां अवयवों सहित उपमेय का आरोप हो, वहां सावयव रूपक होता है ।)

समस्त वस्तुविषय सावयव रूपक में सभी वस्तुओं या समस्त आरोप्यमाण (विषयी) का शब्दतः कथन किया जाता है । जैसे—

'चांदनी का भस्म लपेटे, उजली बनी, तारों की अस्थियां सम्हाले, अपने अन्तर्धान के कौतुक में लगी यह रात की योगिनी अपने चन्द्रमा रूपी मुद्राकपाल अर्थात् खप्पर में लांछनके बहाने सिद्धाञ्जन का चूर्ण धरे सर्वत्र स्वच्छन्द विचरती दिखाई दे रही है ।'

(यहां उपमान एवं उपमेय दोनों की अवयव सहित अभेदता का वर्णन किया गया है । अतः सावयव रूपक हुआ । यह वर्णन शब्दों द्वारा कथित है, अर्थबल से आक्षिप्त नहीं । अतः यहां समस्त वस्तुविषय नामक सावयव रूपक हुआ ।)

(सुधा)

सावयवे भेदद्वयमुदाहरति—परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां समुदायः सावयवम् । तत्र समस्तवस्तुविषयं सावयवभेदमुदाहरति—समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि

शब्दोपात्तानि यत्र तत् समस्तवस्तुविषयमित्यर्थः। ज्योत्स्नेति। इयं रात्रिरेव कापालिकी योगिनी, द्वीपाद् द्वीपान्तरं भ्रमतीत्यन्वयः। एतत्सापेक्षरूपकाण्याह—ज्योत्स्नैव, भस्म, तेन च्छुरणमङ्गलेपः, तेन धवलाः तारका एवास्थीनि बिभ्रती, अन्तर्धानमेव व्यसनं कौतुकं तत्र रसिका, चन्द्ररूपे मुद्राकपाले न्यस्तं लाञ्छनस्य मिषेण सिद्धाञ्जनस्य परिमलं चूर्णं दधती धारयन्ती दीक्षाकालगृहीतोपकरणेषु मुद्रोपपदनाम्ना पाखण्डानां व्यवहार इति चण्डीदासः, मुद्रापरिमलौ प्रशंसार्थावित्यन्ये। अत्र रूपकाणां परस्परसापेक्षोत्पत्तीनां सत्त्वात् सावयवत्वम्, विषयविषयिणां ज्योत्स्नाभस्मादीनां शब्दोपात्तत्वात् समस्तवस्तुविषयत्वं बोध्यम्।

(चित्र०)

एकदेशविवर्ति सावयवं यथा—

प्रौढमौक्तिकरुचः पयोमुचां बिन्दवः कुटजपुष्पबन्धवः।
विद्युतां नभसि नाट्यमण्डपे कुर्वते स्म कुसुमाञ्जलिश्रियम्॥

अत्र नभसो नाट्यमण्डपत्वेन रूपणाद्विद्युतामर्थान्नर्तकीत्वं गम्यत इत्येकदेशे रूपकस्य विशेषणवाच्यतया वर्तनादिदमेकदेशविवर्ति।

(भारती)

(जहां कुछ आरोप शब्द द्वारा कहा जाय और कुछ अर्थ हो अर्थात् जिन्हें शब्द द्वारा कहा नहीं गया हो अपितु अर्थबल से आक्षिप्त हो, वहां एकदेशवर्ती नामक भेद होता है। इसमें कुछ उपमान तो शब्द द्वारा ग्रहण किया जाता है तथा कुछ अर्थसामर्थ्य से जाना जाता हैं।)

एक देशविवर्त्ति सावयव जैसे—

'कुटज पुष्पों के बन्धुरूप स्थूल मोती की कान्तिवाली मेघों की बून्दे, आकाशरूपी नाट्य मंडप में बिजली रूपी नर्तकी की पुष्पाञ्जलि की शोभा बढ़ा रही है।'

यहां प्रधानीभूत आकाश में नाट्य मंडप के आरोप तथा शब्दोपात्त के सामर्थ्य से बिजली में नर्तकी के आरोप रूप अर्थ का लाभ करते हैं। यहां शब्द के विवर्त्तन से एकदेशविवर्त्तित अर्थ की उपलब्धि है। अर्थात् इस श्लोक में-आकाश में नाट्य मंडप का आरोप शब्दतः किया गया है, पर बिजली में नटीत्व का ज्ञान तो अर्थ द्वारा ही होता है। अतः एकदेश अर्थात् नभोमण्डल में नाट्य मंडप के आरोप होने के कारण या रूपक के प्रकट होने से यहां एकदेशविर्त्ति रूपक हुआ।

(सुधा)

सावयवभेदमेकदेशविवर्ति उदाहरति—केषाञ्चिदर्थानामारोप्यमाणानां शब्दोपात्तत्वम्; केषाञ्चिदर्थतोऽवसेयत्वम्, यत्र तदेकदेशविवर्ति इति प्रकाशादयः। सामर्थ्यादन्यारोपाक्षेपकत्वं तत्त्वमित्यन्ये।

प्रौढ इति। कुटजपुष्पाणां बन्धवः स्थूलमौक्तिकरुचो मेघानां बिन्दवः नभोरूपे नाट्यमण्डपे विद्युतां पुष्पाञ्जलिशोभां कुर्वते स्मेत्यन्वयः। अत्र प्रधानीभूतनभसि नाट्यमण्डपत्वारोपस्य शब्दोपात्तस्य सामर्थ्यवशाद् विद्युतां नर्तकीत्वारोपेऽर्थलभ्ये शब्दस्य विवर्तनादेकदेशविवर्तित्वमित्यर्थः। तदेवाह—अत्रेत्यादि। यत्र आरोप एव आरोपान्तरनिमित्तं

तत्परम्परितमिति रसगङ्गाधरकृतः। यत्र यदारोपं विनाऽन्यत्रान्यारोपो न सम्भवति तदिति कौस्तुभकृतः।

(चित्र०)

श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितं यथा—

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः।
स्तूयते देव सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान्॥

अत्र त्वमेव मुक्तारत्नमित्यारोपणपूर्वकः सद्वंश उत्तमान्वय एव सद्वंश उत्कृष्टवेणुरित्यारोप इति रूपकद्वयमपि संभूतपरम्परमिति परम्परितम्। वंशे श्लिष्टशब्दनिबन्धनं च।

(भारती)

(जहां एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो, वहां परम्परित रूपक होता है। परम्परित शब्दपरम्परा से निर्मित है, जिसका अर्थ है शृंखला। कई आरोपों की शृंखला रहने के कारण यह परम्परित कहा जाता है। इसमें एक रूपक दूसरे रूपक का कारण होता है तथा एक की सिद्धि से ही दूसरे की सिद्धि होती है।)

श्लिष्ट निबन्धित केवल परम्परित, जैसे—

'हे महाराज ! अपने अलौकिक यश से तीनों लोकों को प्रशंसित करने वाले, सद्वंशमुक्तारत्न'—महान् राजवंश के मौक्तिक मणि—आपकी प्रशंसा भला कौन नहीं किया करता है ?'

यहां श्लिष्ट शब्दनिबन्धन केवल परम्परित रूपक है क्योंकि आरोप विषय अर्थात् उपमेय राजकुल तथा आरोप्यमाण अर्थात् उपमान प्रशस्तवेणु दोनों एक ही श्लिष्ट 'सद्वंश' शब्द द्वारा प्रतिपाद्य हैं। साथ ही साथ 'राजा' पर 'मौक्तिक के आरोप का निमित्त भी दिया गया है जो कि 'राजकुल' पर 'प्रशस्तवेणु' के आरोप में स्पष्ट है। यहां एक उपमेय में अनेक रूपकों का गुम्फन नहीं, इसलिए इसे केवल परम्परित रूपक कहा जाता है।

(सुधा)

तस्य चतुर्षु भेदेषु श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितमुदाहरति—अलौकिकेति। अलौकिकश्चासौ महालोकश्च, तेन प्रकाशितं जगत्त्रयं येन सः, सद्वंशस्य मुक्तारत्नं भवान् कैर्न स्तूयते; अपि तु सर्वैरपीत्यन्वयः। अत्र सद्वंशोऽन्वय एव वंशो वेणुः तस्य मुक्तारत्नमिति श्लिष्टत्वम्। कुलस्य वेणुत्वारोपो राज्ञो मुक्तारत्नत्वारोपे निमित्तमिति केवलपरम्परितमिति बोध्यम्। मूलकारस्तु—सञ्जातपरम्परं तदिति व्याकृत्य त्वमेव मुक्तारत्नमित्यारोपणपूर्वकं सद्न्वये उत्कृष्टवेणुत्वारोप इति। एवं रूपकद्वयमपि सम्भूतपरम्परमिति व्याचख्याविस्याह—अत्रेत्यादि।

(चित्र०)

तदेव मालापरम्परितं यथा—

विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासङ्कोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर।

सत्यप्रीतिनिधानदक्ष विजयप्राग्भाव भीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥

(भारती)

प्रधान रूपण के निमित्तभूत रूपण में आरोप्यमाण उपमान और आरोपविषय उपमेय के वाचक पदों के भिन्न रूप आश्लिष्ट होने में मालापरम्परित रूपक होता है। जैसे—

'हे विद्वानों के मानस (मानस-सरोवर के) हंस ! शत्रुओं की सम्पत्ति को संकुचित करने वाली उज्ज्वल तेज से देदीप्यमान ! वैरिलक्ष्मी का संकोच ही कमलों का असंकोच अर्थात् विकास, उसमें सूर्यरूप ! किलों या नगरों का अन्वेषण न करना ही पार्वती का अन्वेषण करना, उसमें शंकररूप ! युद्धों का स्वीकार ही समिधाओं का स्वीकार, उसमें अग्निरूप ! तथ्य और प्रीति के स्थापन ही सती पर स्नेहाभाव के प्रकट करने में दक्षप्रजापति ! विशिष्ट शत्रु जय का आरंभ ही अर्जुन का अग्रज भीमसेनरूप ! हे स्वामी श्रेष्ठिवर ! तुम ब्रह्माजी की आयु सौ वर्ष तक चक्रवर्तित्व को ऊँचा बनाये रखो।'

(सुधा)

श्लिष्टशब्दनिबन्धनं मालापरम्परितमुदाहरति—विद्वन्मानस इति। हे विद्वन् मानसहंस विदुषां मानसं चित्तमेव मानसं सरस्तत्र हंसरूप, वैरिणां लक्ष्म्याः सङ्कोच एव कमलानामुत्पलानाम् असंकोचः, तत्र सूर्यरूप, दुर्गाणां पत्तनानां निर्भयत्वादमार्गणम् अनवलोकनमेव पार्वत्या अन्वेषणम् , तत्र महादेवरूप, समितां संग्रामाणां स्वीकार एव समिधां काष्ठानां स्वीकारः, तत्राग्निरूप, सत्ये प्रीतिविधानमेव सत्यां स्वपुत्र्याम् अप्रीतिविधानम् , तत्र दक्षप्रजापतिरूप, विजयस्य शत्रुजयस्य प्राग्भाव एवार्जुनस्य प्राग्भावस्तत्र भीमसेनरूप, हे प्रभो श्रेष्ठवीर त्वं वैरिञ्चं ब्राह्मीयं वत्सरशतमुच्चैरधिकं साम्राज्यं चक्रवर्तित्वं क्रियाः। अत्र विदुषां चित्ते मानससरस्त्वारोपो राज्ञि हंसत्वारोपे निमित्तमित्यनेनैव क्रमेण परम्परितत्वस्य श्लिष्टत्व-शब्दनिबन्धनस्य मालारूपत्वं बोध्यम्। यद्यपि 'विद्वन्मानसहंस' इत्यत्र शब्दार्थोभयालंकारता मानसादिपदानां परिवृत्त्यसहत्वं चित्तादिशब्दोपादानेनोक्तार्थस्याप्रत्यायनात्। हंसादिपदानां पर्यायान्तरोपादानेन प्रकृतार्थप्रतीतेः परिवृत्तिसहत्वाच्च कथमर्थालंकारता इति चेत् ? न; प्राचीनानामलंकारसर्वस्वकारादीनां प्रसिद्धिमनुसृत्य तथोक्तमिति केचित्। एकदेशविवर्त्तिदमित्युद्भटादयः नव्यास्तु—मानससरोवरत्वाधेयत्वं विना राज्ञि हंसत्वारोपनिमित्तसाधर्म्यान्तरविरहेण हृदये सरस्त्वारोपं विना राज्ञि हंसत्वारोपो न संभवतीति। तस्मात्तन्निमित्तारोपसत्त्वात् परम्परितमेवेदमित्याहुः।

(चित्र०)

आश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं परम्परितं यथा—

निरवधि च निराश्रयं च यस्य
स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम्।
प्रथममिह भवान् स कूर्मनाथो
जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥

(भारती)

आश्लिष्टशब्दनिबन्धन केवल परम्परित रूपक के तृतीय भेद का उदाहरण देते हैं—

'सर्वप्रथम इस संसार में आप वह कूर्मनाथ अर्थात् कूर्ममूर्त्ति हैं जिसकी स्थिति अवधिहीन एवं आश्रयहीन है तथा जिसके आश्चर्य का प्रपञ्च अनिवर्तित है एवं जो चौदहों लोक रूपी लताओं की जड़ स्वरूप हैं उसकी जय हो।'

(यहाँ स्थिति में निरवधित्व एवं निराश्रयत्वारोप निमित्त है एवं राजा में कूर्ममूर्त्तित्वारोप निमित्त है। पुनः कूर्म का कन्दत्वारोप में चौदहो लोकों का बल्लीत्वारोप के तिमिरत्व से अश्लिष्ट-शब्दनिबन्धन केवल परम्परित है।)

(सुधा)

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितं तृतीयभेदमुदाहरति—निरवधीति। न निवर्तितः कौतुकस्य आश्चर्यस्य प्रपञ्चो येन तत्, यस्य स्थितम्, निरवधि निराश्रयं चास्ति, स इह संसारे प्रथमो भवान् कूर्ममूर्तिः। चतुर्दशलोका एव वल्लयः, तासां कन्दः, स भवान् जयति। अत्र स्थितौ निरवधित्वनिराश्रयत्वारोपो राज्ञि कूर्ममूर्तित्वारोपे निमित्तम्, कूर्मस्य कन्दत्वारोपे लोकानां वल्लीत्वारोपस्य निमित्तत्वादश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितमित्यर्थः।

(चित्र०)

तदेव मालापरम्परितं यथा—

पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गः
सङ्ग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसलीलाम्बुवाहः।
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्बणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः
खड्गक्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य॥

(भारती)

वाचक का श्लिष्टत्वाभाव से अश्लिष्टशब्द निबन्धन मालापरम्परित का चतुर्थ उदाहरण देते हैं—

'रणक्षेत्र में मालवेन्द्र की उस तलवार की विजय हो जो राजलक्ष्मी के लिए हरितमणिनिर्मित पलंग है, पौरूषरूपी सागर की तरङ्ग है, संग्राम के भय से संत्रस्त प्रतिस्पर्धी मुरलपति के शुभ्र जशरूपी हंस के लिए नील मेघ है। छिन्नभिन्न शत्रुओं के विजयहस्ती के सङ्घातीभूत मदवारि के पट्टरूप है तथा पृथ्वी के लिए जो कन्चुकि स्वरूप है।'

(यहाँ खड्गरूप उपमेय में बहुत से रूपकों के सम्बन्ध से पौरूषादि में समुद्रादि के आरोप से खड्गादि में तरङ्गादि आरोप के निमित्तत्त्व से वाचक के अश्लिष्टत्व से अश्लिष्टशब्दनिबन्धन मालापरम्परित जानना चाहिए।)

(सुधा)

वाचकस्य श्लिष्टत्वाभावादश्लिष्टशब्दनिबन्धनं मालापरम्परितं चतुर्थं यथा तथोदाहरति—पर्यंकेति। राजलक्ष्म्या हरितमणिप्रचुरः पर्यङ्कः खट्वारूपः, पौरुषमेवाब्धिः समुद्रस्तस्य तरङ्गरूपः, संग्रामभयेन ताम्यंश्चासौ मुरलपतिश्च तस्य यश एव हंसः तस्य नीलमेघरूपः, भग्नश्चासौ प्रत्यर्थिवंशश्च स एव उल्बणो विजयहस्ती तस्य सङ्घातीभूत-

दानाम्बुपट्टरूपः पृथिव्याः कञ्चुकरूपः, 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः। संग्रामे मालवेन्द्रस्य खड्गो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यन्वयः।

अत्र खड्गरूपोपमेये बहूनां रूपकाणां सम्बन्धात् पौरुषादौ समुद्राऽद्यारोपाणाञ्च खड्गादौ तरङ्गाद्यारोपे निमित्तत्वाद् वाचकस्याश्लिष्टत्वाच्च अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं मालापरम्परितं बोध्यम्।

(चित्र०)

इदं वैधर्म्येणापि दृश्यते, तत्केवलं यथा—

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ
रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा
बालारुणोऽभूद् रुधिरप्रवाहः॥

मालारूपकं यथा—

सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत् कौशलम्॥

(भारती)

वैधर्म्य से भी इस रूपक का उदाहरण जैसे—

'दृष्टिपथ को रोकते हुए तथा बढ़े हुए धूलिरूप अंधकार का, शस्त्रों से घायल घोड़े, हाथियों तथा शूरवीरों के शरीर से उत्पन्न रक्त का प्रवाह बाल सूर्य हुआ। (जैसे रात्रि में अंधकार से कुछ दिखाई नहीं पड़ता, दृष्टि मार्ग को रोकने वाले उस अंधकार के बाद लाल रंग वाले प्रातःकालीन सूर्य का उदय होता है और कुछ समय के बाद ही वह अंधकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही युद्ध में आहत अश्व, हाथी तथा वीरों से उत्पन्न रक्त प्रवाह दृष्टिरोधक धूलिका लाल सूर्य मालूम पड़ती थी।) इससे उस धूलि का शीघ्र विनाश भी सूचित किया गया है, जैसा कि अग्रिम श्लोक में वर्णित है।'

वैधर्म्य से मालारूपक का उदाहरण देते हैं। जैसे—

'इस कलियुग में जो लोग उस दुष्ट हृदयवाली राजावली (राजगण) की सेवा कर चुके हैं, जो कि सुजनता रूपी जलधारा के लिए मरुभूमि, सच्चरित्रता रूपी चित्रवीथी के लिए आकाशभित्ति, गुणावली रूपी चन्द्रिका के लिए अंधेरी की चौदस तिथि और सरलता के सम्बन्ध के लिए कुत्ते की पूंछ है, उनके लिए केवल भक्ति से सुलभ भगवान शंकर की आराधना में कोई कौशल अपेक्षित नहीं।

(यहाँ मरुभूमित्व आदि विरुद्धधर्मों में रूपक की अक्षुण्ण प्रतीति है)

(सुधा)

वैधर्म्येण रूपकमुदाहरति, तत्रापि केवलम् यथा—आवृण्वत इति। लोचनमार्गमावृण्वत उल्लङ्घितवतः आजौ सङ्ग्रामे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य रज एवान्धकारं तस्य

शस्त्रक्षतेभ्यो जन्म यस्य तथोक्तः रुधिरप्रवाहः, बालारुणः बालसूर्योऽभूत्। 'अरुणो भास्करेऽपि स्यात्' इत्यमरः। रजस्यन्धकारत्वारोपे व्याप्तत्वं धर्मः, रुधिरप्रवाहे बालसूर्यत्वारोपेऽरुणकान्तिमत्त्वं सामान्यधर्मः। अतो वैधर्म्यं केवलं रूपकमित्यर्थः। वैधर्म्येण मालारूपकमुदाहरति—सौजन्याम्बुमरुस्थलीति। यैः पुरुषैरेषा दुष्टाशया राजावल्यपि सेविता, तेषां भक्तिमात्रसुलभे शिवे सेवा सेवनं कियत् कौशलम्, न कियदपीत्यर्थः। राजावल्यसेव्यत्वे विशेषणान्याह—कीदृशी राजसेवा सौजन्याम्बुनः मरुस्थलीरूपा सौजन्यरूपजलाभाववती, सुचरितमेवालेख्यं चित्रं तस्य युभित्तिरूपा, गुणा एव ज्योत्स्ना = कौमुदी, तस्याः कृष्णचतुर्दशीरूपा, सरलतासम्बन्धे श्वपुच्छच्छटारूपा। अत्र द्वयोर्वैधर्म्यस्य मालायाश्च सत्त्वेनोदाहरणं द्रष्टव्यम्।

(चित्र०)

एवमष्टौ भेदा रूपकालङ्कारस्य प्राचीनैः प्रदर्शिताः। एवं भेदा उपमाया अपि वक्तुं शक्याः, एकत्र प्रदर्शितेन प्रकारेण संभवस्थलेऽन्यत्राप्युन्नेतुं शक्या इति न प्रदर्शिताः।

तथाहि—'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यादौ केवलनिरवयवोपमा। 'ज्योत्स्नेव नयनानन्दः' इत्यादौ मालानिरवयवोपमा।

(भारती)

इस प्रकार रूपक अलंकार के ये आठ भेद प्राचीनों ने प्रदर्शित किया है। ये सारे भेद उपमा के भी कह सकते हैं। एक ही जगह प्रदर्शित करने से प्रकारान्तरेण संभवस्थल में दूसरी जगह भी कहा जा सकता है। अतः यहां नहीं दिखाया गया।

उपमा में रूपक के भेदों को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

'शब्द और अर्थ के समान नित्य मिले हुए, संसार के माता-पिता, उमा और महेश्वर को मैं शब्द और अर्थ के सुष्ठु ज्ञान प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।' यहाँ शब्द और अर्थ में अवयवाभाव के कारण केवल निरवयव उपमा स्पष्ट है। इसी प्रकार—

'यह नितम्बिनी चन्द्र-चन्द्रिका की भाँति नेत्रों को आनन्दित करने वाली, मदिरा की भाँति उन्मत्त बनाने वाली और प्रभुता की भाँति सबको वश में रखने वाली है।'

यहाँ मालानिरवयवोपमा की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत है।

(सुधा)

रूपकमुपसंहरति—एवमिति। तत्र सम्मतिमाह—प्राचीनैरिति। एषां भेदानामुपमायामपि सम्भवमाह—एवमिति। तेषां ग्रन्थकृतोपमायामलेखेन न्यूनतामाशङ्क्य निराकरोति—एकत्रेति। तथा च रूपकप्रदर्शितप्रकारेणोपमायामुन्नेतुं कथयितुं शक्यत्वात् तत्राप्रदर्शनेऽपि न न्यूनतेत्याहुः। उपमायां रूपकप्रकारान् दर्शयितुमारभते—तथा हीति। 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यत्र केवलनिरवयवोपमा स्पष्टैव, तयोरवयवाभावादिति शेषः। 'ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम्। प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी॥' इत्यत्र मालानिरवयवोपमा।

(चित्र०)

ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ।।

इत्यत्र समस्तवस्तुविषयसावयवोपमा ।

नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ।।

इत्यत्रैकदेशविवर्तिनी ।

(भारती)

'पश्चिमी देशों की विजय के बाद—उस राजा रघु ने सूर्य की तरह किरणों से जलों का शोषण करने के लिए उत्तरायण होते हैं, उसी प्रकार पश्चिम और उत्तर दिशा के देशाधिपतियों को अपने बाण से उखाड़ डालने के लिए कुवेर की ओर (जो उत्तर दिशा में है) प्रस्थान किया ।

इस उदाहरण में समस्त वस्तु विषय सावयवोपमा है ।

'शरत् काल के सरोवर की उपमा, नेत्रों की भाँति उसको, मुख की भाँति कमल और स्तनों की भांति चक्रवाक युगलों से सुशोभित लगती रही ।'

यहाँ एक देशवर्त्तिनी उपमा में रूपक गतार्थ है ।

(सुधा)

सावयवभेदे समस्तवस्तुविषयामाह—तत इति । ततो रघुः भास्वान् सूर्य इव, शरैर्बाणैः, उस्रैः किरणैरिव, उदग्भवान् नृपान् रसानिव उद्धरिष्यन् कुबेरसम्बन्धिनीमुदीचीं दिशं प्रतस्थे इत्यन्वयः ।

उपमानोपमेययोः शाब्दत्वात् समस्तवस्तुविषया द्रष्टव्या । सावयवभेदे एकदेशविवर्तिनीमुपमामाह—नेत्रैरिति । नेत्रैरिव कमलैः, मुखैरिव पद्मैः, स्तनैरिव चक्रवाकैः सरसां श्रियः क्षणे क्षणे विभान्ति स्म । अत्र सरश्श्रीषु स्त्रीत्वसादृश्यस्यार्थलभ्यत्वादेकदेशविवर्तिनी ।

(चित्र०)

अत्यन्तरागिणमपि निपीतवसुसञ्चयम् ।
गणिकेवापरदिशा पूषाणं निरकासयत् ।।

इत्यत्राप्येकदेशविवर्तिनी ।

पूर्वत्र विशेषणोपमायां विशेष्योपमा गम्यते, उत्तरत्र विशेष्योपमाया विशेषणोपमेति भेदः ।

(भारती)

'ऊपर दिशा अर्थात् पश्चिम दिशा वेश्या की तरह अत्यन्त अनुरागी रहने पर भी क्षीण द्रव्य संचय के कारण सूर्य को बाहर निकाल रही है ।'

सूर्य में नायक सादृश्य के अर्थ लाभ से यहाँ एक देशवर्त्तिनी उपमा है । उदाहरण की व्यर्थता की आशंका से 'द्वयोः' विशेषण कहा गया है । अर्थात् विशेषण उपमा से विशेष्य उपमा में एक

देशविवर्त्तिता है। उत्तरत्र विशेष्य उपमा से गणिका रूप पश्चिम दिशा के आश्रय से विशेषण उपमा में, रविनायक उपमा में एक देश विवर्त्तिता से 'द्वयो विशेषः' है।

(सुधा)

अस्योदाहरणान्तरमाह—अत्यन्तरागिणमिति। अपरदिशा पश्चिमा दिग् वेश्येवात्यन्तानुरागवन्तं क्षीणद्रव्यसञ्चयं सूर्यं निरकासयदित्यन्वयः। पूर्णि नायकसादृश्यस्यार्थलभ्यत्वादेकदेशविवर्तिनीत्यर्थः।

उदाहरणस्य व्यर्थत्वमाशङ्क्य द्वयोर्विशेषमाह—पूर्वत्रेति। विशेषणोपमया विशेष्योपमायामेकदेशविवर्तित्वम्, उत्तरत्र विशेष्योपमया गणिकापरदिशाश्रयया विशेषणोपमायां रविनायकोपमायामेकदेशविवर्तित्वमिति द्वयोर्विशेष इत्यर्थः।

(चित्र०)

दूराद्यश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिलीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥

इत्यत्राश्लिष्टशब्दनिबन्धनकेवलपरम्परितोपमा।

अत्र ह्यम्बुराशेरयश्चक्रेणोपमा। तद्द्वाराश्लिष्टकलङ्करेखया वेलाया उपमा चेति द्वयमपि सञ्जातपरम्परम्।

(भारती)

'लौह चक्र के समान क्षार समुद्र की वेला दूर से छोटी मालूम पड़ती हुई और तमालों तथा तालों की वनरा जिसे श्यामवर्ण वाली धारा से निबद्ध कलङ्क रेखा के समान मालूम पड़ती है।'

यहाँ अम्बुराराशि की लौह चक्र के साथ जो उपमा है, उसके द्वारा आश्लिष्ट कलंक रेखा से वेला की उपमा है। अतः यहाँ दोनों ही संजात परम्परित है।

(सुधा)

परम्परितोपमाभेदेष्वश्लिष्टशब्दनिबन्धनां केवलपरम्परितोपमामुदाहरति—दूरादिति। अयश्चक्रनिभस्य लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्वी अणुत्वेनावभासमाना तमालतालीवनराजिभिः नीला वेला तीरभूमिः धारानिबद्धा चक्राश्रिता कलङ्कलेखेव भाति। अत्राम्बुराशेरयश्चक्रेण या उपमा, तद्द्वाराऽश्लिष्टकलङ्करेखया वेलाया उपमा चेति। द्वयमपि सञ्जातपरम्परमिति तल्लक्षणसमन्वयात्।

(चित्र०)

यथा वा—

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन् मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम्।
कर्णालं संभ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिक्यशङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः॥

(भारती)

इसका ही दूसरा उदाहरण बताते हैं, अथवा जैसे—
'अरे कर्ण ! अपने महास्त्रों की अग्नि ज्वाला से प्रतिपक्ष सैन्य सागर में वड़वानल सरीखे विराजमान् किंवा समस्त धनुर्धरों के परमाचार्य मेरे पूज्य पिता द्रोण जब सेनापति हैं तब घबराहट कैसी ? कृपा ! संग्राम से क्यों भागना ? कृतवर्मा ! सन्देह किस बातका ? अरे, धनुर्मात्र सहाय मेरे पिता जब रण धुरा का वहन कर रहे हैं तो डरने का काम ?'

(सुधा)

अस्यैवोदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । वेणिसंहारनाटके अश्वत्थामवचनम् । अस्त्रज्वालाभिरवलीढं व्याप्तं यत् प्रतिबलं शत्रुसैन्यम् , तदेव जलधिरिव समुद्र इव, तस्यान्तर्मध्ये वाडवसदृशे, सर्वधन्वीश्वराणां गुरौ मम पितरि अस्मिन् द्रोणे सेनानाथे स्थिते सति, हे कर्ण ! सम्भ्रमेण भयेनालम् , हे कृप समरं संग्रामं व्रज, हार्दिक्यशङ्कां मुञ्च । चापसहाये ताते द्रोणे रणभारं वहति सति, भयस्यावकाशः क्व ! न क्वापीत्यन्वयः ।

(चित्र०)

अत्र द्रोणस्यौर्वेणोपमा प्रतिबलजलधेरित्यत्रोपमायाः साधिकेत्युपमाद्वयमपि सञ्जातपरम्परम् । एवम् 'राजहंसायते राका विदुषामेष मानसे' इत्यत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनकेवलपरम्परितोपमा । उभयत्रापि मालापरम्परितमनयैव रीत्योन्नेयम् । 'रेणुध्वान्तस्य रक्तौघो बालघर्मकरायते' इति वैधर्म्येण रूपकवदुपमेति सर्वं समानम् ।

(भारती)

यहाँ द्रोण की और्व से उपमा, प्रतिबल जलधि की उपमा की साधिका है, यह श्लिष्ट शब्द निबंधना केवल परम्परित उपमा है। पूर्व उदाहरण में विशेषण उपमा की विशेष्य उपमा में निमित्तत्व है, उत्तरत्र विशेष्य उपमा में विशेषण उपमा की निमित्तता—यही दोनों के भेद हैं। श्लिष्ट शब्द निबन्धना केवल परम्परित उपमा कहते हैं—**'यह राजा विद्वानों के हृदय में राजहंस बना है'**—चित्त में मानसरोवर की उपमा तथा राजा में हंस की उपमा निमित्तत्व है—फलतः दोनों जगह श्लिष्टता रहने के कारण श्लिष्ट शब्द निबन्धना केवल परम्परित उपमा है। शेष दोनों भेद का उभयत्र से उपसंहार करते हुए कहते हैं—अश्लिष्ट और श्लिष्ट तथा माला परम्परित इसी रीति से जानना चाहिए। वैधर्म्य से उपमा कहते हैं—'धूलिकण रक्त समूहों से मिलकर बालसूर्य बन गया' यहाँ अलग-अलग धर्म से उस धर्म के वहाँ अभाव से वैधर्म्य उपमा अर्थात् रूपक के समान ही उपमा का बोध जानना चाहिए।

(सुधा)

अत्र द्रोणस्यौर्वेणोपमा प्रतिबलस्य जलधेरुपमायाः साधिका इत्यश्लिष्टशब्दनिबन्धना केवलपरम्परितोपमा ।

पूर्वोदाहरणे विशेषणोपमाया विशेष्योपमायां निमित्तत्वम् , उत्तरत्र विशेष्योपमायां विशेषणोपमाया निमित्तत्वमिति द्वयोर्भेदः । श्लिष्टशब्दनिबन्धनां केवलपरम्परितोपमामाह—पूर्वमिति । एष राजा विदुषां मानसे राजहंसायते इत्यन्वयः । चित्ते मानससरस

उपमा राज्ञि हंसोपमाया निमित्तम्, उभयत्र श्लिष्टत्वं चेति तत्सत्त्वाच्छ्लिष्टशब्दनिबन्धना केवलपरम्परितोपमा। शेषं भेदद्वयमुपसंहरति—उभयत्रेति। अश्लिष्टश्लिष्टयोरित्यर्थः, मालापरम्परितमनयैव रीत्योह्यम्। तद्यथा—अश्लिष्टशब्दनिबन्धना मालापरम्परितोपमा यथा—'ज्योत्स्नायन्ते तव गुणगणाः पूर्णचन्द्रायसे त्वं, धारायन्ते विशिखनिवहा वारिवाहायसे त्वम्। एधायन्ते रिपुनृपतयो हव्यवाहायसे त्वं, भृङ्गायन्ते विबुधनिवहा वीर पद्मायसे त्वम्॥' इति। श्लिष्टशब्दनिबन्धना मालापरम्परितोपमा यथा—'लेखेव या चान्द्रमसी कलानां रसस्य या पुष्करिणीव पूर्णा। निष्कैतवस्थानमियं रुचीनामानन्दबध्नाति सरोरुहाक्षी॥' इति द्रष्टव्या। वैधर्म्येणोपमामाह—रेणुध्वान्तस्येति। रक्तौघो रुधिरसमूहो रेण्वन्धकारस्य बालसूर्यायत इत्यत्र पृथक् पृथग् धर्मत्वेन तस्य धर्मस्य तत्राभावाद् वैधर्म्योपमेति रूपकसमानतैवोपमाया इति बोध्यम्।

(चित्र०)

अयं तु विशेषः—समस्तवस्तुविषयं रूपकं न विशिष्टरूपकं भवति, विषयविषयिणोर्बिम्बप्रतिबिम्बधर्मविशिष्टयोस्ताद्रूप्यारोपे निदर्शनाया एवावतरणात्। सावयवोपमा तु विशिष्टोपमां गमयति। 'ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव' इत्यत्र शरैरुदीच्यानुद्धर्तुमुत्तरां दिशं प्रस्थितस्य रघोर्विशिष्टस्य किरणै रसान् शोषयितुमुत्तरां दिशं प्रस्थितेन विशिष्टेन रविणा साधर्म्यस्य फलितार्थतया लाभात्।

(भारती)

'अयम्' शब्द से रूपक और उपमा का विशेष बताते हैं। समस्तवस्तु विषयक सावयव रूपक में विशिष्ट रूपकता की संभावना नहीं है। क्योंकि बिम्बप्रतिबिम्ब भावापन्न विषय और विषयी के ताद्रूप्य के आरोप में निदर्शना अलंकार से वह बाधित है। सावयव उपमा की विशिष्ट उपमात्व में गमकता है। उस विशिष्ट उपमा की गमता का उदाहरण देते हैं—'उसके बाद रघु ने सूर्य जैसी किरणों से जलों का शोषण करने के लिए उत्तरायण होते हैं, उसी भाँति अपने बाणों से पश्चिम और उत्तर दिशा के राजाओं की विजय करने के लिए, कुवेर की जो उत्तर दिशाएँ हैं, उसकी ओर प्रस्थान किया।' यहाँ बाणों से उत्तरी सीमान्त नृपत्तियों के उद्धार के लिए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थित रघुकी विशिष्ट किरणों से रसों को शोषित करने के लिए उस दिशा की ओर प्रस्थित विशिष्ट सूर्य से साधर्म्य की फलितार्थता से ही लाभ है।

(सुधा)

रूपकोपमयोर्यो विशेषस्तमाह—अयन्त्विति। समस्तवस्तुविषयकसावयवरूपके विशिष्टरूपकता न सम्भवति, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नविषयविषयिणोस्ताद्रूप्यारोपे निदर्शनालङ्कारेण तद्बाधात्। सावयवोपमाया विशिष्टोपमात्वे गमकताऽस्तीत्याह—सावयवोपमा त्विति। तस्या विशिष्टोपमागमकतामुदाहरति—तत इति। अत्र शरैरुदीच्यान् नृपानुद्धर्तुमुत्तरां दिशं प्रस्थितस्य रघोर्विशिष्टस्य किरणै रसान् शोषयितुं तद्दिशं प्रस्थितेन विशिष्टेन रविणा साधर्म्यस्य फलितार्थतयैव लाभादित्यादेर्मूलकृता स्पष्टीकृतवान्।

(चित्र०)

एवं च क्वचिदुपमयाऽन्यत्रोपमाया गम्यत्वं चतुर्धा पर्यवस्यति, क्वचिद्विशेषणोपमया विशेष्योपमायाः। 'विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः' इत्यत्र पृष्ठगतसर्वतावि-

धिनेव तद्विशेष्यपृष्ठविधेः, क्वचिद्विशेष्योपमाया विशेषणोपमायाः, वैकृतप्रधान-विधिनेव प्राकृततदङ्गकलापविधेः। उभयमप्येकदेशविर्तित्वेनोदाहृतम्। क्वचिद्-वयवोपमया विशिष्टोपमाया गम्यत्वम्। अङ्गप्रधानगोचरप्रत्येकविधिकलापेनेव सर्वाङ्गविशिष्टप्रधानगोचरप्रयोगविधेः। तत्तु समस्तवस्तुविषयोपमोदाहरणे दर्शितम्। एकवाक्यतायामवयवोपमा विशिष्टोपमाया गम्यत्वे इदमुदाहरणम्।

(भारती)

इसी प्रकार कहीं उपमा से अन्यत्र उपमा की गम्यता चार प्रकार की हैः—(१) विशेषण उपमा से विशिष्ट उपमागमता (२) विशिष्ट उपमा से विशेषण उपमा की गतमा (३) अवयव उपमा से विशिष्ट उपमा की गमता, (४) विशिष्ट उपमा से अवयव उपमा की गमता। इन रूपों में शास्त्रीय उदाहरणपूर्वक प्रहृत उदाहरणों को दिखाते हैं। प्रथम का उदाहरण—**'विश्वजित् सर्वं पुष्टोऽतिरात्रः।'** यहाँ पृष्टगत सर्वता विधि से ही तद्विशेष्य पृष्ठ विधि का गमत्व है। इसी प्रकार दूसरे में—असमग्र अंग के उपपद में शिव वैकृत विधि से समग्र अंग के औपदेशिक प्राकृत तदंग कलापविधि की गम्यता है। प्रहृत में इसके उदाहरण हैं—पहले **'नेत्रोत्पलैः'** इत्यादि, दूसरे में **'अत्यन्तरागिणम्'** इत्यादि दोनों के 'तथात्व' की स्पष्टता है। तीसरे में—अंगप्रधान विषयक प्रत्येक विधि कलाप से सर्वांगं विशिष्ट प्रधान विषयक प्रयोग विधि की गम्यता है। जैसे—**'ततः प्रतस्थे'** इत्यादि प्रकृत में उदाहरण है। ये समस्तवस्तु विषय उपमा से ही व्याख्यात है और यह उदाहरण एक वाक्यगत्व से है।

(सुधा)

तथा च फलितार्थमाह—एवञ्चेति। उपमयान्यत्रोपमागम्यत्वं चतुर्धेति विशदतया विशदयति—क्वचिदित्यादिना। (१) विशेषणोपमया विशिष्टोपमागमकत्वम्। (२) विशिष्टोपमया विशेषणोपमागमकत्वम्। (३) अवयवोपमया विशिष्टोपमागमकत्वम्। (४) विशिष्टोपमाया अवयवोपमागमकत्वम्। तत्र शास्त्रीयोदाहरणपूर्वकं प्रकृतोदाहरणानि दर्शयति—'विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः' इत्यत्र पृष्ठगतसर्वतोविधिना तद्विशेष्यपृष्ठविधेर्गम्यत्वम्, द्वितीये असमग्राङ्गोपपदे शिववैकृतविधिना समग्राङ्गौपदेशिकप्राकृततदङ्गकलापविधेर्गम्यत्वम्। प्रकृते उदाहरणन्त्वाद्ये—'नेत्रोत्पलैः' इत्यादि, द्वितीये 'अत्यन्तरागिणम्' इति, द्वयोरपि तथात्वस्य स्पष्टत्वात्। तृतीये तु—अङ्गप्रधानविषयकप्रत्येकविधिकलापेन सर्वाङ्गविशिष्टप्रधानविषयकप्रयोगविधेर्गम्यत्वं यथा—'ततः प्रतस्थे' इति प्रकृते उदाहरणम्, तत्तु समस्तवस्तुविषयोपमयैव व्याख्यातम्। इदमुदाहरणमेकवाक्यगतत्वेन।

(चित्र०)

वाक्यभेदेनापि दृश्यते—

हस्त इव भूतिमलिनो यथा यथा लङ्घयति खलः सुजनम्।
दर्पणमिव तं कुरुते तथा तथा निर्मलच्छायम्॥

अत्रावयवोपमा। यथा भूतिमलिनो हस्तो दर्पणमधिकमधिकं घर्षयन्नुत्तरोत्तरं निर्मलीकुरुते, तथा खलः सुजनमधिकंधर्षयन्नुत्तरोत्तरं निर्मलमेव कुरुते इति विशिष्टोपमा गम्यते। क्वचिद्विशिष्टोपमया तदवयवोपमानां गम्यत्वम्।

(भारती)

वाक्यभेद से भी उदाहरण देते हैं, जैसे—

'भूमितल वाले हाथ की तरह दुष्टजन जैसे जैसे सुजनों को लांघते हैं अर्थात् निन्दा करते हैं, दर्पण की तरह वे सज्जन वैसे ही वैसे उत्तरोत्तर निर्मल शोभा प्राप्त करते हैं।'

यहाँ अवयव उपमा है। अर्थात् भस्म से मलिन हाथ दर्पण को अधिक रगड़ते हुए उत्तरोत्तर निर्मल करते हैं—इस अवयव उपमा सम्पत्ति से मलिन चित दुष्ट सज्जनों को अत्यधिक पीड़ा पहुँचाते हुए अत्यन्त निर्मल करते हैं—यह विशिष्ट उपमा पृथक् क्रिया के द्वारा वाक्यभेद से अवगत होती है। कहीं अर्थात् चौथे में—विशिष्ट विधि से विशेषण रूप अवयव विधियों की गम्यता है। जैसे—'दृष्टान्त'।

(सुधा)

वाक्यभेदेनाप्युदाहरणं दर्शयति—हस्त इवेति। भूतिमलिनो हस्त इव खलो दुष्टो यथा यथा सुजनं लङ्घयति, दर्पणमिव तं सुजनं तथा तथोत्तरोत्तरं निर्मलशोभं कुरुते इत्यन्वयः। अत्र भस्ममलिनो हस्तो दर्पणमधिकं घर्षयन्नुत्तरोत्तरं निर्मलं कुरुत इत्यवयवोपमया सम्पत्त्या मलिनचित्तः खलः सुजनमत्यधिकं पीडयन् अतिनिर्मलं कुरुते इति विशिष्टोपमा पृथक् क्रियया वाक्यभेदादवगम्यत इति स्पष्टार्थः। चतुर्थे-विशिष्टविधिना विशेषणरूमावयवविधीनां गम्यत्वम्, यथेति दृष्टान्तः।

(चित्र०)

विशिष्टविधिनेव विशेषणविशेष्यविधीनाम्।

यथा—

त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पङ्कजम्॥

अत्र विशिष्टस्योपमया तदवयवभूतानां भृङ्गलोचनानां केसरनखदीधितीनां पङ्कजाननयोश्चोपमानोपमेयभावो गम्यते।

(भारती)

विशिष्ट विधि से ही विशेषणविशेष रूप अवयव विधियों की गम्यता का उदाहरण देते हैं।

जैसे—

'इसका मुख कमल के समान हैं और आँखें भौरों की तरह हैं और भौंरे की तरह आँखों से युत् उसका मनोहर मुख कमल की तरह शोभ रहा है। कमल भौंरे की तरह कजरारी आँखों से युत् मुख की तरह शोभ रहा है।'

यहाँ विशिष्ट मुख का विशिष्ट पंकज की उपमा से उसके अवयवभूत भौंरे और आँखों के केसर आदि उपमा की गम्यता है।

(सुधा)

प्रकृते तदुदाहरणं दर्शयति—त्वदाननमिति। अत्र विशिष्टस्याननस्य विशिष्टेन पङ्कजेनोपमया तदवयवभूतभृङ्गलोचनानां केसरादीनामुपमाया गम्यत्वम्।

(चित्र०)

एवमसंख्या उपमाविकल्पाः । तथा—

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलकरैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥

इत्येवमाद्या रशनारूपकाद्या रूपकविकल्पा अप्यसंख्याः ।

उक्तं हि काव्यालोके—

अपर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोर्यतः ।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ॥ इति ।

इति चित्रमीमांसायां रूपकालङ्कारप्रकरणम् ।

(भारती)

इस प्रकार रूपकों की अनन्तता का प्रतिपादन करते हुए रसना रूपक का उदाहरण देते हैं। जैसे—

'कामदेव कामियों का मन जीतने लगा—लताओं के किसलयकरों से, रमणियों के कर-कमलों से, नलिनियों के कमल रूप हाथों से और युवतियों के मुखचन्द्रों से—सबको वशीभूत करने लगा।'

यहाँ रसनारूपक उपमा की तरह रूपक के भेदों की असंख्यता कही गयी है।

काव्यालोक में दण्डी ने ऐसा ही कहा है—

'क्योंकि रूपक और उपमा के भेदों का अन्त नहीं है। अतः यहाँ उसका दिङ्मात्र ही दिखाया गया है। इसमें जो नहीं कहा गया है, उसका भी अनुमान इसी प्रकार बुद्धिमानों को करना चाहिए।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायां रूपकनिरूपणं समाप्तम् ।

(सुधा)

उपमामुपसंहरति—एवमिति । एवं रूपकाणामानन्त्यं प्रतिपादयन् रसनारूपकमुदाहरति—तथेत्यादि । लतानां किसलयरूपैः करैः कामिनां हस्तरूपैः कमलैः जगद् नलिनीनां कमलरूपैः करैः, योषितां मुखरूपैरिन्दुभिः मदनश्च जयति ।

अत्र रसनारूपकमुपमावद्रूपकभेदानामप्यसंख्यतामाहुः । रूपकविकल्पा इति । रूपकभेदा इत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—उक्तं हीति । दण्डिनेति शेषः । यतो रूपकोपमयोर्भेदाना-

मन्तो नास्ति, अतो दिङ्मात्रमिदं दर्शितम्। एवं धीरैरनुक्तमपि अनुमीयतामित्यन्वयः। तथा हि काचिद् दिक् प्रदर्श्यते—धर्मभेदैरपि रूपकभेदाः। क्वचिदनुगामी, क्वचिद् बिम्बप्रतिबिम्बभावः, क्वचिदुपचारः, क्वचित्केवलशब्दात्मा, एतेषामपि क्वचिच्छब्दोपात्तत्वम्, क्वचित् प्रतीयमानत्वम्। उपात्तोऽनुगामी यथा—

'जडानन्धान् पङ्गून् प्रकृतिविधुरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन्   ।'
'निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
जनानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ॥'

अत्र भेषजभागीरथ्योस्त्राणरूपोऽनुगामी धर्मस्तुमुनन्तेन शब्देनोपात्तः। अनुपात्तो यथा—

'समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥'

अत्र सौभाग्यभागीरथ्योः स्वभावव्यापकदौर्भाग्यकत्वपरमोत्कर्षाधायकत्वादीनामनुपात्तत्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बो यथा—

'आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत्।
क्षालनं भास्करस्येदं सारसैः सलिलोत्करैः ॥'

अत्रात्मनि तपोदानेषु चारोपविषयविशेषणतया बिम्बभूतेषु भास्करस्य सलिलक्षालनादीनां च विषयिविशेषणत्वेन प्रतिबिम्बानां रूपकं गम्यमानम्। उपचरितो यथा—

'अविरतं परकार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो विमलशारदचन्द्रिरचन्द्रिका ॥'

अत्रामृतरूपके विषये वचस्युपचरितो मधुरिमातिशयः शब्देनोपात्तः। अत्रैवाम्बुनिध्यादिरूपके गाम्भीर्याद्यनुपात्तम्। केवलशब्दात्मको यथा—

'अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः ॥'

अत्र सरोगशब्दादिरुपात्त एव प्रतीयते, न तु लुप्तः। साधारणधर्मस्य यत्र युक्तिरूपेण कथनं तद्धेतुरूपकं यथा—

पक्षशाखः प्रभो यस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथानेन पूर्यन्ते कथं सर्वमनोरथाः ॥'

शब्दशक्तिमूलं व्यङ्ग्यरूपकं यथा—

'विज्ञत्वं विदुषां गणे सुकविता सामाजिकानां कुले
माङ्गल्यं स्वजनेषु गौरवमथो लोकेषु सर्वेष्वपि।
दुर्वृत्ते शनिता नृलोकवलये राजत्वमव्याहतम्
मित्रत्वञ्च वहन्नकिञ्चनजने देव त्वमेको भुवि ॥'

अत्र शक्तिनियन्त्रणेऽपि बुधत्वशुक्रत्वादीनि बुधाद्यभेदरूपाणि राजनि व्यज्यन्ते।

'तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥'

इहापि वदनं चन्द्र इति गम्यते। एवं रीत्या रूपकानन्त्ये दिगियं प्रदर्शिता। अथ रूपके शाब्दबोधस्य रीतिः प्रतिपाद्यते। तत्र प्राञ्चः—

विषयवाचकपदेन विषयवृत्तिगुणवतो सारोपलक्षणयोपस्थितौ तस्याभेदसम्बन्धेन विशेषणतयान्वयः। तथा च 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति बोधः। लाक्षणिकबोधोत्तरोत्पद्यमानप्रयोजनीभूताभेदबोधेन चन्द्रसदृशं मुखमित्युपमातो वैलक्षण्योपपत्तिः। मुखचन्द्र इति विशेषणसमासे मुखाभिन्नं चन्द्रवृत्तिगुणवदिति धीः। 'कान्त्या मुखं चन्द्रः' इति साधारणधर्मोपादाने त्वभेदस्तृतीयार्थः, तस्य चन्द्रवृत्तिगुणपदार्थैकदेशेऽन्वयात् कान्त्यभिन्नचन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति धीरित्याहुः। नव्यास्तु—नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धतया फलस्य लक्षणां विनैवोपपत्तेस्तत्कल्पनाया अयोग्यतया चन्द्राभिन्नं मुखमिति बोधः। रूपके लक्षणाङ्गीकारे तु 'मुखचन्द्रः' इत्यादावुपमितिविशेषणसमासयोरुत्तरपदस्य लाक्षणिकत्वाविशेषेणैकस्योपमात्वमन्यस्य रूपकत्वमित्यस्य व्याहतत्वापत्तेः। तस्याप्यभेदस्याहार्यत्वेन न बाधबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वम्।

अथ 'गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथः' इत्यत्र कथं बोधः? शृणु—प्राचीनमते लक्ष्यमाणैकदेशे सादृश्येऽभेदस्य तृतीयार्थस्य अन्वयाद्गाम्भीर्याभिन्नसमुद्रवृत्तिधर्मवदभिन्नोऽयमिति धीः।

नव्यमते तु कवेरिच्छामात्रं कल्पितासद्भूतान्तःकरणपरिणामरूपमुखचन्द्राद्यर्थोपनिबन्धननिर्मितेः साधारणधर्मदर्शनाधीनतया तस्य प्रयोजकत्वसम्भवेन गाम्भीर्यादिप्रयोज्यसमुद्राभिन्नोऽयमिति बोधः। उभयमतेऽपि 'वह्निमान् धूमात्' इत्यत्र पञ्चमीविभक्तेरिव तृतीयाविभक्तेरपि ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारतार्थतया गाम्भीर्यज्ञानजन्यज्ञानप्रकारकसमुद्राभिन्नोऽयमिति बोधः। ननु 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्यत्र समासगतपरम्परितरूपके तत्पुरुषावयवे कर्मधारये पूर्वपदार्थसौजन्यस्याभेदसम्बन्धेनोत्तरपदार्थभूतचन्द्रिकायां विशेषणतया चन्द्रिकागतसौजन्याभेदस्योपमेये राजनि उपमानस्य चन्द्रस्याभेदात्मकरूपकसमर्थनं न युक्तम्, यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदः, तस्मिन् तदभेद इति व्युत्पत्त्या सौजन्यविषयकचन्द्रिकाभेदस्यैव समर्थनाद् राज्ञि चन्द्राभेदकथनस्य व्युत्पत्तिविरोधित्वात्। यथा 'सौजन्यं ते धराधीश चन्द्रिका त्वं सुधानिधिः' अत्र हि राजसम्बन्धिनि सौजन्ये चन्द्रसम्बन्धिचन्द्रिकातादात्म्यसिद्ध्या राज्ञि चन्द्रतादात्म्योपपत्तिः। समानवित्तिवेद्यतया चन्द्रिकायां सौजन्याभेदबोधे सौजन्ये तदभेदभानं तु शाब्दबोधस्य व्युत्पत्तिवैचित्र्यनियन्त्रितत्वान्न वक्तुं शक्यम्। प्रात्यक्षिकसामग्रीतुल्यतयैव तत्सत्त्वात्। एवम् 'मुखचन्द्रः' इति समासेऽपि कथं मुखविशेष्यकचन्द्रारोप इति चेत्? अत्र रसगङ्गाधरकृतः—कर्मधारये त्वभेदो विशेषणसंसर्गः। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ वाक्यगते रूपके स्वप्रतियोगिनश्चन्द्रस्य स्वानुयोगिनि मुखे यथाऽभेदस्य विशेषणतानिर्वाहकत्वम्, तथा समासगते रूपके स्वानुयोगिनो मुखस्य स्वप्रतियोगिनि चन्द्रे विशेषणतानिर्वाहकत्वम्। एवञ्चोभयत्रापि वस्तुतश्चन्द्राभेद एव संसर्गः। वाक्ये प्रतियोगित्वमुखः, समासे त्वनुयोगित्वमुखः, विशेषणविशेष्यभाववैचित्र्यात्। 'मुखचन्द्रः' इत्यत्र मुखाभेदस्तु न संसर्गः, चन्द्ररूपकानापत्तेः, विशेषणप्रतियोगिक एवाभेदसंसर्गः, न तु तदनुयोगिक इति दुराग्रहस्य निर्मूलत्वात्।

एवञ्च सौजन्यनिष्ठाभेदप्रतियोगिनी चन्द्रिकेति भङ्ग्यन्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकातादात्म्यसिद्धौ राज्ञि चन्द्राभेदसिद्धेर्न परम्परितरूपकेऽनुपपत्तिरित्याहुः।

अत्र विशेश्वरचरणाः—'नीलघटः' इति कर्मधारये नीलप्रकारकाभेदसंसर्गकघटविशेष्य-

कज्ञानोदयाद्विशेषणप्रतियोगिकत्वमेवाभेदस्य, न तु विशेष्यप्रतियोगिकत्वम्, विशेषण-प्रतियोगिकोऽभेदो न तु विशेष्यप्रतियोगिक इत्यस्य संसर्गाभावमात्रे नियमनात्। पर्वतानुयोगिकत्वेन वा वह्निप्रतियोगिकत्वेनानुमित्यादौ तद्भासनात्, दुराग्रहमात्रस्यैव दुराग्रहत्वात्। भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं विशेषणत्वम्, तादृशवैशिष्ट्यानुयोगित्वं विशेष्यत्वमिति सिद्धान्तात्, संसर्गस्य विशेषणानुयोगिकत्वस्वीकारे तद्विरोधाच्च। सौजन्यविशेष्यकाभेदसंसर्गकचन्द्रिकाप्रकारकशाब्दबोधाभावेऽपि का हानिः? येनात्र संसर्गस्य विशेषणानुयोगिकत्वाङ्गीकारः। ननु चन्द्राभेदसमर्थकत्वानुपपत्तिरेव तत्र मानमिति चेत्, न; तदुत्तरकालसौजन्यविशेष्यकाभेदसंसर्गकचन्द्रिकाप्रकारकबोध एव तत्सम्भवात्। अभेदज्ञानस्य शाब्दस्यैव तत्समर्थकत्वं चेत्? तत् किं सौजन्यनिष्ठाभेद-प्रतियोगिनी चन्द्रिका इति बोधस्याङ्गीकारे सौजन्यं प्रकारः, अभेदः सम्बन्धः, चन्द्रिका विशेष्यम्। ततः सौजन्याभिन्ना चन्द्रिकेति बोधः, प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः पदार्थसंस-र्गोभयभिन्नत्वेन शाब्दबोधाविषयत्वात्। तथा चैकस्मिन्नंशे तदनुसरन्नपरत्र वैपरीत्यमाश्र-यन् लज्जां नाङ्गीकुरुते। तथा च सौजन्याभिन्ना चन्द्रिकेति शाब्दबोधे जाते तदुत्तरभाविना सौजन्यनिष्ठाभेदप्रतियोगिनी चन्द्रिकेति मानसबोधेन राज्ञि चन्द्राभेदारोपः समर्थ्यत इत्यवश्यं वक्तव्यत्वात् तदपेक्षया तदुत्तरभाविना चन्द्रिकाप्रतियोगिकाभेदानुयोगिसौजन्य-मिति बोधेनैव तत्समर्थ्यताम्, अलमसांदृष्टिकार्थकल्पनया भङ्ग्यन्तरेणोक्तार्थबुद्धिकल्पनया चेति वदन्ति। अत्रापि चमत्कारापकर्षका लिङ्गभेदादयो दोषाः, यथा—

> 'बुद्धिरब्धिर्महीपाल यशस्ते सुरनिम्नगा।
> कृतयस्तु शरत्कालचारुचन्द्रचन्द्रिका॥'

अत्र विषयविषयिणोर्लिङ्गादिवैरूप्यं ताद्रूप्यबुद्धौ प्रतिकूलम्, कविसमयसिद्धतयाऽप-कर्षकाभावेन दोषत्वम्। 'सन्तापशान्तिकारित्वाद्वदनं तव चन्द्रमाः।' इत्यादिवत्। इत्यलम्।

> 'रूपकालङ्कृतिव्याख्या धरानन्देन निर्मिता।
> टीकायां चित्रमीमांसासुधायामापि पूर्णताम्॥'

इति मिश्ररामबलस्यात्मजधरानन्दरचितचित्रमीमांसाव्याख्यायां
सुधाख्यायां रूपकालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ परिणामनिरूपणम्

'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति तल्लक्षणमुक्तम् ।

(भारती)

आरोप्यमाण अर्थात् उपमान का प्रकृत अर्थ में उपयोगी होना ही परिणाम अलङ्कार है— (अलङ्कारसर्वस्व, रूय्यक) ।

विमर्श—संस्कृत के अलङ्कार शास्त्र में परिणाम अलङ्कार का विवेचन दो भिन्न पद्धतियों पर हुआ है । एक का आधार है—सामानाधिकरण्य अर्थात् जब विषयी और विषय दोनों में परस्पर सामानाधिकरण्य हो तब उक्त भेद होता है । इसमें विषयी और विषय में विभक्तिभेद नहीं पाया जाता है । दूसरा है वैयधिकरण्य—अर्थात् जब विषय और विषयी में विभक्तिभेद हो तो वहाँ दूसरा भेद होता है । इस अलंकार की प्रथम उद्भावना का श्रेय राजानक रूय्यक को है । इसके स्वतंत्र अस्तित्व का खण्डन नागेश ने काव्यप्रकाश की उद्द्योत नामक टीका में तथा विश्वेश्वरने अलङ्कारकौस्तुभ नामक ग्रंथ में करने की चेष्टा की है । फिर भी वे इसके अलङ्कारत्व को मिटाने में असमर्थ ही रहे हैं ।

(सुधा)

एवं रूपकालङ्कारं व्याख्याय ततो यत्किञ्चिद्विच्छित्तिभेदेन भिन्नं परिणामालङ्कारं निरूपयितुमारभते—अथेति । रूपकानन्तरमित्यर्थः । तत्र परिणामस्य प्राचीनोक्तं लक्षणमाह—आरोप्यमाणस्येति । उपमानस्योपयोगित्वं परिणाम इति तल्लक्षणम् ।

(चित्र०)

तत्र शङ्क्यते—

यामि मनोवाक्कायैः शरणं करुणात्मकं जगन्नाथ ।
जन्मजरामरणार्णवतरणतरण्यं तवाङ्घ्रियुगम् ॥

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः ।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास ॥

एतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापतिपाण्डुराणि ।
संप्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि ॥

(भारती)

अब यहां सन्देह करते हैं—

'हे जगन्नाथ, तुम करुणास्वरूप हो, तुम्हारे चरणकमल जन्म, जरा और मरण रूपी सागर से उद्धार करने वाले हैं । अतः मन, वचन और शरीर से मैं तुम्हारी शरण में हूँ ।'

(यहां रूपक आरोप्यमाण 'तरण्य' की प्रकृति में 'तरण' उपयोगिता के कारण अतिव्याप्ति है ।)

'रात में अभिसारिका के मुख को बिजली रूपी आँखों से देखकर बादल ने—'क्या यह धारा

निपात के साथ वान्त करता हुआ चन्द्रमा है ?' यह समझकर आर्त्तभाव से गिड़गिड़ा उठा (आवाज किया)। (यहाँ आरोप्यमाण नयन की निरीक्षण उपयोगिता से रूपक में अतिव्याप्ति है।)

'अवन्तिदेशाधिपति रूप कल्प वृक्ष से उत्पन्न चन्द्रमा के तुल्य श्वेत यश ही है प्रसून जिसके, उस यशरूपी प्रसून से इस समय मैं दिग्वधुओं को सजाता हूँ—इसे आप सब देखें।'

(यहाँ आरोप्यमाण प्रसूनों के अवतंसन रूप प्रकृतकार्योपयोगिता से अतिव्याप्ति दोष है।)

(सुधा)

तत्र यथाश्रुतार्थंकलक्षणे परिष्कारविशेषं कर्तुमाशङ्कयते—यामीत्यादिना। हे जगन्नाथ, करुणारूपं जन्मादीनां तरणतरण्यं तव चरणयुगं मनोवाक्कायैरहं शरणं यामीत्यन्वयः। अत्र रूपक आरोप्यमाणस्य तरण्यस्य प्रकृते तरण उपयोगितयातिव्याप्तिः। निरीक्ष्येति। पयोदो मेघः रात्रौ विद्युन्नयनैरभिसारिकायाः मुखं निरीक्ष्य धारानिपातैः सहायं चन्द्रो वान्तः किन्तु इति आर्ततरं ररासे ध्वनिं चकार। अत्रारोप्यमाणनयनस्य निरीक्षणोपयोगित्वाद्रूपकेऽतिव्याप्तिश्च। एतानीति। अवन्तीश्वररूपकल्पवृक्षजातानि चन्द्रतुल्यश्वैत्ययुतानि एतानि यशांस्येव प्रसूनानि सम्प्रत्यहं दिग्वधूनामवतंसयामि=अवतंसरूपाणि करोमि, यूयं पश्यत इत्यन्वयः। अत्रारोप्यमाणप्रसूनानामवतंसनरूपप्रकृतकार्योपयोगितयातिव्याप्तिः।

(चित्र०)

इति श्लोकेष्वारोप्यमाणानां तरण्य-नयन-प्रसूनानां तरण-निरीक्षणावतंसनरूपप्रकृतकार्योपयोगे सत्यप्युक्तलक्षणकृतालङ्कारसर्वस्वकारेणैव रूपकमङ्गीकृतम्।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

इत्यादिश्रुतावारोप्यमाणानां राथरथादीनाम् 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इति वक्ष्यमाणाध्वरपारगमनरूपप्रकृतकार्योपयोगे सत्यपि भगवता बादरायणेन 'नानुमानिकमप्येकेषामिति चेत् ? न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च' इति शारीरकसूत्रे रूपकमङ्गीकृतम्। अतस्तेषु लक्षणस्याव्याप्तिः। एवम्—

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो-
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम्।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः॥

इति भ्रान्तिमति,

(भारती)

इन तीनों श्लोकों में, क्रमशः 'तरण्य', 'नयन' एवं प्रसूनों के 'तरण', निरीक्षण और अवतंसन रूप प्रकृत कार्य के उपयोग में रहने पर भी उक्त लक्षण बनाने वाले अलङ्कारसर्वस्वकार के द्वारा

ही रूपक स्वीकृत है। इस प्रकार प्राकृत रूपक में अतिव्याप्ति की आशंका कर वेद में भी अतिव्याप्ति की आशंका करते हैं—

'आत्मानं आर्थात् जीव रथी है और शरीर ही रथ है तथा इस शरीर रूपी रथ का सारथी बुद्धि है और मन को प्रग्रह जानो।'

'जीव रथी है' इत्यादि रूप श्रुति में; आरोप्यमाण रथी एवं रथादियों का 'विष्णु के परमपद रूप मार्ग का पारप्राप्तिरूप कार्य की उपयोगिता से' अतिव्याप्ति दोष होता है। कहते हैं यदि यहाँ 'नानुमानिकमप्येकेषाम्' इस नियम से उक्त उदाहरण में परिणाम अलङ्कार ही मान लें तो—ऐसा नहीं कह सकते—क्योंकि 'शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दशयति च' इस सूत्र में भगवान बादरायण ने स्वयं रूपक को अङ्गीकृत किया है। ऐसा नहीं करने से उसकी विरोधापत्ति अर्थात् अतिव्याप्ति हो जाती। इसी प्रकार—

'इस रैवतक गिरि पर चन्द्रमा की किरण के अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से मिश्रित होने के कारण सहस्रों की संख्या में हो जाने पर कमलनियां निश्चय ही यह सूर्य है—ऐसा मानकर वे भी विकसित-कमल-पुष्पों वाली बन जाती हैं।'

(यहाँ आरोप्यमाण रवि के विकासात्मक प्रकृति की उपयोगिता से अतिशयोक्ति में भ्रान्तिमान की जो व्यञ्जना है—उसमें अतिव्याप्ति होगी।)

(सुधा)

न चैतेषां परिणामत्वमेवास्तु, लक्षणकृता=अलङ्कारसर्वस्वकृतैव तेषु रूपकप्रतिपादनात्। एवं प्राकृतिकरूपकेष्वतिव्याप्तिमाशङ्क्य वेदेऽप्यतिव्याप्तिमाशङ्कते—आत्मानमिति। आत्मानं जीवं रथिनम्, शरीरन्तु रथमेव, विद्धि=जानीहि, बुद्धिन्तु सारथिम्, मनः प्रग्रहमेव विद्धीत्यादिश्रुतावारोप्यमाणरथिरथादीनां विष्णुपरमपदरूपाध्वनः पारप्राप्तिरूपकार्योपयोगितयाऽतिव्याप्तिः। न च तत्र परिणाम एवास्तु 'नानुमानिकमप्येकेषामिति चेत्, न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च' इति सूत्रे भगवद्बादरायणाङ्गीकृतरूपकस्यैव तत्र सत्वात्। अन्यथा तद्विरोधापत्तेश्च। एवं रूपकेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्य, अन्यालङ्कारेष्वतिव्याप्तिराशंक्यते—एवमिति। भिन्नेष्विति। इह रैवतके, इन्दोः किरणेषु उदक्षश्चावाक्षश्च तैरुच्चावचैः, अनेकविधैरित्यर्थः। 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः। रत्नकिरणैः भिन्नेषु मिश्रेषु, अत एव सहस्रसंख्यामुपगतेषु सत्सु नलिन्यः पद्मिन्यः 'नलं पद्मे नलं तृणम्' इति शाश्वतः। असौ प्रकाशमानोऽहिमांशुः सूर्यः, किलेति। रात्रावपि, 'दोषा च नक्तञ्च रजनौ' इत्यमरः। व्याकोशकोकनदतां विकचपद्मतां दधते। 'व्याकोचविकचस्फुटाः' इत्यमरः। 'रक्तोत्पलं कोकनदम्' इत्यपि च। अत्र भ्रान्तिमत्यतिव्याप्तिः। आरोप्यमाणरवेर्विकासात्मकप्रकृतकार्योपयोगित्वात्।

(चित्र०)

विकसदमरनारीनेत्रनीलाब्जषण्डा-
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।
न तु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः॥

इत्यपह्नुतौ,

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयःकृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ।।

इत्यतिशयोक्तौ,

(भारती)

इस अपह्नुति के उदाहरण में देवाङ्गनाओं की आँखों का ब्रह्मचर्य दानरूप कार्यों की उपयोगिता से अतिव्याप्ति है ।

'कृशाङ्गी वह दमयन्ती अपनी लज्जारूपी नदी के उच्चतम प्राकार को पाकर जो नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी, वह युवावस्था से किये गये समीप में नये मुक्ताहार से युक्त अथवा नये उपहारों से युत वक्षःस्थल पर उत्पन्न स्तनरूप दो कलशों का प्रभाव था क्या ? निष्कर्ष यह है कि—जिस प्रकार कोई कमजोर आदमी छाती पर (नीचे) दो घड़ों को रखकर उनकी सहायता से नदी को पारकर अपनी अभीष्ट जगह पहुँच जाता है । उसी प्रकार कमजोर देहवाली दुबली-पतली दमयन्ती भी जवानी के द्वारा प्रदत्त उपहारस्वरूप विशाल स्तनरूपी दो घड़ों की मदत से अपनी या नल की लज्जारूपी नदी की प्रखर धारा को पार कर अपनी इच्छित जगह अर्थात् नल के हृदय में प्रवेश कर गयी ।'

(यहाँ आरोप्यमाण कुचकुम्भ युगल के नदीसंचरण कार्यरूप उपयोगिता से अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति दोष होता है ।)

(सुधा)

विकसदिति । स कुमारः, वो ब्रह्मचर्यश्रियं वितरतु ददात्वित्यर्थः । यः संयमेन अधः कृतानि विकसन्ति यान्यमरनारीणां नेत्रनीलाब्जानि, तेषां खण्डानि 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्याधारस्य कर्मत्वम्, सर्वदाधिवसति, यो रुचिरकलापे शोभनबर्हे मयूरे न तु वर्तते । इत्यपह्नुतावमरनारीनेत्राणां ब्रह्मचर्यदानरूपकार्योपयोगित्वेनातिव्याप्तिश्च ।

उरोभुवेति । सा दमयन्ती, यद् यस्माद् कारणान्नलस्य हृदयं विवेश, किं कृत्वैव ? त्रपैव या सरिन्नदी, सैव दुर्गः कोटः, तत्प्रतीर्य तीर्त्वा, उरोभुवा उरस्थेन कुम्भद्वयेन विजृम्भितं चेष्टितम् । तत्कारणं किम् ! कलशयुगविशेषणम्—नवोपहारेण नूतनोपायनेन वयःकृतेन यौवननिवेदितेन । अत्रातिशयोक्तावतिव्याप्तिश्च । आरोप्यमाणकुम्भयुगस्य सरित्तरणकार्योपयोगितासत्त्वात् ।

(चित्र०)

चक्रभ्रमणकरत्वात् कुदृष्टिभिर्दूरवर्ज्यमानत्वात् ।
श्रुत्यन्तखेलनत्वान्मशक त्वामेव माधवं मन्ये ।।

इत्यनुमाने चातिव्याप्तिः, भ्रान्तिमत्यहिमांशोर्विकासे, अपह्नुतावमरनारीनेत्राणां ब्रह्मचर्यवितरणे; अतिशयोक्तौ कुम्भयुगस्य सरित्तरणे; अनुमाने माधवस्य चक्रे भ्रमणे च प्रकृतकार्योपयोगित्वात् ! अपह्नुतौ 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' इति तत्क्रतुन्यायेन संयमाधः कृतामरनारीनेत्राधिष्ठानस्य ब्रह्मचर्यवितरणोपयोगित्वम् ।

(भारती)

'चक्र की तरह घूमते रहने के कारण अथवा भ्रमितचन्द्र को धारण करने के कारण, कुत्सित दृष्टियों से दूर ही वर्जित रहने के कारण किंवा वक्र दृष्टियों से वर्जित होने के कारण, कानों के समीप भनभनाने के कारण किंवा क्रीड़ाप्रिय होने के कारण—हे मशक, मैं तुम्हें ही माधव अर्थात् श्रीकृष्ण मानता हूँ।'

अनुमान अलंकार के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति है। पूर्वोदाहृत चन्द्रकिरणों में सूर्यविकास रूप भ्रान्तिमान में, अमरनारियों के नेत्रों का ब्रह्मचर्य वितरण रूप अपह्नुति में, कुच-कुम्भ युगल का नदीसंतरण रूप अतिशयोक्ति में, माधव का चक्रभ्रमण रूप अनुमान में, प्रकृतकार्योपयोगिता से अतिव्याप्ति दोष है। अपह्नुति अलङ्कार में 'उसकी जैसी जैसी उपासना करते हैं वह वैसा ही वैसा होता है' इस 'तत्क्रतु' न्याय से संयम के द्वारा तिरस्कृत अमरनारियों के नेत्राधिष्ठान का ब्रह्मचर्यवितरण उपयोगिता से अतिव्याप्ति है।

(सुधा)

चक्रेति। हे मशक ? चक्रभ्रमणकरत्वात्, कुदृष्टिभिः दूरतो वर्ज्यमानत्वात्, अत्यन्तखेलनत्वात्, त्वां माधवमेव मन्ये, इति श्लेषसंकीर्णऽनुमानालंकारेऽतिव्याप्तिः। आरोप्यमाणमाधवस्य चक्रभ्रमणादौ प्रकृतकार्योपयोगित्वात्। अपह्नुतौ प्रकृतोपयोगित्वमाशंक्यौपनिषदन्यायेन निराकरोति—अपह्नुताविति। 'तं यथा यथोपासते स तथैव भवति' इति तत्क्रतुन्यायेन संयमाधःकृतामरनारीनेत्राधिष्ठानस्य ब्रह्मचर्यदानोपयोगित्वान्न क्वापि शंकेति तद्भावः।

(चित्र०)

सुहृदालापेनैव प्रणश्यति स्थास्नुरान्तरः क्लेशः।
कान्तामुखचन्द्रेण हि शाम्यति रुचिरेण विरहजस्तापः॥

इति दृष्टान्तसङ्कीर्णपरिणामे चाव्याप्तिः। अत्रारोप्यमाणस्योपमानकोट्यन्तर्गताप्रकृतकार्योपयोगित्वादिति।

अत्राहुः—आरोप्यमाणस्य प्रकृतात्मनोपयोगित्वे परिणाम इति लक्षणार्थः। न चैवं सत्युदाहृतरूपकादिष्वतिव्याप्तिः,तेष्वारोप्यमाणानां तरण्यनयनप्रसूनसूर्यादीनां स्वात्मनैव तरणनिरीक्षणावतंसनकमलविकासनादिकार्योपयोगित्वसम्भवेन तदर्थमङ्घ्रियुगविद्युद्यशश्चन्द्रादिप्रकृतात्मतापत्त्यनपेक्षणात्। न चोक्तलक्षणस्य परिणामेऽसंभवः, यत्रारोप्यमाणं किञ्चित्कार्योपयोगित्वेन निबध्यमानं स्वतस्तस्य तदुपयोगित्वासम्भवात् प्रकृतात्मतापत्तिमपेक्षते, तत्रैव परिणामाङ्गीकारात्; यथा 'प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा' इति। अत्र त्वब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं निबध्यते। मयूरव्यंसकादिसमासेनोत्तरपदार्थप्राधान्यात्। न चोपमितिसमासाश्रयणेन पूर्वपदार्थप्राधान्याद् दृश एव तदुपयोगित्वं निबध्यत इत्यस्त्विति वाच्यम्; प्रसन्नेनेति सामान्यधर्मप्रयोगात्, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति तदप्रयोग एवोपमितसमासानुशासनात्। अब्जस्य च

वीक्षणोपयोगित्वं न स्वात्मना सम्भवति। अतः प्रकृतदृगात्मतापत्त्यपेक्षणात् परिणामालङ्कारः।

(भारती)

'हृदय-गह्वर में छिपे हुए दुःखों का विनाश जैसे मित्रों के साथ बातचीत करने से ही होता है। उसी प्रकार विरहजन्य तापों का शमन कान्ता के रुचिर मुख के दर्शन से ही होता है।'

यहां आरोप्यमाण चन्द्र का उपमानकोटि के अन्तर्गत विरहताप उपशमन रूप अप्रकृत कार्य की उपयोगिता से दृष्टान्त संकीर्ण परिणाम में अव्याप्ति है। (अतः परिणाम का यह लक्षण ठीक नहीं है)।

अब इस पर विचारते हैं कि उसी लक्षण का अर्थान्तर कर देने से पूर्वोक्त अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों का निराकरण हो जाता है। क्योंकि आरोप्यमाण की यहाँ प्रकृतात्मा से उपयोगिता में परिणाम है। अर्थात् यहाँ आरोप्यमाण का अर्थ हुआ प्रकृत कार्य की उपयोगिता। अगर आप यह कहें कि पूर्वोक्त उदाहरणों में आरोप्यमाणों के तरण्य, नयन, प्रसून एवं सूर्यादियों का स्व-स्वरूप से ही निरीक्षणादि कार्यों की उपयोगिता है, न कि वहाँ अङ्घ्रियुगात्मतापत्ति की अपेक्षा है। अतः वहाँ आरोप्यमाणों की प्रकृतात्मा के द्वारा उपयोगित्वाभाव से अतिव्याप्ति नहीं है। इसी प्रकार भ्रान्तिमान में भी आरोप्यमाण सूर्य का स्व-स्वरूप से ही उस कार्यों की उपयोगिता है, न कि प्रकृत चन्द्रात्मा से—अतः यहाँ भी अतिव्याप्ति नहीं है। अगर आप यह कहें कि उक्तार्थक लक्षण की संभावना नहीं है। क्योंकि जहाँ आरोप्यमाण कुछ कार्यों की उपयोगिता से निबद्ध होती है और स्व-स्वरूप के द्वारा ही आरोप्यमाण का कार्योपयोगित्व होता है, तथा जहाँ असंभावना से प्रकृत आत्मतापत्ति की अपेक्षा रहती है—वहीं परिणाम अलङ्कार होता है। जैसे—"वह मादक नेत्रोंवाली नायिका प्रसन्न नेत्रकमलों से देखती है।" इस उदाहरण में **'मयूरव्यंसकादयश्च'** इस सूत्र से उत्तरपदार्थप्रधान समास के अभ्युपगमन से 'अब्ज' की वीक्षण उपयोगिता निबद्ध है। 'दृगब्जमिव' यहां 'प्रसन्नेन' इस सामान्य धर्मप्रयोग की बाधकता के कारण किसी भी प्रकार पूर्वपदार्थप्रधान समास के प्राप्ति की संभावना नहीं की जा सकती। निष्कर्षरूप—हम कह सकते हैं कि इसमें दृग् (विषय) पर कमल का आरोप है। पर देखना क्रिया कमल द्वारा संभव नहीं है। अतः देखना कार्य में उपयोगी होने के लिए कमल को नेत्र के साथ अभेदत्व स्थापित करना पड़ा है। तब वह इस कार्य में पूर्ण समर्थ हुआ है। **'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'** इस सूत्र से और समासानुशासन से भी उसका यहाँ अभाव ही है। क्योंकि उत्तरपदार्थप्रधानता से स्वीकृत अब्ज की वीक्षण उपयोगिता अपने से संभव नहीं है। अतः प्रकृतदृगात्मा के द्वारा ऐक्य-रूप्यापेक्षण से परिणामालङ्कार है।

(सुधा)

एवमलङ्कारान्तरेषु अतिव्याप्तिमाशङ्क्य परिणामविशेषे दृष्टान्तसङ्कीर्णेऽव्याप्तिमाशङ्कते—सुहृदालापेनेति। स्थास्नुरान्तरः क्लेशः हृदयक्लेशः सुहृद्वचनेनैव प्रणश्यति। विरहजस्तापः रुचिरेण मनोहरेण कान्तामुखचन्द्रेण शाम्यति। अत्रारोप्यमाणचन्द्रस्योपमानकोट्यन्तर्गतविरहतापोपशमनरूपाप्रकृतकार्योपयोगितया दृष्टान्तसङ्कीर्णे परिणामे चाव्याप्तेश्च। तस्मान्नेदं सम्यग् लक्षणं तस्येति प्रतिपाद्य समाधत्ते—अत्राहुरिति। तस्यैव लक्षणस्यार्थान्तरकरणेन पूर्वोक्तातिव्याप्त्यव्याप्तिपरिहारानाह—आरोप्यमाणस्येति।

आरोप्यमाणस्य प्रकृतात्मनोपयोगित्वे परिणामः। ननु प्रकृतकार्योपयोगित्वमारोप्यमाणस्येत्यर्थः। पूर्वोक्तातिव्याप्तिं परिहरति—न चैवमिति। तेषूदाहृतेष्वित्यर्थः। आरोप्यमाणानां तरण्यनयनप्रसूनसूर्यादीनां स्वस्वरूपेणैव निरीक्षणादिकार्योपयोगित्वस्य, न तु तत्राङ्घ्रियुगात्मतापत्तेरपेक्षा। अतस्तत्रारोप्यमाणानां प्रकृतात्मनोपयोगित्वाभावान्नातिव्याप्तिः। एवं भ्रान्तिमत्यप्यारोप्यमाणसूर्यस्य स्वस्वरूपेणैव तत्कार्योपयोगित्वम्, न तु प्रकृतचन्द्रात्मनेति नातिव्याप्तिः। न चोक्तार्थकलक्षणस्यासम्भवः, यत्रारोप्यमाणं किञ्चित्कार्योपयोगितया निबद्धं स्वस्वरूपेणारोप्यमाणस्य कार्योपयोगित्वासम्भवात् प्रकृतात्मतापत्तिमपेक्षते तत्रैव परिणामः। यथा दृगब्जेनेत्यत्र 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति सूत्रेणोत्तरपदार्थप्रधानसमासाभ्युपगमेनाब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं निबद्धम्। दृगब्जमिवेति पूर्वपदार्थप्रधानसमासस्य तु न प्राप्तिः सम्भाव्यते, प्रसन्नेनेति सामान्यधर्मप्रयोगस्य बाधकत्वात्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रेण तदभाव एव समासानुशासनाच्च। उत्तरपदार्थप्रधानतया स्वीकृताब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं न स्वात्मना सम्भवति। अतः प्रकृतदृगात्मना ऐक्यरूप्यापेक्षणात् परिणामालङ्कारः।

(चित्र०)

नन्वेवं 'यामि मनोवाक्कायैः' इत्यादिष्वपि तरणादिशब्दलक्षितजन्मनाशाद्युपयोगित्वं तरण्यादीनामङ्घ्रियुगाद्यात्मनैवेति तेष्वपि परिणामप्रसङ्गः। मैवम्; यस्य कार्यवाचिपदप्रथमप्रतीततन्मुख्यार्थनिवर्तनसामर्थ्यं तदात्मनोपयोगित्वस्य ग्राह्यत्वात्। तरण्यादिपदमुख्यार्थनिवर्तनसामर्थ्यस्य च तरण्यादिष्वेव व्यवस्थितत्वात्। तस्मादुदाहृतेषु रूपकमेव। तेषु च नातिव्याप्तिरिति।

नन्वेवमुक्तातिव्याप्तिपरिहारेऽपि—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक्किं भूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद्वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरोऽपि सेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः॥

इत्यप्रस्तुतप्रशंसायामतिव्याप्तिः।

(भारती)

इस तरह अर्थ करने पर भी फिर अतिव्याप्ति की आशङ्का से कहते हैं कि 'यामि मनोवाक्कायैः' इत्यादि उदाहरण में तरणादि शब्द लक्षित जन्म और मरण आदि में उपयोगिता है। यहाँ अङ्घ्रियुगादि आत्मा से ही तरण्यादि की संभावना में इन कथित उदाहरणों में परिणाम का प्रसंग है अर्थात् अतिव्याप्ति है। इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि कार्यवाची पद से प्रथम प्रतीत अभिधागम्य जो उसका अर्थ है—उसके सम्पादन की शक्ति जिसकी है—उस आत्मा से उपयोगिता के द्वारा ही उक्त पद का ग्रहण है। तरणादि पद का जो मुख्य अर्थ है, उसके निवर्त्तन सामर्थ्य की तरण्यादि में व्यवस्था है न कि अंघ्र्यात्मा से। अतः यहाँ किसी भी प्रकार की अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग ही नहीं आता। क्योंकि इन उदाहरणों में सर्वत्र स्पष्टतः रूपक के लक्षण घटित हैं न कि परिणाम की कहीं प्राप्ति है।

इस प्रकार कथित अतिव्याप्ति के परिहार करने पर भी—'अरे भ्रमर ! क्या यह सब कुछ भूल गये कि जिसकी जिह्वा भी अपूर्व रूप से विपर्यस्त अर्थात् उल्टी—अग्नि के शाप से हाथी की जिह्वा है। दूसरे पक्ष में—जिसके कुछ बोलने का कोई भी ठिकाना नहीं है, जिसके कान सदा चंचल रहा करते हैं। दूसरे पक्ष में—जो दूसरों के कुछ भी कहने पर अपना मन बदल डालता है, और वस्तुतः अधिक कुछ कहने सुनने से क्या ! जिसकी आँखें निरन्तर मद-जल के गिरते रहने से अपने पराये का मार्ग नहीं देख पातीं, दूसरे पक्ष में—जो मदावलेप के कारण अच्छे-बुरे की पहचान नहीं कर पाता। उसी अस्थि-मांस रहित शुण्डादण्डवाले, दूसरे पक्ष में—निर्धन, वारण अर्थात् मत्तगजराज, दूसरे पक्ष में—सेवक के निरादर करने वाले स्वामी, की सेवा में अपने आप को खपाये जा रहे हो ? यह सब तुम्हारा कैसा दुराग्रह है ?'

अप्रस्तुतप्रशंसा के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति है।

विमर्श—यहां गज और भ्रमर का वृतान्त, जिसका यहाँ वर्णन हो रहा है अप्रस्तुत है और इसके सदृश निरादरकर्त्ता और भक्त स्वामी और सेवक का जो वृतान्त है, वह श्लेष की महिमा से आक्षिप्त है।

कारिका में रसनाविपर्यय (जिह्वा के विपर्यस्त होने) तथा अन्तः शून्यकरत्व (सूँड के भीतर से खोखले होने) को तो भ्रमर के लिए गजसेवा से मुंह मोड़ने का हेतु कहा नहीं जा सकता (और इसलिए इस अंश में वाच्य—गजभ्रमररूप अर्थ पर व्यङ्ग्य सेव्य-सेवक रूप अर्थ का आध्यारोप अपेक्षित है) किन्तु, 'कर्णचापल' (कानों का बार-बार फटफटाते रहना) तो इसका हेतु अवश्य है (जिससे इस अंश में वाच्यार्थ पर व्यङ्ग्यार्थ का आरोप आवश्यक नहीं है) अब मद के सम्बन्ध में तो यह ठीक ही है कि यह भ्रमर की गजसेवा का हेतु है (और ऐसा होने से यहाँ भी गजभ्रमण रूप वाच्यार्थ में सेव्य-सेवक रूप व्यङ्ग्यार्थ का अध्यारोप उचित ही है (का० प्र०)।

(सुधा)

एवमर्थे कृतेऽपि पुनरतिव्याप्तिमाशङ्कते—नन्वेवमिति। 'यामि मनोवाक्कायैः' इत्यादिषु तरणादिशब्दलक्षितजन्मनाशादावुपयोगिता, अङ्घ्रियुगाद्यात्मनैव तरण्यादीनां सम्भवतीत्यतिव्याप्तिरेवेत्याशङ्का। समाधत्ते—मैवमिति। कार्यवाचिना पदेन प्रथमप्रतीतोऽभिधागम्यो यस्तस्यार्थः, तत्सम्पादनसामर्थ्यं यस्य, तदात्मनोपयोगित्वस्य तेन पदेन ग्राह्यत्वात्। तरणादिपदस्य यो मुख्यार्थः, तन्निवर्तनसामर्थ्यस्य तरण्यादिषु व्यवस्थितत्वात्, न स्वङ्घ्र्यात्मनेति नातिव्याप्तिः। प्रकरणमुपसंहरति—तस्मादिति। उदाहृतेषु रूपकमेव, न तु परिणामप्राप्तिरिति भावः। दूषणान्तरमाशङ्क्य निराकर्तुमुपयोगित्वमित्यस्य परिष्कारं प्रतिपादयितुञ्च भूमिकामाह—नन्वेवमिति। सोऽपूर्व इति। हे भ्रातः, भ्रमर, एष ग्रहः आग्रहः कः ? त्वं सर्वं किं विस्मृतवानसि ? सोऽपूर्वो रसनाया जिह्वाया विपर्ययो नाम वागस्थैर्यम्, तस्य विधिः। अथ च रसना=शृङ्खला, तस्या विपर्ययो नाम वैलक्षण्येन बन्धनम्, तस्य विधिः। अथ कर्णयोश्चापलं चञ्चलता, राजपक्षे—असत्यवाक्श्रवणम्, अथ दृष्टिः सा; मद उन्मादः, तेन विस्मृता स्वदिक् परदिग् वा। राजपक्षे—स्वजनः परजनो वा। किं बहुना यत्रस्मादसौ वारणोऽन्तःशून्यकरो निषेव्यते—इत्यप्रस्तुतप्रशंसायामतिव्याप्तिः।

(चित्र०)

तत्राप्रकृतवारणरसनाविपर्ययादीनां प्रकृतदुष्प्रभुरसनाविपर्ययाद्यात्मतयैव

तत्सेवात्यागलक्षणकार्योपयोगित्वात् । न हि यथा वारणस्य कर्णचापलं भ्रमरस्य तत्सेवात्यागे हेतुः, यथा तस्य रसनाविपर्ययः शून्यकरता च तत्र हेतुः, मदः प्रत्युत तत्सेवायामेव हेतुरिति तस्य तत्त्यागहेतुत्वं दूरापास्तम् । एवमपि यत्तेषां त्यागहेतुत्वं निबध्यते तद्वारणादीनामप्रकृतानां दुष्प्रभुप्रभृतितादात्म्यापत्त्यैव निर्वाह्यमिति ।

'सुहृदालापेनैव' इत्यत्रोदाहृतपरिणामेऽव्याप्तिश्च तदवस्था । तत्र चन्द्रवन्मुखस्याप्यप्रकृतत्वेन प्रकृतात्मनोपयोगित्वाभावात् । उच्यते; प्रकृतात्मनेत्यत्र प्रकृतशब्दो विषयमात्रपर इति नोदाहृतपरिणामाव्याप्तिः ।

(भारती)

यहाँ तत्र शब्द से अव्याप्ति के भेद बताते हैं। अप्रकृतवारण रसना विपर्यय आदि का प्रकृत दुष्प्रभु रसना विपर्यय की आत्मा से ही उस सेवा के त्यागलक्षणरूप कार्य की उपयोगिता है । वारण की कर्णचपलता, भ्रमर की गजसेवा त्याग में जैसे हेतु हैं, उसी प्रकार उसके रसनाविपर्ययशून्य 'कर' की हेतुता नहीं है । मद का तो उल्टे उसकी सेवारूप हेतुत्व में त्यागरूप हेतुत्व का विलयन हो जाता है । इसी प्रकार रसनाविपर्ययादि का जो त्यागहेतुत्व निबन्धन है, उस अप्रकृत के वारणादि का दुष्प्रभु में तादात्म्यापत्ति का ही निर्वाह है ।

'सुहृदालापेन' यहाँ 'चन्द्रमा की तरह मुख का' भी अप्रकृतत्व से—प्रकृत आत्मा द्वारा उपयोगित्वाभाव से—अव्याप्ति है । इसी प्रकार अतिव्याप्ति आदि को दिखाकर 'प्रकृत आत्मना' इसका अर्थान्तरपरता से समाधान करते हैं कि 'प्रकृतात्मना' यहाँ प्रतकृतशब्द विषयमात्र परक है—इस व्याख्या से अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है । क्योंकि चन्द्रमा के विषयत्व का निर्वाधत्व से यहाँ हेतु को देखना चाहिए ।

(सुधा)

तत्राव्याप्तिप्रकारमाह—तत्रेति । अप्रकृतवारणरसनाविपर्ययादीनां प्रकृतदुष्प्रभुरसनाविपर्ययात्मतयैव तत्सेवात्यागलक्षणरूपकार्यस्योपयोगित्वसत्त्वात् । वारणस्य कर्णचापलं भ्रमरस्य गजसेवात्यागे यथा हेतुः, तथा तस्य रसनाविपर्ययशून्यकरत्वयोर्न हेतुत्वम् । मदस्य तु प्रत्युत तत्सेवायामेव हेतुत्वे त्यागहेतुत्वस्य दूरापास्तत्वात् । एवमपि रसनाविपर्ययादीनां यत्त्यागहेतुत्वनिबन्धनम्, तस्याप्राकृतानां वारणादीनां दुष्प्रभुतादात्म्यापत्त्यैव निर्वाह्यत्वात् । दोषान्तरमप्यन्यत्राह—'सुहृदालापेन' इत्यत्र चन्द्रवन्मुखस्याप्यप्रकृतत्वेन प्रकृतात्मनोपयोगित्वाभावादव्याप्तिः । एवमतिव्याप्त्यादिकं दत्वा प्रकृतात्मनेत्यस्यार्थान्तरपरतया समाधत्ते—उच्यते । प्रकृतात्मनेत्यत्र प्रकृतशब्दो विषयमात्रपर इति व्याख्यानान्नाव्याप्तिरित्यर्थः । चन्द्रस्य विषयत्वस्य निर्बाधत्वादिति हेतुरत्र द्रष्टव्यः ।

(चित्र०)

उपयोगित्वं च प्रकृतागमकार्यं प्रति विवक्षितम् । अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे प्रकृतदुष्प्रभुसेवात्यागगमकवारणसेवात्यागं प्रत्युपयोगित्वमिति न तत्रातिव्याप्तिः । एवं च—

आरोप्यमाणसारोपविषयात्मतया स्थितम् ।
प्रकृतस्योपयोगि स्यात्परिणाम उदाहृतः ।।

इति विद्यानाथलक्षणं प्रकृतस्येति पदस्य प्रकृतगमकस्येति व्याख्यानेन परिष्करणीयम् ।

(भारती)

उक्त उदाहरण 'सोऽपूर्वः' इत्यादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'उपयोगित्व' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रकृति के आगमक जो कार्य है, उसके प्रति उपयोगिता कहनी चाहिए। वहाँ तो दुष्ट प्रभु के सेवात्याग के गमक जो निवारण सेवा का त्याग है, उसके प्रति उपयोगिता है।

यदि आप यहाँ प्रकृति आगमक कार्य की प्रतीति मानते हैं तो अतिव्याप्ति दोष मिट जाता है। तथा विषयी और विषय के आत्मत्व से प्रकृत आगमक कार्य की उपयोगिता ही परिणाम है—ऐसी लक्षण की व्याख्या करने पर भी कोई दोष नहीं रह जाता है।

प्रसङ्ग से प्राप्त विद्यानाथ के द्वारा कथित लक्षण का भी परिष्कार करते हुए 'एवञ्च' से व्याख्या करते हैं—

"आरोप्यमाण (उपमान) का प्रकृत अर्थ में उपयोगी होना ही परिणाम है। अर्थात् जब आरोप्यमाण में प्रकृतार्थ सम्पादनक्षमता आ जाती है, तब वह उपयोगी बन जाता है। इस प्रकार परिणाम अलंकार में आरोप्यमाण का कार्योपयोगित्व अपरिहार्य तत्त्व माना गया है।"

इस प्रकार विद्यानाथ के लक्षण में 'प्रकृतकार्य' का—'प्रकृत आगमक कार्य' का—ऐसा परिष्कार करने पर अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरणों में कोई दोष नहीं रहता है।

(सुधा)

'सोऽपूर्वः' 'इत्यत्राप्रस्तुतप्रशंसायामतिव्याप्तिं वारयति—उपयोगित्वञ्चेति। प्रकृतस्यागमकं यत् कार्यम्, तं प्रत्युपयोगिता वाच्या। तत्र तु दुष्प्रभुसेवात्यागस्य गमको यो वारणसेवात्यागः, तं प्रत्युपयोगित्वम्। ननु प्रकृतागमककार्यं प्रतीति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। तथा च विषयिणो विषयात्मत्वेन प्रकृतागमककार्योपयोगित्वं परिणाम इति व्याख्याने न दोष इति भावः। प्रसङ्गाद्विद्यानाथोक्तलक्षणमपि परिष्कुर्वन् व्याचष्टे—एवं चेति। आरोप्यमाणम् = विषयी, आरोपविषयात्मतया=विषयरूपतापत्त्या स्थितं प्रकृतकार्यस्य चेदुपयोगि स्यात्, तत्र परिणाम, इति विद्यानाथलक्षणे प्रकृतकार्यस्येत्यस्य प्रकृताऽऽगमककार्यस्येति परिष्कारेऽप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणेषु न दोष इति ध्येयम्।

(चित्र०)

अयं च परिणामो द्विविधः—सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्याभ्याम्। सामानाधिकरण्येन यथा—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे ।।

अत्रारोप्यमाण आन्तरो विषयभूतसौमित्रिमैत्रीरूपतापत्त्या गुहोपकारलक्षणकार्योपयोगीति परिणामः।

उभयोर्विभक्त्यैक्यात् सामानाधिकरण्यम्। वैयधिकरण्येन यथा—

पुन्नागजालकैर्हारान् काञ्चीः केयूरदामभिः।
कर्णिकाः कर्णिकारैश्च विहर्तुं विदधुर्वने॥

अत्रारोप्यमाणा हारादयो विषयभूतपुन्नागजालकादिरूपतयैव वनक्रीडोपयोगिन इति परिणामः। विभक्तिभेदाद्वैयधिकरण्यम्।

(भारती)

परिणाम अलङ्कार के दो भेद हैं—(१) सामानाधिकरण्य और (२) वैयधिकरण्य। प्रथम अर्थात् सामानाधिकरण्य का उदाहरण देते हैं। जैसे—

यह पद्य अनर्घ राघव नाटक से उद्धृत है—"सीता और लक्ष्मण के साथ उस परम पराक्रमी राम ने भगवान शंकर की मौलि मालारूप देवनदी गंगा पारकर—उस गुह नामक नाविक के लिए पारिश्रमिक के रूप में लक्ष्मण की मैत्री देकर उसे उपकृत किया। इसके बाद वे व्याधाओं की युवती पत्नियों के द्वारा, जिन्होंने अपने-अपने बायें हाथ को थोड़ा तिरछा कर तथा दोनों हाथों के अन्तराल में अपने स्तनों को छिपाकर आश्चर्यचकित नेत्रों से देख रही थीं, उसे कष्टपूर्वक देखे जाते हुए चित्रकूट की ओर प्रस्थान किये।"

यहाँ आरोप्यमाण आन्तर—आरोप के विषयभूत लक्षण की मैत्रीरूपता से गुह के उपकार रूप लक्षण कार्य की उपयोगिता के कारण परिणामालङ्कार है। एक ही विभक्ति के दोनों स्थान में उपस्थिति के कारण यहाँ सामानाधिकरण्य है। अब वैयधिकरण्य से उदाहरण देते हैं। जैसे—

पुन्नाग जालकैर्हारान् काञ्चीः केयूरदामभिः।
कर्णिका कर्णिकारैश्च विहर्तुं विदधुर्वने॥

यहाँ आरोप्यमाण हारादि का विषयभूत पुन्नागजालकादि आत्मा से वनक्रीड़ा की उपयोगिता रहने के कारण परिणाम अलङ्कार है। यहाँ विभक्ति भेद से वैयधिकरण्य है।

(सुधा)

परिणामं विभजते—परिणाम इति। सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्याभ्यां परिणामद्वैविध्यमित्यर्थः। आद्यमुदाहरति—सामानाधिकरण्येनेति। तीर्त्वेति। अनर्घराघवनाटके पद्यम्। आत्मना तृतीयः=सीतालक्ष्मणसहित इति यावत्। असौ प्रक्रान्तो रामः भूतेशस्य शम्भोर्मौलिमालारूपाम् अमरधुनीं गङ्गां तीर्त्वा, तस्मै नाविकाय गुहसंज्ञाय सौमित्रेर्लक्ष्मणस्य मैत्रीरूपमातरं तरणमूल्यमुपकृतवान् उपकाररूपतया दत्तवान्। अथो अनन्तरं चित्रकूटं प्रति प्रतस्थे। कीदृशो व्यामेन तिर्यक् प्रसारितवामभुजद्वयान्तरालेन प्राप्तौ तावत्परिणाहौ स्तनौ यासां तथाभूतानां शबराणां व्याधानां युवतिभिः कौतुकेनोदञ्चन्ति विकसन्त्यक्षीणि यत्र क्रियायां कृच्छ्रात् क्लेशाद् अन्वीयमान इत्यर्थः। अत्र लक्षणं गमयति—अत्रेति। आरोप्यमाण आन्तर आरोपविषयभूतसौमित्रिमैत्रीरूपतापत्त्या गुहोपकारलक्षणकार्योपयोगित्वात् तत्सत्त्वमित्यर्थः। सामानाधिकरण्यमाह—उभयोरिति विभक्त्यैक्यस्यैवात्र समानाधिकरणत्वादित्यर्थः। द्वितीयमुदाहरति—यथेति। पुन्नागानां

जालकैर्हारान् केसरदामभिः काञ्चीः, कर्णिकारैः कर्णिकाः, ता वने विहर्तुं रचयन्ति स्मेत्यन्वयः।

(चित्र०)

इदं च वैयधिकरण्यं रूपकेऽपि सम्भवति। यथा—

तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-
च्छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनास्त्रिणे
नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेयं नतिः॥

अत्र नदीदृशोर्विषयोर्विभक्तिरारोप्यमाणयोः शेखरतिलकयोर्नास्ति।

(भारती)

यह वैयधिकरण्य रूपक में भी संभव है। जैसे—

"चन्द्रमा जिनका शेखर (शिरोभूषण) है, जो जगत के आधार हैं, जिनकी ग्रीवा मेघ की कान्ति को धारण करती है, और पार्वती के साथ ही जिनका एक शृंगार है—ऐसी गंगा नदी द्वारा शिरोभूषण वाले भालनेत्र द्वारा तिलक वाले, नारायण द्वारा अस्त्रों वाले, सर्पों द्वारा कंकण वाले और पर्वत द्वारा घरवाले हमारे स्वामी भगवान शंकर के लिए नमस्कार है।"

यहाँ नदी और आँखरूपी विषयों की जो विभक्ति है, वह आरोप्यमाण शेखर और तिलक की विभक्ति नहीं है। अतः यहाँ वैयधिकरण्य से परिणाम अलंकार है।

(सुधा)

आरोप्यमाणहारादीनां विषयभूतपुन्नागजालकाद्यात्मना वनक्रीडोपयोगित्वात्, विभक्तिभेदाच्च वैयधिकरण्येन परिणाम इत्यर्थः। प्रसङ्गादन्यत्राप्येतदतिदिशति—इदं चेति। वैयधिकरण्येन परिणामसत्त्वं रूपकेष्वस्तीति तदुदाहरति—तारानायकशेखरायेति। चन्द्रशेखराय, जगतामाश्रयाय, जलधरशोभाधारकग्रीवाय, पार्वतीसङ्गैकशृङ्गारिणे, गङ्गया शेखरिणे, दृशा = अग्निरूपनेत्रेण तिलकिने, भगवता नारायणेन अस्त्रवते, सर्पैः कङ्कणिने, कैलासेन गृहवते; शिवाय सा इयं नतिरस्तु। अत्र नदीदृशोर्विषययोर्या विभक्तिः, सा आरोप्यमाणशेखरतिलकयोर्नास्तीति वैयधिकरण्येन तत्सिद्धिरित्यर्थः।

(चित्र०)

यथा वा—

द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरुक्त्यं विकल्प-
श्चिन्तारत्नस्य वीप्सा तपनतनुभुवो वासवस्य द्विरुक्तिः।
द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलिकारस्य कुर्व-
न्नानन्दं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहक्षितीन्द्रः॥

अत्र विषयस्य राज्ञो विषयिणां पुष्पकेतुप्रभृतीनां च विभक्तिभेदः।

(भारती)

अथवा जैसे—"जो कामदेव की पुनरावृत्ति है, कल्पवृक्षों की पुनरुक्ति है—चिन्तामणि का विकल्प

है, राजा कर्ण का बार-बार कथन है, इन्द्र की दुबारा उक्ति है और दैत्यराजों के नाश की लीला करने वाले भगवान विष्णु का द्वितीय रूप हैं—वे नृसिंह नरेश विद्वानों को आनन्द उपजाते हुए विश्व में उत्कर्ष प्राप्त कर रहे हैं।"

यहाँ विषय रूप राजा का और विषयी स्वरूप पुष्पकेतु प्रभृतियों का विभक्ति-भेद है।

विमर्श—दीक्षित जी के उपर्युक्त दोनों उदाहरणों पर पण्डितराज को आपत्ति है। उनका कहना है कि प्रथम पद्य में 'पार्वती के साथ जिनका एक शृंगार है। उन भगवान शिव के विषय में कवि द्वारा नमस्कार उक्त है और यह शृंगार शिरोभूषणरूप आभूषणों की अपेक्षा रखता है। अतः यहाँ 'नदी' का आरोप किये जाने वाले शेखर (शिरोभूषण) के रूप में ही उपयोग है, न कि नदी के रूप में। इसी तरह नेत्र का भी तिलक के रूप में ही उपयोग है। अतः यहाँ तो शुद्ध रूपक ही होना चाहिए न कि परिणाम।

यदि आप कहें 'परिणाम में उपमान उपमेय से अभिन्न होकर रहता है।' फलतः इस पद्य में उपमेय वाचक नदी आदि शब्दों के आगे की तृतीया विभक्ति का अर्थ अभेद है। और उस अभेद के साथ 'शेखरिणे' का अन्वय होता है। अतः 'नदी द्वारा शिर के भूषण' का अर्थ होगा 'नदी से अभिन्न भूषणवाले'—अर्थात् नदी रूपी शिर के भूषण वाले। ऐसी स्थिति में नदी का अभेद आभूषण में होता है न कि आभूषण का अभेद नदी में। फिर यहाँ परिणाम कैसे नहीं? तो इसका उत्तर यह है—यद्यपि इस उदाहरण में उपमेय से अभिन्न उपमान (नदी रूप शिरोभूषण) की शब्दतः प्रतीति होती है, तथापि प्रस्तुत विषय में उसका उपयोग उस रूप में नहीं होता, किन्तु—मानसिक रूप में प्रतीत 'शिरोभूषण रूपी नदी' के रूप में होता है। अतः दीक्षित जी का समाधान इस दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः—पण्डितराज के इस खण्डन में भी कुछ अधिक या सबल तर्क प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'परिणाम' का अर्थ होता है परिणति या परिवर्त्तन। यह एक सादृश्यगर्भ अभेद-प्रधान आरोपमूलक अलङ्कार है तथा इसका रूपक के साथ निकट का सम्बन्ध अवश्य है। यही कारण है कि पण्डितराज को इस उदाहरण में शुद्ध रूपक की भ्रान्ति हुई है। इसमें उपमान का कुछ उपयोग ही नहीं होता—उपमेय के साथ अभेदस्थापन के कारण उसमें उपयोगिता के तत्त्व का आधान हो जाता है और वह क्रियाकारित्व की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह कि परिणाम अलंकार में कवि की दृष्टि मूलतः उपमेय और उसके कार्यकलाप में ही सीमित रहती है। उसकी दृष्टि उपमान की सबलता-दुर्बलता पर जाती ही नहीं—पर ज्यों ही उसे यह भान होता है कि उपमान में क्रियाकारित्व की क्षमता का अभाव है तो वह तत्क्षण उपमेय के साथ उसका अभेदत्व स्थापित कर उसमें कार्य करने की क्षमता भर देता है। फिर उपमेय के साथ असमर्थ उपमान भी मिलकर पूर्ण हो जाता है—संभवतः इसी संमिश्रण पर पण्डितराज का ध्यान न गया हो और इस पद्य को उन्होंने भावावेश में शुद्ध रूपक का उदाहरण के रूप में उद्घोषित कर दिया, जब कि बात इसके ठीक विपरीत है। क्योंकि इस उदाहरण में गंगा रूप उपमान और शिरोभूषण रूप उपमेय का अभेदत्व तो सर्वमान्य है ही, किन्तु नदी में आभूषित करने की क्षमता तब तक नहीं आती जब तक वह आभूषण के साथ अभेदत्व नहीं कर लेती। अतः यहाँ अभेदमूलक परिणाम अलङ्कार ही है न कि शुद्धरूपक।

जहाँ तक दूसरे उदाहरण का प्रश्न है—पण्डितराज उसमें भी आपत्ति प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि इस पद्य में भी राजा नृसिंह के विषय में 'विद्वानों को आनन्द उत्पन्न करना'

और 'विश्व में उत्कृष्ट होना।' ये दो बातें कही गयी हैं। उनमें 'विद्वानों को आनंद उत्पन्न करना' भी जैसा आरोपित किये जाने वाले 'दूसरे कामदेव' आदि के रूप में बन सकता है वैसा केवल अपने रूप में नहीं बन सकता। राजा नृसिंह को देखकर जहाँ यह कहा जा रहा है कि 'अपर कामदेव को ही मैं देख रहा हूँ' वहाँ नेत्रानन्द का विषय काम ही है न कि राजा। इसी प्रकार यह कल्पवृक्ष या चिन्तामणि है दूसरा दानी कर्ण या धरती का इन्द्र ही है अर्थात् यह मेरी दरिद्रता हर लेगा। यह हरि है—मुझे मुक्ति देगा। इस कथन से उत्पन्न आनन्द का मूल भी कल्पवृक्षादि ही है न कि राजा। अतः यहाँ उपमान का उपयोग उपमेय के रूप में नहीं है। उपमान के रूप में ही उपयोग की अवस्थिति के कारण यहाँ भी परिणाम का अभाव ही है।

किन्तु—पण्डितराज को यहाँ भी भ्रम ही रहा। क्योंकि रूपक और परिणाम में विषयी और विषय के भिन्न उद्देश्य रहते हैं। रूपक में विषयी विषय को अपने रूप में निगीर्ण कर लेता है और विषय अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। पर परिणाम में विषयी का उपयोग होता है और वह विषय के साहचर्य से ही क्रिया करने में उपयोगी होता है। अतः परिणाम का मुख्य परिचय यही है कि इसमें 'आरोप्यमाण विषयी का उपयोग होता है। रूपक में आरोप्यमाण उपरंजक होता है क्योंकि वहाँ उसके रूपमात्र का ही समारोप है। किन्तु, परिणाम में व्यवहार समारोप होने के कारण वह प्रकृत से अन्वित हो जाता है। तात्पर्य यह कि परिणाम में निष्क्रिय उपमान उपमेय के साथ मिलकर ही प्रकृत कार्योपयोगी होता है। फलतः **'द्विर्भावः पुष्पकेतोः'** इस पद्य में आरोप्यमाण का आरोप विषय के रूप में परिणत होकर क्रियाकारित्व से सम्पन्न है। यहाँ राजा नृसिंह के स्वरूप से ही उपयोगी उत्कर्ष की सिद्धि में विषय का तादात्म्य की अपेक्षा से आवश्यकता—परिणाम की परिपुष्टि है न कि रूपक की।

(सुधा)

उदाहरणान्तरमाह—द्विर्भाव इति। कामस्य द्विधाभवनम्, देवकल्पवृक्षाणां पौनरुक्त्यं पुनरुक्तिभावः, चिन्तारत्नस्य चिन्तामणेर्विकल्पो भेदरूपः, धर्मराजस्य कर्णस्य वा वीप्सा, इन्द्रस्य द्विरुक्तिः, दैत्याधिपनाशकलाक्रीडायाः कर्तुर्हरेः जगति कोविदानां चतुराणामानन्दं कुर्वन् श्रीनृसिंहनामा महीन्द्रो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते। अत्र विषयस्य राज्ञो विषयिणां कामादीनां च विभक्तिभेदात् तत्सत्त्वमित्यर्थः। अत्र गङ्गाधरकृतः— गिरिजासङ्गैकश्रृङ्गारिणि शिवे कविकर्तृकनतेः प्रक्रान्तत्वम्। श्रृङ्गारित्वे शेखरादिभूषणापेक्षायां नद्यादेः शेखरादिरूपतयैवोपयोगाद्रूपकमेव शुद्धम्, न तु परिणाम इति। न च विषयाभिन्नतया विषयिणोऽवस्थानरूपपरिणामस्य विषयवाचकनद्यादिपदोत्तरवर्तितृतीयाया अभेदार्थकतया शेखरादेस्तदन्वयित्वात् सत्त्वमेवेति वाच्यम्, विषयाभिन्नत्वेन विषयिणो भानेऽपि विषयतादात्म्येन तस्य प्रकृतानुपयोगात्। एवम्, 'द्विर्भावः पुष्पकेतोः' इत्यत्र कोविदानन्दजननजगदुत्कर्षयोः कथनीयत्वम्। तत्र नृसिंहनृपस्य कोविदानन्दजनकत्वमप्यारोप्यमाणद्वितीयमन्मथादितादृूप्येण यथा सम्भवति, न तथा केवलरूपेणेति विषयिणः स्वात्मनैवोपयोगः, न तु विषयात्मना, अतस्तत्रापि न परिणामसम्भव इत्याहुः। तन्मन्दम्। 'नारायणेनाखिले' इत्यंशस्य श्रृङ्गारितायामनुपयोगात्, तदुपादानबलेन प्रकृते श्रृङ्गारित्वस्य नमस्कार्यत्वं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। अन्यथा क्रमभङ्गापत्तेः, अतस्य नारायणतादात्म्यापत्त्यैव तद्गुणीभावेन शिवोत्कर्षपर्यवसानात् केवलशेखरादेरन्यत्रापि सत्त्वेन नद्यादितादात्म्यापत्त्यैव प्रकृतोत्कर्षावगमात्तदावश्यकः। एवं द्वितीयेऽपि मन्मथादि-

प्रत्येकसाध्यतत्तत्कार्येषु एकस्यैव राज्ञो हेतुत्वेन चमत्कारातिशयसमुल्लासात्, राज्ञः स्वरूपेणैव तत्रोपयोगादेवोत्कर्षसिद्धौ विषयतादात्म्यापेक्षाया आवश्यकत्वे परिणामस्यैव योग्यत्वादिति दिक्।

(चित्र०)

अथ परिणामस्य व्यङ्ग्यतायां किमुदाहरणम् ?

नरसिंह धरानाथ के वयं तव वर्णने।
अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते ॥

इति विद्याधरेणोदाहृतम्।

(भारती)

विद्याधर द्वारा कथित उदाहरण के खण्डनक्रम में कहते हैं कि परिणाम की व्यङ्ग्यता में क्या उदाहरण है ?

'हे भूमिपति नरसिंह ! हम तुम्हारे वर्णन करने वाले कौन हैं ? जिसका यश राजा (वस्तुतः इन्द्र) का भी आक्रमण करके विजृंभित हो रहा है।'

इसे विद्याधर ने उदाहृत किया है।

(सुधा)

अत्र परिणामस्य व्यङ्ग्यतायामुदाहरणं वक्तुं प्राचीनोक्तं तदुदाहरणं खण्डयितुमुपन्यस्यति—अथेति। पूर्वं विद्याधरोक्तमुदाहरणं खण्डयति—नरसिंहेति। हे नरसिंह धरानाथ, तव वर्णने वयं के, यस्य यशो राजानमाक्रम्यापि विजृम्भत इत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र राजपदेन चन्द्रे विषये निर्दिष्टे तत्रारोप्यमाणस्य नृपस्याक्रमणरूपकार्योपयोगिनः प्रतीतेः परिणामो व्यज्यत इति, तदयुक्तम्। अत्र ह्यारोप्यमाणस्य नृपस्य नृपात्मनैवाक्रमणोपयोगः, न चन्द्रात्मना। विद्याधरेणापि विषयिणः स्वरूपेण कार्यानुपयोगे तदुपयोगाय विषयिणे विषयात्मना परिणत्यपेक्षायामेव परिणामोऽङ्गीकृतः।

(भारती)

इस पद्य में 'राजा' पद से 'चन्द्रमा' रूपी उपमेय शब्दतः वर्णित है। उसमें आरोपित किये जाने वाले 'राजा' शब्द के द्वितीय अर्थ 'नरेश' की जो आक्रमण करने रूपी कार्य में उपयोगी है, प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ परिणाम ध्वनित हो रहा है—विद्याधर की यह मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि आक्रमण में चन्द्रमा पर आरोपित किये जाने वाले नरेश का उपमान के रूप में ही उपयोग हैं। चन्द्रमा अर्थात् उपमेय के रूप में नहीं। अतः यहाँ उपमेय के रूप में उपमान के परिणत होने के कारण परिणाम की ध्वनि नहीं मानी जा सकती।

विमर्श—पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित जी की इस मान्यता का भी खण्डन किया है। उनका कहना है कि यहाँ विजृम्भित होने का अर्थ कवि को केवल 'धृष्टता से फैलना' मात्र अभीष्ट नहीं है कि जिसके लिए यश द्वारा किये जाने वाले आक्रमण में 'नरेश' का 'नरेश' के रूप में

ही—आक्रमण क्रिया का कर्म होना रूपी—उपयोग हो; किन्तु 'विजृम्भित होने' का अर्थ कवि को अभीष्ट है—सर्वाधिक निर्मलता रूपी गुण से युक्त होने रूपी विषय में अपने अन्य सजातीय के अभाव द्वारा सिद्ध होने वाला 'एक प्रकार का उत्कर्ष' और आक्रमण का अर्थ तो नीचा करना है ही। इसलिए ऐसे 'विजृम्भित होने' में वही 'आक्रमण' क्रिया उपयुक्त हो सकती है, जिसका कर्म चन्द्रमा हो, न कि नरेश। क्योंकि यश का सजातीय चन्द्रमा है नरेश नहीं। अतः यद्यपि 'राजा' शब्द से उपमान रूप में 'नरेश' अर्थ ध्वनित होता है, फिर भी आक्रमण में उसका उपयोग चन्द्र रूप से ही होता है। अतः विद्याधर द्वारा उदाहृत यह पद्य परिणाम ध्वनि का सुन्दर निदर्शन है। इसमें दीक्षित जी का दोषदर्शन अनुचित ही है।

किन्तु—पण्डितराज के इस समर्थन का खण्डन कर नागेश भट्ट ने अपना समर्थन दीक्षित जी के पक्ष में ही दिया है। इनका कहना है कि 'राजा' और 'विजृंभित होना' शब्द अनेकार्थक हैं और यहाँ प्रकरण आदि को लेकर शक्ति का संकोच किसी भी प्रकार नहीं है। अतः यहाँ प्रथम तो श्लेप ही मानना उचित है। यदि उस स्थिति में 'राजा' शब्द में द्विवचन होने की आपत्ति और उसके उत्तर में क्लिष्ट कल्पना दिखाई दे तो आरोप मान लीजिए। पर तब भी 'नरेश' अर्थ को ही उपमान और चन्द्र अर्थ को ही उपमेय माना जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसी अभिप्राय से अप्पय दीक्षित ने इस उदाहरण का खण्डन भी किया है। इतने पर भी यदि पण्डितराज का यह दावा हो कि कवि का तात्पर्य जिस प्रकृत कार्य में है, उसमें उस प्रकार मानना अनुपयोगी सिद्ध होगा—तो हम कह सकते हैं कि—'प्रकृत कार्य वही है' इसमें क्या प्रमाण है? अतः विद्याधर जी के इस उदाहरण का दीक्षित जी ने उचित ही खण्डन किया है।

(सुधा)

अस्य व्यङ्ग्यतां प्रतिपादयति—अत्रेति। राजपदेन चन्द्रे विषये निर्दिष्टे तत्रारोप्यमाणस्य नृपस्याक्रमणरूपकार्योपयोगिनः प्रतीत्या परिणामस्य व्यङ्ग्यत्वमिति विद्याधर आह, तदयुक्तम्—अत्र ह्यारोप्यमाणस्य नृपस्य नृपात्मनैवाक्रमणस्योपयोगोऽस्त्यस्ति, न चन्द्रतादात्म्यापत्त्या, यतस्तेनापि विषयेण स्वरूपेण कार्यं प्रत्यनुपयोगात्। कार्योपयोगार्थं तस्य विषयरूपेण परिणतेरपेक्षायामेव तदङ्गीकारात्।

(चित्र०)

यदाह—

तं परिणामं द्विविधं कथयन्त्यारोप्यमाणविषयतया।
परिणमति यत्र विषयः प्रस्तुतकार्योपयोगाय ॥

विद्यानाथेन तूदाहृतम्—

एष शाम्यति वस्तापो राजपादनिषेवया।
कण्टकद्रुममूलेषु वासस्तं शमयेत् कथम् ॥ इति।

(भारती)

विद्याधर जी ने जो कहा है—

'जहाँ विषयी आरोप विषय से प्रस्तुत कार्योपयोग के लिए परिणति प्राप्त करता है, वही परिणाम है। बुद्धिमान लोग उसे दो प्रकार के कहते हैं।'

विद्यानाथ के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के उदाहरण का खण्डन करते हैं—

'तुम सबों का जो ताप राजा के चरणयुगल की सेवा से शान्त होता है, वह ताप इस कटीले पेड़ की जड़ में वास करने से कैसे शान्त होगा।'

(सुधा)

विद्याधरग्रन्थोक्तिं दर्शयति—यदाह इति । विद्याधर इति शेषः । यत्र विषयी आरोपविषयतया प्रस्तुतकार्योपयोगाय परिणतिं प्राप्नोति, स परिणामः । बुधास्तद्बुद्धिविधं कथयन्तीत्यन्वयः । विद्यानाथप्रतिपादितं ध्वनेरुदाहरणं खण्डयति—विद्यानाथेनेति । यो वस्तापो राजपादनिषेवया शाम्यति । कण्टकिद्रुममूलेषु एष वासः तं सन्तापं कथं शमयेदित्यन्वयः ।

(चित्र०)

नास्त्यत्र प्रागुक्तदोषानुषङ्गः, नृपचरणसेवायां प्रस्तुतायामारोप्यमाणायाः चन्द्रचरणसेवायाः नृपचरणसेवात्मतयैव तापशान्तिहेतुत्वात्, तापशब्दस्य सौरतापसाधारण्येऽपि प्रकृते राज्यभ्रंशजनिततापस्यैव विवक्षितत्वात्, तन्निवर्तने चन्द्रकिरणसेवायाः स्वतोऽसामर्थ्यात् । तथापि प्राचीनानां मत एवैतदुदाहरणम् । ते हि 'राजपादनिषेवया' इत्यस्य प्रकरणनियन्त्रितत्वादप्रकृतायां चन्द्रकिरणसेवायां शब्दशक्तिमूलो व्यञ्जनाव्यापार इति मन्यन्ते । वस्तुतस्त्वप्रकृतेऽप्यर्थे शब्दानामभिधैव व्यापार इत्यस्माभिः श्लेषप्रकरणे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्, इहापि 'राजपादनिषेवया' इत्यत्र चन्द्रकिरणसेवायामप्यभिधैव व्यापारः । अतः प्रस्तुताप्रस्तुतद्वयताद्रूप्यप्रतीतेः श्लेषभित्तिकातिशयोक्त्यादिष्विव संसर्गविधयैव लाभात्तस्य प्रकृतकार्योपयोगितायास्तृतीयाया लाभाच्च न क्वापि व्यञ्जनाव्यापारापेक्षेति नेदं परिणामध्वनेरुदाहरणम् । इदं च दूषणं पूर्वोदाहरणेऽपि तुल्यम् ।

(भारती)

यहाँ पूर्वकथित दोषानुषक्तता नहीं है। क्योंकि नृपचरण सेवा रूप प्रस्तुत में आरोप्यमाण चन्द्रचरणसेवा की नृपचरणसेवात्मा से ही तापशान्ति की हेतुता है। ताप शब्द का सौरताप साधारण्य प्रकृति में भी राजभ्रंशजनित ताप की ही विवक्षा है। उसकी निवृत्ति में चन्द्रकिरण-सेवा के स्वतः सामर्थ्य का अभाव है। फिर भी प्राचीनों के मत में ही यह उदाहरण है। वे लोग **'राजपदनिषेवया'** इसका प्रकरण नियन्त्रण से ही अप्रकृत चन्द्रकिरण की सेवा में शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना का व्यापार मानते हैं। लेकिन वस्तुतः प्रकृत अर्थ में भी शब्दों के अभिधा व्यापार ही हम लोग श्लेष प्रकरण में व्यवस्थापित करेंगे। यहाँ भी 'राजपादनिषेवया' इस पद में, चन्द्र-किरण सेवा में भी अभिधा व्यापार ही मानते हैं। इसलिए प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में ताद्रूप्यता की प्रतीति से श्लेषभित्तिक अतिशयोक्त्यादि की तरह संसर्ग विधि से ही उसका लाभ है। इतना ही नहीं उसके प्रकृत कार्य की उपयोगिता की तृतीया विभक्ति से भी लाभ है। अतः इसमें कहीं भी व्यञ्जना व्यापार की अपेक्षा नहीं रहने के कारण व्यर्थ ही इसे परिणाम ध्वनि का उदाहरण कहा गया है। इस तरह के दोष पूर्व उदाहरण में भी समान रूप से ही हैं।

(सुधा)

अत्र पूर्वदूषणाभावमाह—नास्त्यत्रेति। तदेवाह—नृपचरणसेवायामिति। प्रस्तुतनृपचरणसेवायामारोप्यमाणचन्द्रकिरणनिषेवाया राजचरणसेवारूपेणैव तापशान्तिहेतुत्वसत्त्वात्, सौरतापसाधारणतापस्यात्र राजभ्रंशजनिते तस्मिन् वक्तुमिष्टत्वात्, तत्तापशमने चन्द्रकिरणनिषेवायाः स्वस्वरूपेण सामर्थ्याभावात्। एतस्य व्यङ्ग्योदाहरणस्य प्राचीनमतप्रतिपाद्यतां दर्शयति—तथापीति। तन्मतमाह—ते हीति। 'राजपद' इत्यादेः प्रकरणनियन्त्रितत्वेनाप्रकृतचन्द्रकिरणसेवारूपार्थस्य शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाव्यापरविषयत्वेन व्यङ्ग्यतां प्राचीना मन्यन्ते। अस्मन्मते नैवं सम्भवतीत्याह—वस्तुत इति। 'अप्रकृतेऽप्यर्थेऽभिधाया एव प्रवृत्तिरित्यस्य श्लेषे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्'। इदमुपलक्षणं वृत्तिवार्तिके प्रतिपादितत्वादित्यर्थः। एवमिहापि राजकिरणनिषेवायामभिधैव व्यापारः। श्लेषाश्रयाभेदनिश्चयमूलातिशयोक्त्यादिषु ताद्रूप्यप्रतीतेः संसर्गविधया यथा लाभस्तत्रापि प्रस्तुताप्रस्तुतद्वयताद्रूप्यप्रतीतेः संसर्गविधयैव लाभ इत्यर्थः। तृतीयाविभक्त्या प्रकृतकार्योपयोगित्वस्यापि लाभान्न कुत्रापि विषये व्यञ्जनाव्यापारापेक्षेति व्यर्थमेवेदं परिणामध्वनेरुदाहरणम्। इदं दूषणमन्यमतेऽप्यतिदिशति—इदं चेति। पूर्वोदाहरण इति। विद्याधरोक्तोदाहरणेऽपीत्यर्थः।

(चित्र०)

इदं तूदाहरणम्—

चिराद्विषहसे तापं चित्त चिन्तां परित्यज।
नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः॥

अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव निषेवस्व, तन्निषेवणादयं तापः शान्तिमेष्यतीति परिणामो व्यज्यते। एवं रूपकवैलक्षण्ये परिणामो निरूपितः।

(भारती)

इसका उदाहरण तो—

'रे चित्त! तुम बहुत समय से संताप सह रहा है। अब तू इसकी चिन्ता छोड़ दे। श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नखरूपी शीतल चन्द्रमा निश्चय ही विद्यमान है।

यहाँ बहुत समय से संताप-पीड़ित अपने चित्त के प्रति 'श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का नख विद्यमान है' यह दिखाने से परिणाम ध्वनित होता है कि—'तू उसी का सेवन कर, उसके सेवन से ही तेरा ताप शान्त होगा।'

विमर्श—दीक्षित जी के दिये गये—'परिणाम ध्वनि' के इस उदाहरण पर भी पण्डितराज को आपत्ति है। उन्होंने कहा है कि दीक्षित जी ने परिणाम के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—**'आरोप्यमाणस्य विषयात्मकत्वेन प्रकृतकार्योपयोगे परिणामः'**—इस लक्षण में केवल प्रस्तुत कार्य में उपयोग ही परिणाम का स्वरूप नहीं है—किन्तु, उपमान में रहने वाली प्रस्तुत कार्य की उपयोगिता का अवच्छेदक, अर्थात् उपयोगिता को विलक्षण सिद्ध करने वाला, उपमेय का ताद्रूप्य ही परिणाम का स्वरूप है।

निष्कर्ष यह कि परिणाम उपयोगिता का नाम नहीं, किन्तु उपयोगिता के अवच्छेदक ताद्रूप्य का नाम है। ऐसी स्थिति में इस पद्य में 'नखचन्द्र की विद्यमानता' दिखाने द्वारा 'उसके सेवन से

तेरा यह ताप शान्त हो जायगा' इस प्रकार उपमान का उपमेय के रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगिता व्यङ्ग्य होने पर भी, उस उपयोगिता के अवच्छेदक रूप 'उपमान में उपमेय के ताद्रूप्य' के, जिसका नाम परिणाम है, वैयाकरणों के मत से वाक्य द्वारा वाच्य होने के कारण अथवा नैयायिकों के मत से शक्यार्थ के संसर्गरूप से भासित होने के कारण, यहाँ दीक्षित जी का परिणाम की व्यङ्ग्यता कहना सर्वथा ही अनुचित है।

वस्तुतः—परिणाम का अभिप्राय आरोप्यमाण अथवा उपमान की प्रकृत उपयोगिता है। रूपक में जो आरोप्यमाण अथवा उपमान हुआ करता है वह प्रकृतोपयोगी नहीं हुआ करता अपितु वह प्रकृतोपरञ्जक हुआ करता है किन्तु, परिणाम में आरोप्यमाण, प्रकृत का अङ्ग बनकर, प्रकृतोपयोगी हो जाया करता है।

रसगंगाधरकार ने आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता का तात्पर्य ही वैयाकरण एवं नैयायिकों की व्याख्यापरक पृष्ठभूमि के आधार पर भिन्न लिया है। अन्यथा यहाँ परिणाम इसलिये है कि चिरसंताप पीडित चित्त के प्रति 'चरणारविन्द-नख' की विद्यमानता दिखाने से स्पष्टतः परिणाम ध्वनित होता है। क्योंकि 'इसी के सेवन से ताप की शान्ति होगी' यह व्यङ्ग्यार्थ आप से आप प्रतीत हो जाता है। अतः उपयोगिता का विश्लेषित अर्थ अवच्छेदकता के आधार पर अवस्थित कर दोष दिखाना क्लिष्ट कल्पना ही प्रतीत होती है। नहीं तो दीक्षित जी का उक्त उदाहरण निर्दुष्ट है।

(सुधा)

एवं प्राचीनमुदाहरणं निराकृत्य स्वयमुदाहरणमाह—चिरादिति। हे चित्त, त्वं चिरात् सन्तापं विषहसे, इदानीं चिन्तां परित्यज, शौरेः श्रीकृष्णस्य शीतलः पादाब्जनखचन्द्रमाः अस्त्येवेत्यन्वयः। अत्र व्यङ्ग्यमवतारयति—अत्रेति। चिरतापपीडितं प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्रस्य सद्भावप्रदर्शनेन तमेव निषेवस्व। तत्सेवनादस्य तापस्य शान्तिमेष्यतीति परिणामो व्यज्यते। प्रकरणमुपसंहरति—एवमिति।

(चित्र०)

तत्र रूपके प्रकृतमप्रकृतरूपापन्नं भवति, परिणामे त्वप्रकृतं प्रकृतरूपापन्नं भवतीति वैलक्षण्ये स्थिते यत्तदुपजीव्य चक्रवर्तिनान्यथैव तयोर्वैलक्षण्यं वर्णितम्। 'मुखचन्द्रः' इति रूपके मुखं महारजतरूपेण पटवदारोप्यमाण-चन्द्ररूपेण स्थगितस्वरूपं भवति। 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इति परिणामे तु मुखमनाच्छादितस्वरूपमेव भवति। चन्द्रस्य मुखात्मनैव विरहतापशान्ति-हेतुत्वादिति।

(भारती)

रूपक में प्रकृत का अप्रकृत के साथ तादात्म्य है। यहाँ तो अर्थात् परिणाम में अप्रकृत का प्रकृत के साथ तादात्म्य होता है—दोनों में इस विलक्षणता के रहते हुए विद्यानाथादि का उपजीव्य होकर चक्रवर्ती महोदय ने व्यर्थ ही इन दोनों की विलक्षणता का वर्णन किया है। क्योंकि 'मुख-चन्द्रः' अर्थात् मुखरूपीचन्द्र इस रूपक में मुख महारजत रूप से पट का ही मुख का आरोप्यमाण चन्द्ररूप से स्थगित स्वरूप होता है। 'मुखचन्देण तापः शाम्यति' अर्थात् मुखचन्द्र से ताप की

शान्ति होती है। इस परिणाम अलङ्कार में तो मुख का अनाच्छादित रूपता ही मुखरूप से ही चन्द्र का तापोपशमन में हेतुत्व है।

(सुधा)

रूपकाद्वैलक्षण्यं दर्शयति—तत्रेति। अयमर्थः—रूपके प्रकृतस्याप्रकृततादात्म्यम्। अत्र त्वप्रकृतस्य प्रकृततादात्म्यमिति ततो विशेषः। वैलक्षण्यप्रतिपादने चक्रवर्तिमतं खण्डयति—यदुपजीव्येति। विद्यानाथमुपजीव्येत्यर्थः। तन्मतानुवर्तिनेति यावत्। तयोः= रूपकपरिणामयोरित्यर्थः। अन्यथैव=प्रकारान्तरेणैव। प्रकारान्तरमेवाह—मुखं चन्द्र इति। रूपकालङ्कारे महारजतरूपेण पटस्येव मुखस्यारोप्यमाणचन्द्ररूपेण स्थगितस्वरूपत्वम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यतीति परिणामालङ्कारे तु मुखस्यानाच्छादितरूपतैव मुखरूपेणैव चन्द्रस्य तापोपशमने हेतुत्वात्।

(चित्र०)

उक्तं च—

विषय्याकारमारोप्य विषयस्थगनं यथा।
रूपकत्वं तदा तत्र रञ्जनेन समन्वयः॥
यदा तु विषयो रूपात् स्वस्मादप्रच्युतो भवेत्।
उपयुक्त्यै तदाकारः परिणामस्तदा मतः॥ इति।

(भारती)

उक्तञ्च से चक्रवर्ती के मत प्रदर्शित करते हैं—'जब विषयी चन्द्रादि का आकार अपने में आरोप्य मुखादि रूप विषय का स्थगन अर्थात् आच्छादन होता है तब वहाँ रञ्जन द्वारा समान हेतुत्व से रूपक अलङ्कार होता है।' जब अपने स्वरूप से अप्रच्युत ही विषयी कार्योपयोग के लिए विषयाकार अर्थात् मुखाकार होता है तब वहाँ परिणाम अलंकार होता है।'

विमर्श—निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि आरोप्यमाण या उपमान का तिरोधानरहित होकर आरोप विषय या उपमेय को अपने रंग में उपरञ्जन या रंगना ही रूपक है और विषय का विषयी के रूप में उपरंजन न होकर विषयी का विषय के रूप में परिणत होकर प्रकृतोपयोगी होने का वर्णन ही परिणाम अलंकार है।

(सुधा)

चक्रवर्तिमतं दर्शयति—उक्तञ्चेति। यदा विषयिणश्चन्द्रादेराकारम्=स्वरूपं स्वस्मिन्नारोप्य विषयस्य=मुखादेः स्थगनमाच्छादनं भवेत्तदा रञ्जनेन तुल्यत्वात् हेतोः तत्र रूपकता भवेत्। यदा तु स्वस्वरूपादप्रच्युतस्तदाकारविषय्याकारोऽपि कार्योपयोगार्थं विषय एव तत्तादात्म्ययुक्त एव भवेत्, तदा परिणाम इत्यन्वयः। पाठान्तरे तु स्वस्वरूपादप्रच्युत एव विषयी कार्योपयोगाय विषयाकारो मुखाकारो भवेत्, तत्र परिणाम इत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्रेदं विचारणीयम्—रूपके विषयस्य स्थगनं न तावत्तिरोहितरूपत्वम्, रजतभ्रमेण शुक्तिस्वरूपस्येवाहार्यारोपेण विषयस्य तिरोधानासंभवात्।

शारीरके च 'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' इत्यत्रोद्गीथस्यादित्यदृष्टि-विषयत्वाङ्गीकारे रजतदृष्टिविषयशुक्तिस्वरूपमिवोद्गीथक्रियास्वरूपं तिरोधीयेतेत्याशङ्क्याहार्यदृष्टेरतिरोधायकत्वस्योक्तत्वात् । नापि विषय्युपसर्जनत्वम्, उभयत्राप्युत्तरपदार्थप्रधानस्य मयूरव्यंसकादिसमासस्याविशेषात् । अत एव विषयिविशेषितत्वं स्थगनमित्यपि निरस्तम्, विषयिणो विशेष्यत्वात् । तस्मात् स्थगनास्थगनवैलक्षण्यवचो निरालम्बनमिति विषयात्मनोपयोगेनैव परिणामस्य रूपकाद्वैलक्षण्यं समर्थनीयमित्यलं विस्तरेण ।

इति चित्रमीमांसायां परिणामालङ्कारप्रकरणम्

(भारती)

अब यहाँ विचार करते हैं—स्थगनत्व क्या है ? तिरोहितरूपत्व अथवा विषयी उपसर्जनत्व में भी विशेषितत्व । प्रथम अर्थ की स्वीकृति में रूपक में ही अतिव्याप्ति हो जाती है, शुक्ति रूप का रजत भ्रम से ही आहार्य चन्द्रादि के आरोप से मुखादि का तिरोधान असंभव है । 'शारीरके च' इससे आहार्य आरोप के तिरोधायकत्व में वेदान्त भाष्य की सम्मति कहते हैं—'जो इस प्रकार उद्गीथ विद्या की उपासना में तपता है' यहाँ सूर्य की दृष्टिविषयता स्वीकार करने में उद्गीथ क्रिया रूप का—रजत दृष्टि विषय शुक्तिरूप का ही तिरोधान के सन्देह में आहार्य दृष्टि का तिरोधायकता नहीं हैं । इसका शारीरक भाष्य में प्रतिपादन है ।

दूसरे में, परिणाम के पृथक् कथन में ही अनुपपत्ति है 'मयूरवंशकादयश्च' इस सूत्र से उत्तर पदार्थ प्रधान रूप वृत्ति की दोनों जगह समानता है । विषयी का विशेष्यत्व से तृतीय पक्ष की भी असंभवता ही है । अत एव चक्रवर्ती द्वारा प्रतिपादित स्थगन और अस्थगन रूपी विलक्षणता निरावलम्ब ही है । यह कहकर दीक्षित जी ने स्वयं उन दोनों की विलक्षणता बतायी है । चन्द्रादि का मुखादि आत्मा से कार्य की उपयोगिता में परिणाम अलङ्कार होता है और मुखादि का चन्द्रादि आत्मा से कार्य की उपयोगिता में रूपक होता है । प्रामाणिकों के मत में इसी विलक्षणता का समर्थन है । इससे अधिक तो व्यर्थ ही है ।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दी व्याख्यायां परिणामालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

(सुधा)

तन्मतखण्डनप्रकारमाह—अत्रेदमिति । तत्रैवं विचार्यते—किं तावत्स्थगनत्वम् ! तिरोहितरूपत्वं वा विषय्युपसर्जनत्वेऽपि वा ! आद्ये रूपकेऽव्याप्तिः, शुक्तिरूपस्य रजतभ्रमेणेवाहार्यचन्द्रारोपेण मुखादेस्तिरोधानासम्भवात् । आहार्यारोपस्य तिरोधायकत्वे वेदान्तभाष्यस्य सम्मतिमाह—शारीरके चेति । य एवासौ तपतीत्याद्युद्गीथोपासनविद्यायां आदित्यदृष्टिविषयताङ्गीकारे उद्गीथक्रियारूपस्य रजतदृष्टिविषयशुक्तिरूपस्येव तिरोधाना-

शङ्कायामाहार्यंदृष्टेऽस्तिराधायकता नास्तीत्यस्य शारीरकभाष्ये प्रतिपादितत्वादिति तदर्थः। द्वितीये परिणामस्य पृथक्कथनानुपपत्तिः। 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति सूत्रकृतोत्तरपदार्थप्रधानरूपवृत्तेरुभयत्र तुल्यत्वात्, विषयिणो विशेष्यत्वेन तृतीयपक्षस्याप्यसम्भवाच्च। उपसंहरति—तस्मादिति। चक्रवर्त्युक्तं स्थगनास्थगनवैलक्षण्यं निरालम्बनमेवेति प्रकरणार्थः। स्वयं तयोर्वैलक्षण्यमाह—विषयात्मनेति। चन्द्रादेर्मुखाद्यात्मना कार्योपयोगित्वे परिणामः। मुखादेश्चन्द्राद्यात्मना तत्त्वे रूपकमित्यस्यैव वैलक्षण्यस्य समर्थनीयत्वमित्येव प्रामाणिकानां सम्मतमिति बोध्यम्।

रसगङ्गाधरकृतस्तु—विद्याधरोक्तध्वनेरुदाहरणम्, विजृम्भमाणस्य प्रागल्भ्यमात्रस्य-कथने कवेरविवक्षया निरतिशयनैर्मल्यगुणवत्तायां स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्यरूपप्रौढिविशेषस्य तस्य कथने कविविवक्षायां चन्द्रकर्मकाक्रमणस्यैवोपयोगात्, नृपकर्मकस्य निषेधाच्च, विषयिताया व्यज्यमाननृपस्य चन्द्रात्मनैवाक्रमणस्योपयोगसत्त्वेन सम्यगेवेति।

यदपि 'चिराद्विषहसे' इत्यप्पय्यदीक्षितोक्तध्वन्युदाहरणमनूद्यारोप्यमाणस्य विषयात्मकतया प्रकृतकार्योपयोगे परिणाम इत्यत्र प्रकृतकार्योपयोगमात्रं न परिणामशरीरं किन्तु विषयिगतायाः प्रकृतकार्योपयोगिताया अवच्छेदकीभूतं विषयताद्रूप्यम्। एवञ्चात्र नखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तन्निषेवणादयं तव तापश्शान्तिमेष्यतीति प्रकृतकार्योपयोगिताया व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदवच्छेदकीभूतविषयिणि विषयताद्रूप्यरूपपरिणामस्य वाक्यवाच्यत्वात् न सर्वथा व्यङ्ग्यत्वं वक्तुमुचितमिति दूषणमुक्त्वा, स्वयम्—'इन्दुना परसौन्दर्यसिन्धुना बन्धुना विना। ममायं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते॥' अत्र वक्तुर्विरहितया व्यज्यमानरमणीवदनाभिन्नत्वेनेन्दुरभिप्रेतः, तेन रूपेणैव तस्य विरहसन्तापशमनहेतुत्वात् मुखस्य चन्द्राभिन्नत्वेन बोधे तेन विरहतापशमनरूपप्रकृतकार्यानुपपत्त्या चन्द्रस्य विषयिणो मुखरूपविषयाभिन्नत्वस्य व्यङ्ग्यतायामेव सम्भवादस्मदीयोदाहरणस्य निर्दोषत्वम्। अयम् अर्थशक्तिमूलः। शब्दशक्तिमूलस्तु—'पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि। पयोधरं समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः॥' अत्र शीघ्रं तापशमनहेतुत्वेनोपस्थिते पश्चान्मन्दबोधनीयाविशेष्यकस्मरतापवत्ताविशिष्टबुद्धौ सत्यां सहृदयस्य तादृशतापशामकरमणीस्तनरूपविषयाद्रूप्यबुद्धिर्भवतीति वदन्ति।

तत्र वदन्ति—विद्याधारोक्तोदाहरणे 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे' इति कोशादुभयोरर्थयोर्वाच्यत्वेन ध्वन्युदाहरणस्य वक्तुमयोग्यत्वात्। अन्यथा 'विद्वन्मानस' इत्यादौ वाच्यरूपकत्वाङ्गीकारविरोधापत्तेश्च। यदपि प्रकृतकार्योपयोगरूपपरिणाममनभ्युपगम्य विषयिगतायाः प्रकृतकार्योपयोगितावच्छेदकीभूतविषयताद्रूप्यं परिणामशरीरमङ्गीकृत्य चिरादित्युदाहरणे दूषणदानम्, तदप्युक्तम्; विशिष्टस्यैव तथात्वे परिणामालङ्काराभ्युपगमेन विषयिणि विषयताद्रूप्यमात्रस्यापि परिणामशरीरत्वे मानाभावात्। यदपि तैरुदाहृतम्—इन्दुनेत्यादि। तदपि मन्दम्; तत्रातिशयोक्तेरङ्गीकारात्। 'पान्थ मन्दमते' इति शब्दशक्तिमूलध्वनावुदाहृतम्, तदपि न; पयोधरपदवाच्ययोः मेघस्तनयोरभेदान्वयात् तत्र ध्वनित्वानौचित्याच्च। परिणामे एवं शाब्दबोधप्रकारः—दृगब्जेनेत्यत्र दृगभिन्नमब्जमिति बोधः। 'वचःसुधाम्' इत्यत्र वचनाभिन्ना सुधेति बोधः। असमासस्थले तु भ्रातराभिन्नं सौमित्रिमैत्रीमयमिति बोधः। रूपके तु दृङ्निष्ठाभेदप्रतियोगि अब्जमिति भेदः। अत्र रूपके प्रोक्ता दोषा अत्राप्युन्नेया इत्याह—अब्जमितिं।

मम्मटभट्टानुयायिनस्तु—हगब्जेनेत्यत्रोपमैव। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासाङ्गीकारात्। न च प्रसन्नत्वरूपधर्मस्य तद्बाधकत्वमिति वाच्यम्? प्रसन्नत्वातिरिक्तरमणीयत्वरूपसामान्यधर्माप्रयोगस्य सत्त्वात्। न च धर्मान्तरप्रयुक्तसाम्यस्याविवक्षायामपि प्रसन्नत्वरूपधर्मप्रयोगात् कथं समास इति वाच्यम्? उपमानिमित्तधर्मोपमितिसमासनिषेधस्य—'भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः। छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम्॥' इत्याद्यनुरोधेन स्वीकारात्। न ह्यत्र भाष्याब्धिरिति रूपकं विवक्षितं, भाष्यप्रधानताभङ्गापत्तेः। अतो वितततदुरवगाहत्वादिधर्मप्रयुक्तसाम्यविवक्षया गाम्भीर्यस्य तत्प्रयोजकत्वमपहाय तत्सत्त्वेऽप्युपमितसमासाभ्युपगमात्। न च भाष्याब्धिरित्यत्र परिणामाभ्युपगमेन भाष्यप्राधान्यसम्भवात् कथं तदुपन्यासः, अतिरिक्तकल्पनापेक्षया तादृशार्थस्यैव योग्यत्वात्; वचस्सुधामित्यत्राप्युपमितिसमाससत्त्वे बाधकाभावात्। 'वदनेन्दुना तन्वी स्मरचापं विलुम्पति' इत्यत्र रूपकभेद एवं, इन्दोः स्वरूपेण स्मरतापानपबाधकतया वदनाभिन्नत्वेनावस्थानात्। विषयविषयितावच्छेदकान्यतररूपेण निश्चीयमानतदन्यतरकत्वस्यैव रूपकत्वात्। 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इत्युक्तत्वात्। तस्मात् परिणामस्य पृथक्त्वेन कथनमयुक्तमित्याहुः।

धरानन्देन रचिता परिणामप्रकाशिनी।
व्याख्यायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम्॥

इति वसिष्ठगोत्रीयमिश्ररामवलस्यात्मजेन रचितायां चित्रमीमांसाव्याख्यायां सुधाभिधायां परिणामलङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ ससन्देहालङ्कारः

साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा ।
प्रकृतार्थाश्रया तज्ज्ञैः ससन्देहः स इष्यते ॥

(भारती)

अप्रकृत अर्थों की साम्यता से अनवधारित जो प्रकृत अर्थाश्रया बुद्धि है, उसे ही ससन्देह कहते हैं । अर्थात् सादृश्य के कारण होने वाले अप्रस्तुत अर्थ के अवधारणारहित बोध को ससन्देह अलङ्कार कहते हैं ।

विमर्श—अलंकार शास्त्र में इसके कई नाम मिलते हैं—संशय, सन्देह और ससन्देह। इसमें संशय का सादृश्यमूलक होना आवश्यक है। क्योंकि उपमेय में उपमान के संशय को ही तो सन्देह अलङ्कार कहते हैं। यह सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूलक अर्थालङ्कार है। कवि इसी सादृश्य के कारण एक ही वस्तु में अन्य अनेकों वस्तुओं के संशय का निबन्धन करता है। इसे अपनी प्रतिभा से प्रेरित कर कवि एक ही उपमेय में अनेकों उपमानों का सन्देह प्रकट करते हुए इस अलङ्कार की योजना करता है ।

उत्प्रेक्षा और संभावना भी एक तरह की संशयात्मक प्रतीति ही है। किन्तु, उत्प्रेक्षा में संभावना का एक पलड़ा अर्थात् उपमेय की उपमानरूपता प्रतीति में भारी रहा करता है। और 'ससन्देह' में उपमेय और उपमान की परस्पर तादात्म्य-प्रतीति के दोनों पलड़े बराबर रहा करते हैं। अतः कहा गया है—प्रकृत और अप्रकृत में ऐक्य रूप की संदिग्ध प्रतीति कविप्रतिभोत्थित होने पर ही ससन्देहालङ्कार होता है।

(सुधा)

अथेति । परिणामनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । ससन्देह इति लक्ष्यनिर्देशः, सन्देहेन सह वर्तमानत्वादित्यर्थः । एतस्यैव सन्देह इति संज्ञान्तरम् , चन्द्रालोकादौ तथा दृष्टत्वात् । तल्लक्षणं प्राचीनोक्तं दर्शयति—साम्यादिति । अप्रकृतार्थस्य साम्यादनवधारणा या प्रकृतार्थाश्रया या बुद्धिः, ससन्देह इत्युच्यते । इति लक्षणान्वयः ।

(चित्र०)

त्रिविधश्चायं ससन्देहः—शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च । क्रमेण यथा—

आनीय द्विषतां धनानि विपिने राजन्यचूडामणे
तेष्वालोक्य विनिर्मलं हिमकलाखण्डं करण्डं पुनः ।
किं वाद्यं किमु पेषणं किमु धनं किं क्षेपणीयायुधं
किं वा दैवतमित्यनिश्चितधियो मन्दाः पुलिन्दा जनाः ॥

(भारती)

प्राचीनोक्त यह ससन्देह तीन प्रकार के हैं—(१) शुद्ध, (२) निश्चयगर्भ और (३) निश्चयान्त। क्रमशः इनके ये उदाहरण हैं—

'हे राजाओं के चूड़ामणि, शत्रुओं को जीत कर जो धन आपके द्वारा लाये गये हैं, उनमें अत्यन्त शुभ्र हिमकलाखण्ड को और फिर करण्ड को देख कर मन्द बुद्धि पुलिन्दजन संदिग्ध स्थिति में कह रहे है—क्या यह वाद्य है ? अथवा पेषण है ? किंवा कोई धनविशेष है ? अथवा फेक कर चलाने वाला कोई हथियार है ? अथवा कोई दैवी वस्तु है ?'

विमर्श—यहाँ शुद्ध ससन्देहालङ्कार है। क्योंकि इसमें मध्य और अन्त में निश्चय का अभाव है। अप्रकृत अर्थ वाधादि की साम्यता से हिम करण्डादि आश्रय बुद्धि की अनवधारणा से यहाँ शुद्ध ससंदेहालङ्कार है।

(सुधा)

प्राचीनोक्तं ससन्देहविभागमाह—त्रिविध इति। त्रैविध्यमेव दर्शयति—शुद्ध इत्यादि। त्रीन् भेदानुदाहरिष्यन् शुद्धमुदाहरति—क्रमेण यथेति। आनीयेति। हे राजन्यचूडामणे, द्विषतां शत्रूणां धनान्यानीय तेषु धनेषु विनिर्मलं हिमकलाखण्डं पुनः करण्डमालोक्य वाद्यं, किम्, पेषणं किमु, धनविशेषः किम्, क्षेपणीयस्यायुधं किम्, दैवतं किं वा ? इति अनिश्चितबुद्धयो मन्दाः पुलिन्दाः जनाः सन्तीत्यन्वयः। अत्र शुद्धः ससन्देहः, मध्यान्तयोर्निश्चयाभावादित्यर्थः। अप्रकृतार्थानां वाद्यादीनां साम्यात् हिमकरण्डाद्याश्रयबुद्धेरनवधारणीयत्वात् ससन्देह इति भावः।

(चित्र०)

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैव नियतम्।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः॥

(भारती)

(किसी राजा को रण में देखकर उसके विषय में प्रतिपक्षियों की भावना का वर्णन है—)

'क्या यह सूर्य है ? किन्तु वह तो सात घोड़ों के रथ से युक्त रहता है। तो क्या यह अग्नि है ? किन्तु, आग तो सभी दिशाओं में नियमित रूप से प्रसरित नहीं होता। तो क्या यह साक्षात् यम या काल तो नहीं है ? पर यम तो भैंसा पर चढ़ता है। हे राजन् आपको रण में देखकर आपके वैरी इस प्रकार का सन्देह प्रकट करते हैं।'

विमर्श—इस श्लोक के मध्य में सूर्यादि का निश्चय अवश्य होता है, किन्तु पुनः ज्ञात नहीं होता कि यह कौन व्यक्ति है। अतः यहाँ निश्चय मध्य सन्देह हुआ।

यहाँ 'क्या यह सूर्य है या और कुछ ? यह है संशयात्मक प्रतीति का स्वरूप। प्रकृत अर्थात् उपमेय राजा और सम उपमान सूर्य की इस सन्दिग्धतादात्म्य प्रतीति का जो मूल कारण है, वह है प्रताप की दुर्निरीक्ष्यता। इसी प्रकार क्या यह अग्नि है या अन्य कोई वस्तु ? तथा यह यमराज है या और कोई ? इन संशयात्मक प्रतीतियों में जो मूलहेतु है वह है दुराधर्षता और

सर्वसंहारिता। साथ ही साथ यहाँ भेद की उक्ति है। क्योंकि 'सात घोड़ों के रथ का होना' इत्यादि उपमानभूत सूर्य की तो विशेषता है किन्तु, उपमेयभूत राजा की नहीं।

(सुधा)

निश्चयगर्भमुदाहरति—अयमिति। अयं राजा, मार्तण्डः = रविः किम्! स रविः खलु सप्तभिरश्वैरितः, कृशानुरग्निः किम्! एष कृशानुः सर्वा दिशो निश्चितं न प्रसरति, साक्षात् कृतान्तो यमः किम्! असौ यमस्तु महिषवाहन इति प्रतिभटा आजौ युद्धे त्वां समालोक्य विकल्पान् संशयान् विदधति कुर्वन्तीत्यन्वयः। अत्र राज्ञि 'अयं मार्तण्डो नवा' इति सन्देहे जाते सप्ततुरगगामित्वं रविधर्म उक्तः, तेन रविसन्देहे निवृत्तेऽपि पुनरग्नित्वादिना सन्देहान्निश्चयगर्भता इति तद्भावः।

(चित्र०)

किं तावत् सरसि सरोजमेतदारा-
दाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्
बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः॥

इति वदन्ति।

(भारती)

'सरोवर में दूर से यह सामने दिखाई पड़ने वाला पदार्थ क्या कमल है? अथवा किसी सुन्दरी युवती का मुख सुशोभित हो रहा है—क्षण भर के लिए ऐसा सन्देह करके किसी विलासी पुरुष ने बकुलों के सहवासी कमलों में अविद्यमान विलासादि क्रियाओं के द्वारा—यह तो रमणी का मुख ही है'—ऐसा निश्चय किया।

विमर्श—यहाँ भावविशेष का इष्ट अर्थों की प्राप्ति में अभिमानगर्भ सम्भूत है। कमलों में उक्त गुणों की असम्भावना के कारण मुख में उसकी उपस्थिति से निश्चयान्त सन्देह है। क्योंकि प्रथम सारे सन्देहों का अन्त में निश्चय हो जाता है। अर्थात् ये कमल नहीं रमणी के मुख ही हैं।

(सुधा)

निश्चयान्तमुदाहरति—किं तावदिति। माघे जलक्रीडावर्णनम्—सरसि एतत् आरात् तावत्कमलं किम्? आहोस्विद् युवत्या मुखमवभासते! इति क्षणं संशय्य बकसहवासिनां कमलानां परोक्षैरप्रत्यक्षैः बिब्बोकैः भावविशेषैः मुखमिति कश्चिन्निश्चिकाय। अत्र बिब्बोकस्य इष्टानामर्थानां प्राप्तावभिमानगर्भसम्भूतः। 'स्त्रीणामनादरकृतो बिब्बोको नाम विज्ञेयः' इति भरतोक्तरूपस्य कमलेष्वसम्भवात् मुखे सत्त्वेन तन्निश्चयान्तत्वमिति भावः।

(चित्र०)

अत्रेदं विचारणीयम्—साम्यादिति किमन्नाद्धेतोर्वसतीतिवत्फलत्वेन हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, उत स्वतो हेतुत्वविवक्षया। आद्येऽप्रकृतसाम्याभिव्यक्तिफलकत्वमर्थः स्यात्।

तथा सति 'आनीय द्विषताम्' इत्याद्युदाहरणेऽव्याप्तिः। न हि तत्र हिमकरण्डस्य बाधादिसादृश्याभिव्यक्तौ कविसंरम्भः, किन्तु द्विषत्पुरमीदृशीमवस्थासापन्नमिति राज्ञः प्रतापातिशयाभिव्यक्तौ।

(भारती)

अब पूर्वोक्त ससन्देह के लक्षण पर विचार करते हैं कि लक्षण में दिये गये 'साम्यात्' पद में जो पंचमी विभक्ति है उसमें 'अन्नाद्धेतोर्वसति' अर्थात् 'अन्न के कारण ही वह यहाँ रहता है' की तरह फलत्व से हेतुत्व की विवक्षा है अथवा स्वतः हेतुत्व की विवक्षा है। यहाँ पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि यहाँ फलत्व से हेतुत्व की विवक्षा में अप्रकृत साम्य की अभिव्यक्ति फलकत्व पञ्चमी का अर्थ मानते हैं तो अप्रकृत के साम्य की अभिव्यक्ति फलक प्रकृत अर्थ के आश्रयभूत अनवधारित बुद्धि ही ससंदेह है, ऐसा लक्षण का अर्थ होगा।

और ऐसा अर्थ स्वीकृत करने पर 'आनीय द्विषतां धनानि' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में प्रकृत बाधादि सादृश्य की अभिव्यक्ति में फलत्व के अभाव से शुद्ध ससन्देह में अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग है। क्योंकि इस शुद्ध ससन्देह के उदाहरण में हिमकरण्ड के साथ बाधादि सादृश्य के व्यक्तीकरण में कविकल्पना का अभाव है। किन्तु, शत्रुपुर की ऐसी शोचनीय अवस्था में राजा के प्रतापातिशय की अभिव्यक्ति में कविकल्पना का संरंभ है।

(सुधा)

एवं तदुक्तं विभागं प्रतिपाद्य तदीयं पूर्वोक्तं लक्षणं खण्डयितुमारभते—अत्रेदमिति। अत्र लक्षणे इदं वक्ष्यमाणं विचार्यं दूषणम्। 'साम्यात्' इति पञ्चमी, फलत्वेन हेतुत्वविवक्षया स्वतो हेतुत्वविवक्षया वा। फलत्वेन हेतुताप्रसिद्धौ दृष्टान्तमाह—अन्नाद्धेतोरिति। तत्र पूर्वपक्षं खण्डयति—आद्ये फलत्वेन हेतुत्वविवक्षायामित्यर्थः। अप्रकृतसाम्याभिव्यक्तिफलत्वं पञ्चम्यर्थः। तथा च, अप्रकृतसाम्याभिव्यक्तिफलिका प्रकृतार्थाश्रयाऽनवधारणा बुद्धिः ससन्देह इति लक्षणमित्यर्थः। तत्र दूषणमाह—तथ सतीति। 'आनीय द्विषतां धनानि' इत्यादावप्रकृतबाधादिसादृश्याभिव्यक्तेः फलत्वाभावेन शुद्धससन्देहेऽव्याप्तिप्रसङ्गात्। तत्र हेतुमाह—नहीति। तत्र शुद्धोदाहरणे हिमकरण्डस्य बाधादिसादृश्यस्य व्यक्तीकरणे कवेः संरम्भाभावात्। तत्र शत्रुपुरमीदृशीमवस्थामापन्नमिति राज्ञः प्रतापातिशयाभिव्यक्तावेव कविसंरम्भाच्च।

(चित्र०)

द्वितीये साम्यादित्यनेन किमेकमेवाप्रकृतसाम्यं यावत्सन्देहकोट्युच्छित्तिहेतुत्वेन विवक्षितम्, उतैकमनेकं वेत्यनियमः ?

आद्ये 'अयं मार्तण्डः किम्' इत्याद्युदाहरणेऽव्याप्तिः। नहि तत्र 'किं लक्ष्मीरुर्वशी वेयं रम्भा वा मेनकाथ वा' इत्यत्र लक्ष्मीत्यादिविकल्पेष्वतिशयितसौन्दर्यसाम्यवदेकमेव साम्यमिह मार्तण्डत्वादिविकल्पेषु हेतुः, किन्तु प्रतापेन दुर्निरीक्षत्वसाम्यं मार्तण्डत्वविकल्पे, दुराधर्षत्वसाम्यं कृशानुत्वविकल्पे, क्षणेन सकलसंहर्तृत्वसाम्यं कृतान्तविकल्पे च हेतुः।

(भारती)

द्वितीय से तात्पर्य है—स्वतः हेतुत्व की विवक्षा में जब तक सन्देहकोटिक विच्छित्तिहेतुत्व से एक का ही अप्रकृतसाम्य की विवक्षा है अथवा एक का अनेक के साथ अनियम की विवक्षा है।

आद्ये से तात्पर्य है—प्रथम कोटि की स्वीकृति अर्थात् एक का ही अप्रकृत साम्य की विवक्षा पक्ष में 'अयम् मार्तण्डः किम्' अर्थात्, क्या यह सूर्य है ? इत्यादि पूर्व उदाहृत निश्चयगर्भ के उदाहरण में अव्याप्ति दोष है। क्योंकि इस उदाहरण में सूर्यादि के विकल्पों में एक के सादृश्य-हेतुत्व की विवक्षा का सर्वथा अभाव है। इस पक्ष में असंभव का वारण करते हुए कहते हैं—'किं लक्ष्मीरुर्वशी वेयं रम्भा वा मेनकाथ वा' अर्थात् क्या यह लक्ष्मी है ? अथवा उर्वशी, रम्भा या मेनका है ?' इस श्लोक में लक्ष्मीत्वादि विकल्पों में एक का ही अति सौन्दर्य के सादृश्य के कारण यहाँ असंभव दोष नहीं है। एक के साम्य का अभाव प्रतिपादन करने के लिए 'किन्तु' से सन्देह करते हैं—अर्थात् 'अयम् मार्तण्डः किम्' यहाँ उपमेय राजा और उपमान सूर्य की इस संदिग्ध तादात्म्य की प्रवृत्ति का मूल हेतु है—प्रताप की दुर्निरीक्ष्यता। इसी प्रकार—क्या अग्नि है या अन्य कोई वस्तु ? इस संशयात्मक प्रतीति में जो मूल हेतु है, वह है दुराधर्षता। यमराज है या और कोई ? इस संशयात्मक प्रतीति में मूल हेतु है सर्वसंहारिता। फलतः यहाँ एक ही हेतुत्व के अभाव से अव्याप्ति दोष स्पष्ट है।

(सुधा)

द्वितीये दूषणमाह—द्वितीये इति। स्वतो हेतुत्वविवक्षायामित्यर्थः। यावत्सन्देहकोट्युच्छित्तिहेतुत्वेनैकस्यैवाप्रकृतसाम्यस्य विवक्षा, उत, एकस्यानेकस्य वेत्यनियमस्य वा ! आद्ये दूषणमाह—आद्ये इति। एकस्यैवाप्रकृतसाम्यस्य यावत्सन्देहकोट्युच्छित्तिहेतुत्वेन विवक्षणपक्ष इत्यर्थः। 'अयं मार्तण्डः किम् !' इति निश्चयगर्भोदाहरणेऽव्याप्तिः, मार्तण्डत्वादिविकल्पेष्वेकस्य साम्यस्य हेतुत्वाभावात्। अत्र पक्षेऽसम्भवं वारयति—किमिति। इयं लक्ष्मीर्वा, उर्वशी वा; रम्भा वा; अथवा मेनका; इति श्लोके लक्ष्मीत्वादिविकल्पेष्वेकस्यैवातिसौन्दर्यसाम्यस्य सत्त्वान्नासम्भव इति भावः। एकस्य साम्यस्याभावं प्रतिपादयितुमनेकसाम्यमाह—किन्त्विति। प्रतापेन दुर्निरीक्ष्यत्वदुराधर्षत्वलक्षणेन सकलसंहर्तृत्वसाम्यानां मार्तण्डत्वादिविकल्पेषु हेतुत्वसत्त्वेनैकस्य तस्याभावादव्याप्तेः स्फुटत्वात्।

(चित्र०)

द्वितीये 'इह नमय शिरः कलिङ्गवद्वा समरमुखे करहाटवद्धनुर्वा' इति विकल्पालङ्कारेऽतिव्याप्तिः।

अत्र दिग्विजयप्रवृत्तेन बलवता राज्ञा समरे प्रसक्ते यथा कलिङ्गनृपतिः—

समाक्रान्तो बलवता काङ्क्षन्नभ्रंशिनीं श्रियम्।
श्रयेत वैतसीं वृत्तिं न भौजङ्गीं कदाचन॥

इति नीतिमनुसृत्यासन्दिग्धं निजराज्यलक्ष्मीभ्रंशपरिहारकामः शिरो नमितवान्, तथा वा शिरो नमय, यथा करहाटनृपतिः 'जयेन लभ्यते लक्ष्मीर्मरणेन सुराङ्गना' इति नीतिमनुसृत्य युद्धकामो धनुर्नमितवान्, तथा वा धनुर्नमयेति समयोचिताप्तोपदेशे तद्राजचरितदृष्टान्तप्रापितानवस्थितार्थधीसत्त्वात्।

न च तत्र श्लोके तादृग्धीनिबन्धनं नास्तीति नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्; तन्निबन्धनस्यापि लक्षणान्तर्गतविवक्षायाम्—

(भारती)

दूसरे पक्ष में अर्थात् एक का अनेक के साथ अनियम के पक्ष में—**इह नमय शिरः कलिङ्गवद्वा समरमुखे करहाटवद्धनुर्वा'** अर्थात् इस संग्राम में कलिङ्ग की तरह शिर झुकाओ, अथवा करहाट की तरह धनुष झुकाओ।

यहाँ दिग्विजय के लिए प्रवृत्त बलशाली राजा की युद्ध प्रवृत्ति में जैसे कलिङ्ग राजा ने—

'बलवान् शत्रु से समाक्रान्त होने पर राजलक्ष्मी के विनाश को रोकने के लिए (कलिङ्गराज ने) मौजङ्गी वृत्ति अर्थात् युद्ध करने की प्रवृत्ति छोड़कर वैतसीवृत्ति (विपरीत हवा पाकर जैसे वेत झुक जाते हैं) उसी प्रकार शिर झुका कर सन्धि स्वीकृत की।'

इस नीति के अनुसरण से निःसंदेह जिस प्रकार कलिङ्ग के राजा ने अपनी विनाशोन्मुख राज्यलक्ष्मी की रक्षा के लिए अपना शिर झुका लिया उसी प्रकार अपना शिर झुका लो अथवा जैसे—**'जयेन लभ्यते लक्ष्मीर्मरणेन सुराङ्गना'** अर्थात् युद्ध में अगर विजयी हुआ तो राज्य-लक्ष्मी मिलेगी और अगर कहीं मारा गया तो स्वर्ग में देवाङ्गना मिलेगी।' कटाहनृपति की इस नीति के अनुसार युद्धकामी बनकर रणाङ्गण में धनुष की प्रत्यंचा खींच कर उसे झुकाओ। इस प्रकार कालोचित हितकर उपदेश से कथित दोनों राजाओं के आचरण से प्राप्त दृष्टान्त के आधार पर संदिग्ध बुद्धि में 'ससन्देह' अलङ्कार के उक्त लक्षण के समन्वय हो जाने पर यहाँ स्पष्ट रूप से अतिव्याप्ति दोष है।

यहाँ सन्देह करते हैं कि अनवस्थित बुद्धि में शब्दविषयत्व के अभाव से विकल्पालङ्कार में अतिव्याप्ति दोष नहीं हो सकता, तब इसका उत्तर देते हैं कि ऐसी स्थिति में **'अयं मार्तण्डः किम् ?'** इत्यादि उदाहरण में शब्दवाच्यत्व की उपस्थिति से लक्षणसमन्वय हो जाने पर भी शब्दनिबन्धन विवक्षा में गम्य ससन्देह अलङ्कार में अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग है।

(सुधा)

द्वितीयं दूषयति—द्वितीय इति। एकस्यानेकस्य वेत्यनियमपक्षे इत्यर्थः। विकल्पालङ्कारेऽतिव्याप्तिः। तदुदाहरणमाह—इहेति। इह संग्रामे कलिङ्गवत् शिरो नमय, वा करहाटवद् धनुर्नमयेत्यन्वयः। अत्रातिव्याप्तिप्रकारं दर्शयितुं तल्लक्षणसमन्वयं दर्शयति—अत्रेति। दिग्विजयप्रवृत्तेन बलवता राज्ञा युद्धे प्रवृत्ते यथा कलिङ्गराजो नीत्यनुसारेण निस्संशयं स्वीयराज्यलक्ष्मीनाशनिवारणकामः शिरो नमितवान्। तद्वत् शिरो नमय, वा करहाटनृपतिनीत्यन्तरानुसारेण युद्धकामो धनुर्नमयेति, कालोचितयथार्थवक्त्रुपदेशेन तद्राजाचरणदृष्टान्तस्य प्रापितानवधारितधीसत्त्वेन ससन्देहलक्षणसमन्वयादतिव्याप्तिरित्यर्थः। उभयत्र नीतिपद्यं व्याचष्टे—समाक्रान्त इति। बलवता शत्रुणा समाक्रान्तोऽभ्रंशिनीं राज्यलक्ष्मीमिच्छन् राजा वैतसीं वृत्तिं श्रयेत्। मौजङ्गीं कदाचन नेत्यन्वयः। तथा जयेन लक्ष्मीर्लभ्यते, युद्धे मरणेन देवाङ्गना लभ्यते इति परान्वयः। आशङ्कते—अनवस्थितबुद्धेः शब्दविषयत्वाभावेन विकल्पालङ्कारे नातिव्याप्तिरिति चेत, 'अयं मार्तण्डः किम्! इत्यादौ शब्दवाच्यत्वसत्त्वेन लक्षणसमन्वयेऽपि शब्दनिबन्धनविवक्षणे गम्यससन्देहालङ्कारेऽव्याप्तिप्रसङ्गात्।

(चित्र०)

जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुन्नताः ।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः ॥

इत्यादिषु सन्देहविषयनिबन्धनगम्यससन्देहालङ्कारेष्वव्याप्तिप्रसङ्गात् । उत्प्रेक्षायां वाच्यगम्यभेदवदिहापि द्विविधोदाहरणदर्शनेन वाच्यगम्यभेदेन द्वैविध्यस्याङ्गीकर्तव्यत्वात् ।

(भारती)

गम्यससन्देह का उदाहरण देते हैं—

'जिस प्रकार जीवन ग्रहण काल में मनुष्य नीचे झुका रहता है। तथा जन्मग्रहण के बाद फिर उठता है एवं जलग्रहण करते समय भी मनुष्य अधोमुख रहता है और ग्रहण कर फिर ऊर्ध्वोन्मुख होता है। उसी प्रकार धनग्रहण करते समय भी मनुष्य नम्र रहता है और धन पा जाने के बाद उठ कर उसे धारण करता है—क्या कनिष्ठ और क्या ज्येष्ठ ? घटी यंत्र की एक सूत्र से सम्बद्ध घटमाला की तरह दुर्जन भी उसी प्रकार होते हैं।'

इत्यादि उदाहरण में संदेहविषय के निबन्धन से गम्य ससंदेहालङ्कारों में भी अव्याप्ति का प्रसङ्ग है। उत्प्रेक्षा में वाच्यगम्य के भेद की तरह यहाँ भी दोनों प्रकार के उदाहरण देखने से वाच्यगम्य भेद के द्वारा दोनों प्रकार की स्वीकृति है।

(सुधा)

गम्यससन्देहमुदाहरति—जीवनेति। जीवनं जलं धनञ्च, तस्य ग्रहणे नम्रा अधोमुखा विनीताश्च, गृहीत्वा पुनरुत्थिता ऊर्ध्वमुखा उद्धताश्च किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठाः, घटीयन्त्रस्य एकरज्जुसम्बन्धघटमालारूपस्य दुर्जनाः; इत्यत्र ज्येष्ठकनिष्ठयोरप्रसिद्धेस्तस्य गम्यत्वम्। न च गम्यस्यानङ्गीकार इति वाच्यम्। उत्प्रेक्षायां वाच्यगम्यभेदवदत्रापि द्वयोरुदाहरणयोः सत्त्वात्, द्वैविध्यस्याप्यवश्यमङ्गीकारात्।

(चित्र०)

अपि च, अनवधारणेति किमुच्यते ? अनिश्चयात्मकत्वमिति चेत्, तथा सति 'बालेन्दुवक्त्राण्यविकाशभावात्' इत्यदावुदाहरिष्यमाणायामप्रकृतसाम्यनिमित्ततत्तादात्म्यसम्भावनारूपायामुत्प्रेक्षायामतिव्याप्तिः, सम्भावनाया उत्कटकोटिसन्देहरूपत्वात्। विरुद्धानेककोट्यवगाहित्वं तदिति चेत्; तथापि 'मुखचन्द्रः' इति रूपकेऽतिव्याप्तिः। विरोधेन परस्परप्रतिक्षेपकतया निबद्धानेककोट्यवगाहित्वं विवक्षितमिति चेत्, तथापि 'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे' इत्यादावुदाहरिष्यमाणायामपह्नुतावतिव्याप्तिः। सन्देहविकल्पयोर्वाकारादिनेव तत्रापि तत्तन्मतत्वोपन्यासेन परस्परप्रतिक्षेपसिद्धेः।

(भारती)

और भी,—अनवधारणत्व क्या है ? अनिश्चयात्मकता अथवा विरोध द्वारा पारस्परिक प्रतिक्षेपकता से निबद्ध अनेक कोटि अवगाहित्व ? प्रथम विशेषण की स्वीकृति में—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

इत्यादि जो आगे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करेंगे, उसमें अप्रकृतसाम्यनिमित्तक संभावना रूप उत्प्रेक्षा अलङ्कार में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि यहाँ संभावना में उत्कटकोटिका संदेह है। अगर दूसरा पक्ष स्वीकृत करते हैं, तो भी 'मुखचन्द्रः' इस रूपक में अतिव्याप्ति होगी। यहाँ यदि विरोध के द्वारा पारस्परिक प्रतिक्षेप से निवद्ध अनेक कोटिक अवगाहित्व विवक्षित हो तब,—फिर भी 'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे' इत्यादि जो अपह्नुति प्रकरण में उदाहृत होंगे—उसमें अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि यहाँ भी संदेह और विकल्प के स्वरूप से ही अपह्नुति में भी पूर्वकथित मतों से पारस्परिक प्रतिक्षेप की सिद्धि होती है और उस सिद्धि में अनेक कोटिक अवगाहित्व की उपस्थिति से ससंदेह अलङ्कार के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

(सुधा)

एवं प्रथमविशेषणं दूषयित्वा विशेषणान्तरं दूषयति—अपि चेति। किं नामानवधारणत्वम्, अनिश्चयात्मकत्वं वा, विरोधेन परस्परप्रतिक्षेपकतया निवद्धानेककोट्यवगाहित्वं वा? आद्यं दूषयति—तथेति 'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि। सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥' इत्यादावुदाहरिष्यमाणाप्रकृतसाम्यनिमित्ततादात्म्यसम्भावनारूपायामनिश्चयात्मकत्वादतिव्याप्तिः। द्वितीयेऽपि—'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे, सारङ्गं कति चापि संजगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे। इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते, तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥' इन्दौ दलितस्येन्द्रनीलमणेः शकलवत् श्यामं दरीदृश्यते, तत्केऽपि कवयः, अंकं कलंकं शशङ्किरे शङ्कितवन्तः। परेऽन्ये जलनिधेः पंकं मेनिरे। कतिचित्पुनः सारङ्गं संजगदिरे अब्रुवन्। परे इतरे भूच्छायमैच्छन्। 'विभाषासेनासुरा' इत्यादिना क्लीबत्वम्। वयन्तु घनं निशि रात्रौ पीतम्, अत एव कुक्षिस्थमन्धतमसं गाढध्वान्तमाचक्ष्महे, ब्रूमहे इत्यन्वयः। यत्राप्रह्नुतावतिव्याप्तिः, सन्देहविकल्पयोर्वाकारादिनेवापह्नुतावपि तत्तन्मतत्वोपन्यासेन परस्परप्रतिक्षेपसिद्ध्याऽनेककोट्यवगाहित्वसत्त्वात् लक्षणसमन्वयात्। किञ्च 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादौ ससन्देहे चन्द्रादीनां सन्देहधर्मिणामेवानेकत्वेन वर्णनीयवनितास्रष्टृत्वप्रकारस्यैकत्वेऽनेककोटिकत्वाभावादव्याप्तिप्रसङ्गः।

(चित्र०)

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

इति ससन्देहोदाहरणे चाव्याप्तिः। तत्र चन्द्रादीनां सन्देहधर्मिणामेवानेकत्वम्। प्रकारस्तु सर्वत्र वर्णनीयवनितास्रष्टृत्वमेकमेवेत्यनेककोटिकत्वाभावात्।

न च साम्यनिमित्तत्वाभावान्न तत्र ससन्देहः। 'इतो गता सा क्व गता न जाने गृहं गता मे हृदयं गता वा' इति सन्देहो न संग्राह्य इति वाच्यम्।

वर्णनीयनायिकायाः कान्त्या चन्द्रसाम्यं सौरभसौकुमार्याभ्यां पुष्पसाम्यं च निमित्तीकृत्य किमस्यां कान्तिनिधानभूतश्चन्द्रः स्वकान्तिसम्पदा स्रष्टा, उत पुष्पमासः स्वकीयपुष्पसम्पदेति सन्देहनिबन्धनात् 'शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनः' इत्यंशस्य शृङ्गारविभ्रमबाहुल्यमात्रपर्यवसायित्वेन किञ्चित्साम्यनिमित्तत्वाभावेऽपि चन्द्रवसन्तधर्मिकांशयोस्तन्निमित्तत्वानिवारणात् ।

(भारती)

'क्या इस सुन्दरी (उर्वशी) की सृष्टि का स्रष्टा कान्तिदायक चन्द्रमा है ? अथवा साक्षात् शृंगारमय कामदेव है ? या मधुमास वसन्त है ? क्योंकि वेदाभ्यास के कारण कुण्ठित बुद्धि, संसार के सुन्दर विषयों में निरुत्सुक तथा एक मात्र मननरत वृद्ध ब्रह्मा का सामर्थ्य कहां जो इस मनोहर रूप को रच दें।'

इस ससन्देह अलङ्कार के उदाहरण में अव्याप्ति है। क्योंकि इसमें चन्द्रादि सन्देहधर्मियों का ही एकत्व से वर्णनीय वनिता के रचना प्रकार के एकत्व में अनेक कोटि के अभाव से अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग है।

अब शंका करते हैं कि जैसे—'यहाँ से गई तो कहाँ गयी जंगल में अथवा मेरे हृदय में ? मुझे पता नहीं ? इस उदाहरण में साम्यनिमित्तत्व के अभाव से जिस प्रकार सन्देह नहीं है उसी प्रकार उक्त उदाहरण में भी साम्यनिमितत्व के अभाव से सन्देह नहीं है। तो इसका समाधान करते हैं—

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि यहाँ केवल संदेह के आधार पर विधि ही अनेक हैं। कोटि तो है वर्णनीय कामिनी का उत्पन्न करना अर्थात् 'प्रजापतित्व' जो एक ही है। अतः अनेक कोटियाँ न होने के कारण यहाँ सन्देह के लक्षण की अव्याप्ति है—

वह यहाँ घटित नहीं होता। क्योंकि संदेह का लक्षण है—विरोध के कारण परस्पर हटाने के रूप में वर्णित अनेक कोटियों के विषय में होने वाला ज्ञान। अतः इस पद्य में ससन्देहालङ्कार मानना उचित नहीं। तो इसका समाधान करते हैं—

वर्णनीय नायिका की कान्ति से चन्द्रमा का साम्य अर्थात् उपमेय प्रजापति का उपमान चन्द्रादि से साम्य प्रतिपादित है। यहाँ उपमेय की उपमानरूपता की प्रतीति में जो संशय है उसका स्वरूप है—स्रष्टा ब्रह्मा तो वेदाभ्यास से जड़ हैं, तो भला इस सुन्दरी की सृष्टि कैसे कर सके ? तब इसका सृष्टिकर्त्ता कौन ? क्या चन्द्रमा ? क्या मदन ? अथवा क्या वसन्त ? अतः यहाँ विभ्रम बाहुल्य के कारण निमित्तत्वाभाव में भी पूर्वोक्त दोनों स्थलों में निमित्तत्व की स्वीकृति के कारण दोषाभाव है।

विमर्श—'अस्याः सर्गविधौ' में दीक्षित जी ने संदेहालङ्कार का जो अतिव्याप्तिदोष बताया है, पण्डितराज जगन्नाथ ने उसका खण्डन करते हुए लिखा है कि संदेह का आकार यहाँ है—'इस नायिका की सृष्टि में जो स्रष्टा बना है वह चन्द्रमा है, किंवा मदन अथवा वसन्त है ? इस संशय का आधार है 'ब्रह्मा'। उस आधार में चन्द्रत्व आदि अनेक कोटियाँ हैं ही। अतः संदेह के लक्षण की अव्याप्ति कहाँ है ? और जो आप 'चन्द्रादिक' को सन्देह का आधार और 'प्रजापतित्व' को सन्देह की कोटि मान रहे हैं, उस प्रकार का संदेह तो यहाँ कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो प्रजापति का प्रयोग पहले नहीं होता, किन्तु चन्द्र आदि का ही प्रथम

बालेन्दुवक्त्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

इत्यादि जो आगे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करेंगे, उसमें अप्रकृतसाम्यनिमित्तक संभावना रूप उत्प्रेक्षा अलङ्कार में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि यहाँ संभावना में उत्कटकोटिका संदेह है। अगर दूसरा पक्ष स्वीकृत करते हैं, तो भी 'मुखचन्द्रः' इस रूपक में अतिव्याप्ति होगी। यहाँ यदि विरोध के द्वारा पारस्परिक प्रतिक्षेप से निबद्ध अनेक कोटिक अवगाहित्व विवक्षित हो तब,—फिर भी 'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे' इत्यादि जो अपह्नुति प्रकरण में उदाहृत होंगे—उसमें अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि यहाँ भी संदेह और विकल्प के स्वरूप से ही अपह्नुति में भी पूर्वकथित मतों से पारस्परिक प्रतिक्षेप की सिद्धि होती है और उस सिद्धि में अनेक कोटिक अवगाहित्व की उपस्थिति से ससंदेह अलङ्कार के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

(सुधा)

एवं प्रथमविशेषणं दूषयित्वा विशेषणान्तरं दूषयति—अपि चेति। किं नामानवधारणत्वम्, अनिश्चयात्मकत्वं वा, विरोधेन परस्परप्रतिक्षेपकतया निबद्धानेककोट्यवगाहित्वं वा? आद्यं दूषयति—तथेति 'बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि। सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥' इत्यादावुदाहरिष्यमाणाप्रकृतसाम्यनिमित्ततादात्म्यसम्भावनारूपायामनिश्चयात्मकत्वादतिव्याप्तिः। द्वितीयेऽपि—'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे, सारङ्गं कति चापि संजगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे। इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते, तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥' इन्दौ दलितस्येन्द्रनीलमणेः शकलवत् श्यामं दरीदृश्यते, तत्केऽपि कवयः, अंकं कलंकं शशङ्किरे शङ्कितवन्तः। परेऽन्ये जलनिधेः पंकं मेनिरे। कतिचित्पुनः सारङ्गं संजगदिरे अब्रुवन्। परे इतरे भूच्छायमैच्छन्। 'विभाषासेनासुरा' इत्यादिना क्लीबत्वम्। वयन्तु यत् निशि रात्रौ पीतम्, अत एव कुक्षिस्थमन्धतमसं गाढध्वान्तमाचक्ष्महे, ब्रूमहे इत्यन्वयः। यत्राप्रह्नुतावतिव्याप्तिः, सन्देहविकल्पयोर्वाकारादिनेवापह्नुतावपि तत्तन्मतत्वोपन्यासेन परस्परप्रतिक्षेपसिद्ध्याऽनेककोट्यवगाहित्वसत्त्वात् लक्षणसमन्वयात्। किञ्च 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादौ ससन्देहे चन्द्रादीनां सन्देहधर्मिणामेवानेकत्वेन वर्णनीयवनितास्रष्टृत्वप्रकारस्यैकत्वेऽनेककोटिकत्वाभावादव्याप्तिप्रसङ्गः।

(चित्र०)

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

इति ससन्देहोदाहरणे चाव्याप्तिः। तत्र चन्द्रादीनां सन्देहधर्मिणामेवानेकत्वम्। प्रकारस्तु सर्वत्र वर्णनीयवनितास्रष्टृत्वमेकमेवेत्यनेककोटिकत्वाभावात्।

न च साम्यनिमित्तत्वाभावान्न तत्र ससन्देहः। 'इतो गता सा क्व गता न जाने गृहं गता मे हृदयं गता वा' इति सन्देहो न संग्राह्य इति वाच्यम्।

वर्णनीयनायिकायाः कान्त्या चन्द्रसाम्यं सौरभसौकुमार्याभ्यां पुष्पसाम्यं च निमित्तीकृत्य किमस्यां कान्तिनिधानभूतश्चन्द्रः स्वकान्तिसम्पदा स्रष्टा, उत पुष्पमासः स्वकीयपुष्पसम्पदेति सन्देहनिबन्धनात् 'श्रृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनः' इत्यंशस्य श्रृङ्गारविभ्रमबाहुल्यमात्रपर्यवसायित्वेन किञ्चित्साम्यनिमित्तत्वाभावेऽपि चन्द्रवसन्तधर्मिकांशयोस्तन्निमित्तत्वानिवारणात् ।

(भारती)

'क्या इस सुन्दरी (उर्वशी) की सृष्टि का स्रष्टा कान्तिदायक चन्द्रमा है ? अथवा साक्षात् श्रृंगारमय कामदेव है ? या मधुमास वसन्त है ? क्योंकि वेदाभ्यास के कारण कुण्ठित बुद्धि, संसार के सुन्दर विषयों में निरुत्सुक तथा एक मात्र मननरत वृद्ध ब्रह्मा का सामर्थ्य कहां जो इस मनोहर रूप को रच दें।'

इस ससन्देह अलङ्कार के उदाहरण में अव्याप्ति है। क्योंकि इसमें चन्द्रादि सन्देहधर्मियों का ही एकत्व से वर्णनीय वनिता के रचना प्रकार के एकत्व में अनेक कोटि के अभाव से अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग है।

अब शंका करते हैं कि जैसे—'यहाँ से गई तो कहाँ गयी जंगल में अथवा मेरे हृदय में ? मुझे पता नहीं ? इस उदाहरण में साम्यनिमित्तत्व के अभाव से जिस प्रकार सन्देह नहीं है उसी प्रकार उक्त उदाहरण में भी साम्यनिमितत्व के अभाव से सन्देह नहीं है। तो इसका समाधान करते हैं—

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि यहाँ केवल संदेह के आधार पर विधि ही अनेक हैं। कोटि तो है वर्णनीय कामिनी का उत्पन्न करना अर्थात् 'प्रजापतित्व' जो एक ही है। अतः अनेक कोटियाँ न होने के कारण यहाँ सन्देह के लक्षण की अव्याप्ति है—

वह यहाँ घटित नहीं होता। क्योंकि संदेह का लक्षण है—विरोध के कारण परस्पर हटाने के रूप में वर्णित अनेक कोटियों के विषय में होने वाला ज्ञान। अतः इस पद्य में ससन्देहालङ्कार मानना उचित नहीं। तो इसका समाधान करते हैं—

वर्णनीय नायिका की कान्ति से चन्द्रमा का साम्य अर्थात् उपमेय प्रजापति का उपमान चन्द्रादि से साम्य प्रतिपादित है। यहाँ उपमेय की उपमानरूपता की प्रतीति में जो संशय है उसका स्वरूप है—स्रष्टा ब्रह्मा तो वेदाभ्यास से जड़ हैं, तो भला इस सुन्दरी की सृष्टि कैसे कर सके ? तब इसका सृष्टिकर्त्ता कौन ? क्या चन्द्रमा ? क्या मदन ? अथवा क्या वसन्त ? अतः यहाँ विभ्रम बाहुल्य के कारण निमित्तत्वाभाव में भी पूर्वोक्त दोनों स्थलों में निमित्तत्व की स्वीकृति के कारण दोषाभाव है।

विमर्श—'अस्याः सर्गविधौ' में दीक्षित जी ने संदेहालङ्कार का जो अतिव्याप्तिदोष बताया है, पण्डितराज जगन्नाथ ने उसका खण्डन करते हुए लिखा है कि संदेह का आकार यहाँ है—'इस नायिका की सृष्टि में जो स्रष्टा बना है वह चन्द्रमा है, किंवा मदन अथवा वसन्त है ? इस संशय का आधार है 'ब्रह्मा'। उस आधार में चन्द्रत्व आदि अनेक कोटियाँ हैं ही। अतः संदेह के लक्षण की अव्याप्ति कहाँ है ? और जो आप 'चन्द्रादिक' को सन्देह का आधार और 'प्रजापतित्व' को सन्देह की कोटि मान रहे हैं, उस प्रकार का संदेह तो यहाँ कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो प्रजापति का प्रयोग पहले नहीं होता, किन्तु चन्द्र आदि का ही प्रथम

प्रयोग होता। प्रजापति शब्द का उल्लेख जब पहले है, तब तो अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि कवि प्रजापति में 'वह चन्द्रमा होना चाहिए या मदन' इत्यादि सन्देह कर रहा है, न कि चन्द्र आदि में प्रजापति होने का।

सा० द० में विश्वनाथ ने लिखा है कि सन्देह अलंकार उस प्रकार के संशय में नहीं हुआ करता जिसमें कविप्रतिभा का संशयात्मक ज्ञान प्रकार मात्र है। कविप्रतिभोत्थापित भी 'संशय' तभी सन्देह अलङ्कार हो सकता है जब कि वह प्रकृत में अप्रकृतविषयक संशयात्मक अनुभव रूप रहा करता है। इस दृष्टि से विचारने पर उक्त उदाहरण में सन्देह का आधार है प्रजापति और उसकी कोटि है प्रजापतित्व दोनों घुमा-फिरा कर एक ही है। अतः इसमें अनेक कोटियों के अभाव से दीक्षित जी द्वारा कथित लक्षण की अव्याप्ति स्पष्ट है।

(सुधा)

उदाहरणं व्याचष्टे—अस्याः सर्गविधौ कान्तिप्रदश्चन्द्रः किं प्रजापतिरभूत्, किं वा शृङ्गारैकरसः मदनो वाऽभूत्; पुष्पाकरो मासो वा, वेदाभ्यासजडः विषयपराङ्मुखकौतुकः पुराणो मुनिरिदं मनोहरं रूपं निर्मातुं कथं प्रभवेदित्यन्वयः। अत्राशङ्कते—नचेति। इतो गता सा क्व गता वनं गता वा! में हृदयं गता वेत्यहं न जाने। इत्यत्र साम्यनिमित्तत्वा-भावेन यथा सन्देहो नास्ति तथात्रापि तन्निमित्तत्वाभावान्न सन्देह इत्याशङ्कार्थः।

समाधत्ते—वर्णनीयेति। वर्ण्यनायिकायाः कान्त्या चन्द्रसाम्यं सौरभसौकुमार्याभ्यां पुष्पसाम्यं च निमित्तमङ्गीकृत्य स्वकान्तिसम्पदा कान्त्याश्रयश्चन्द्रः स्रष्टा, उत, स्वकीय-पुष्पसम्पदा पुष्पसमयो वा इति सन्देहसत्त्वात्। 'मदन' इत्यंशस्य शृङ्गारविभ्रमबाहुल्या-मात्रपर्यवसायितया विशेषतस्तन्निमित्तत्वाभावेऽपि पूर्वयोस्तन्निमित्तत्वाङ्गीकारे दोषा-भावात्।

(चित्र०)

एवं च प्रकृतार्थाश्रयेत्येतदप्ययुक्तम्, उदाहृतसन्देहस्य वर्णनीयनायिकाना-श्रयत्वेनाव्याप्तेरिति चेत् ?

(भारती)

प्राचीनों के द्वारा कथित ससन्देह के **'साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा'** लक्षण में 'प्रकृतार्थाश्रया' विशेषण भी अशुद्ध ही है। क्योंकि 'अस्याः सर्गविधौ' इस उदाहरण में संदेह का चन्द्रादि आश्रयत्व के कारण प्रकृतार्थनायिका के आश्रयत्व से अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग है। अतः प्राचीनों के उक्त लक्षण उचित नहीं है।

विमर्श—अप्पय दीक्षित ने प्राचीनोक्त 'साम्यादप्रकृतार्थस्य' इत्यादि ससंदेह के लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष दिखाकर दूषित सिद्ध किया है। किन्तु, पण्डितराज दीक्षित के मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए लिखते हैं कि उक्त लक्षण में 'अवधारणा' शब्द का अर्थ निश्चय और संभावना ये दोनों मान लेने से दोष नहीं रहता। क्योंकि निश्चय और संभावना दोनों में से किसी एक के रूप में न होने वाला सादृश्यमूलक बोध ही तो संदेहालङ्कार है। बची बात अन्योन्याश्रय दोष की। क्योंकि सन्देह से भिन्न निश्चय और निश्चय से भिन्न सन्देह रूप अन्योन्याश्रम की संभावना है किन्तु, किसी भी प्रकार से एक का तो लक्षण बनाना ही है। फिर

निश्चय का लक्षण इस प्रकार बनाया जाय कि उसमें संदेह का प्रवेश ही न हो। ऐसा करने से अन्योन्याश्रम दोष भी न होगा और उक्त प्राचीनों के लक्षण में भी दोष दर्शन न होगा।

किन्तु, वस्तु स्थिति यह है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनेक वस्तुओं का जहाँ सन्देह होगा तथा सादृश्य के कारण अनिश्चयता बनी रहेगी वहीं तो सन्देहालङ्कार होगा। इतना ही नहीं इस अलङ्कार में तो दो वस्तुओं में सन्देह न रहने पर भी कविप्रतिभा द्वारा उसमें सन्देह का विबन्धन किया जाता है ऐसी स्थिति में 'अवधारणा' शब्द का अर्थ निश्चय और संभावना मानकर प्राचीनों के उक्त लक्षण को दोषमुक्त किसी भी स्थिति में नहीं कहा जा सकता।

(सुधा)

किञ्च प्रकृतार्थाश्रयेति विशेषणमप्यशुद्धम्, 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यत्र सन्देहस्य चन्द्राद्याश्रयत्वेन प्रकृतार्थनायिकानाश्रयत्वादव्याप्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् प्राचीनोक्तं लक्षणं न सम्यक्।

(चित्र०)

अत्र ब्रूमः—

बुद्धिः सर्वात्मनान्योन्याक्षेपिनानार्थसंश्रया।
सादृश्यमूला वार्थस्पृक् सन्देहालङ्कृतिर्मता॥

यद्यप्यन्योन्यप्रतिक्षेपकविरुद्धनानार्थावलम्बनत्वं विकल्पस्याप्यस्ति, तथापि तदर्थानां सर्वात्मना परस्परप्रतिक्षेपकत्वं नास्ति, किन्तु पक्षे तत्प्राप्तिमनिरुध्य स्वप्राप्तिपक्ष एव स्वपरिपन्थिप्राप्तिप्रतिक्षेपकत्वम्।

(भारती)

दीक्षित जी 'अत्र ब्रूमः से अर्थात् यहाँ अब अपना लक्षण बताते हैं—

'जिस सादृश्यमूलक बुद्धि में एक दूसरे को सब प्रकार से हटाते हुए अनेक पदार्थों का अनुभव हो तथा जो बुद्धि 'वा' अर्थ का स्पर्श करती हो, उसे ही ससन्देह अलङ्कार कहते हैं।'

यद्यपि 'जिस सादृश्यमूलक बुद्धि में एक दूसरे को अनेक पदार्थों का अनुभव हो तथा जो बुद्धि 'वा' अर्थ का स्पर्श करती हो, वही ससन्देहालङ्कार है, इतना ही लक्षण करते हैं तो—'**शिरांसि चापान् वा नमयन्तु महीभुजः**' विकल्पालङ्कार के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। इसीलिए उक्त लक्षण में 'सर्वात्मना अर्थात् सब प्रकार से हटाते हुए' विशेषण का सन्निवेश किया गया है। ऐसा करने से स्वतः अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है। क्योंकि पक्ष में उस प्राप्ति को बिना रोके ही स्वप्राप्तिपक्ष के ही कारण स्व के साथ अन्य प्राप्ति की प्रतिक्षेपकता से दूसरे को सभी प्रकार से हटाना—यहाँ नहीं है।

(सुधा)

अत्र स्वयं लक्षणमारचयति—अत्र ब्रूम इति। सर्वात्मनान्योन्याक्षेपिनानार्थसंश्रया सादृश्यमूला वार्थस्पृक् या बुद्धिः सा सन्देहालंकृतिर्भवतीत्यन्वयः। लक्षणपदानां सफलतां प्रतिपादयति—यद्यपीति। तत्र सर्वात्मनेत्यस्य सफलत्वमाह—अन्योन्यप्रतिक्षेपकविरुद्धनानार्थावलम्बनबुद्धित्वं सन्देहत्वमित्युक्तौ 'सद्यः शिरांसि चापान् वा नमयन्तु

महीभुजः' इति विकल्पालङ्कारेऽतिव्याप्तिः स्यादित्यतः सर्वात्मनेति विशेषणम्। तत्र हि पक्षे तत्प्राप्तिमनिरुध्यैव स्वप्राप्तिपक्ष एव स्वान्यप्राप्तिप्रतिक्षेपकतया सर्वात्मना प्रतिक्षेपकत्वं नास्तीत्यतो नातिव्याप्तिः।

(चित्र०)

न हि 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यष्टव्यम्' इति विकल्पोद्देशे व्रीहयो यवान् यवाश्च व्रीहीन् सर्वात्मना यागात् प्रतिक्षिपन्ति। तथा सति शास्त्रस्यास्यानिर्णायकत्वेनाननुष्ठापकत्वेन चाप्रामाण्यप्रसङ्गात्, किन्तु स्वस्वानुष्ठानपक्ष एव। अत एव 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यष्टव्यम्' इति सन्देहेन पृष्टवन्तं प्रति 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यष्टव्यम्' इति प्रश्नसमाकारमेव वाक्यं निर्णायकं प्रश्नमूलसन्देहनिवर्तकमनुष्ठापकं च दृश्यते। प्रश्नवाक्ये वाकारः सर्वात्मना पक्षान्तरप्रतिक्षेपार्थः, उत्तरवाक्ये पक्षे तत्प्रतिक्षेपार्थ इति विशेषसद्भावात्। एवं विकल्पालङ्कारोदाहरणेऽपि द्विविधस्यापि नीतिशास्त्रस्य प्रामाण्यात्तदुपदिष्टफलेच्छानुसारेणोभयमपि पक्षेऽनुष्ठातुं युक्तमिति शिरोधनुर्नमनयोर्न सर्वात्मना परस्परप्रतिक्षेपकत्वमिति विकल्पालङ्कारे नातिव्याप्तिः। अपह्नवोदाहरणे सर्वात्मना परस्परप्रतिक्षेपसत्त्वेऽपि वाकारार्थस्पर्शाभावन्नातिव्याप्तिः। तत्र हि केचिदन्य इति मतान्तरत्वोपन्यासेन पक्षाणां परस्परप्रतिक्षेपलाभः, न तु वाकारार्थस्पर्शोऽस्ति।

(भारती)

इसे ही शास्त्रान्तर वाक्य से दृढ़ करते हुए कहते हैं कि 'व्रीहि से अथवा जौ से यज्ञ करना चाहिए'। इस विकल्प के उद्देश्य में व्रीहि जौ और जौ व्रीहि, में एक दूसरे को सभी प्रकार हटाते हुए यज्ञ से प्रतिक्षेप करते हैं। ऐसा करने पर इस शास्त्र के निर्णायक अननुष्ठापकत्व से अप्रामाण्य का प्रसंग होता है। किन्तु, यहाँ अपना अपना अनुष्ठान पक्ष ही है। इसीलिए 'व्रीहि से वा जौ से यज्ञ करना चाहिए। इस संदेह से पूछने वालों के प्रति 'व्रीहि से अथवा जौ से यज्ञ करना चाहिए' प्रश्न के सदृश आकारवाला उत्तर वाक्य ही निर्णायक होता है। इतना ही नहीं, प्रश्न मूल सन्देह की निवृत्तिपूर्वक अनुष्ठान भी देखते हैं। प्रश्नवाक्य में वाकार जो है वह सब प्रकार से हटाते हुए पक्षान्तर का प्रतिक्षेपं ही अर्थ स्पष्ट करता है। इसी प्रकार उत्तर वाक्य के पक्ष में उस प्रतिक्षेप का अर्थ विशेषरूप से उपलब्ध है। इस प्रकार विकल्पालङ्कार के उदाहरण में भी दोनों प्रकार की नीति के प्रमाण से उसके द्वारा उपदिष्ट फल की इच्छा के अनुसार जैसे दोनों ही पक्षों में अनुष्ठान करना चाहिए, उसी प्रकार ''चाहे शिर झुकाओ चाहे प्रत्यंचा खींचकर युद्ध के लिए समुद्यत धनुष झुकाओ'' पूर्व कथित विकल्पालङ्कार के उदाहरण में भी अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है। इसी प्रकार यदि केवल ससंदेह का इतना ही लक्षण करते हैं 'जिस सादृश्यमूलक बुद्धि में एक दूसरे को सब प्रकार से हटाते हुए अनेक पदार्थों का अनुभव हो, उसे ससन्देह अलङ्कार करते हैं; तो पूर्व कथित 'अङ्कं केपि शशङ्किरे' अपह्नुति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। अतः लक्षण में इसी अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'वार्थस्पृग्' बुद्धिविशेषण का समावेश किया गया है। यहाँ कुछ लोगों के द्वारा मतान्तर के कथन से परस्पर प्रतिक्षेपक के लाभ होने पर भी 'वाकारार्थ स्पर्श' के अभाव में अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है।

(सुधा)

एतदेव शास्त्रान्तरवाक्येन द्रढयति—न हीति । 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यष्टव्यम्' इत्यत्र व्रीहीणां स्वानुष्ठानपक्ष एव यवप्रक्षेपकत्वादुभयत्र सन्देहेन पृष्टवतः तादृशप्रश्नसमाकारवाक्यस्यैव प्रश्नमूलसन्देहनिवर्तकरूपनिर्णायकत्वस्यानुष्ठापकत्वस्य च दृश्यत्वात् । अन्यथा उभयोस्सर्वात्मना यागात्प्रतिक्षेपे शास्त्रस्यानिर्णायकत्वाननुष्ठापकत्वाभ्यामप्रामाण्यप्रसङ्गः स्यात् । सर्वात्मना तत्प्रतिक्षेपपक्षे तत्प्रतिक्षेपयोर्निर्णयमाह—प्रश्नवाक्य इति । प्रश्नवाक्यस्य वाकारस्य सर्वात्मना प्रतिक्षेपकत्वमर्थः । उत्तरवाक्ये तु पक्षे तत्प्रतिक्षेपकत्वमर्थ इति तयोर्विशेष इति । 'इह नमय' इत्याद्यावतिव्याप्तिं परिहरति—एवमिति । द्विविधनीतेः प्रामाण्यसत्त्वात्तदुपदिष्टफलेच्छानुसारेणोभयस्यापि पक्षेऽनुष्ठातुं योग्यतया शिरो धनुर्नमनयोः सर्वात्मना परस्परप्रतिक्षेपकत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः । 'वार्थस्पृक्' इत्यादिविशेषणस्य फलमाह—अपह्नवेत्यादि । सर्वात्मनान्योन्यप्रतिक्षेपकविरुद्धानेकार्थावलम्बनसादृश्यमूला बुद्धिः सन्देह इत्युक्तौ 'अंकं केऽपि शशङ्किरे' इत्यपह्नुतौ सर्वात्मना परस्परप्रतिक्षेपतादृशबुद्धिसत्त्वादतिव्याप्तिः । अतस्तद्वारणाय वार्थस्पृगिति बुद्धिविशेषणमुक्तम् । तत्र केचिदित्यादिमतान्तरोपन्यासेन परस्परप्रतिक्षेपकत्वलाभेऽपि वाकारार्थस्पर्शाभावादित्याशयः ।

(चित्र०)

उत्प्रेक्षायामपि नातिव्याप्तिः, तत्र ह्युत्कटकोटिके संशयकोट्योः समबलत्वाभावेन वाकारार्थस्पर्शाभावात् ।

'अस्याः सर्गविधौ' इत्युदाहरणे परस्परप्रतिक्षेपकनानाकोटिसमाश्रयत्वाभावेऽपि तथाभूतनानाधर्मिरूपार्थसमाश्रयत्वसत्त्वान्नाव्याप्तिरिति सर्वमवदातम् ।

(भारती)

इसी विशेषण के कारण 'बालेन्दुवक्त्राण्यविकाशभावात्' इत्यादि उत्प्रेक्षालङ्कार के उदाहरण में भी अतिव्याप्ति दोष का परिहार हो जाता है क्योंकि यहाँ भी उत्कटकोटि के पलाशनखक्षत-संशयकोटि की समबलता के अभाव से वाकारार्थ स्पर्श के अभाव के द्वारा समबलता में ही उसकी उपस्थिति के कारण यहाँ अतिव्याप्ति नहीं है ।

'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि पूर्वलिखित ससंदेह के इस उदाहरण में एक दूसरे को सब प्रकार से हटाते हुए अनेक पदार्थों का आश्रय यद्यपि नहीं है, फिर भी वैसे एक दूसरे के प्रतिक्षेपक रूप अनेक धर्मीस्वरूप सादृश्य के आश्रयत्व की उपस्थिति से अव्याप्ति का परिहार स्वतः हो जाता है । अतः यह लक्षण सर्वतोभावेन निर्दुष्ट और सुन्दर है ।

(सुधा)

अनेनैव विशेषणेनोत्प्रेक्षायामतिव्याप्तिं वारयति—उत्प्रेक्षायामपीति । 'बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावात्' इत्यत्र उत्कटकोटिके पलाशनखक्षतसंशये संशयकोट्योः समबलत्वाभावेन वाकारार्थस्पर्शाभावात् समबलतायामेव तत्सत्त्वात्तत्र नातिव्याप्तिः । 'अस्याः सर्गविधौ' इत्याद्यावव्याप्तिं परिहरति—अस्या इति । अस्मिन् सन्देहोदाहरणेऽन्योन्यप्रतिक्षेप-

कनानाकोटिसमाश्रयत्वं यद्यपि नास्ति, तथापि तथाभूतपरस्परप्रतिक्षेपकरूपनानाधर्मिरूपार्थसमाश्रयत्वसत्त्वान्नाव्याप्तिरिति सर्वं लक्षणमनवद्यं दोषरहितमेवेति दिक्।

(चित्र०)

सन्देहालङ्कारध्वनिर्यथास्मत्कुलकूटस्थवक्षःस्थलाचार्यकृते वरदराजवसन्तोत्सवे—

काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवैक्षत ॥

अत्र संशयस्य शब्दोपात्तत्वेऽपि तावन्मात्रस्यानलङ्कारत्वात्। तदलङ्कारताप्रयोजकस्य वक्षःस्थले स्थितैव लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुरतस्तिष्ठतीत्येवं संशयाकारस्य वक्षःस्थलमवैक्षतेत्यनेन व्यङ्ग्यत्वात् सन्देहालङ्कारध्वनिरत्रेति। यथा—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कान्यपि चकार लज्जया ॥

इत्यत्र कानि कान्यपीति सामान्यतो निर्दिष्टानुभावविशेषप्रतीत्यर्थलज्जाशब्दप्रयोगेऽपि तस्याः स्वविभावानुभावाभ्यां रसानुगुणाभिव्यक्तिरूपो ध्वनिः।

(भारती)

सन्देहालङ्कार ध्वनि के उदाहरण के प्रसंग में दीक्षित जी ने लिखा है कि यह पद्य हमारे मूल पुरुष वक्षस्थलाचार्य के बनाये 'वरदराज-वसंतोत्सव' का है।

वरदराज (भगवान् विष्णु की मद्रासस्थित एक मूर्ति) मानो साक्षात् लक्ष्मी हो। ऐसी सोने की तरह गौर शरीरवाली किसी कामिनी को देखकर संदेहयुक्त हुए और वक्षःस्थल देखने लगे।

यद्यपि यहाँ 'सन्देह' का ग्रहण शब्द द्वारा हुआ है तथापि केवल उतने भाग के अलङ्कार रूप न होने के कारण, किन्तु संदेहालङ्कार को सिद्ध करने वाला 'वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतर कर सामने खड़ी है' यह संदेह का आकार 'वक्षस्थल को देखने लगे' इस उक्ति द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण यहाँ 'सन्देहालङ्कार की ध्वनि' है। जैसे कि (कुमारसंभव में पार्वती का सुरत वर्णन है—)।

'पार्वती दर्पण में संभोग के नखक्षतादि चिन्ह देख रही थी। उसने, अपने पीछे बैठे प्रणयी शिव का प्रतिबिम्ब अपने प्रतिबिम्ब के पीछे देखा। फिर तो उसने लज्जा के मारे क्या-क्या न किया।'

यहाँ 'क्या क्या' इस तरह सामान्य रूप में 'वर्णित विशेष अनुभावों की प्रतीति के लिए 'लज्जा' शब्द का प्रयोग करने पर भी, अपने विभावों और अनुभावों द्वारा लज्जा के रस के अनुकूल अभिव्यक्ति रूपी ध्वनि है—अर्थात् यहाँ अनुभावों की विशेषरूप से प्रतीति करवाने के लिए 'लज्जा' शब्द के आने पर भी रस का पोषण करनेवाली लज्जा रूप चित्तवृत्ति व्यङ्ग्य ही है।

(सुधा)

अस्य ध्वनिमुदाहरति—सन्देहालङ्कारेति । श्लोकस्य प्रामाणिकताद्योतनाय आह—अस्मत्कुलेति । काञ्चिदिति । साक्षात् श्रियमिव स्वर्णगौराङ्गीं काञ्चिदुद्वीक्ष्य संशयापन्नो वरदो वक्षस्स्थलमवैक्षतेत्यन्वयः । अत्र सन्देहस्य संशयेत्यादिविशेषणोक्त्या वाच्यत्वसत्त्वेन व्यङ्ग्यत्वाभावमाशङ्क्य परिहरति—अत्रेति । शब्दोपात्तसंशयस्यानलङ्कारत्वात्, सन्देहत्वप्रयोजकस्य वक्षःस्थितैव लक्ष्मीः ततोऽवतीर्याग्रे तिष्ठतीति सन्देहालङ्काररूपस्य वक्षःस्थलावेक्षणव्यङ्ग्यजन्यत्वात् तस्य ध्वनित्वमव्याहतमेवेति तद्भावः । तादृशशब्दोपादानरहितशुद्धसन्देहालङ्कारध्वनिमुदाहरति—दर्पणेत्यादि । दर्पणे मुकुरे परिभोगो देहः, तदालोकिनी स्वपृष्ठे निपेदुषः, प्रणयिनः पत्युर्बिम्बं वीक्ष्य आत्मनोऽनुबिम्बं वीक्ष्य लज्जया कानि कानि चकार इत्यन्वयः । कानि कानीति सामान्यतया निर्दिष्टानुभावविशेषप्रतीत्यर्थं लज्जाशब्दप्रयोगेऽपि लज्जायाःऽस्वस्या विभावानुभावौ ताभ्यां रसगुणाभिव्यक्तिरूपः पृष्ठत आलिङ्गनरूप उत्सङ्गे गृहीत्वा मुखचुम्बनरूपो वा सम्भोगश्रृङ्गारध्वनिः ।

(चित्र०)

यद्यपि 'संशयापन्नः' इत्यनेन लक्ष्म्याः पुरो दृष्टायाश्च मध्ये कस्या रूपमधिकमिति संशयाविष्ट इति वा; निःसमाधिकरूपवत्त्वाभिमानिनी लक्ष्मीः पुरत एनां दृष्ट्वा कथं वर्तेत इति संशयापन्न इति वा, इयं च वक्षसि कुत्र निवेशनीयेति संशयापन्न इति वा, बहवः संशयाकारा वक्षःस्थलमवैक्षतेत्यनेन व्यङ्ग्याः संभवन्ति, तथापि सर्वेषामपि सन्देहानां सादृश्यमूलत्वाद्व्यतिरेकमूलसन्देहस्याप्यत्र संभवेऽपि कथञ्चित्सादृश्यमूलत्वात सन्देहालङ्कारध्वन्युदाहरणत्वमिति युक्तमेव ।

इति चित्रमीमांसायां ससन्देहालङ्कारप्रकरणम्

(भारती)

यद्यपि हृदय में रहनेवाली लक्ष्मी को आगे में देखकर बीच में किसका रूप अधिक है ? इस संशय से आविष्ट अथवा दूसरी जगह समान और अधिक से रहित अपने स्वरूप की अभिमानिनी लक्ष्मी आगे इन्हें देखकर कैसी है ? इस तरह के संदेह से आविष्ट । अथवा इस दूसरी लक्ष्मी को हृदय में कहाँ रखना चाहिए ? ऐसी सन्देहापन्न स्थिति है । इस तरह बहुत प्रकार के संशय से आच्छन्न वक्षस्थल को देखते हैं और इस तरह के देखने में जो व्यङ्ग्य है, उन सबों में सादृश्यमूलत्व से विशेषाभाव है । इसी से हृदय में अवस्थित लक्ष्मी के द्वारा आधिक्यरूप व्यतिरेकमूल सन्देह रहने पर भी यथा कथंचित् उसका भी सादृश्यमूलता से यहाँ सन्देह अलङ्कार की ध्वनि तो अव्याहत ही है । अतः सन्देहालङ्कार ध्वनि का यह उदाहरण युक्तियुक्त है ।

विमर्श—पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित जी द्वारा प्रतिपादित सन्देहध्वनि के इस उदाहरण का भी खण्डन किया है । उनका कहना है कि 'सन्देह युक्त होकर' इस वाक्य में 'सन्देह' पद द्वारा

'एक पदार्थ में, परस्पर विरोधी अनेक पदार्थों के सम्बन्ध में होनेवाला ज्ञान, जिसे दीक्षित जी ने व्यङ्ग्य कहा है—

साक्षात् ही निवेदन किया जा रहा है, इस वाक्य का अर्थ ही यह है कि—वरदराज को कोई ऐसा ज्ञान हुआ है जो एक पदार्थ में परस्पर विरोधी विविध कोटियों का ग्रहण कर रहा है। उसके बाद कोटि रूपक यह परस्पर विरोधी विविध पदार्थ 'कौन है' इस तरह विशेष की आकांक्षा होने पर 'वक्षःस्थल देखने लगे' इस वाक्य द्वारा, व्यञ्जनावृत्ति से, यह अर्थ समझ में आया कि 'वक्षःस्थल में अवस्थित लक्ष्मी ही वहाँ से उतरकर सामने आ खड़ी हुई है।' यह व्यङ्ग्य अर्थ, अन्ततोगत्वा, अभिधा द्वारा प्रतिपादित 'सन्देह' शब्द के अर्थ रूप पूर्वोक्त ज्ञान के विशेषण बने हुए 'परस्पर विरोधी अनेक पदार्थ' रूपी सामान्य अर्थ से अभिन्न हो जाता है। अर्थात् जिसे दीक्षित जी व्यङ्ग्य संदेह कह रहे हैं वह अर्थ 'सन्देह' शब्द के वाच्य सामान्य अर्थ के एक अंश का विवरण मात्र है, न कि उससे भिन्न कोई वस्तु।

फलतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त पद्य में संदेह मात्र का बोध अभिधा द्वारा हुआ है। अतः विरोधी अनेक पदार्थ रूप होने के कारण 'वक्षस्थल में अवस्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने खड़ी है' इस एक अंश का विवरण भी अभिधा द्वारा ही प्रतिपाद्य है। ऐसी स्थिति में अभिधा से प्राप्त इस अंश को स्वतंत्र रूप से सामान्यतया व्यङ्ग्य ध्वनि नहीं कहा जा सकता है। इसके व्यङ्ग्यार्थ की समाप्ति भी वाच्य-अर्थ संदेह में ही जाकर होती है। फलतः इस श्लोक में ऐसे किसी भी तथ्य का प्रतिपादन नहीं है जो इसे उत्तमोत्तम ध्वनि की स्थिति में ला सके। ध्वनिवादियों का यह सिद्धान्त है कि जिसमें अभिधावृत्ति का बिल्कुल स्पर्श न हो वही व्यङ्ग्य काव्य को ध्वनि बना सकता है। आनन्दवर्द्धन ने लिखा है—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः॥

इसको व्याख्याकार ने उदाहरण रूप में लिखा है—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

यहाँ किसी नायिका की, लीलाकमल की पंखुड़ियों के बन्द करने की चेष्टा से यही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह सायंकाल को अपने प्रेम मिलन का समय बताना चाह रही है।

यहाँ जार का चित्त संकेतज्ञान में समझकर लीलापद्म को मूंद दिया, यह कहते हुए कवि ने 'लीलाकमल के मूंदने' का 'सायंकाल' संकेतार्थ ध्वनित कर दिया। यहाँ यदि संकेतार्थ शब्दों में अभिव्यक्त न होता तो व्यङ्ग्य कहा भी जा सकता यों तो यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही मार्ग है। अतः यहाँ ध्वनि नहीं गुणीभूत व्यङ्ग्य ही कहा जाता है। इसी प्रकार—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो,
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा,—
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याकृतिर्व्याजपूर्वम्॥

मेरी वृद्धा माँ यहाँ सोती है। बूढ़ों के अगुआ मेरे पिताजी यहाँ सोते हैं। सारे घर के कामों को करने से अति श्लथ शरीरवाली बूढ़ी गृहदासी वहाँ सोती है। देखो वहाँ अकेली मैं पापिन्

सोती हूँ। कुछ दिन हुए मेरे पति परदेश चले गये हैं। इस प्रकार अवसर कहने के व्याज से उस तरुणी ने पथिक से कहा।

यद्यपि यहाँ 'निःशंकभाव से रमण करने आओ' यह अर्थ श्लोक के तीन चरणों से व्यङ्ग्य रूप में व्यक्त है। फिर भी कवि ने 'अवसर दिखाने को' कपट रूप कहते हुए व्यङ्ग कहते हुए इस अर्थ का अपनी उक्ति से स्पष्ट निवेदन कर दिया। अतः यह भी ध्वनि का मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धनाचार्य के मत का समर्थन करते हुए अभिनवगुप्ताचार्य ने भी लिखा है कि व्यङ्ग्यार्थ का यदि उक्ति द्वारा प्रकाशन हो गया हो तो उसका अप्रधान होना ही प्रतिपादित होता है। अर्थात् उक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर व्यङ्ग्य को प्रधान कहना उचित नहीं।

फलतः दीक्षित जी के पूर्वोक्त उदाहरण 'कांचित् कांचनगौराङ्गीम्' में शब्दतः उच्चारित होने के कारण ध्वनि की स्वीकृति उचित नहीं है। इसी प्रकार 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी' कुमारसंभव के इस श्लोक में भी दीक्षित जी ने ध्वनि बताया है। ध्वनिरूप का यह उदाहरण भी उचित नहीं है।

यहाँ दीक्षित जी की व्यङ्ग्यध्वनि की कल्पना मुझे बड़ी ही सूक्ष्म प्रतीत होती है। उसी सूक्ष्मता को संकेतित करने के लिए ही प्रायः इन्होंने इन दो उदाहरणों को प्रयोजित किया है। दीक्षित जी के उक्त दोनों उदाहरणों पर सूक्ष्मता से विचार करने पर तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्त्ती पण्डितराज जगन्नाथ ने आंख मूंद कर ही दीक्षित जी का विरोध किया है।

मुझे तो साहस के साथ यहाँ यह कहना है कि दीक्षित जी 'व्यङ्ग्यार्थध्वनि' के पीछे छिपे 'इष्ट' का अभीप्सित अर्थ पण्डितराज को कदापि 'इष्ट' न था और न अर्थ' का 'अर्थ' पण्डितराज ने वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य त्रिविध रूप में अन्वर्थक ही माना था। मेरी इस मान्यता को प्रमाणित करने के लिए 'चित्रमीमांसा' के पृष्ठ सतत खुले हैं, जिसमें उन्होंने यों हीं जहाँ तहाँ व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि को छूकर छोड़ दिया है। भामह की ही भाँति दीक्षित जी ने भी अलङ्कार को उसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ स्वीकृत किया था। ये दोनों ही उदाहरण सालङ्कार शब्दार्थ रूप स्पष्ट व्यङ्ग्य ध्वनि के स्वरूप हैं।

यों मेरी मान्यता तो इससे भी न्यारी है। मैं इस प्रकार के प्रयोगों को दीक्षित जी की अव्युत्पत्ति मानने से तो रहा, प्रत्युत् इन्हें शब्द और अर्थ का एक ऐसा शिल्पी समझता हूँ जो ऐसे विशिष्ट अलङ्कार शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता और प्रयोक्ता हैं। व्यङ्ग्यध्वनि के इस उदाहरण से तो प्रयोक्ता की कुशलता ही प्रतीत होती है उनका इस विषय में ज्ञान कितना सन्तुलित है इसका पता तो प्रसंग बता देता है। प्रयोग की गहराई का पता तो विषय ही दे देता है और प्रयोजन का विवेचन उस उदाहरण की प्रयोगोन्मुखता या Communicative का पता प्रसंग से मिलता है। व्यङ्ग्य ध्वनि की गरिमा ही इन दोनों प्रयोग की इयत्ता को नहीं सूचित करती, प्रत्युत उदाहरण के विवेचन करने की दीक्षित जी की प्रौढ़ प्रांजल प्रणाली तो इसकी दुरूहता को छूकर ही नहीं छोड़ देती, उसे गंगाजलसा स्वच्छ या दर्पणसा पारदर्शी तक बनाकर छोड़ देने की क्षमता रखती है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायां ससन्देहालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

प्रथमपद्ये ध्वनित्वं पोषयितुं तत्रानेकधा व्यंग्यं प्रतिपादयति—यद्यपीति । हृदयस्थलक्ष्म्याः पुरो दृष्टायाश्च मध्ये कस्या अधिकं रूपमिति संशयाविष्टः, उत, निस्समाधिक इति । अन्यत्र समत्वाधिकत्वरहितस्वस्वरूपाभिमानवती श्रीः पुर एनां दृष्ट्वा कथं वर्तेत इति संशयापन्नो वा, इयमपरा श्रीः वक्षसि कुत्र स्थापनीया इति संशयापन्नो वा ! इति बहूनां संशयाकाराणां वक्षःस्थलावेक्षणव्यंग्यतायां सत्यामपि सर्वेषु सादृश्यमूलत्वेन विशेषाभावाद् वक्षःस्थलस्थितलक्ष्मीतो वीक्षणेनाधिक्यरूपव्यतिरेकमूलसन्देहसत्त्वेऽपि कथंचित्तस्यापि सादृश्यमूलतासत्त्वेन सन्देहालङ्कारध्वनित्वमव्याहतमेवेति युक्तमेव तदुदाहरणमिति दिक् ।

नव्यास्तु—रसानुकूले सादृश्यज्ञानजन्या, तदन्यविषया = निश्चयभिन्ना या बुद्धिः स इत्यर्थः । भ्रान्तिमत्यतिव्याप्तिवारणाय निश्चयभिन्न इति । स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यतिव्याप्तिवारणाय रसानुकूले इति । 'अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् । निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥' इति संशयनिषेधाय सादृश्यज्ञानमिति । स द्विधा, प्रकृते उक्तधर्माऽनुक्तधर्मा च । उक्तधर्मा द्विधा, निश्चयान्तनिश्चयगर्भभेदात् । द्विविधमप्युदाहृतम् । अनुक्तधर्मा यथा—'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादावित्याहुः ।

रसगङ्गाधरकृतस्तु—'अस्याः सर्गविधौ' इत्यत्र दीक्षितोक्तामव्याप्तिं प्राचीनोक्तलक्षणे दत्ताम् (!) उद्दिश्य—अस्याः सर्गविधौ यः प्रजापतिरभूत्, स किन्नु चन्द्रः, मदनो वा, वसन्तो वा, इति संशयस्य प्रजापतिधर्मिकचन्द्रत्वादिनानाकोटिक एवेति नाव्याप्तिः । चन्द्रादिधार्मिकस्तु न संशयः, प्रजापतेः प्रथमोद्देशाभावापत्तेः । किञ्च, प्राचीनोक्तलक्षणस्यापि निर्दोषतैव, साम्यनिमित्ता निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना या धीः इत्यर्थसत्त्वे दोषाभावात् । सन्देहस्य स्वशब्दवाच्यत्वाद्वाच्यत्वम् । लक्ष्योऽप्ययं सम्भवति—'साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा । रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोला रुरुहे तदानीम् ॥' इत्यत्र पर्यायेणोभयकोट्यवलम्बनतया दोलासादृश्यात् सन्देहो दोलापदलक्ष्यः । दीक्षितोक्तध्वन्युदाहरणमपि न सम्यक्, 'संशयापन्नः' इत्यत्र संशयपदेनैकस्मिन् पदार्थे विरुद्धनानापदार्थसम्बन्धावगाहिज्ञानस्य सत्त्वेन विरुद्धनानार्थविशेषाकाङ्क्षायां वक्षःस्थलावेक्षणलभ्यतत्तद्व्यङ्ग्यार्थानां संशयशब्दलभ्यज्ञानविषयीभूतसामान्यार्थेन सहाभेदसत्त्वात् । तया च संशयमात्रशक्त्या बोधनात् वक्षःस्थलस्थितैवेत्यादिविषयभागस्यापि विरुद्धनानार्थत्वसामान्याकारेणावलीढतया शक्त्यैव कवलीकरणाद्वाच्यार्थसंशयपर्यवसायित्वेन ध्वनित्वाभावात्, सर्वथा शक्त्याऽचुम्बितस्यैव ध्वनित्वमित्यस्य सिद्धान्तप्रतिपाद्यत्वात्, आनन्दवर्धनाचार्यैः द्वितीयोद्योते—'शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः । यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥' इति सूत्रे 'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया' इत्यादौ तथैव प्रतिपादनात् । अभिनवगुप्तपादाचार्यैरपि 'यत्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते, तत्र तस्य प्राधान्याद् ध्वनित्वम्' इति व्यक्तिविवेके प्रतिपादितत्वात् । एतेन द्वितीयोदाहरणे लज्जाध्वनित्वमपि तदुक्तमपास्तम् । तस्मात् 'तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजञ्च मिलद्विकासम् । आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धामरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ॥' अत्र कमलधर्मिकोऽभेदसम्बन्धेन पुरोवर्तिव्यक्तिद्वय-

प्रकारकः कमलमिदमिदं वेति संशयो व्यङ्ग्यः। तस्मादिदमुदाहरणं सम्यक्। किञ्च सन्देहगतनानाकोटिषु एव धर्मः, क्वचित् पृथक्। सोऽपि क्वचिदनुगामी, क्वचित् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः, क्वचिन्निर्दिष्टः, क्वचित् प्रतीयमानः, क्वचिदनाहार्यः। अनुगामिनो निर्दिष्टत्वं यथा—'नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम्। सरोजं चन्द्रबिम्बं वेत्यखिलाः समशेरत॥' अत्र नेत्राभिरामत्वरूपानुगामिनः त्रिषु निर्दिष्टत्वात्। स पृथक् निर्दिष्टो यथा—'सम्पश्यतां तामतिमात्रतन्वीं शोभाभिरामा सितसर्वलोका। सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत्॥' अत्रातिमात्रतनुत्वं सौदामिन्याः, शोभाभासितसर्वलोकत्वं सितयामिन्याः, सहकान्ताया इति पृथकत्वात्। 'तीरे तरुण्या वदनं सहासम्' इत्यत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः। 'मरकतमणिर्मेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः। रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे॥' अत्र श्यामाभिरामत्वरूपधर्मस्य प्रतीयमानत्वादनिर्दिष्टत्वम्। यत्र कविना परनिष्ठः संशयो निबद्धः, तत्रानाहार्यः। यथा 'तीरे तरुण्याः' इत्यादौ। अत्र भ्रमरादिसंशयानां ग्राह्यनिश्चयाभावात्। यत्र स्वगत एव तत्राहार्यः। 'अलिर्भृंगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते। अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेदं मृगीदृशः॥' अत्र कवेस्तत्त्वज्ञतया तयोराहार्यत्वम्। 'विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्तिरथ वा वैरीन्द्रवंशाटवी–दावाग्निः किमहो महोज्ज्वलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः'। 'किं वानङ्गभुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणाम्, केषामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः॥' इत्यत्र परम्परित आहार्योऽपि सम्भवति। परनिष्ठोऽपि कविनिबध्यमान आहार्यो यथा—'गगनाद्गलितो गभस्तिमाद्युत वायं शिशिरो विभावसुः। मुनिरेवमरुन्धतीपतिः सकलज्ञः समशेत राघवे॥' सर्वज्ञत्वेनोपात्तसंशयस्याहार्यत्वमित्याहुः, तच्चिन्त्यम्। 'चन्द्रो वा मदनो वा वसन्तो वास्याः स्रष्टा' इत्येककोटिकनानाधर्मिकसंशयस्यैवात्र योग्यत्वेनाव्याप्तेरावश्यकत्वात्। एवञ्च प्राचीनलक्षणस्य सदोषत्वमेव। किञ्च प्राकृतार्थाश्रयेति विशेषणस्य प्राचीनोक्तलक्षणे सत्त्वेन भवत्कृतव्याख्यानेऽपि प्रजापतावेव सत्त्वेन नायिकाश्रयत्वाभावादव्याप्तेः दुष्परिहरत्वाच्च। यदपि दीक्षितोक्तध्वनिं खण्डयित्वा स्वयं तदुदाहृतम्, तदप्यशुद्धम्, मुग्धपदेनोभयत्र धावनसंस्कारेण संशयस्य वाच्यत्वात्। उभयत्र धावनेन भ्रमत्वनिवृत्त्या संशयत्वपर्यवसानात्, 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इत्यनुशासनेन तेन विपरीतज्ञानवत्त्वलाभाच्चेति दिक्। 'साक्षादिव श्रियं वीक्ष्य' इत्यन्तेन हेतूपन्यासेनेयं लक्ष्मीर्न वेति संशयापन्न इत्युक्त्या संशयपदबोधस्यैव नायिकोत्कर्षकस्यालङ्कारत्वमिति जयरामभट्टाचार्याः।

सन्देहालंकृतेर्व्याख्या धरानन्देन निर्मिता।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामपि पूर्णताम्॥

इति वसिष्ठगोत्रीयमिश्ररामबलस्यात्मजेन विरचितायां चित्रमीमांसाटीकायां सुधाख्यायां सन्देहालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ भ्रान्तिमन्निरूपणम्

कविसंमतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः ॥

पिहितात्मनीत्यनेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकं कविप्रतिभया कल्पनं विवक्षितम् , तस्यैव विषयपिधानसामर्थ्यात् । अतो रूपकादौ नातिव्याप्तिः ।

(भारती)

कवियों के अभिमत सादृश्य द्वारा सिद्ध होने वाले उपमेय में उपमान का अनुभव जिस वाक्य सन्दर्भ में हो, वह वाक्यसंदर्भ 'भ्रान्तिमान्' माना गया है ।

विमर्श—भ्रान्तिमान का अर्थ है भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान । अत्यधिक सादृश्य के कारण ही उपमान में उपमेय की निश्चयात्मक भ्रान्ति को 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार कहा जाता है । डा० ब्रह्मानन्द शर्मा के अनुसार जहाँ एक ओर सादृश्य पर आधारित भ्रान्ति के कारण वाह्य होते है वहीं दूसरी ओर साम्य से अतिरिक्त भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते हैं । जब इसके कारण वाह्य होते हैं तब भ्रान्ति के विषय में इसकी उपस्थिति आवश्यक होती है । फलतः ऐसी स्थिति में चमत्कार का कारण मूलतः भ्रान्ति होती है । किन्तु, जब इसके कारण आन्तरिक होते हैं तब ये भ्रान्ति के विषय में न रह कर दर्शकों या पाठकों की चित्तवृत्ति में अवस्थित होती है ।

निष्कर्ष रूपमें हम कह सकते हैं कि यह अलङ्कार केवल भ्रान्ति में नहीं, अपितु सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति में है । और सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति भी यहाँ ऐसी होनी चाहिए जिसमें कविप्रतिभा का हाथ हो । इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन रुद्रट ने किया है । किन्तु इसका स्रोत दण्डी से मान्य है ।

(सुधा)

एवं सन्देहं निरूप्य यत्किञ्चिद्धर्मसादृश्येन भ्रान्तिमदलङ्कारः । प्राप्तावसरतया तस्यैव, स्वस्य विवक्षया वा निरूपणमुचितमित्याशयेनाह—अथेति । भ्रान्तिमतो लक्षणमाह—कविसम्मतसादृश्यादिति । यत्र कविसम्मतसादृश्यात् पिहितात्मनि विषये आरोप्यमाणस्यानुभवः, स भ्रान्तिमान् मत इति लक्षणान्वयः । अत्र कविसम्मतसादृश्यप्रयोज्यो विषये आरोप्यमाणानुभवः भ्रान्तिमान् इत्युक्ते रूपकेऽतिव्याप्तिः, अतः पिहितात्मनीति विशेषणम् । आरोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकस्य कविप्रतिभया कल्पनस्य विषयपिधानमर्थस्य तेन विवक्षणान्नातिव्याप्तिः । स चानुभवो वर्ण्यो वा तज्जन्यो वेत्यत्र विशेषो ग्रन्थकृदाशयः । अत एव पिहितात्मनीति विशेषणसार्थकता ।

(चित्र०)

उदाहरणम्—

कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति ।

रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥

अत्र लेहनादिप्रवृत्तिपर्यन्ततोक्तेः स्वारसिक एव विभ्रमः कविप्रतिभया चन्द्रिकोत्कर्षद्योतनाय निबद्धः ।

(भारती)

लक्षण में 'पिहितात्मनि' (जिसका स्वरूप छिपा दिया गया हो) यह विशेषण देकर रूपक में अतिव्याप्ति का निवारण किया गया गया है । इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त अनुभव कवि की प्रतिभा से कल्पित होना चाहिए, क्योंकि वैसा न होने पर उपमेय के द्वारा छिपाया नहीं जा सकता है अर्थात् उपमेय को उपमान के रूप में मानने के लिए भ्रम नहीं हो सकता है । अतः उक्त विशेषण से ही रूपकादि में अतिव्याप्ति दोष नहीं है । उदाहरण जैसे—

यहाँ कविने चन्द्रमा की चाँदनी विपयक अनेक व्यक्तियों के भ्रम का उल्लेख किया है । 'कितने आश्चर्य की बात है कि अपनी चाँदनी के अभिमान में चूर यह चन्द्रमा सारे संसार को भ्रान्त बनाते दिखाई दे रहा है—कहीं तो बिल्लियाँ खप्परों में पड़ी चाँदनी को दूध मानकर चाट रही हैं, कहीं हाथी पेड़ों की झुरमुट में छनी चाँदनी को कमलनाल समझ रहे हैं और कहीं कोई रमणी पलंग पर बिखरती हुई चांदनी को रतिक्रीड़ा के बाद अपना शुभ्रवस्त्र जान उठाने को तैयार है ।

यहाँ चन्द्रमा की किरणों को देखकर बिल्ली, हाथी एवं तरुणी को क्रमशः दूध, कमल एवं श्वेतवस्त्र का निश्चयात्मक भ्रम होने से 'भ्रान्तिमान' अलंकार हुआ ।

(सुधा)

तमुदाहरति—कपाले इति । मार्जारः कपाले पतितान् शशिनः करान् पय इति लेढि, करी तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति = मृणालमिति आस्वादयति, वनिता रतान्ते तल्पस्थान् करान् अंशुकमिति हरति, प्रभामत्तश्चन्द्रः, इदं जगत्, अहो विशेषेण भ्रमयति । अत्र कविप्रतिभया चन्द्रिकोत्कर्षद्योतनार्थं लेहनादिप्रवृत्तिपर्यन्ततोक्तेः सत्त्वात् स्वारसिकभ्रमस्यैव द्योत्यत्वात् भ्रान्तिमदलङ्कारः ।

(चित्र०)

क्वचिद् भ्रान्तेरुत्तरोत्तरं पल्लवेन चमत्कारः—

बल्लाल क्षोणिपाल त्वदहितनगरे सञ्चरन्ती किराती
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिराङ्गारशङ्काकुलाङ्गी ।
कृत्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदानुधावन् मधुकरनिकरैर्धूमशङ्कां करोति ॥

(भारती)

कहीं कहीं 'भ्रान्ति' के उत्तरोत्तर विकास से चमत्कार होता है—

'हे बल्लाल, पृथ्वीपति ! तुम्हारे शत्रुओं के नगर में घूमती हुई भीलनी यत्र तत्र फैले हुए रत्नों को लेकर अत्यन्त कीमती खदिराङ्गार की आशंका से, वह व्याकुल शरीर वाली उसपर श्रीखण्ड

के टुकड़े रखकर, मुकुलित आंखों से फुत्कार करती हुई श्वास रूपी परिमलों से प्रसक्त भ्रमर-समूहों में धूम की आशंका व्यक्त करती है ।'

(सुधा)

भ्रान्तेरुत्तरोत्तरं क्वचिच्चमत्कारो भवति । यथा उदाहरतीत्यर्थः । बल्लाल इति । हे बल्लाल भूमिपाल, त्वच्छत्रुनगरे सञ्चरमाणा भिल्ली प्रकीर्णानि रत्नान्यादाय उरुतरा अतिमहती या खदिराङ्गारस्य शङ्का तया व्याकुलाङ्गी तदुपरि श्रीखण्डशकलं क्षिप्त्वा कृत्वा, मुकुलीभूतनेत्रा फूत्कारं कुर्वती सती श्वासपरिमलेन प्रसक्तैरागतैः भ्रमरसमूहैः धूमशङ्कां करोतीत्यन्वयः ।

(चित्र०)

क्वचिद्भिन्नकर्तृकोत्तरोत्तरभ्रान्तिनिबन्धनेन चमत्कारः—

शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै-
स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः ।
तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ॥

(भारती)

कहीं-कहीं भिन्न कर्ताओं वाली उत्तरोत्तर भ्रान्ति के निबन्धन से चमत्कार है । जैसे—

गुंजन करते हुए भौंरों ने आम्रमंजरी समझ कर कलश रूपी दोनों स्तनों पर मुंह लगाया । भौंरों से भयभीत होकर नायिकाओं ने उसे हटाने के लिए ज्यों ही हाथ उठाया, उसे पल्लव समझ कर तोतों ने काट खाया । तोतों से आक्रान्त नायिका ने उसे भगाने के लिए ज्यों ही बोलना प्रारंभ किया, उसकी सुरीली आवाज को कोकिलालाप समझ कर कौओं ने चोंच मारना शुरू कर दिया । हे चोलनरेशों में सिंह ! तुम्हारे शत्रुओं की ऐसी सुन्दर मृगनयनियों की रक्षा करने में वन भी उपकारक सिद्ध नहीं होते ।

(सुधा)

अत्रोत्तरोत्तरभ्रान्त्या चमत्कारोत्कर्षाद् भ्रान्तिमत्त्वम् । भिन्नकर्तृकोत्तरोत्तरभ्रान्तिनिबन्धनेन क्वचिच्चमत्कारविशेषः । तमुदाहरति—शिञ्जानैरिति । शिञ्जानैः सशब्दैश्चञ्चरीकैः भ्रमरैः स्तनकलशयुगं मञ्जरीति भ्रान्त्या चुम्बितम्, तत्त्रासोल्लासलीलाः पाणयः कीरदष्टा जाताः, तल्लोपाय आलपन्त्यस्ताः पिकशब्दधिया काकसमूहैः ताडिता आसन् । हे चोलेन्द्रसिंह, त्वच्छत्रुस्त्रीणां वनमपि शरण्यं नास्तीत्यन्वयः । अत्र नायिकायां मञ्जरीप्रकारकज्ञानेन जन्यं चुम्बनं स्तनकलशावच्छेदेन पाणिविशेष्यककिसलयत्वप्रकारकज्ञाने दंशनसिद्धिः । नायिकास्वरविशेष्यककोकिलकूजितप्रकारकभ्रान्त्या नायिकाविशेष्यककोकिलप्रकारकज्ञानारोपेण ताडनकर्मतायाश्चमत्कारोदयः ।

(चित्र०)

क्वचिदन्योन्यविषयभ्रान्तिनिबन्धनेन । यथा—

पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः ।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धर्तुमिच्छति ॥

विस्फूर्तिमत्यां कीर्तौ ते विधिवैकुण्ठशंकराः ।
आरोढुं शयितुं वस्तुमाकाङ्क्षन्ति महीतले ॥

इत्यत्र भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

सादृश्यान्यमूलौ संदेहविभ्रमौ ससंदेहभ्रान्तिमदलङ्कारप्रयोजकौ न भवतः । यथा—

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी
शरासनज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये
स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥

(भारती)

कहीं पारस्परिक भ्रान्ति के वर्णन से भी चमत्कार है । जैसे—

'सुग्गे की चोंच को पलाश की कली समझ कर भौंरा उसपर झपटता है और सुग्गा भी उसे जामुन का फल समझ कर पकड़ना चाहता है ।'

(यहाँ शुकतुण्ड तथा पलाशमुकुल एवं भौंरा तथा जम्बू-फल में सादृश्य के कारण दोनों ओर से परस्पर भ्रान्ति हो रही है ।)

'हे राजन् ! धरती पर प्रकाशित तुम्हारी कीर्त्ति पर ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश क्रमशः आरोहन, शयन तथा निवास की आकांक्षा करते हैं ।' अर्थात् धवल कीर्त्ति में ब्रह्मा को श्वेत राजहंस की भ्रान्ति से आरोहण की इच्छा प्रकट करते हैं, विष्णु क्षीरसागर की भ्रान्ति से शयन-कामी हैं एवं कैलाश के भ्रम में आकर शंकर अधिनिवास चाहते हैं ।'

किन्तु यहाँ भ्रान्तिवाचक पद के अभाव से ही ध्वनि की प्रतीति है ।

यहां संशय और भ्रम के सादृश्य की भिन्नता में ससन्देह का भ्रान्तिमान् अलङ्कार के प्रति हेतुता संभव नहीं है । और भी वक्ष्यमाण उदाहरणों में इस अलङ्कार की विषयता संभव नहीं है । जैसे—

'उस समय इस धीर नल को जीतने के लिए प्रत्यञ्चा को वाणों से युक्त करता हुआ अर्थात् प्रत्यञ्चापर वाणों को रखता हुआ साहसी कामदेव ने तीनों लोकों को जीतने से प्राप्त हुए अपने समस्त यश को सन्देह में डाल दिया ।

(सुधा)

अन्योन्यभ्रान्तिवर्णनादपि क्वचिच्चमत्कारमुदाहरति—यथेति । अलिर्भ्रमरः पलाशकुसुमभ्रान्त्या वक्त्रलोहित्यरूपसादृश्यात् शुकतुण्डे पतति, सोऽपि शुको जम्बूफलभ्रमेण तं भ्रमरं धर्त्तुमिच्छतीत्यन्वयः ।

अत्रान्योन्यविषयभ्रान्तिनिरूपणाच्चमत्कारोत्कर्षः । भ्रान्तिमतो ध्वनिमुदाहरति—महीतले ते कीर्तौ विस्फूर्तिमत्यां प्रकाशवत्यां सत्यां ब्रह्मविष्णुरुद्रा आरोढुं शयितुं वस्तुमाकाङ्क्षन्तीत्यन्वयः । अत्र भ्रान्तिवाचकपदाभावात् तस्य ध्वनित्वमिति तदाशयः । संशयभ्रमयोः सादृश्यान्यमूलतायां ससन्देहभ्रान्तिमदलङ्कारं प्रति हेतुत्वं न संभवति । तथा च वक्ष्यमाणोदाहरणयोर्न तदलङ्कारविषयतेति बोध्यम् । सादृश्यान्यमूलसंशयमुदाहरति—अमुष्येति । नैषधीयं पद्यम् । साहसी कामः, अमुष्य धीरस्य नलस्य विजयाय नलं जेतु-

मित्यर्थः, शरासनज्यां धनुर्ज्यां विशिखैः सनाथयन् तैस्सहकुर्वन् त्रिलोकस्य विजयेनार्जितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास निमग्नानि चकार इत्यन्वयः । अत्राहुः—जयविजयोद्योगसाहसस्य कीर्तिभ्रंशसन्देहे प्रयोजकतया नेदं ससन्देहालङ्कारोदाहरणम् ।

(चित्र०)

दामोदरकराघातचूर्णिताशेषवक्षसा ।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥

आद्ये दुर्जयविजयोद्योगसाहसप्रयुक्तः कीर्तिभ्रंशसंदेहः । द्वितीये गाढमर्मप्रहारकृतचन्द्रविभ्रम इति ।

इति चित्रमीमांसायां भ्रान्तिमत्प्रकरणम् ।

(भारती)

'भगवान् श्रीकृष्ण के कठोर हस्तताडन से चूर्णित अशेष वक्षवाले चाणूर के द्वारा आकाश में सैकड़ो चन्द्र देखे गये ।'

प्रथम पद्य में कामदेव ने तीनों लोकों को जीतकर जो अशेष यश पाया है, वह नल को नहीं जीतने पर नष्ट हो जायेगा, अत एव ऐसे विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण कार्यसम्पादन के लिए उद्यत काम को साहसी कहा गया है । तथा महान् धीर नल को एक वाण से जीतना सर्वथा असंभव होने से प्रत्यञ्चा पर अनेक वाणों का चढ़ाना कहा गया है । अतः यहाँ दुर्जय, विजय के लिए उद्योग को साहस कहा गया तथा सफलता नहीं मिलने पर कीर्ति नष्ट होने का सन्देह व्यक्त किया गया है ।

दूसरे पद्य में गम्भीर मर्मप्रहार से चन्द्रमा की भ्रान्ति होने के कारण इसमें भ्रान्तिमान अलङ्कार नहीं है । क्योंकि यहाँ भी वाचक पद के अभाव से उसकी प्रतीयमानता नहीं है ।

विमर्श—पण्डितराजने दीक्षित जी के **'कविसम्मतसादृश्यात् विषये पिहितात्मनि'** इस लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है कि यह लक्षण भ्रान्तियुक्त वाक्य का है, अतः उसकी अतिव्याप्ति रूपक के ही वाक्य में संभव है, रूपक में नहीं । 'पिहितात्मनि' विशेषण उपमेय के लिए देकर रूपक की अतिव्याप्ति वारण का प्रसंग जहाँ तक है, वह भी उचित नहीं होता । क्योंकि भ्रान्ति को अनुभव अर्थात् बोध मानते हुए ही उन्होंने कहा है कि अनुभव में आने वाले अभेद को ही रूपक कहते हैं । अपनी परिभाषा में उन्होंने कहा है कि सादृश्य से युक्त आधार में अभेद सम्बन्ध के कारण अन्य किसी आधार अर्थात् धर्मी का वास्तविक एवं सादृश्य ज्ञान का कारण होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान, चमत्कार से युक्त होने पर भ्रान्ति कहा जाता है ।

यदि दीक्षित जी यहाँ रूपक पद से रूपक का बोध अर्थ लें; और उसके अनुभव होने में, लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिए ही 'पिहितात्मनि' विशेषण की उपयुक्तता सिद्ध भी करना चाहें तो यह नहीं हो सकता । क्योंकि ऐसा करने पर भी **'मरकतमणिर्मेदनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः'** इत्यादि उदाहरण में विषयतावच्छेदक रामत्व आदि का अवगाहन न करने वाले शुद्ध संदेह में भी अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि यहाँ भी जिसका स्वरूप न छिपाया गया है ऐसे उपमेय में उपमान का अनुभव होता है ।

दीक्षित जी यदि इसके लक्षण का अर्थ यह करें कि केवल उपमेय का स्वरूप ही जहाँ छिपाया गया हो, वहीं भ्रान्ति होती है। अतः सन्देह में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि वहाँ कोटियों को भी छिपाया जाता है—उनमें से भी किसी एक का निश्चय नहीं किया जाता। किन्तु, ऐसा मानने पर भी—'तेरे मुख को भौंरे कमल तथा चकोर चन्द्रमा समझ कर पीछे पीछे दौड़ते हैं।' इस भ्रान्तियों के समूह रूप उल्लेखालङ्कार में अतिव्याप्ति रहेगी। यदि इसे उल्लेख-मिश्रित भ्रान्ति मानकर दोष परिहार करना चाहें तो वह भी संभव नहीं है। क्योंकि दूध का कोई ऐसा निर्दुष्ट लक्षण नहीं कहा जा सकता जिससे दूधमिश्रित जल में अतिव्याप्ति हो जाय। अतः दीक्षित जी का यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता है।

पण्डितराज के इस आक्षेप का खण्डन नागेश भट्ट के द्वारा ही दर्शनीय है। भट्ट जी इसके दो उत्तर देते हैं—प्रथम तो उक्त उदाहरण में उल्लेखत्व और भ्रान्तित्व की संकीर्णता हो जाने से ही लक्षण में कोई दोष उत्पन्न नहीं हो जाता है। जैसे भूतत्व और मूर्त्तत्व के लक्षण की संकीर्णता पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार पदार्थों में रहती है। अतः भूतत्व और मूर्त्तत्व के दोनों लक्षण यदि इन चारों में अतिव्याप्त हो जाय तो कोई दोष नहीं। क्योंकि **'नरैर्वरगदितप्रदा०'** इस उदाहरण में उल्लेखत्व और **'कनकद्रवकान्तिकान्तया'** इस उदाहरण में भ्रान्तित्व सावकाश है—यह कुछ लोगों का मत है। दूसरे विद्वानों का मत है कि **'वनितेति वदन्त्येताम्'** आपके इस उदाहरण में अपह्नुति संकीर्ण उल्लेख है; वहाँ उपमेयतावच्छेदक वनितात्व का निषेध के साथ होने से उठने योग्य अपह्नुति के लक्षण की अतिव्याप्ति है ही। अतः ऐसे दोषों से किसी भी प्रकार बचा नहीं जा सकता—तो फिर ऐसी स्थिति में दीक्षित जी के लक्षण पर ये सारे आरोप निरर्थक ही हैं।

पण्डितराज का दूसरा आक्षेप दीक्षित जी के इस **'शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकैः।'** उदाहरण पर है। इनका कहना है कि 'कलशरूपी स्तनयुगल' में मंजरी का सादृश्य कविसम्प्रदाय सिद्ध नहीं है। सादृश्यमूलक एक अलंकार में सादृश्यान्तर अलंकार की शोभा उपहासास्पद है। क्योंकि स्तनकलश के रूपक द्वारा मंजरी के सादृश्य का तिरस्कार ही है।

दूसरे चरण मे **'करिदष्टाः'** पद में विधेयाविमर्श दोष है। तृतीय चरण में कोयलों के नाद कौओं के ताड़न करने के योग्य नहीं। क्योंकि नाद की ताड़ना कोई नहीं करता। यदि किसी दोष के कारण ऐसा भ्रम मान भी लें तो वह सादृश्यमूल नहीं हो सकता। प्रतीतसिद्धि भी इसे नहीं माना जा सकता। क्यों कि 'चोर समझ कर साधु को मार डाला गया तथा 'दन्ति-बुद्ध्या हतः शूरैर्वराहो वनगोचरः' की तरह यहाँ कार्यकारणभाव को भी नहीं समझा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि कोयलों के शब्द कूजित होते हैं निनाद नहीं होता। फलतः यहाँ दीक्षित जी ने भ्रान्ति अलङ्कार के अंश मात्र को लेकर इसे उदाहृत किया है। वस्तुतः यह इसका उदाहरण है नहीं।

इसका उत्तर यही है कि भ्रान्तिमान अलङ्कार के सम्बन्ध में पण्डितराज ने एक नयी व्यवस्था दी है कि जहाँ एकाधिक भ्रान्तियां होंगी वहाँ भ्रान्तिमान अलङ्कार नहीं होगा। जहाँ तक परिभाषा का प्रश्न है पण्डितराज अपनी जगह ठीक हैं, किन्तु जहाँ दीक्षित जी के खण्डन का प्रश्न है-संभवतः पंडितराज का ध्यान उधर नहीं गया हो कि इस अलङ्कार में यथार्थतः कवि को भ्रान्ति नहीं होती, प्रत्युत अपनी प्रतिभा से वह अपने काव्य में जिन पात्रों को निबद्ध करता है—उनके भ्रम का ही वर्णन रहता है। स्वयं कवि अभ्रांत रूप से प्रस्तुत विषय का वर्णन करके ही

दो समान पदार्थों में अत्यधिक सादृश्य के कारण उनमें अन्य वस्तु के भ्रम का वर्णन करता है। इसमें चित्तवृत्ति का ज्ञान वर्णित भ्रांति से अवश्य होता है, किन्तु हमारे चमत्कार का विषय भ्रांति न होकर वर्णित मानसिक दशा होती है। कवि भ्रांत व्यक्ति की वास्तविक भ्रांति का उल्लेख कर अपूर्व आनन्द की योजना करता है। इसमें एक ही वस्तु में एक ही व्यक्ति को अनेक पदार्थों के प्रसङ्ग में अनेक भ्रान्तियाँ भी होती हैं। फिर 'स्तनकलश' में मञ्जरी की भ्रान्ति अस्वाभाविक क्यों? आम की गदरायी मंजरी के गुच्छे की शोभा क्या किसी कामिनी के कुच-कलश से कम आनन्ददायी है। किम्वा दोनों में सादृश्याभाव है? जहाँ तक विधेयाविमर्श का प्रश्न है—वाक्यरचना के सामान्य सिद्धान्त विधेयाविमर्श से नियमित हैं—

'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥'

द्वितीय चरण में इस नियम का स्पष्टतः उल्लंघन भी नहीं है। तृतीय चरण के नाद और ताड़न का जहाँ तक प्रश्न है, वह तो आक्षेप लभ्यार्थ ही है। अतः उक्त उदाहरण को इतनी निकृष्ट कोटि का नहीं कहा जा सकता है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायां भ्रान्तिमदलङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

तथा भ्रममुदाहरति—दामोदरकराघातेति। कृष्णस्य हस्तताडनेन चूर्णितमशेषं वक्षो यस्य तेन चाणूरेण शतचन्द्रं नभस्तलं दृष्टमित्यन्वयः। अत्र गाढमर्मप्रहारकृतचन्द्रभ्रान्ति-सत्त्वाद्भ्रान्तिमतोऽलङ्कारत्वम्। तच्च तद्वाचकपदाभावात् प्रतीयमानता तस्य नेत्यर्थं इत्यलम्।

कौस्तुभे विश्वेश्वरचरणास्तु—तदभाववति तत्प्रकारिका मतिर्भ्रान्तिमान्। शुक्तिविशेष्य-करजतत्वादिप्रकारकज्ञानं चमत्कारि न भवति। अतो नातिव्याप्तिरिति लक्षणं यथाविधि व्याकृत्यैकस्यानेकप्रकारको यथा मम—'मन्दाकिन्यां जलप्रोद्दलकमलधिये केलिवाप्यां मराल-भ्रान्त्यै शम्भोः कपोले मुकुलितदलके स्वीयवक्त्रभ्रमाय। हाराग्रे हीरबुद्ध्यै भुजग-पतिफणे दिव्यरत्नोपलब्ध्यै, पार्वत्याः कल्प्यमाने प्रतिफलिततया पातु पीयूषरश्मिः ॥' अत्रै-कस्मिन् चन्द्रे तत्तत्स्थानभेदेनानेकप्रकारकं ज्ञानम्। क्वचिदनेकेषामेकस्मिन्ननेकप्रकारज्ञानं यथा—'संकेतकुञ्जभवनं प्रतिसञ्चरन्तीमालोक्य सुभ्रु भवतीं गहनान्धकारे। चाम्पेयकोर-कमयी स्रगिति द्विरेफाः सौदामिनीति कलयन्ति मुदा मयूराः ॥' इत्यप्युदाहरणमाहुः। रसगङ्गाधरकृतस्तु—'सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारः। सादृश्यप्रयोज्योऽनाहार्यो निश्चयश्चमत्कारी भ्रान्तिः ॥' सा यत्रानूद्यते स भ्रान्तिमान्, मीलितसामान्यतद्गुणवारणाय धर्मिद्वयम्। रूपकवारणायानाहार्यं इति, संशयवारणाय निश्चय इति। इदं रजतमित्य-त्रातिव्याप्तिवारणाय चमत्कारीति। 'अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्। इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा ॥' इत्युन्मादेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यप्रयोज्य इति। लक्षणे एकत्वमपि विवक्षितम्। तेनोल्लेखे नातिव्याप्तिरित्याहुः। तन्न

तद्वृत्त्यनेकधर्मप्रकारकानेकसमवेतज्ञानस्थले उल्लेखसद्भावात् एकत्वविवक्षायां 'मन्दाकिन्यां वलक्ष' इत्यादावव्याप्तेश्च। यदपि दीधितोक्तलक्षणे रूपकव्यावृत्तये पिहितात्मनीत्युक्तमयुक्तम्, आरोप्यमाणस्यानुभवस्य रूपके वर्ण्यत्वाभावात्। तदपि न, मुखादौ चन्द्राद्यारोपसत्त्वेन रूपके लक्षणान्वयसम्भवात्, आहार्यतदारोपानुभवस्य तत्राङ्गीकाराच्च। प्राकरणिके तत्साम्यादप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमानिति तत् प्रकाशलक्षणस्य रूपकेऽतिव्याप्तिमाशंक्य समाहितम्। तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात्। इह चार्थावगमनसंज्ञायाः प्रवृत्तेस्तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् इति मम्मटभट्टाः। भ्रमस्य स्वारसिकारोपस्येत्यर्थः। अर्थावगमेन = योगार्थपुरस्कारेण, तस्य = स्वारसिकारोपस्य भ्रान्तिमत्त्यावश्यकत्वादिति तद्व्याख्यातारः। एवमत्रापि पिहितात्मनीति पदेन स्वारसिककविप्रतिभया कल्पनस्यारोप्यमाणानुभवे विवक्षितत्वात्। स चानुभवो वर्ण्यो वा तज्जन्यो वेत्यत्रानाग्रहाच्च। यदपि 'शिञ्जानैर्मञ्जरी' इत्युदाहरणमुद्दिश्य स्तनकलशयुगे मञ्जरीसादृश्यं कविसमयाप्रसिद्धं येन चञ्चरीकभ्रान्तिः स्यात्। दोषान्तरमूलतायामनलङ्कारत्वावगमात्, कलशरूपकेण मञ्जरीसादृश्यतिरस्काराच्च। द्वितीयविशेषणे विधेयाविमर्शसत्त्वात्, तृतीयविशेषणेऽपि पिकनिनदानां ताडनायोग्यत्वम्। तासु पिकबुद्ध्युत्पादनद्वारापि न तत्सम्भवः। तथा प्रतीतेरसिद्धेः 'चौरबुद्ध्या हतः साधुः' इत्यत्र "दन्तिबुद्ध्या हतः शूरैर्वराहो वनगोचरः' इत्यादौ च बुद्धिविशेषकर्तृकहननकर्मत्वस्यैव विधेरित्युक्तम्। तदपि न सम्यक्, मञ्जरीसादृश्यस्य नायिकायां कविसमयप्रसिद्धत्वात्, तज्जन्यचुम्बनस्य स्तनकलशावच्छेदेन विधेयत्वात्। नापि विधेयाविमर्शदोषः, द्वितीये 'कीरदष्टा जाताः' इत्यत्र 'सविशेषणे' इति न्यायदंशस्यैव विधेयता। तृतीयेऽपि नायिकास्वरविशेष्यककोकिलकूजितप्रकारकभ्रान्तिसत्त्वेन नायिकाविशेष्यककोकिलप्रकारकज्ञानेन ताडनकर्मताया विधानाच्च दोष इत्यलं विस्तरेण।

धरानन्देन रचिता व्याख्या भ्रान्तिमतोऽखिला।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम्॥

इति वसिष्ठगोत्रीयमिश्ररामबलस्य सुतेन धरानन्देन रचितायां चित्रमीमांसाव्याख्यायां सुधाभिधानायां भ्रान्तिमदलङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ उल्लेखनिरूपणम्

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते॥

यत्र नानाविधधर्मयोग्येकं वस्तु तत्तद्धर्मयोगरूपनिमित्तभेदादनेकेन ग्रहीत्रानेकधोल्लिख्यते स उल्लेखः।

कीर्तिगङ्गाहिमक्ष्माभृदोजःसूर्योदयाचलः।
शत्रुसेनाब्धिमन्थाद्रिर्गुणरत्नैकरोहणः॥

(भारती)

जब एक पदार्थ का अनेक व्यक्तियों द्वारा निमित्त भेद से, अनेक प्रकार का वर्णन हो, तो वहाँ उल्लेख अलङ्कार होगा।

निमित्त भेद से जहाँ एक ही व्यक्ति द्वारा एक पदार्थ का ही अनेक प्रकार से उल्लेख हो वहाँ 'उल्लेख' होता है।

'तुम्हारी कीर्त्तिरूपी गङ्गा के हिमाचलरूप, ओजरूपी सूर्य का उदयाचलरूप, शत्रुसेनारूपी समुद्र का मन्थाचलरूप तथा तुम्हारे गुण रूपी रत्न के अङ्कुर स्वरूप हैं।'

(सुधा)

एवं भ्रान्तिमदलङ्कारं निरूप्य क्रमप्राप्तमुल्लेखालङ्कारमाह—अथेति। भ्रान्तिमत्कथनानन्तरमित्यर्थः। तत्रैकस्मिन्नैकधा भ्रान्तिवदनेकधा वर्णनसत्त्वादुल्लेखकथनस्यैव तदुत्तरमावश्यकत्वमिति भावः। तल्लक्षणमारचयति—निमित्तभेदादिति। अनेकेन ग्रहीत्रा एकस्य वस्तुनो यन्निमित्तभेदादनेकधोल्लेखनं तं बुधा उल्लेखं प्रचक्षत इत्यन्वयः। स्वयमपि व्याचष्टे-यत्रेति। नानाविधधर्माश्रयस्यैकवस्तुनः तत्तद्धर्मयोगरूपनिमित्तभेदादनेकेन ग्रहीत्रानेकधोल्लेखनमुल्लेख इति तल्लक्षणम्। लक्षणे ग्रहीतुः विशेषणस्य अनेकेतिपदस्य फलं विचारयति-कीर्तिगङ्गेति। कीतिरूपाया गङ्गाया हिमाचलरूपः, ओजोरूपस्सूर्यः, तस्योदयाचलरूपः, शत्रुसेनारूपः समुद्रस्तस्य मन्थाचलरूपः, गुणरूपरत्नस्याङ्कुररूपः इत्यन्वयः।

(चित्र०)

इति मालारूपके एकस्य राज्ञो यशस्वित्वादिधर्मयोगरूपनिमित्तभेदात्तुषाराद्रित्वाद्यनेकप्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिनिरासायानेकेत्युक्तम्। तत्र ग्रहीतृभेदनिबन्धनं न भवत्यनेकधोल्लेखनमिति नातिव्याप्तिः।

विद्याविक्रमसौन्दर्यतपसां निधिमागतम्।
पश्यन्ति विबुधाः शूराः स्त्रियो वृद्धाश्च कौतुकात्॥

(भारती)

इस माला रूपक के उदाहरण में एक ही राजा का यशस्वित्वादि धर्मयोगरूप निमित्त-भेद से तुषाराद्रित्वादि अनेक प्रकार से उल्लेखन है। यहाँ अतिव्याप्तिवारण के लिए लक्षण में 'अनेकेन' विशेषण दिया गया है। ऐसा करने से अनेक व्यक्तियों द्वारा एक सा अनुभव होने के कारण अर्थात् ग्रहीतृभेदनिबन्ध के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं हुई।

'विद्वान् आई हुई विद्या को, शूर आये हुए पराक्रम को, स्त्रियाँ सौन्दर्य को तथा वृद्धजन तपस्या को आश्चर्य से निधि के रूप में देखते हैं।'

(सुधा)

अत्र मालारूपके यशस्वित्वादिधर्मयोगरूपनिमित्तभेदात्तुषाराद्रित्वाद्यनेकप्रकारेण राज्ञ उल्लेखनादतिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणायानेकेनेति विशेषणम्। ग्रहीतृभेदस्य निबन्धनाभावान्नातिव्याप्तिः। उल्लेखनेऽनेकधेति विशेषणस्य प्रयोजनमाह—विद्याविक्रमेति। विबुधाः शूराः स्त्रियो वृद्धाश्च आगतं विद्याविक्रमसौन्दर्यतपसां निधिमपश्यन्नित्यन्वयः।

(चित्र०)

इत्यत्रैकस्य वर्ण्यस्य विद्याद्यनेकधर्मयोगरूपनिमित्तभेदादनेकेन ग्रहीत्रोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिवारणायानेकधेत्युक्तम्। तत्र कौतुकात् स्वरूपावलोकनमात्रनिबन्धनं नानेकधोल्लेखनमिति तद्व्यावृत्तिः।

'शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकैः' इत्युदाहृतायामनेककर्तृकभ्रान्तिपरम्परायां स्तनादीनां मञ्जरीसादृश्यादिनिमित्तभेदादनेकेन चञ्चरीकादिना मञ्जरीत्वाद्यनेकप्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिवारणायैकस्य वस्तुन इत्युक्तम्।

(भारती)

यहाँ एक ही वर्णनीय विषय का विद्या प्रभृति अनेक धर्मयोगात्मक निमित्तभेद से, ग्रहीता के उल्लेखन से प्राप्त अतिव्याप्ति दोष के निवारणर्थ लक्षण में 'अनेकधा' विशेषण का समावेश किया गया है। फलतः उक्त उदाहरण में कौतुक से स्वरूपालोकन मात्र के निरूपण से अनेकवार उल्लेखनाभाव के कारण अतिव्याप्ति का स्वतः निराकरण हो जाता है।

'हे चोल नरेशों में सिंह ! तुम्हारे शत्रुओं की पत्नियों की रक्षा करने में ये वन भी समर्थ नहीं हो सके। क्यों कि उस बेचारी के कलश रूप स्तनों को आम्रमंजरी समझ कर जब भौंरे उस पर आक्रमण करते हैं तो भयाक्रान्त वह अबला उन्हें हटाने के लिए ज्यों ही अपने हाथों को ऊपर की ओर उठाती है—उसे पल्लव समझ कर उस पर सुग्गे आक्रमण कर देते हैं। इस आक्रमण से आक्रांत वह सुन्दरी ज्यों ही चीत्कार करती है, कि उसकी आवाज को काकली समझ कर कौए उस पर वार कर देते हैं। यह दुर्गति है जंगल में उन शरणार्थी भी तुम्हारी शत्रुपत्नियों की।' इस उदाहरण के अनेक कर्तृक भ्रान्तिपरम्परा में मञ्जरी सादृश्यादि के निमित्तभेद से अनेक चञ्चरीकादि से मञ्जरीत्वादि अनेक प्रकार का यहाँ उल्लेखन है। अतः यहाँ अतिव्याप्ति-वारण के लिए **'एकस्य वस्तुनः'** यह विशेषण लक्षण में समाविष्ट किया गया है।

(सुधा)

अत्रैकस्य वर्णनीयस्य विद्याद्यनेकधर्मयोगात्मकनिमित्तभेदेनानेकेन ग्रहीत्रा उल्लेखनादृतिव्याप्तिवारणाय अनेकधेति विशेषणम्। तत्र कौतुकात् स्वरूपालोकनमात्रस्य निरूपणादनेकधोल्लेखनाभावान्नातिव्याप्तिः। 'शिञ्जानैर्मञ्जरीति' पूर्वोक्तमालारूपभ्रान्तिमति मञ्जरीसादृश्यादिनिमित्तभेदेनानेकचञ्चरीकादिरूपग्रहीत्रा मञ्जरीत्वाद्यनेकप्रकारेणोल्लेखनादतिव्याप्तिः स्यात्, अत एकस्य वस्तुनः इत्युक्तम्। तत्र नायिकादिवस्तूनामनेकत्वात्।

(चित्र०)

कीर्तौ विस्फूर्तिमत्यां ते मृणालक्षीरशङ्किनः।
द्वयेऽपि नागास्तन्वन्ति जिह्वान्तोल्लेखनं मुहुः॥

इति भ्रान्तिमदुदाहरणे एकस्या एव कीर्तेरनेकेन कुञ्जरभुजङ्गरूपेण ग्रहीत्रा मृणालक्षीररूपत्वाद्यनेकप्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिनिरासाय निमित्तभेदादित्युक्तम्। तत्र कीर्तिगतं धावल्यमेकमुल्लेखद्वयेऽपि निमित्तम्।

(भारती)

'तुम्हारी फैली हुई कीर्त्ति में कमलनाल और दूध की आशंका से हाथी और साँप दोनों ही बार-बार अपनी जीभों को उसे पाने के लिए बढ़ा रहे हैं।'

भ्रान्तिमान के इस उदाहरण में एक ही कीर्त्ति का अनेक के साथ हाथी एवं सर्प के रूप से ग्रहीत कमलनाल एवं दूध के रूप में अनेक प्रकार से उल्लेख है। यहाँ अतिव्याप्ति निराकरण के लिए 'निमित्तभेदात्' विशेषण का समावेश लक्षण में किया है। वहाँ कीर्तिगत एक ही धवलता ही दोनों उल्लेख में निमित्त है।

(सुधा)

कीर्ताविति। तव प्रकाशवत्यां कीर्तौ मृणालक्षीरशङ्किनो द्वयेऽपि नागा गजाः सर्पाश्च मुहुर्जिह्वान्तोल्लेखनं तन्वन्ति इत्यन्वयः। अत्र भ्रान्तिमति, एकस्य वस्तुनः कीर्तिरूपस्य कुञ्जरभुजङ्गानेकग्रहीत्रा मृणालक्षीररूपत्वानेकप्रकारेणोल्लेखनादतिव्याप्तिः स्यात्, अतो निमित्तभेदादित्युक्तम्।

(चित्र०)

यद्यपि गजभुजङ्गानां स्वस्वप्रियाहारलोभरूपनिमित्तभेदोऽप्यस्ति, तथापि निमित्तभेदादित्यनेनैकनिमित्तविरहो विवक्षित इति तद्व्यावृत्तिः। तस्य संग्राह्यत्वे निमित्तभेदादिति स्वरूपकथनमात्रम्। एवमपि यदि—

कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुजं परे।
वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं द्वयम्॥

इत्यपह्नवोदाहरणविशेषेऽतिव्याप्तिः शङ्क्या, तदानीमनेकधोल्लेखनं निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम्। तत्राद्योल्लेखनद्वयं परमतत्त्वोपन्याससामर्थ्याद्गम्यमाननिषेधमिति नातिव्याप्तिः।

(भारती)

यद्यपि यहाँ हाथी और सांपों के अपने अपने प्रिय आहार के लोभ रूप निमित्त भेद भी है; फिर भी एक निमित्त विरह के निमित्त भेद से विवक्षा के कारण वहाँ उस तरह के लोभ का अभाव है। पूर्वकथित रूप से इसे ग्रहण करने पर भी उसके स्वरूपकथनमात्रत्व की आपत्ति होगी। एवमपि से दूसरी अतिव्याप्ति की आशंका का निराकरण करते हैं—

नायिका नायक से कहती है—

तुम्हारे मुख को कुछ लोग कान्ति के कारण चन्द्रमा कहते हैं दूसरे लोग सुगन्ध के कारण कमल कहते हैं; पर हम तो कहते हैं कि तप करके दोनों एकता को प्राप्त कर लिये हैं। अतः तुम्हारा मुख उन दोनों का मिश्रित रूप है।

अपह्नुति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति की शंका होती हो तो अनेक प्रकार के उल्लेख अर्थात् ज्ञान के साथ लक्षण में 'निषेध से स्पर्श न किया हुआ' यह विशेषण लगा देना चाहिए। इस पद्य में पहले दो उल्लेखों का दूसरे के मत के रूप में कथन के सामर्थ्य से निषेध अभिव्यक्त होता है। अतः वैसा कर देने से यहाँ अतिव्याप्ति न होगी।

(सुधा)

तत्र तूल्लेखद्वये एकस्यैव भावत्यस्य निमित्ततासत्त्वात् धर्मान्तरमाश्रित्यातिव्याप्तिं शङ्कते—यद्यपीति। स्वस्वप्रियाहारलोभरूपनिमित्तभेदसत्त्वादतिव्याप्तितादवस्थ्यम्। प्रकारान्तरेण समाधत्ते—तथापीति। एकनिमित्तविरहस्य निमित्तभेदपदेन विवक्षितत्वेन तत्र तादृशलोभत्वस्य तद्वृत्ताभावात्, तथात्वस्य ग्राह्यत्वे तु तस्य स्वरूपकथनमात्रत्वापत्तेः। अतिव्याप्त्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति—एवमपीति। केचित् वक्त्रं कान्त्या चन्द्रं विदुः, परे सौगन्ध्येन कमलं विदुः, वयं तपसा एकरूपतां गतं तद्द्वयं मुखमिति ब्रूम इत्यन्वयः। अत्रापह्नुतावेकस्य वक्त्रस्यानेकेन ग्रहीत्रा कान्त्यादिनिमित्तभेदेन चन्द्रत्वाद्यनेकरूपेणोल्लेखनादतिव्याप्तिः स्यादतस्तद्वारणायानेकधोल्लेखने निषेधास्पृष्टत्वमिति विशेषणमावश्यकम्। तत्र केचिदादिपदोपन्याससामर्थ्यान्निषेधप्रतीयमानतया तादृशनिषेधेन स्पृष्टत्वाद् नातिव्याप्तिरिति दिक्।

(चित्र०)

स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः।

अत्र चानेकधोल्लेखने रुच्यर्थित्वभयादिकं यथायोगं प्रयोजकम्। रुचिरभिरतिः। अर्थित्वं लिप्सा।

द्विविधश्चायमुल्लेखः—शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च। तत्र शुद्धो यथा—

गजत्रातेति वृद्धाभिः श्रीकान्त इति यौवतैः।
यथास्थितश्च बालाभिर्दृष्टः शौरिः सकौतुकम्॥

अत्र यस्तथा भीतं भक्तं गजं त्वरया त्रायते स्म सोऽयमादिपुरुष इति वृद्धाभिः संसाराद्भीत्या तदभयार्थिनीभिः कृष्णः पुरः प्रविशन् दृष्टः, यस्तथा चञ्चलत्वेन प्रसिद्धाया लक्ष्म्या अपि कामोपचारवैदग्ध्येन नित्यवल्लभः

सोऽयं दिव्ययुवेति युवतीभिः सोत्कण्ठाभिर्दृष्टः, बालाभिर्बालस्वभावाद्यथास्थितरूपवेषयुक्तो दृष्ट इति सर्वत्र वस्तुसता नानारूपेणोल्लेखादयं शुद्धः।

(भारती)

'उस राजा को तरुणियों ने काम के रूप में, याचकों ने कल्पवृक्ष के रूप में तथा शत्रुओं ने साक्षात् काल के रूप में देखा।'

यहाँ एक ही राजा के सौन्दर्य, उसका दान तथा उसके पराक्रम से स्त्री, याचक एवं शत्रुओं की क्रमशः रुचि, याचना और भय के निमित्त भेद से काम, कल्पतरु और काल रूप अनेक प्रकार से दर्शन होने के कारण लक्षण का समन्वय है।

यह उल्लेख दो प्रकार का है; शुद्ध और अन्य अलङ्कारों से मिश्रित सङ्कीर्ण। वहाँ शुद्ध उल्लेख जैसे—श्रीकृष्ण के मथुरा प्रवेश का यह वर्णन है—

'श्री कृष्ण को वृद्धाओं ने गजत्राता अर्थात् आदि पुरुष नारायण के रूप में तथा युवतियों के समूह ने लक्ष्मीकान्त के रूप में एवं बालाओं ने जिस रूप में वे थे, उसी रूप में उन्हें कौतुक अर्थात् आश्चर्य के साथ देखा।'

यहाँ जो उस प्रकार भयभीत भक्त गजराज की शीघ्रता से रक्षा किये हैं, वही ये आदिपुरुष भगवान नारायण हैं, ऐसा संसार से डरी हुए वृद्धाओं ने नगर में प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण को देखा। जो अपने कामोपचार वैदग्ध्य से चंचला नाम से प्रसिद्ध लक्ष्मी के लिए नित्यवल्लभ हैं; वही ये श्रीकृष्ण हैं—इस रूप में उन्हें युवतियों ने उत्कंठा भाव से देखा। बालाओं ने उपने बालस्वभाव के करण श्रीकृष्ण को यथास्थित रूपवेष युक्त ही देखा। यहाँ सभी जगह एक ही वस्तु का अनेक रूप में उल्लेख से यह शुद्ध उल्लेख है।

(सुधा)

तमुदाहरति—स्त्रीभिरिति। अत्रैकस्यैव राज्ञः सौन्दर्यवितरणपराक्रमशालितया स्त्र्याद्यनेकग्रहीत्रा रुच्यर्थित्वभयात्मकनिमित्तभेदात् कामकल्पतरुकालरूपत्वाद्यनेकप्रकारेण दर्शनत्वाल्लक्षणसमन्वयः। तद्विभागमाह—द्विविध इति। शुद्धसङ्कीर्णभेदेन द्विधा इत्यर्थः। अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णतारहितः शुद्ध इत्यर्थः। तमुदाहरति—गजत्रातेति। श्रीकृष्णस्य मथुराप्रवेशवर्णनमिदम्। शौरिः कृष्णो वृद्धाभिः गजत्रातेति सकौतुकं दृष्टः, युवतिसमूहैः लक्ष्मीकान्त इति, बालाभिर्यथावस्थितवेष एव दृष्टः इत्यन्वयः। अत्र सकौतुकमित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः। स्वयमपि श्लोकं व्याकरोति—अत्रेति। तथा भीतगजस्य यस्त्वरया त्राता सोऽयमादिपुरुषो नारायण इति संसाराद्भयार्थिन्यो वृद्धाः पश्यन्ति स्म। अतिचञ्चलश्रियोऽपि कामोपचारचातुर्येण नित्यवल्लभो दिव्यतरुणरूप इति तं युवतिसमूहः सोत्कण्ठः पश्यति स्म। बालास्तु यथास्थितं स्वाभाविकरूपवेषयुक्तं पश्यन्ति स्मेति सर्वत्र वस्तुतो विद्यमानेन नानारूपेणोल्लेखादयं शुद्धः। अयमिति कथनेन स्त्रीभिरित्यस्यारोपरूपरूपकसंकीर्णतेति विशेषः प्रतिपाद्यते।

(चित्र०)

यथा वा हर्षचरिते श्रीकण्ठजनपदवर्णने—

'यस्तपोवनमिति मुनिभिः, कामायतनमिति वेश्याभिः, संगीतशालेति लासकैः, यमनगरमिति शत्रुभिः, चिन्तामणिरित्यर्थिभिः, वीरक्षेत्रमिति

शस्त्रोपजीविभिः, गुरुकुलमिति विद्यार्थिभिः, गन्धर्वनगरमिति गायकैः, विश्वकर्ममन्दिरमिति विज्ञानिभिः, लाभभूमिरिति वैदेहकैः, धूर्तस्थानमिति वन्दिभिः, साधुसमागम इति सद्भिः, वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, विटगोष्ठीति विदग्धैः, सुकृतपरिणाम इति पथिकैः, असुरविवरमिति वाहिकैः, शाक्याश्रम इति शमिभिः, अप्सरःपुरमिति कामिभिः, महोत्सवसमाज इति चारणैः, वसुधारेति च विप्रैरगृह्यत ।' अत्र तपोवनादिभूयिष्ठत्वात्तपोवनाद्युल्लेखः शुद्धः ।

(भारती)

और जैसे हर्षचरित में श्रीकंठदेश के वर्णन प्रसंग में—

जिसे मुनिलोग तपोवन समझते थे, वेश्याएँ कामगृह समझती थीं, नर्त्तकलोग संगीतशाला समझते थे, शत्रुलोग यमराज का नगर समझते थे, याचकगण जिसे चिन्तामणि की भूमि समझते थे, शस्त्रोपजीवी लोग जिसे वीरक्षेत्र समझते थे, छात्रगण जिसे गुरुकुल समझते थे, गायक लोग जिसे गन्धर्व नगर समझते थे, विज्ञानवेत्ता जिसे विश्वकर्मा का मन्दिर समझते थे, वणिक् जन जिसे लाभ की भूमि मानते थे, वन्दीगण जिसे धूर्त्तस्थान (जुआ खेलने की जगह) समझते थे, सज्जन लोग जिसे साधुसमागम की भूमि मानते थे, शरणागत लोग जिसे वज्र का पिंजरा समझते थे, चतुरलोग जिसे विटों की गोष्ठी मानते थे, पथिक जन जिसे अपने पूर्वजन्माजित पुण्य का फल मानते थे, वाहिक लोग जिसे असुरों की कन्दरा समझते थे, भिक्षुलोग जिसे बौद्ध विहार समझते थे, कामी जन जिसे अप्सराओं के नगर मानते थे, चारणगण जिसे महोत्सव समाज समझते थे तथा विप्रलोग जिसे वसुधारा (धन का प्रवाह) समझते थे—ऐसा वह श्रीकंठ-देश था । यहाँ तपोवनादि के भूयिष्ठत्व से तपोवन से शुद्ध उल्लेख है ।

(सुधा)

शुद्धान्तरमुदाहरति—यथा वेति । हर्षचरिते श्रीकृष्णजनपदवर्णने गद्यम् । यो देशो मुनिवेश्यानर्त्तकशत्रुयाचकशस्त्रोपजीविविद्यार्थिगायकविज्ञानिवैदेहकवन्दिसुतशरणागत—विदग्धपथिकवाहिकशमिकामुकचारणविप्रैः तपोवनत्वादिरूपेण जनपदोऽगृह्यतेत्यन्वयः । एकस्मिन्ननेकेन मुन्यादिरूपेण ग्रहीत्रा तत्तन्निमित्तभेदैस्तपोवनत्वाद्यनेकरूपेणोल्लेखसत्वा-न्निषेधेनास्पृष्टत्वाच्चोल्लेखलक्षणसमन्वयः । अयमपि, शुद्धः, तपोवनादिभूयिष्ठत्वादुल्लेख-सम्भवात् ।

(चित्र०)

अत्रैव यमनगरत्वाद्युल्लेखः सङ्कीर्णः । तत्र यदि यमनगरत्वादीनामुपरञ्जक-तामात्रेणान्वयस्तदा रूपकसङ्करः । यदि ताद्रूप्यानुभावगोचरतया, तदा भ्रान्ति-मत्सङ्करः । अयं चोल्लेखो वर्ण्यगुणोत्कर्षख्यापनायाचेतनकर्तृकोऽपि निबध्यते । यथा तत्रैव हर्षवर्णने—

'निःस्नेह इति धनैः, अनाश्रयणीय इति दोषैः, निग्रहरुचिरितीन्द्रियैः, दुरु-पसप इति कलिना, नीरस इति व्यसनैः, भीरुरित्ययशसा, दुर्ग्रह-चित्तवृत्तिरिति चित्तभुवा, स्त्रीपर इति सरस्वत्या, षण्ढ इति परकलत्रैः, काष्ठामुनिरिति

यतिभिः, धूर्त इति वेश्याभिः, विनय इति सुहृद्भिः, कर्मकर इति विप्रैः, असहाय इति शत्रुयोधैः, एकमप्यनेकधा गृह्यमाणम्' इति ।

(भारती)

यहाँ ही 'यमनगर' इत्यादि में संकीर्ण उल्लेख है । वहाँ यदि 'यमनगरत्वादि' का उपरंजकता मात्र से अन्वय है तब तो रूपक मिश्रित शंकर है और यदि ताद्रूप्य के अनुभव की गोचरता से अन्वय है तो भ्रान्तिमिश्रित सङ्कर है । यह उल्लेख वर्णनीय विषय के गुणोत्कर्ष बतलाने के लिए अचेतन कर्त्ता के निबन्धन से भी चमत्कार उत्पन्न करते हैं । जैसे वहाँ ही हर्षवर्णन में—

'धन उन्हें समझता था कि इनमें हमारे प्रति स्नेह कुछ भी नहीं है; दोष कहते कि हमारे ये आश्रय के योग्य नहीं हैं; इन्द्रियाँ कहतीं कि सम्राट् हमें निगृहीत रखना चाहते हैं, अयश चिल्लाता कि सम्राट् डरपोक हैं; कामदेव समझता कि इनकी चित्तवृत्ति दुर्ग्रह है, सरस्वती कहती कि ये स्त्रैण्य हैं; परकीया स्त्रियां कहतीं कि ये नपुंसक हैं, यतिगण कहते कि ये पहुँचे हुए तपस्वी हैं, वेश्याएँ इन्हें धूर्त्त कहतीं, सुहृद्वर्ग कहता कि ये नेय हैं अर्थात् इनकी बुद्धि दूसरों पर निर्भर रहती है; ब्राह्मण कहते कि ये हमारे नोकर हैं । वरिष्ठ शत्रु लोग इन्हें कहते हैं कि बहुत से दूसरे इनके सहायक हैं; (यहाँ 'असहाय' एवं 'सुसहाय' दो प्रकार के पाठ भेद हैं मैंने 'सुसहाय' को उचित समझा है । इस प्रकार एक ही सम्राट् को लोग अनेक प्रकार से ग्रहण करते थे ।'

(सुधा)

अत्रैव संकीर्णतां प्रतिपादयति—अत्रैवेति । यमनगरत्वादीनामुपरञ्जकतामात्रविवक्षणे रूपकेण संकीर्णता । यदि तु ताद्रूप्यानुभवस्य गोचरत्वं तदा भ्रान्तिमता संकीर्णः । क्वचिद्वर्णनीयस्य गुणानामुत्कर्षख्यापनायाचेतनकर्तृकोल्लेखनिबन्धनादपि चमत्कारमुदाहरति-यथा तत्रैवेति । धनदोषेन्द्रियकलिव्यसनायशःकामसरस्वतीपरकलत्रयतिवेश्यासुहृद्विप्रशत्रुयोधैरेकमप्यनेकधा गृह्यमाणं हर्षं नृपमित्यचेतनकर्तृकोल्लेखश्चमत्कारीति ।

(चित्र०)

भ्रान्तिमदलङ्कारादयोऽप्येवमचेतनकर्तृका निबध्यन्ते—

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विवेन्दो-
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम् ।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः ॥ इत्यादौ ।

मधुलुब्धा मधुकरास्तृषिताश्च चकोरकाः ।
सुगन्धि कान्तिसंपन्नमनुधावन्ति ते मुखम् ॥

इत्यत्रोल्लेखो व्यङ्ग्यः । 'विद्याविक्रमसौन्दर्य' इति श्लोके विद्यादीनां स्वरूपावलोकनकौतुकमात्रे निमित्ततया यदि न विश्रान्तिः, किन्तु विद्वत्ताद्युल्लेखवदवलोकनकौतुकनिमित्ततायां पर्यवसानं तदा तत्राप्युल्लेखनगतानेकधात्वविच्छित्तिविशेषस्य गम्यत्वादुल्लेखालङ्कारो गम्यः ।

(भारती)

अचेतन कर्तृक भ्रान्ति का उदाहरण देते हैं—

'इस रैवतक गिरि पर चन्द्रमा की किरण के, अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से मिश्रित होने के कारण सहस्रों की संख्या में हो जाने पर कमलिनियाँ निश्चय ही यह सूर्य है—ऐसा मानकर रात्रि में भी विकसित कमलपुष्पों वाली बन जाती हैं।'

यहाँ अचेतन कर्तृक अतिशयोक्ति अलङ्कार से भ्रान्तिमान् अलङ्कार की व्यञ्जना है।

'मधु के लोभी भौंरे तथा तृषायुत चकोर सुगन्धित एवं कान्ति से युत तुम्हारे मुख की ओर दौड़ रहे हैं।'

शब्दशक्ति द्वारा अप्रतिपादित रहने के कारण यहाँ उल्लेख की व्यङ्ग्यता है 'विद्याविक्रम-सौन्दर्य' इत्यादि पूर्व उदाहृत श्लोक में स्वरूप देखने के कौतुक मात्र में विद्या प्रभृति की निमित्तता से विश्रान्ति के अभाव में विद्वत्ता आदि के उल्लेख की तरह अवलोकन कौतूहल निमित्तत्व के पर्यवसान में उल्लेखगत अनेक प्रकार की विच्छित्ति विशेष की गम्यता में वहाँ उल्लेख की व्यङ्ग्यता जाननी चाहिए।

(सुधा)

उक्तचमत्कारमन्यत्राप्यतिदिशति—भ्रान्तिमदित्यादि। अचेतनकर्तृका भ्रान्तिरुदाह्रियते—भिन्नेष्विति। उच्चावचैः रत्नकिरणैः भिन्नेषु सहस्रसंख्यामुपगतेषु भिन्नेषु इन्दोः किरणेषु सत्सु रात्रावपि नूनं रविरसौ विधुः किलेति नलिन्यो व्याकोशकोकनदतां दधते इत्यन्वयः। अत्राचेतनकर्तृका भ्रान्तिरित्यर्थः। व्यङ्ग्यमुल्लेखमुदाहरति—मधुलुब्धा इति। मधुलोभिनो भ्रमरास्तृषायुताश्चकोराश्च सुगन्धि कान्तियुतं ते मुखमनुधावन्तीत्यन्वयः। अत्रोल्लेखस्य व्यङ्ग्यत्वम्, शब्दशक्त्याऽप्रतिपादितत्वात्। विद्याविक्रमेतिपूर्वोदाहरणे स्वरूपावलोकनकौतुकमात्रे विद्यादीनां निमित्ततया विश्रान्तेरभावे विद्वत्ताद्युल्लेखवदवलोकनकौतूहलनिमित्तत्वे पर्यवसाने उल्लेखगतानेकप्रकारकविच्छित्तिविशेषस्य गम्यतायान्तु तत्रोल्लेखस्य व्यङ्ग्यत्वमिति बोध्यम्।

(चित्र०)

परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यामेव योषिति।
कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः॥

इत्यत्राप्युल्लेख इष्यत इति लक्षणस्य नातिव्याप्तिः।

अथापर उल्लेखप्रकारः—

ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः।
एकस्यानेकधोल्लेखमप्युल्लेखं प्रचक्षते॥

तत्र विषयभेदादनेकधोल्लेखः, शुद्धः सङ्कीर्णश्च।

शुद्धो यथा—

अकृशं कुचयोः कृशं विलग्ने विपुलं चक्षुषि विस्तृतं नितम्बे।
अधरेऽरुणमाविरस्तु चित्ते करुणाशालिकपालिभागधेयम्॥

'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, विशालो मनसि, जनकस्तपसि, सुमित्रस्तेजसि,

सुमन्त्रो रहसि, बुधः सदसि, अर्जुनो यशसि, भीष्मो धनुषि' इत्यादौ श्लेष-सङ्कीर्णः।

(भारती)

अतिव्याप्ति की आशंका का परिहार करते हैं—'संन्यासी' कामुक और कुत्ते का एक ही 'योषिति' में कुणप, कामिनी और भक्ष्य ये तीन विकल्प हैं ।

यहाँ उल्लेख की स्वीकृति से अतिव्याप्ति का परिहार हो जाता है। अब दूसरे उल्लेख का भेद बताते हैं—

'जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय अथवा आश्रय में से किसी की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार हों, वहाँ भी उल्लेख अलङ्कार कहते हैं।'

वहाँ विषय भेद से अनेकता के कारण उल्लेख भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलङ्कार से मिश्रित।

शुद्ध उल्लेख (स० २) जैसे—

'परम सौभाग्यशाली करुणानिधान भगवान् शंकर के हृदय में, स्थूलस्तन, विशाल नेत्र, विस्तृत नितम्ब एवं रक्तिम अधरवाली पार्वती प्रकट हों।'

यहाँ ज्ञाता शिव के द्वारा कुचादि आश्रयभेद से एक का भागधेयत्व के साथ अध्यवसित पार्वती रूप का अकृशत्व आदि अनेक रूप के उल्लेख से शुद्ध उल्लेख के लक्षण का समन्वय है।

वचन में गुरु, वक्षःस्थल में स्थूल, मन में विशाल, तपस्या में जनक, तेज में सुमित्र, मन्त्रणा में सुमन्त्र, सभा में बुध, यश में अर्जुन, धनुष में भीष्म-इत्यादि में श्लिष्ट संकीर्ण उल्लेख है। तात्पर्य यह कि यहाँ उपर्युक्त सभी शब्द श्लेष अर्थात् द्व्यर्थक हैं। जैसे—गुरु का अर्थ महान् और बृहस्पति दोनों हैं। इसी प्रकार पृथु=विस्तार और राजा पृथु। विशाल=उदार, शोभित अथवा विशाल नामक राजा, जनक=उत्पन्नकर्त्ता एवं मिथिलानरेश, सुमित्र=सूर्य और राजा, संयत=योग्य और माननीय। बुध=विद्वान् और ग्रहविशेष, अर्जुन=धवल और पार्थ, भीष्म=भयानक और गाङ्गेय। इसप्रकार उक्त सभी शब्दों में अखण्ड श्लेष है।

(सुधा)

अतिव्याप्तिमाशङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति—परिव्राडिति। यतिकामुकशुनामेकत्र योषिति कुणपः; कामिनी; भक्ष्यम्; इति तिस्रो विकल्पना जाता इत्यन्वयः। अत्र तु उल्लेखस्यैवा-ङ्गीकारेण नातिव्याप्तिरिति दिक्। द्वितीयमुल्लेखं लक्षणभेदेन वक्तुं प्रतिजानीते—अथेति। तल्लक्षणमाह—ग्रहीत्रिति। ग्रहीतॄणां भेदाभावेऽप्येकस्यैव वस्तुनो विषयाश्रयभेदेनानेकधो-ल्लेखमप्युल्लेखं विबुधाः प्रचक्षते इत्यन्वयः। ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयभेदादेकस्य बहुधोल्लेखनमिति तल्लक्षणमित्यर्थः। अयमपि द्विविधः—शुद्धः, सङ्कीर्णश्च।

शुद्धमुदाहरति अकृशमिति। कपालिनो हरस्य भागधेयं भाग्यं तत्त्वेनाध्यवसितं पार्व-तीस्वरूपं चित्ते आविरस्तु प्रकटीभवत्विति सम्बन्धः। कीदृशम्? कुचयोः कुचविषयेऽकृशं स्थूलम् एवं विलग्ने कृशम् 'विलग्नो मध्यलग्नयोः' इति विश्वः। चक्षुषि विपुलमायतम् नितम्बे विस्तृतम्, अधरेऽरुणम्, चित्ते इति मध्यमणिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते। तेन चित्ते करुणाशालि इति पाठान्तरन्तु क्रमभङ्गदोषादयुक्तमिति बोध्यम्। ग्रहीत्रा शिवेन कुचाद्या-श्रयभेदेनैकस्य भागधेयत्वेनाध्यवसितपार्वतीरूपस्याकृशत्वाद्यनेकरूपेणोल्लेखनाल्लक्षण-

समन्वयः। सङ्कीर्णमुदाहरति—गुरुर्वचसीति।···उरःस्थलमनस्तपस्तेजोरहस्सदोयशोधमु-राश्रयीभूतविषयभेदेनैकस्य राज्ञो गुरुत्वादनेकधोल्लेखनात्तत्र श्लेषसत्त्वाच्च सङ्कीर्णत्वम्।

अयमर्थः—गुरुर्महान् जीवश्च, पृथुर्विस्तृतो नृपश्च, विशाल उदारः शोभितो वा नृप-विशेषो वा, जनक उत्पादयिता मैथिलश्च। सुमित्रो रविर्नृपश्च, संयतो योग्यो माननीयश्च, बुधो विद्वान् ग्रहविशेषश्च, अर्जुनो धवलः पार्थश्च, भीष्मो भयानको गाङ्गेयश्चेत्यत्र सर्वत्रा-खण्ड एव श्लेषः।

(चित्र०)

'हंसमयीव गतिषु, परपुष्टमयीवालापे, चक्रवाकमयीव पतिप्रेमणि, प्रावृण्म-यीव पयोधरोन्नतौ, कमलमयीव कोशसंग्रहेषु, कुसुममयीव फलदानेषु' इत्याद्यु-त्प्रेक्षासङ्कीर्णः। पयोधरोन्नतावित्यादौ विषयांशे श्लेषसङ्कीर्णश्च। 'युधिष्ठिरः सत्यवचसि' इत्यादौ रूपकसङ्कीर्णः। 'युधिष्ठिरसमः सत्यवचसि' इत्यादावुप-मासङ्कीर्ण इत्याद्यूह्यम्।

(भारती)

गतियों में हंसी की तरह, आलाप में कोयल की तरह, पतिप्रेम में चक्रवाक की तरह, उन्नत पयोधरों में प्रावृट् (वर्षा) की तरह, कोशसंग्रहों में कमल की तरह, फल देने में फूल की तरह, इत्यादि में उत्प्रेक्षा संकीर्ण उल्लेख है। (क्यों कि यहाँ गति, आलाप, पतिप्रेम, पयोधर—उन्नति, कोशसंग्रह और फलदान आदि विषयों में हंसी आदि रूप से एक ही राजे की पत्नियों के वर्णन में संभावनार्थक 'इव' शब्द के प्रयोग से उत्प्रेक्षासंकीर्ण उल्लेख है।) पयोधरोन्नत आदि विषय के अंश में श्लेप संकीर्णता है। 'सत्यवचन में युधिष्ठिर के सदृश युधिष्ठिर है' इत्यादि में उपमा संकीर्ण उल्लेख कहना चाहिए।

(सुधा)

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णमप्युदाहरति—गत्यालापपतिप्रेमपयोधरोन्नतिकोशसङ्ग्रहे फला-दानादिविषयेषु हंस्यादिरूपेणैकस्या नृपस्त्रियो वर्णनात् संभावनार्थकेवशब्दप्रयोगादुत्प्रेक्षा-संकीर्णत्वम्। पयोधरोन्नतादिविषयांशे श्लेषसंकीर्णत्वं सत्यवचसि युधिष्ठिरे एव युधिष्ठिर इति रूपकसंकीर्णत्वम्। तत्रैव युधिष्ठिरसम इत्युक्तावुपमासंकीर्णत्वम्।

(चित्र०)

अधिकरणभेदेनानेकधोल्लेखो यथा—

वर्धिष्णोरुपरि क्षणं रविरभूच्छत्रं बलिध्वंसिनो
रत्नं मूर्ध्नि ललाटसीम्नि तिलकं कर्णान्तिके कुण्डलम्।
अंसे चक्रमुरःस्थले मणिवरो नाभौ सरोजासनो
यस्याङ्घ्रौ कटकाश्च विक्रमगतेः पायादपायात् स वः॥

अत्र रूपकसङ्कीर्णः। भगवल्ललाटमध्यकर्णान्तादितत्तदवयवाभिमुखस्थित-ग्रहीतृभेदनिमित्तोल्लेखसङ्कीर्णश्च। एकस्यैव द्रष्टुर्ललाटमध्ये कर्णान्तिके च रविदर्शनासंभावत्।

(भारती)

अधिकरण के भेद से भी अनेकवार उल्लेख का उदाहरण जैसे—

'तीनो लोकों में पराक्रमप्राप्त, वर्धिष्णु, वलिविध्वंसक भगवान् वामन—जिनके ऊपर क्षणमात्र के लिए सूर्य छत्र रूप में थे, तथा माथे पर रत्न के रूप में, ललाट में तिलक के रूप में, कान के समीप कुण्डल के रूप में, कंधे पर चक्र के रूप में, हृदय पर मणिश्रेष्ठ के रूप में, नाभि में कमलासन ब्रह्मा के रूप में, तथा अंघ्रि में कर रूप से शोभित थे—वे तुम्हारी विघ्नों से रक्षा करें।'

यहाँ सूर्य में आरोप, आश्रयभेद के द्वारा अनेक प्रकार के वर्णन से रूपक सङ्कीर्ण अधिकरण भेद से उल्लेख जानना चाहिए। विभिन्न अवयवाभिमुखस्थित अनेक ज्ञानों के वैसे अनुभव रहने के कारण ही यहाँ प्रथम सङ्कीर्ण उल्लेख है। क्योंकि एक ही देखने वाले के लिए भगवान् वामन के विभिन्न अवयवों में वैसे सूर्य के दर्शन की संभावना नहीं है।

(सुधा)

अधिकरणभेदेनाप्यनेकधोल्लेखनमुदाहरति—वर्धिष्णोरिति। त्रिविक्रमगतेः वर्धिष्णोर्बलिध्वंसिनो यस्योपरि रविस्सूर्यः क्षणमात्रं छत्रम्, मूर्ध्नि रत्नम्, ललाटदेशे तिलकम्, कर्णसमीपे कुण्डलम्, अंसे चक्रम्, वक्षसि मणिश्रेष्ठः, नाभौ सरोजासनः, अङ्घ्रौ कटकः अभूत् स वामनो वो युष्मान् अपायात् विघ्नात्, पायात् रक्षतु इत्यर्थः। अत्र रवौ तु सदारोपसत्त्वादाश्रयभेदेनानेकधा वर्णनाच्च रूपकसंकीर्णाधिकरणभेदेनोल्लेख इति बोध्यम्। प्रथमोल्लेखसंकीर्णतापि तत्तदवयवाभिमुखस्थितानामनेकग्रहीतॄणामेव तथानुभवसत्त्वात्। एकस्य द्रष्टुः तत्तदवयवेषु तादृशरविदर्शनस्यासम्भवाच्च।

(चित्र०)

'यस्य वह्निमयो हृदयेषु, जलमयो लोचनपुरेषु, मारुतमयः श्वसितेषु, क्ष्मामयोऽङ्गेषु, आकाशमयः शून्यतासु, पञ्चमहाभूतमयो मूर्त इवादृश्यत निहतप्रतिसामन्तान्तःपुरेषु प्रतापः।'

अत्र वह्निजलादिशब्दगृहीततापबाष्पादिरूपाणां प्रतापकार्याणां प्रतापस्य चाभेदकथनं हेत्वलङ्कार इति तत्सङ्करः। मतान्तरे रूपकसङ्करः।

कस्तूरीतिलकादि भालफलके, देव्या मुखाम्भोरुहे
रोलम्बन्ति तमाललोलमुकुलोत्तंसन्ति मौलिं प्रति।
या कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरंशे च कालागुरु
स्थास्यन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिवं श्रीकण्ठकण्ठत्विषः॥

(भारती)

हर्षचरित में राजा हर्ष के प्रताप वर्णन का यह गद्यांश है—"जिस राजा का प्रताप पञ्चमहाभूतस्वरूप भरे हुए शत्रुओं के अन्तःपुरों में मूर्त्तिमान की तरह दिखाई पड़ता है। उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं कि हृदयों में अग्निरूप से, आंख रूपी नगरों में जल रूप से, श्वासों में हवा रूप से, अङ्गों में क्षमा रूप से, शून्यताओं में आकाश रूप से ही राजा का प्रताप मूर्त्तिमान की तरह दिखलायी पड़ता है।"

यहाँ अग्नि आदि शब्दों से प्रतिपाद्य तापादि कार्यों के कारण स्वरूप प्रताप के अभेद कथन से

हेतु अलङ्कार सङ्कीर्ण उल्लेख है—यह चन्द्रालोक का मत है। काव्यप्रकाश आदिके मत में यहाँ रूपकसंकर है।

'भगवान् श्रीकण्ठ महादेव के कण्ठ की कान्ति तुम्हारे कल्याण का विस्तार करे। वह कण्ठच्छवि कैसी है तो—जो भगवती भवानी के ललाट पट्ट में कस्तूरी-तिलक की तरह शोभती है, मुख कमल में भौंरे की तरह आचरण करती है, माथे पर तमाल के कोमल मुकुलोत्तंस की तरह शोभती है, स्तनाग्र पर जो कालागुरु की छाया की तरह आचरण करती है'

(सुधा)

पुनरलंकारान्तरसंकीर्णत्वमुदाहरति—यस्येति। हर्षचरिते तत्प्रतापवर्णनगद्यम्। यस्य
राज्ञः प्रतापः पञ्चमहाभूतस्वरूपो निहतशत्रूणामन्तःपुरेषु मूर्त्तिमानिवादृश्यतेत्यन्वयः।
पञ्चमहाभूतरूपतां प्रतिपादयति-हृदयेष्वग्निरूप इत्यादिना। अत्र वह्न्यादिशब्दप्रति-
पाद्यतापादिकार्याणां तत्कारणीभूतप्रतापस्य चाभेदकथनाद् हेत्वलंकारसंकीर्णत्वमिति
चन्द्रालोकमतम्, 'हेतुहेतुमतोरैक्यवर्णनं हेतुरुच्यत' इति तल्लक्षणस्य तत्र प्रतिपादनात्।
काव्यप्रकाशादिमते रूपकसंकरः, तेन तस्यानङ्गीकाराच्च। उपमासंकीर्णमुल्लेखमुदाहरति-
कस्तूरीतिलकादीति। ताः श्रीकण्ठस्य शिवस्य कण्ठकान्तयः तव शिवं कल्याणं प्रथयन्तु
विस्तारयन्तु। कास्ता इत्यत आह—या या देव्याः पार्वत्या ललाटपट्टे कस्तूरीतिलकमि-
वाचरन्ति, मुखकमले रोलम्बा भ्रमरा इवाचरन्ति, मौलिं प्रति तमालबालमुकुलोत्तंसमिवा-
चरन्ति। कर्णयोर्विकचोत्पलमिवाचरन्ति, कुचयोरंसे च कालागुरुच्छायेवाचरन्तीति,
तस्यान्वयः। अत्रोपमासंकीर्णत्वमिति।

(चित्र०)

अत्रोपमासङ्कीर्णः। केचित्तु तत्तदधिकरणौचित्यात् कस्तूरीतिलकादितादात्म्यसंभावनायामुपमार्थे विहितोऽपि क्विबुत्प्रेक्षायां पर्यवस्यतीत्युपमोपक्रमोत्प्रेक्षेयमित्याहुः। तन्मते उत्प्रेक्षासङ्कीर्णः। एवमलङ्कारान्तरसङ्करोऽप्युन्नेयः।

इति चित्रमीमांसायामुल्लेखप्रकरणम्।

(भारती)

यहाँ उपमा से मिश्रित उल्लेख है। उन उन अधिकरणों की सम्भावनाओं में औचित्य से
कस्तूरी तिलक आदि की संभावना में उत्प्रेक्षा ही उपमा के अर्थ में विहित रहने पर भी यहाँ
क्विप् प्रत्यय की उत्प्रेक्षा में पर्यवसान रहने के कारण कुछ लोग इसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही मानते
हैं। उनके मत में उत्प्रेक्षा सङ्कीर्ण उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के संमिश्रण की भी उद्-
भावना करनी चाहिए।

विमर्श—दीक्षित जी ने 'कान्ताचन्द्रं विदुः केचित्' इत्यादि अपह्नुति के उदाहरण में अति-
व्याप्ति वारण के लिए 'उल्लेख' के लक्षण में 'निषेध स्पर्शन किया हुआ' विशेषण का समावेश
किया है। तथा श्रीकंठ देश के वर्णन में 'जिसे मुनिलोग तपोवन समझते थे' इत्यादि में शुद्ध
उल्लेख माना है, और 'शत्रुलोग यमराज का नगर समझते थे' इसमें भ्रान्ति, तथा 'शरणागत
जन इसे वज्रपिञ्जर मानते थे' इसमें रूपक आदि से मिश्रित उल्लेख माना है—पण्डितराज

जगन्नाथ ने इन सबों का विरोध किया है। उनका कहना है कि यदि 'अपह्नुति' की अतिव्याप्ति निवारण के लिए आप लक्षण में 'निषेध से स्पर्श न किया हुआ' विशेषण लगाते हैं तो 'कपाले मार्जारः पय इति' इत्यादि आप ही के द्वारा उदाहृत भ्रांति में उल्लेख की अतिव्याप्ति कैसे मिटायी जा सकती है ? क्यों कि मार्जार आदि अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का उल्लेख यहाँ भी तो है ही और अपने अपने प्रिय आहार आदि के लाभ की इच्छा रूप निमित्त का भेद भी है ही। अतः उल्लेख जब मिश्रित होता ही है तो फिर उसे हटाने का वह दीक्षित जी का सारा प्रयास निरर्थक ही तो है।

लेकिन वस्तुतः उल्लेख साहृश्य गर्भ, अभेदप्रधान आरोपमूलक अलङ्कार है। इसका अर्थ है लिखना किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय वर्णन से है। इस अलंकार में एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होता है। इसमें अनुभविता को एक ही वस्तु का ध्यान अनेकधा होता है। इसका वर्ण्य विषय एक ही होता है, किन्तु, वर्णन विभिन्न प्रकार से व्यक्ति दृष्टिभेद के कारण अनेक प्रकार से करते हैं। इसके एक प्रकार का अनेकधा ज्ञान दो प्रकार से संभव है—ग्रहीतृभेद एवं विषय-भेद से यहीं संमिश्रण या संकर की उत्पत्ति होती है। जब ग्रहीता या अनुभविता किसी विषय का अनेक प्रकार से वर्णन करता है तब यह आवश्यक नहीं कि वह उस वस्तु में निहित अनेक गुणों या धर्मों का उल्लेख करे ही। अतः ऐसी स्थिति में सम्मिश्रण से उत्पन्न दोषों के निवारणार्थ 'निषेध से असंपृक्त' विशेषण की निरर्थकता कैसे सिद्ध होती है ?

जहाँ तक मिश्रित उल्लेख के निवारणार्थ लक्षण में प्रयुक्त विशेषण का प्रश्न है—उसकी उपयोगिता तो इसी से सिद्ध होती है कि इन्हीं विशेषणों के माध्यम से तो कवि वस्तुसौन्दर्य की व्यापकता का निदर्शन कर अपनी कल्पना शक्ति को विस्तृत पीठिका पर अधिष्ठित कर देता है। तभी तो इसके निरूपण में वस्तुसौन्दर्य का अनेक रूप में चित्रण करते हुए कवि को न केवल आत्मबल ही प्राप्त होता है प्रत्युत उसमें अप्रस्तुत योजना करने की शक्ति का ज्ञान भी होता है। इस अलंकार में कवि एक विषय का वर्णन करने के लिए अनेक उपमानों का नियोजन करता है, जिससे इसकी सादृश्यमूलकता प्रकट होती है। एक वस्तु के लिए जितने उपमान प्रस्तुत किये जाते हैं उनका उक्त वस्तु के साथ अभेद या अभिन्नता होती है तथा उस पर अन्य पदार्थों का आरोप भी होता है। यही उल्लेख का सौन्दर्य है, अतः ऐसी स्थिति में दीक्षित जी का लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट ही प्रतीत होता है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायामुल्लेखालङ्कारप्रकारणं समाप्तम्।

(सुधा)

केचित्त्वत्रोत्प्रेक्षासंकीर्णतामाहुः। तन्मतमाह—तत्तदिति। तस्य तस्याधिकरणस्य सम्भावनायामौचित्यात्कस्तूरीतिलकादिसम्भावनायामुत्प्रेक्षैव उपमार्थे विहितस्याप्यत्र क्विप्प्रत्ययस्योत्प्रेक्षायां पर्यवसाने बाधकाभावात्। वस्तुतस्तु वाचकधर्मलुप्तोपमासंकीर्णत्वमेवावश्यकम् 'कर्पूरन्ती दृशोर्मम' इतिवत् सादृश्यप्रतियोगिन उपमानाद्विहितस्य क्विप उत्प्रेक्षायां पर्यवसाने प्रमाणाभावादित्यस्वरसः केचिदित्याहुरित्यनेन सूचित इत्यवधेयम्। प्रकरणमुपसंहरति—एवमिति। अलंकारान्तरसंकरोऽपीति। 'भानुरग्निर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिविः। प्रत्यर्थिनश्चार्थिनश्च विकल्पन्त इति त्वयि॥' अत्र सन्देहसंकीर्णता। 'उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवात्। अन्तस्साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि

जनाः ॥' अत्रोपमाव्यतिरेकयोः समुच्चयेनोल्लेखस्य संकीर्णतेत्यादिकमपि बोध्यमित्यलम् ।
रसगङ्गाधरकृतस्तु—एकस्य वस्तुनो निमित्तवशादनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः ।
'अधरं बिम्बमाज्ञाय मुखमब्जञ्च तन्वि ते । कीराश्च चञ्चरीकाश्च विन्दन्ति परमां मुदम् ॥'
इति भ्रान्तिमत्यतिव्याप्तिवारणायैकस्य वस्तुन इति मालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकै-
र्ग्रहीतृभिरिति । 'नृत्यत्वद्वाजिराजिप्रकरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालैरालोकालोकभूमीधरमतुल-
निरालोकभावं प्रयाते । विश्रन्ति कामयन्ते रजनिरिति धिया भूतले सर्वलोकाः, कोकाः
क्रन्दन्ति शोकानलविकलतया किञ्च नन्दन्त्युलूकाः ॥' अत्रातिव्याप्तिवारणायानेकप्रकार-
कमिति । यत्तु—दीक्षितैर्निषेधास्पृष्टत्वमिति विशेषणम् । तन्न; सङ्कीर्णस्य तस्याङ्गीकारात् ।
अन्यथा 'कपाले मार्जारः' इत्यत्राभ्रान्तिमत्यतिव्याप्तिवारणाय भ्रमास्पृष्टत्वमपि विशेषणीयं
स्यादिति । असत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनामन्यतमानेकप्रयुक्तमेकस्य
वस्तुनोऽनेकप्रकारकत्वं द्वितीयोल्लेखः । 'अनल्पतापाः कृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुः-
खजीर्णाः । विलोक्य गङ्गां विचलत्तरङ्गाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति ॥' अत्र पूर्वार्धोदीरि-
तानां चतुर्णां विलोकनकर्तॄणां सुखित्वोक्त्या तापपापरोगभवनाशकत्वप्रकारकाणि ग्रहण-
न्याक्षिप्यन्ते । अयं शुद्धस्य ध्वनिः ।

संकीर्णस्य यथा—'स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् । चकोराश्चञ्चरीकाश्च
मुदं परतरां ययुः ॥' अत्र ध्वन्यमानयैकैकग्रहणरूपया भ्रान्त्या तदुभयसमुदायात्मा
उल्लेखः । द्वितीयोल्लेखस्य ध्वनिर्यथा—'भासयति व्योमगता जगदखिलं कुमुदिनीविका-
सयति । कीर्तिस्तव धरणिगता सगरसुतायासमफलतां नयते ।' अत्राधिकरणभेदप्रयुक्तमे-
कस्यां कीर्तौ चन्द्रिकात्वसागरस्वरूपानेकविधत्वं रूपकसंकीर्णत्वं ध्वन्यते । सम्बन्धिभेद-
प्रयुक्तवर्ण्यानेकविधतापि यथा—'यमः प्रतिमहीभृतां हुतवहोऽसि तत्सीवृतां सतां खलु
युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम् । गृहं शरणमिच्छतां कुलिशकोटिभिन्निमितं, त्वमेक इह
भूतले बहुविधो विधात्रा कृतः ॥' इति वर्णयन्ति । प्रकाशानुसारिणस्तु—एकस्यैवार्थस्य
स्थानभेदेन नानारूपतया भेदप्रतीतावतिशयोक्तिरेव । यथा—

'प्रत्यम्भो नवपुण्डरीकमुकुलश्रेणी प्रतिच्माधरं पूर्णेन्दो रुचयः, प्रतिक्षितिरुहं मल्ली-
प्रसूनोत्करः । किञ्चान्यत् कथयामि वीर जगतीमालिङ्गति त्वद्यशःस्तोमैवः प्रतिदेशमेव
द्विविपत्स्रोतस्वतीनिर्झरः ॥' अत्र एकस्या एव कीर्तेः स्थलविशेषेषु तत्तद्योग्यरूपेणाध्यवसा-
नादतिशयोक्तिः । एवमेकस्य बहुभिर्ज्ञातृभिरनेकप्रकारैर्ज्ञातेऽप्यतिशयोक्तिरेव यथा—
'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभृतां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः । मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां पर-
देवतेति विदितो रङ्गं गतस्साग्रजः ॥' एवञ्चातिशयोक्त्यैव सिद्धावुल्लेखस्य पृथगङ्गीकरण-
मयोग्यमेव । एवं द्वितीयभेदस्यापि भेदेऽप्यभेदरूपातिशयोक्तावेवान्तर्भावात् कथनमप्य-
युक्तमिति वदन्ति । एतन्मते उल्लेखो नास्त्येवेत्यलम् ।

उल्लेखालंकृतिव्याख्या धरानन्देन निर्मिता ।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम् ॥

इति वाशिष्ठगोत्रीयरामबलस्य सुतेन धरानन्देन रचितायां चित्रमीमांसा
टीकायां सुधाभिधानायामुल्लेखालंकारप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ अपह्नुतिनिरूपणम्

प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् ।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥

(भारती)

'उपमेय का निषेध करके, सादृश्य के कारण अन्य होने की कल्पना को 'अपह्नुति' कहते हैं। वह वाक्य के भिन्न होने और एक होने द्वारा दो प्रकार का है।'

विमर्श—अपह्नुति का अर्थ है गोपन, छिपाना, वारण या निषेध। इस अलङ्कार में प्रकृत अर्थात् उपमेय को छिपाकर अप्रकृत अर्थात् उपमान की स्थापना की जाती है। निष्कर्ष यह कि इस अलङ्कार में यथार्थ को छिपा कर अयथार्थ को प्रकट किया जाता है। इस में गोपन क्रिया का महत्त्व ही विशेष रूप में दर्शनीय होता है। क्यों कि इसी के द्वारा सादृश्य भावना की इसमें सिद्धि निहित हैं। गोपन क्रिया का आधार मात्र ग्रहण कर सादृश्य की पुष्टि की जाती है। इसके मूल में सादृश्य को लेकर ही अलङ्कार शक्तियों में अनेक मतभिन्नताएँ परिदर्शित होती हैं। आधुनिक विद्वानों ने इसकी सादृश्यमूलकता स्वीकृत की है।

(सुधा)

एवमुल्लेखालङ्कारं व्याख्यायारोपमात्रसमत्वेनापह्नुतिरपि निरूपणीयेति तन्निरूपणं प्रतिजानीते—अथेति। अपह्नुतिरिति। निरूप्यते इति शेषः। अथ तल्लक्षणमारचयति—प्रकृतस्य निषेधेन साम्यात् यदन्यत्वप्रकल्पनं साऽपह्नुतिरिति लक्षणार्थः। तद्भेदानाह—वाक्यभेदाभेदाभ्यामपह्नुतिर्द्विधेत्यर्थः। साम्यादन्यत्वप्रकल्पनमपह्नुतिरिति लक्षणे 'मुखं चन्द्रः' इति रूपकेऽतिव्याप्तिः स्यादिति तद्वारणाय, निषेधेनेति। साम्यात् प्रकृतस्य निषेधमात्रमपह्नुतिरिति लक्षणे 'नाहं दूती वरतनोरङ्गतापोऽतिभास्वरः' इत्यर्थके आक्षेपेऽतिव्याप्तिः स्यात्। तद्वारणायान्यत्वप्रकल्पनमिति। तत्र निषेधसत्त्वेऽप्यन्यत्वप्रकल्पनाभावान्नातिव्याप्तिः। प्रकृतनिषेधेनान्यत्वप्रकल्पनमपह्नुतिरित्युक्ते 'कामः पञ्चबाणो न, किन्त्वसंख्यबाणः' इत्यत्रातिशयोक्तावतिव्याप्तिवारणाय साम्यादिति।

(चित्र०)

अन्यत्वकल्पनमात्रं रूपके, विषयनिषेधमात्रम् 'नाहं दूती वरतनोरङ्गतापोऽतिभास्वरः' इत्याक्षेपे, उभयमपि साम्यविशेषणरहितम्। 'न पञ्चविशिखः कामः किन्त्वपञ्चशिलीमुखः' इत्यतिशयोक्तौ चातिव्याप्तमिति विशिष्टोपादानम्। न चैवम् 'न पद्मं मुखमेवेदम्' इति तत्त्वाख्यानोपमायां विषये पद्मत्वनिषेधस्य मुखत्वप्रकल्पनस्य च सत्त्वादतिव्याप्तिः। प्रकल्पनपदस्यारोपपरत्वात्। 'निषिध्य विषयं साम्यादन्यारोपः' इति क्त्वाप्रत्ययेन लक्षणं नोक्तम्। वक्ष्यमाणोदाहरणे आरोपपूर्वकापह्नवेऽतिव्याप्तिप्रसङ्गात्।

(भारती)

साम्य के कारण अन्यत्वप्रकल्पनमात्र रूपक के 'मुखं चन्द्रः' इस उदाहरण में अतिव्याप्ति वारण के लिए अपह्नुति के लक्षण में 'निषेधेन' विशेषण का समावेश किया गया है। 'नाहं दूती वरतनोरङ्गतापोऽतिभास्वरः' इत्यर्थक आक्षेप में अतिव्याप्ति वारण के लिए, साम्य से प्रकृत के निषेधमात्र अपह्नुति के लक्षण में 'अन्यत्वप्रकल्पनम्' विशेषण दिया है। इसी विशेषण के कारण उक्त उदाहरण में निषेध रहने पर भी अन्यत्वप्रकल्पनाभाव से अतिव्याप्ति नहीं होती है। प्रकृत के निषेध से अन्यत्व प्रकल्पन 'अपह्नुति' है ऐसा कहने पर 'काम पञ्चबाण नहीं है, अपितु असंख्य बाणवाला है' इस अतिशयोक्ति के उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। इसके निवारणार्थ लक्षण में 'साम्यात्' विशेषण दिया गया है।

प्रकृत का निषेध करके, असादृश्य के कारण अन्य होने की कल्पना को यदि 'अपह्नुति' कहते हैं तो—'यह कमल नहीं है, मुख ही है' इत्यादि तत्त्वाख्यानक उपमा में विषयत्व रूप पद्मत्व के निषेध से मुखत्वप्रकल्पन के कारण अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारणार्थ प्रकल्पन शब्द का आरोपपरत्व अर्थ माना गया है। ऐसा मानने पर पद्म में मुखत्व के आरोपाभाव से अतिव्याप्ति नहीं होती है।

इस के बाद प्राचीनोक्त लक्षण का खण्डन करते हैं—**'निषिध्य विषयं साम्यादन्यारोपोऽपह्नुतिः'** अर्थात् उपभेद का निषेध कर सादृश्य के कारण अन्यारोपको 'अपह्नुति' कहते हैं' यह क्त्वा प्रत्ययपूर्वक लक्षण युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि क्त्वा प्रत्यय का विधान—'समानकर्तृकयोः धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात्' इत्यर्थक **'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'** इस सूत्र से पूर्वकाल में ही क्त्वा प्रत्यय होता है। उसका उत्तरकालिक अन्यारोप के इस उक्त लक्षण से, आरोपपूर्वक अपह्नुति के—'विकसदमरनारी नेत्रनीलाब्जखण्डानि' इत्यादि में पूर्व निषेधाभाव से अतिव्याप्ति नहीं है।

(सुधा)

प्रकृतस्य निषेधेन यदसाम्यादन्यत्वप्रकल्पनमपह्नुतिरित्युक्तौ 'न पद्मं मुखमेवेदम्' इत्यादितत्त्वाख्यानोपमायां विषयत्वरूपपद्मत्वनिषेधमुखत्वप्रकल्पनस्य च सत्त्वादतिव्याप्तिवारणाय प्रकल्पनशब्दस्यारोपपरत्वमिति। तथा च पद्मे मुखत्वारोपाभावान्नातिव्याप्तिः। प्राचीनोक्तं लक्षणं खण्डयति—'विषयं निषिध्य साम्यादन्यारोपोऽपह्नुतिः' इति क्त्वाप्रत्ययपूर्वकं लक्षणन्त्वयुक्तमेव, पूर्वकालः क्त्वाप्रत्ययार्थः, तदुत्तरमन्यारोप इति लक्षणे 'विकसदमरनारीनेत्रनीलाब्जखण्डानि' इत्यादावारोपपूर्वकापह्नुतौ पूर्वं निषेधाभावान्नाव्याप्तिः स्यादिति तद्भावः।

(चित्र०)

इयं च साक्षान्निषेधकनञादिप्रयोगे परपक्षत्वाद्युपन्यासे निषेधसामर्थ्याद्गम्यत्वे च वाक्यभेदेन प्रवर्तते। विषयासत्यत्वप्रतिपादकच्छद्मनिभकपटव्याजादिशब्दप्रयोगे विषयासत्यत्वपर्यवसायिरूपवपुर्नामभङ्ग्यादिशब्दप्रयोगे च तदभेदेन।

अत्र वाक्यभेदेऽपह्नवपूर्वक आरोप आरोपपूर्वकापह्नवश्चेति द्वैविध्यम् । क्रमेणोदाहरणानि—

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥

(भारती)

वह अपह्नुति कहीं वाक्यभेद से है और कहीं उसके अभेद से है। अपह्नुति में नञ् (नहीं) आदि के द्वारा साक्षात्, अथवा 'दूसरे के मत से सिद्ध होने' आदि के द्वारा कुछ व्यवधान से जब उपमेय का निषेध समझाया जाता है, तब प्रायः वाक्यभेद होता है। अर्थात् एक वाक्य में उपमेय का निषेध रहता है, दूसरे वाक्य में उपमान का ताद्रूप्य। इस प्रकार वाक्यभेद की प्रवृत्ति में भी अपह्नुति दो प्रकार की होती है। और जब वही निषेध मिष, छल, छद्म, कपट, व्याज, वपु, आत्मा आदि शब्दों से समझाया जाता है, तब वाक्य के अभेद से होती है। इसके अतिरिक्त कहीं निषेध पहले रहता है और कहीं आरोप पहले। अर्थात् वाक्यभेद भी दो प्रकार के हैं—कहीं निषेधपूर्वक आरोप है और कहीं आरोपपूर्वक निषेध। क्रमशः इसके उदाहरण देते हैं (निषेधपूर्वक निरवयव आरोप के उदाहरण, जैसे)—

'शैलतनये ! सकल कलापूर्ण इस चन्द्रमा के बिम्ब पर स्पष्ट रूप से प्रकट होने वाला यह कलङ्क नहीं शोभ रहा है। यह तो वस्तुतः निशानायिका है, जो सुधास्यन्द से शीतल उसके वक्षःस्थल पर रतिक्रीड़ा से शिथिल हुई गाढ निद्रा में पड़ी सो रही है।'

(यहाँ उपमेयभूत 'कलंक' की 'नैवायम्' इस नकारात्मक शब्द द्वारा निषेध से और उपमानभूत 'रजनिरमणी' की कल्पना से वस्तुतः उसके अवयवाभाव में वाक्यभेद की 'निरवयवा' निषेधपूर्वक अपह्नुति है।)

(सुधा)

तां विभजते—इयञ्चेति। अयमर्थः—सा क्वचिद्वाक्यभेदेन प्रवर्तते, क्वचित्तदभेदेन। नञादिप्रयोगे वाक्ये, परपक्षत्वाद्युपन्यासनिषेधस्यार्थतो गम्यत्वे चेति द्विधा वाक्यभेदप्रवृत्तिः, एवं वाक्यभेदप्रवृत्तावपि द्वैविध्यम् । असत्यत्वप्रतिपादकच्छलनिभादिशब्दानां प्रयोगे, तदसत्यत्वपर्यवसायिरूपवपुषा नामभङ्ग्यादिशब्दानां प्रयोगे च। तत्र वाक्यभेदे द्वैविध्यम्—निषेधपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वको निषेधश्च ।

सर्वेषामुदाहरणानि वक्तुं प्रतिजानीते—क्रमेणेति ।

तत्र निषेधपूर्वकमारोपमुदाहरन् निरवयवसावयवरूपतां तस्य श्लोकद्वयेनोदाहरति—अवाप्त इति। हे शैलतनये परिणतकान्तेश्चन्द्रस्य वपुषि प्रागल्भ्यमवाप्तोऽयं कलङ्को न प्रकाशते, विगलदमृतस्य स्यन्देन शीतले चन्द्रस्योरसि गाढं रतिश्रान्ता रजनिरमणी शेते इत्यहं मन्ये इत्यन्वयः।

प्रथमवाक्ये कलंकस्य निषेधेन तत्साम्याद्युत्तरवाक्ये तत्र रजनिरमणीत्वप्रकल्पनेन वस्तुतस्तदवयवाभावाद्वाक्यभेदेन निरवयवा निषेधपूर्वकापह्नुतिरिति भावः ।

(चित्र०)

यथा वा—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैमाश्च तारा नवफेनपुञ्जाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः॥

पूर्वत्र निरवयवापह्नुतिरत्र सावयवेति भेदः।

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे।
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

इत्यत्राप्यपह्नवपूर्वक आरोपः। अपह्नवस्तु परपक्षोपन्यासादर्थसिद्धः।

(भारती)

अथवा जैसे—

'यह गगनमण्डल नहीं, यह तो क्षीरसागर है, ये तारागण नहीं, ये तो फेनखण्ड हैं; यह चन्द्रमा नहीं, यह तो कुण्डल बाँधे शेषनाग है और यह कलङ्क नहीं, यह तो शयन करते भगवान विष्णु हैं।' यहाँ वाक्यभेद से आकाश आदि का पूर्व निषेध से उसके बाद समुद्र आदि सावयवों का उन-उन स्थानों में कल्पना से वाक्यभेद में 'सावयवा' निषेधपूर्विका अपह्नुति है।

'कुछ लोग चन्द्रमा के काले धब्बे को कलङ्क मानते हैं, कुछ समुद्र का कीचड़ मानते हैं, कुछ हिरण कहते हैं और दूसरे लोग पृथ्वी की छाया मानते हैं किन्तु, मेरी समझ में टूटे नीलमणि के समान जो कालिमा दिखाई पड़ती है वह चन्द्रमा के द्वारा रात में पिया गया अन्धतमस् (रात्रि का अंधकार) है, जो (पीने से) पेट में बैठ गया है।

यहाँ भी अपह्नवपूर्वक आरोप है। दूसरे के मत से अर्थसिद्ध अपह्नव यहाँ है।

(सुधा)

वाक्यभेदेन सावयवा निषेधपूर्विकाऽपह्नुतिमुदाहरति—यथा वेति—इदं नभोमण्डलं नास्ति, अपि तु समुद्रोऽस्ति, इमाः तारा न सन्ति, अपि तु नवफेनसमूहाः, अयं चन्द्रो न वर्तते, किन्तु कृतकुण्डलकः शेषः, अयं कलङ्को न, अपि तु मुरारिः कृतशयनोऽस्तीत्यन्वयः। अत्र वाक्यभेदेन नभआदीनां पूर्वं निषेधेन तदुत्तरं समुद्रादीनां सावयवानां तत्र कल्पनात् वाक्यभेदे सावयवा निषेधपूर्विकापह्नुतिरिति भावः। वाक्यभेदेन परपक्षत्वाद्युपन्यासेन निषेधस्य गम्यत्वे निषेधपूर्विकामपह्नुतिमुदाहरति—अङ्कमिति। इन्दौ यत् दलितेन्द्रनीलमणेः खण्डवत् श्यामं दरीदृश्यते, तत्केऽपि कवयः कलंकं शशंकिरे, परे समुद्रस्य कर्दमं मेनिरे, कतिचित् सारङ्गं सञ्जगदिरे, परे भूमिच्छायमैच्छन्, वयन्तु सान्द्रं घनं रात्रौ पीतं कुक्षिस्थं गाढतमसं तत् इति ब्रूमहे इत्यन्वयः। अत्र वाक्यभेदेन केऽपीत्यादिपरपक्षोपन्यासाद्यर्थगम्यनिषेधपूर्विकाऽपह्नुतिरिति भावः।

(चित्र०)

विकसदमरनारीनेत्रलीलाब्जषण्डा-
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।

न तु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः ॥

अत्रारोपपूर्वकोऽपह्नवः शाब्दः ।

मन्थानभूमिधरमूलशिलासहस्र-
संघट्टनव्रणकिणः स्फुरतीन्दुमध्ये ।
छाया मृगः शशक इत्यपि पामराणां
लोके गतानुगतिकः प्रथितः प्रवादः ॥

(भारती)

'जिसने अपने सादृश्य से नील कमलों को भी तिरस्कृत कर दिया है—ऐसी देवाङ्गनाओं की विकसित आंखों में न कि रुचिर कलापी मयूर पृष्ठों पर अधिवास है जिनका ऐसे स्वामी कार्त्तिकेय तुम लोगों को ब्रह्मचर्य का श्रेय दें।'

यहाँ अरोपपूर्वक शाब्दी अपह्नुति है।

'समुद्रमंथन काल में मथनदण्ड स्वरूप मन्दराचल के मूल में अवस्थित हजारों शिलाखण्ड के संघर्ष से चोट लगने पर घाव के कारण जो चन्द्रमा के बीच में यह छेद दिखाई पड़ता है, उसके सम्बन्ध में यह भूमि की छाया है, मृग है अथवा शशक है—ऐसा अतिमूर्खों के प्रवाद इस दुनियां में गतानुगतिक रूप से फैला है।'

(सुधा)

अथ वाक्यभेदेनारोपपूर्विकां नञादिपदवाच्यनिषेधरूपामुदाहरति—विकसदिति। यां साम्येनाधः कृतानि विकसताममरनारीनीलकमलानां खण्डानि सदाधिवसन्ति 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्याधारस्य कर्मत्वम्। रुचिरकलापे मयूरे तु यो न वर्तते स कुमारः स्वामिकार्तिकेयो ब्रह्मचर्यश्रियं वितरतु ददात्वित्यन्वयः। अत्र पूर्वमारोपः पश्चान्नञ्पदवाच्यो निषेधः, वाक्यभेदश्च स्पष्ट एव। तथा च वाक्यभेदेनारोपपूर्विका शाब्दनिषेधमुख्यरूपापह्नुतिरिति भावः। वाक्यभेदेनार्थसिद्धामारोपपूर्विकामपह्नुतिमुदाहरति—मन्थानेति। मन्थानो मथनदण्डः, स चासौ भूमिधरो मन्दरः, तस्य मूलभागे यच्छिलासहस्रं तेन सङ्घट्टनात् यो व्रणस्य किणश्छिद्रम्, इन्दुमध्ये प्रकाशते, भूमेः छाया, मृगः, शशक इत्यतिपामराणां मूर्खतमानां प्रवादो लोके गतानुगतिकोऽस्तीत्यन्वयः। अत्रारोपपूर्वकनिषेधः पामरवचनादर्थसिद्ध इति वाक्यभेदेनारोपपूर्विका पामरवचनार्थसिद्धनिषेधरूपापह्नुतिरिति बोध्यम्।

(चित्र०)

अत्राप्यारोपपूर्वकोऽपह्नवः। स च पामरवचनोपन्यासादर्थसिद्धः। एतानि वाक्यभेदेनोदाहरणानि। एकवाक्यतायां तु—

बत सखि कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् कामिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभारे निपतितः।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः॥

(भारती)

यहाँ आरोपपूर्वक निषेध पामरवचन से अर्थसिद्ध है। फलतः यहाँ आरोपपूर्वक निषेध मूर्खों के कथन से अर्थसिद्ध निषेध रूप अपह्नुति अलङ्कार है। इस प्रकार वाक्यभेद के उदाहरणों की व्याख्या कर उसके अभेदत्वप्रतिपादक छलादि शब्द के प्रयोग में प्रतीत अपह्नुति का उदाहरण देते हैं—

'अरी सखी! कितने दुःख की बात है कि प्रियविरह से खिन्न हम सरीखे प्रेमीजन पर कामदेव इतना द्वेष रख रहा है कि अपने बाणों—उपवनों की आम्र-मंजरियों—को उन पर मँडराते भौंरों के बहाने कालकूट में डुबा-डुबा कर सजा रहा है।

यहाँ जो चमत्कार प्रतीत हो रहा है वह उपमेयस्वरूप भौंरों से भरी सहकार मंजरियों के निषेध द्वारा उपमानस्वरूप कालकूट में डुबाये काम-बाण की स्थापना में है। उपमेयभूत भौंरों की सत्यता का 'छल' शब्द से आक्षिप्त निषेध और उपमानभूत कालकूट की सत्यता की स्थापना होने के कारण शब्द से भिन्न आर्थी अपह्नुति है। इसके अतिरिक्त और भी जैसे—

'अरे रसिक! इस मृगनयनी के सौदर्न्य-सुधा सरोवर मांसल जघन-भाग में, हो न हो, मदन ही, महादेव की नेत्रवह्नि से जला-झुलसा अपनी संताप शान्ति के लिए डुबकी लगा रहा है। क्योंकि उसके अङ्गों के अङ्गारों के बुझने की सूचना देने वाली यह धूमशिखा ही है जो कि इस मृगनयनी के नाभिगह्वर में रोमावलि के रूप में प्रकट हो रही है।'

(सुधा)

एवं वाक्यभेदोदाहरणानि व्याख्याय तदभेदेऽसत्यत्वप्रतिपादकच्छलादिशब्दप्रयोगे प्रतीतामपह्नुतिमुदाहरति—एकवाक्यतायामित्वति। वाक्यस्याभेदे इत्यर्थः। बतेति। हे सखि, प्रियविरहेण कृशे दुर्बले, अस्मिन्कामिलोके स्मरस्य कियद्वैरं पश्य। बतेति दुःखे, तथा हि—उपवने ये सहकारा रसालाः 'रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः, तेषु उद्भासिनो ये मधुकराः, तेषां छलेन अनेन कामेन प्रतिबाणं कालकूटम् उट्टंकितमित्यन्वयः। तथा हीति पदं वाक्याभेदद्योतकं न सभृङ्गाः सहकाराः, अपि तु सविषा बाणा इत्यसत्यत्वाभिधायिना छलपदेन प्रतीत्या वाक्यभेदेनच्छलादिशब्दप्रतीयमाना कालकूटारोपरूपा भृङ्गाणामुपमेयरूपाणामपह्नुतिरित्यर्थः। वाक्याभेदेऽसत्यत्वपर्यवसायिवपुःशब्दप्रतीयमानामपह्नुतिमुदाहरति—अमुष्मिन्निति। शर्वेण प्लुष्टो दग्धः कामः कुरङ्गाक्ष्याः पृथुजघनभागेऽमुष्मिन्लावण्यामृतसरसि नूनं निपतितः, यस्य कामस्याङ्गाङ्गाराणां शमस्य पिशुना नाभिविवरे रोमावलिवपुःस्वरूपा इयं धूमस्य शिखा परिणमतीत्यन्वयः।

अत्रेयं रोमावली न, अपि तु धूमशिखा इत्यसत्यत्वपर्यवसायिवपुःशब्दबलात् प्रतीतेः वाक्याभेदेन वपुःशब्दप्रतीयमाना धूमशिखारोपरूपा रोमावलीरूपोपमेयापह्नुतिरित्यर्थः।

(चित्र०)

पूर्वत्र न सभृङ्गाणि सहकाराणि; अपि तु सकालकूटाः शरा इत्यसत्यत्वा-

भिधायिच्छलशब्दवशात् प्रतीयते। उत्तरत्र नेयं रोमावलिः किन्तु धूमशिखेत्य-सत्यपर्यवसायिवपुःशब्दबलात् प्रतीयते।

केचित्तु सादृश्यव्यक्तयेऽपह्नववदपह्नवाय सादृश्यमप्यपह्नुत्यलङ्कारं वदन्ति। यथाहुः—

सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्नवोऽसावपह्नुतिः।
अपह्नवाय सादृश्यं यत्रास्त्येऽषाप्यपह्नुतिः॥ इति।

(भारती)

प्रथम 'वतसखि' इत्यादि उदाहरण में ये सभृङ्ग सहकार नहीं है प्रत्युत सकालकूट बाण है' इस असत्य का अभिधान 'छल' शब्द से प्रतीत है। द्वितीय 'अमुष्मिंल्लावण्या' इत्यादि उदाहरण में, यह जो प्रतीति हो रही है कि यह रोमावलि नहीं है अपितु धूमशिखा है इसकी प्रतीति असत्यपर्यवसायिवपु शब्द के बल से है।

कुछ लोग जैसे सादृश्य दिखाने के लिए अपह्नुति कहते हैं उसी प्रकार अपह्नुति के लिए भी सादृश्य अपह्नुति कहते हैं। उनके मत से इसका लक्षण यह है—

'जहाँ सादृश्य की अभिव्यक्ति के लिए अपह्नव का कथन है, वहाँ अपह्नुति होती ही है एवं जहाँ अपह्नव के लिए सादृश्य का कथन है, वहाँ भी अपह्नुति होती है।'

(सुधा)

पूर्वत्रेत्यादि व्याख्यातमेव, मतान्तरं प्रतिपादयति—केचित्त्विति। सादृश्यप्रकटनाय अपह्नवो यथा तथापह्नवाय सादृश्यमप्यपह्नुतिरिति वदन्ति। तल्लक्षणं तेषां मतेन दर्शयति—यथाहुरिति। सादृश्याभिव्यक्त्यर्थमपह्नुतिः। अपह्नवाय सादृश्यकथनमसावप्यपह्नुतिरिति लक्षणान्वयः।

(चित्र०)

उदाहरन्ति च—

आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयं वक्त्रमासज्य वक्त्रे
कण्ठे लग्नः सुकण्ठः प्रसरति कुचयोर्दत्तगाढाङ्गसङ्गः।
बद्धासक्तिर्नितम्बे पतति चरणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे
बाले लज्जा निरस्ता न हि न हि सरले चोलकः किं त्रपाकृत्॥

अत्र वीक्षितं प्रियमपह्नुत्य चोलकत्वारोपः। तदर्थं च प्राक् प्रियचोलसदृशधर्मोपन्यासः।

अत्रेदमपह्नुतिकथनं व्याजोक्त्यलङ्कारं पृथगनङ्गीकुर्वतामुद्भटादीनां मतमनुसृत्य। ये तु उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति व्याजोक्त्यलङ्कारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः। दण्डी त्वपह्नुतेः साधर्म्यमूलत्वनियममनादृत्य 'किञ्चिदपह्नुत्य कस्यचित् प्रदर्शनमात्रमपह्नुतिः' इति लक्षयित्वोदाजहार—

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति॥

(भारती)

पहले जैसे अमन्दग्रह होता है उसी प्रकार केशपाशों को खींचकर मुख में मुख तथा गले में गले लगाकर शरीरसंयोग के द्वारा जिसने गाढ़ालिङ्गन दिया है, उसी प्रकार दोनों स्तनों तथा नितम्बों में आसक्तिबद्ध होकर, चरणों में जो गिरता है, उसी के सदृश यह मेरा प्रिय है—ऐसा किसी नायिका के कहने पर किसी ने कहा—हे बाले क्या तुमने बिल्कुल ही लज्जा को तिलाञ्जलि दे दी है ? अथवा नहीं नहीं, यह तो चोलक अर्थात् लज्जा ढकने वाला वस्त्रविशेष है क्या ?

यहाँ प्रिय को छिपाने के लिए चोलक का आरोप है, इसके लिए पहले ही दोनों का सादृश्य कहा गया है। यहाँ केचित् पद से स्वारस्य व्यक्त किया गया है। विदग्धा की इस उक्ति में अपह्नुति ही चमत्कारोदय का कारण है। वहाँ सादृश्य में चमत्काराभाव से उसका विधेयत्व अनुचित ही है।

यहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार को अलग स्वीकृत करते हुए उद्भट आदि आचार्य 'अपह्नुति' स्वीकृत किये हैं। उनके मतानुसार हम भी इसे वही स्वीकृत करते हैं। वस्तुतः उनका भी व्याजोक्ति का अलग कथन आवश्यक है। क्योंकि व्याजोक्ति में दोनों साम्य का जहाँ अभाव है, वहीं अपह्नुति में उभयनिष्ठ साम्य है। उद्भट आदि के मत का यही सार है। रुचकादि तो 'उद्भिन्न वस्तु-रूप निगूहन को व्याजोक्ति कहकर उसे भिन्न अलङ्कार की स्वीकृति चाहते हैं। उनके मत में अपह्नुति की स्वीकृति नहीं है। वस्तुतः उनके भी मत में अपह्नुति की अलग स्वीकृति युक्तिसंगत ही है। क्योंकि रुचकादि पद से प्रथम कथित वैषम्य की स्फुट प्रतिपत्ति है। साम्यमूलता के नियम का अनादर कर 'कुछ छिपाकर किसी का प्रदर्शन ही अपह्नुति है' ऐसा मानने वालों का मत कहते हैं—

'किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का सूचित करना अपह्नुति कहलाता है। (जैसे—) काम पंचवाण नहीं है, क्योंकि उसके हजारों बाण हैं।'

(सुधा)

तल्लक्षणोदाहरणमाह—आकृष्येति । आदौ अमन्दग्रहं यथा भवति तथा अलकसमूहमाकृष्य वक्त्रे वक्त्रमासज्य सुकण्ठस्सन् कण्ठे लग्नः, दत्तो गाढम् अङ्ग-संयोगो येन तादृशः कुचयोः, प्रसरति नितम्बे बद्धासक्तिः, चरणयोः पतति यः, स तादृक् मे प्रियोऽस्ति, हे बाले किं लज्जा निरस्ता, त्यक्तेति कयाचिदुक्तौ हे सरले नहि नहि चोलको वस्त्रविशेषः अपाकृत् किमित्यन्वयः। अत्र प्रियापह्नवाय चोलकस्यारोपः, तदर्थं पूर्वं द्वयोः सादृश्योपन्यासः। केचित्पदेनास्वरसः, विदग्धाया उक्तावपह्नुतावेव चमत्कारोदयात्। तत्र सादृश्ये चमत्काराभावेन तस्य विधेयत्वानौचित्यात्, प्रकाशादिमते तदुपादा-नस्य सर्वथाऽविद्यमानत्वाच्च । अपह्नुतौ प्रमाणमाह—अत्रेदमिति । व्याजोक्त्य-लङ्कारं पृथगनङ्गीकुर्वन्त उद्भटादयोऽपह्नुतिमङ्गीचक्रुः, तन्मतानुसारादस्माभिरङ्गीकृतम्। वस्तुतस्तु तेषामपि व्याजोक्तेः पृथक् कथनमावश्यकम्, व्याजोक्तावुभयसाम्यस्याभावात्, अपह्नुतावुभयनिष्ठसाम्यसत्वात् एष एवोद्भटादिमतेऽस्वरसो बोध्यः। रुचकादयस्तु—'उद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनं व्याजोक्तिः' इति पृथगलंकृतिमिच्छन्ति। तेषां मतेऽपह्नुतेरङ्गीकारो नास्ति। वस्तुतस्तेषामपि मतेऽपह्नुतेः पृथक् स्वीकारो युक्तः, वैषम्यस्य पूर्वमुक्तस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरित्यप्यस्वरसो रुचकादिपदेन सूचितः। दण्डिमतमाह—दण्डी त्विति। साम्यमूल-

तानियममनादृत्य किञ्चिदपह्नुत्य कस्यचित् प्रदर्शनमपह्नुतिरिति तल्लक्षणमुदाहृतवानिति तन्मतमाह—अपह्नुतिरिति। किञ्चिदपह्नुत्यान्यार्थसूचनं सा इति लक्षणान्वयः। स्मरः पञ्चेषु न, अपि तु तस्य पत्रिणां सहस्रमित्यन्वयः।

(चित्र०)

चन्दनं चन्द्रिका गन्धो गन्धवाहश्च दक्षिणः।
स्वयमग्निमयी सृष्टिः शीता किल परान् प्रति ॥
अमृतस्यन्दिकिरणश्चन्द्रमा मम नो मतः।
अन्य एवायमर्कात्मा विषनिष्यन्ददीधितिः ॥

साधर्म्यमूला त्वपह्नुतिरिति तेन व्याहृता।

त्वदालेख्ये कौतूहलतरलतन्वीविरचिते
विधायैका चक्रं रचयति सुपर्णासुतमपि।
अथ स्विद्यत् पाणिस्त्वरितमवमृज्यैतदपरा
करे पौष्पं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति ॥

(भारती)

इसी प्रकार—'चंदन, चाँदनी, चन्द्रमा और मलयानिल स्वयं अग्निमयी सृष्टि होकर भी दूसरों के लिए शीतल हैं। यह चन्द्रमा जिसकी किरणों से अमृत चूता है ऐसा लोग कहते हैं, लेकिन मेरे मत में तो विषमयी किरण वाला यह दूसरा सूर्य रूप ही है।'

जो सादृश्यमूला अपह्नुति है, वह उपमा अपह्नुति है—यह उनके मत का अभिप्राय है।

यह किसी नायक का वर्णन है। कवि कहता है—

'कौतूहल से चंचल इस कृशाङ्गी नायिका ने आपका चित्र बनाया। उसपर दूसरी सखी चक्र बनाकर गरुड़ बना रही थी। ऐसे ही समय तीसरी सखी ने, जिसके हाथ में प्रस्वेद आ रहा था, झट से चक्र और गरुड़ को मिटाकर हाथ में पुष्पमय धनुष और ऊपर मकर लिख दिया।'

(सुधा)

उदाहरणान्तरमाह—चन्दनं चन्द्रिका शीतलो मन्दः पवनश्च स्वयमग्निमयी सृष्टिः, परान् प्रति शीता किल। मम चन्द्रमा अमृतस्यन्दिनः किरणा यस्य तादृशो नो मतः। विषनिष्यन्दिन्यो दीधितयो यस्य अयमर्कस्वरूपोऽन्य एवेत्यन्वयः। या सादृश्यमूलाऽपह्नुतिः, सोपमापह्नुतिरिति तन्मताभिप्रायः। अत्रापि दण्डीतिपदोपन्यासेन तन्मतेऽप्यस्वरसः। तथा हि—सादृश्यमूलरहितापह्नुतेरतिशयोक्त्या गतार्थत्वात्, 'प्रकृतस्य यदन्यत्वम्' इत्यतिशयोक्तिलक्षणविशेषस्य प्रवृत्तेस्तत्र दुर्वारत्वात्, व्याजोक्त्यैव गतार्थत्वादपह्नुतिकथनानुपपत्तेश्च। उभयसाम्यत्वेनैव तद्विभागस्य प्रकाशकृतोक्तस्य व्यर्थत्वापत्तेश्चेति बोध्यम्। अपह्नुतिध्वनिमुदाहरति—त्वदालेख्य इति। एका कौतूहलेन तरलया तन्व्या रचिते त्वच्चित्रे चक्रं विधाय गरुडं रचयति। अथ स्विद्यत्पाणिरपरा शीघ्रं तदपमृज्य करे पौष्पं धनुर्ध्वजायां मकरञ्च लिखतीत्यन्वयः।

(चित्र०)

इत्यादावपह्नुतिध्वनिरुदाहर्तव्यः। अत्र हि चक्रसुपर्णलेखनेन नायं साधारणः पुरुषः, किन्तु पुण्डरीकाक्ष इति कयाचिद् व्यञ्जितम्। अन्यया तु तस्याप्येतादृशं रूपं न संभवतीत्याशयेन नायं पुण्डरीकाक्षोऽपि किन्तु मन्मथ इति तदुभयमुन्मृष्य पुष्पसायकमकरध्वजलेखनेन व्यञ्जितम्।

इति चित्रमीमांसायामपह्नुतिप्रकरणम्।

(भारती)

इत्यादि में अपह्नुति की ध्वनि का उदाहरण देना चाहिए। क्योंकि, यहाँ किसी अन्य नायिका ने चक्र और गरुड़ लिखकर यह अभिव्यक्त किया कि 'यह साधारण पुरुष नहीं किन्तु विष्णु हैं।' पर तीसरी युवती ने 'विष्णु का भी ऐसा रूप नहीं हो सकता' इस अभिप्राय से चक्र और गरुड़ दोनों मिटाकर पुष्पमय धनुष और मकर रूपी ध्वजा लिखकर यह अभिव्यक्त किया कि 'यह विष्णु नहीं, यह तो साक्षात् मदन हैं।'

विमर्श—दीक्षित जी के 'त्वदालेख्ये' इस उदाहरण का भी पण्डितराज जगन्नाथ ने खण्डन किया है। उनका कहना है कि—किसी ने चक्र और गरुड़ लिखकर यह अभिव्यक्त किया कि—'यह साधारण पुरुष नहीं, किन्तु विष्णु हैं।' इस विषय में पण्डितराज की मान्यता है कि अपह्नुति के दो भाग हैं—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। उनमें से, उपमान रूपी भाग, जिसका आकार है 'यह विष्णु है' वह चक्र और गरुड़ के लिखने से अभिव्यक्त हो सकता है, क्योंकि चक्र और गरुड़ विष्णु से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु, 'यह साधारण पुरुष नहीं है' यह उपमेय के निषेधवाला भाग—इससे अभिव्यक्त नहीं होता। क्योंकि यहाँ व्यञ्जक अर्थात् चक्र और गरुड़ का लिखना केवल आरोप के अभिव्यक्त करने में समर्थ है। पूर्व कथित निषेध की अभिव्यक्ति में उसका सामर्थ नहीं है। और यह अभिव्यक्ति अनुभवसिद्ध भी नहीं है। पद्य में उपाय रूप शब्द का भी कहीं उल्लेख नहीं है—जिससे अनुभव के विषय में कुछ विवाद भी हो।

साधारण पुरुष के निषेध किये बिना विष्णु के ताद्रूप्य का आरोप दुर्धर मान कर यदि अभिव्यक्ति स्वीकृत करते हैं तो इस मान्यता से रूपक का उच्छेद हो जाता है। कारण ऐसी स्थिति में 'मुखं चन्द्रमस्ति' इत्यादि में मुख का निषेध किये बिना मुख में चन्द्रत्व का आरोप कठिन है—यह भी सहज में कहा जा सकेगा। यदि वहाँ भी मुख का निषेध मान लिया जाय तो एक ओर तो अपह्नुति की जीत होगी और दूसरी ओर रूपक समाप्त हो जायगा।

दूसरी बात, इस पद्य में यह कही गयी है कि 'यह विष्णु नहीं किन्तु कामदेव हैं' इसमें यद्यपि प्रथम वाक्य में निषेध तथा दूसरे में उपमान का आरोप है अतः ये दोनों व्यङ्ग्य हो सकते हैं। फिर भी यह अपह्नुति नहीं है क्योंकि आपका यह लक्षण—**प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्**' यहाँ स्वयं घटित नहीं होता, क्योंकि यहाँ जिनका निषेध किया जा रहा है वे भगवान्

विष्णु वर्णनीय नहीं हैं, किन्तु राजा वर्णनीय है। अतः विष्णु के अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ प्रस्तुत का निषेध ही नहीं है। अत एव चित्रमीमांसा में स्वयं दीक्षित जी ने **'निषिध्य विषयं'**— इत्यादि 'क्त्वा' प्रत्यय का फल कहते हुए 'प्रकृत' पद का अर्थ—आरोप का विषय अर्थात् 'उपमेय' होता है—इस तरह स्पष्ट किया है। और काव्यप्रकाशकारने भी—**प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः'** इसी मूल की व्याख्या करते हुए उपमेय अर्थ में ही प्रकृत पद की व्याख्या की है।

यदि इसे दण्डीप्रभृति प्राचीनों के मत से सिद्ध मान कर व्यङ्ग्य कहा जाय, तो भी यह डूबते को तिनके का सहारा मात्र ही कहा जा सकता है। कारण, **'प्रकृतस्य निषेधेन'** इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण बनाते हुए दीक्षित जी ने स्वयं उस अपह्नुति का बहिष्कार कर दिया है। यदि इसे ध्वनि में व्यङ्ग्य मानते हैं तो फिर लक्षण भी उसी के अनुसार बनाना पड़ेगा। इतने पर भी यदि यह पूछा जाय कि उक्त पद्य में कौन-सा अलङ्कार व्यङ्ग्य है तो इसका सीधा उत्तर यह है कि यदि इसमें अपह्नुति के चमत्कार की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का चमत्कार है तो अन्य अलङ्कार माना जाय, नहीं तो अपह्नुति मान लिया जाय–तो ऐसी स्थिति में पुनः **'प्रकृतस्य निषेधेन'** इत्यादि लक्षण का समन्वय ही नहीं होगा। इसका उत्तर यह है कि यदि अपह्नुति का यही लक्षण अभीष्ट है तो दण्डी प्रभृति की तरह यह भी मान लिया जाना चाहिए था कि—'चाहे किसी भी वस्तु के निषेध के साथ किये जाने वाली अन्य वस्तु का आरोप अपह्नुति कहलाती है।' अतः इन सारी अनवस्थाओं के कारण दीक्षित जी का इस संदर्भ में कथन अशोभनीय ही है।

पण्डितराज के इस खण्डन का उत्तर देते हुए नागेशभट्ट ने लिखा है कि पण्डितराज का यह आक्षेप भी विचारणीय है। क्योंकि दीक्षित जी ने दण्डी के अधोङ्कित उदाहरणों का उल्लेख किया है। दण्डी ने अपह्नुति के सादृश्यमूलक होने के नियम का अनादर कर **'अपह्नुतिरपह्नुत्य-किञ्चिदन्यार्थसूचनम्'** यह लक्षण बनाकर उदाहरण दिया है—'न पञ्चेषु स्मरस्तस्य सहस्र पत्रिणां यतः' चन्दनं चन्द्रिका चन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः' इत्यादि से आरम्भ करके त्वदालेख्ये··· इत्यादि कहा है। अतः यह ध्वनि उसी के अनुसार होने के कारण इसे 'अहृदयङ्गम' कहना ठीक नहीं है।

दूसरी बात जो 'प्रकाश' का विरोध बताया जा रहा है, वह भी नहीं है। मम्मट का उपमेय पद 'पदार्थ का उपलक्षण है। अर्थात् उपमेय शब्द से उन्हें कोई भी पदार्थ अर्थ का अग्रह अभीष्ट है। अन्यथा—

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहिँ विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठ विआ।

इस उदाहरण में वैरी भाग कर नहीं गये, किन्तु गुफाएँ उससे पराजय की संभावना करके उन्हें नहीं छोड़ती–यह अपह्नुति व्यक्त होती है' यह अर्थ मम्मट का कैसे संगत होगा। क्योंकि यहाँ उपमेय का अपह्नव तो है ही नहीं। अतः यहाँ भी दीक्षित जी का लक्षण निर्दुष्ट ही है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायामपह्नुतिप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

अत्र ध्वनित्वं प्रतिपादयति—अत्र हीति। चक्रादिलेखनेन तत्रासाधारणपुरुषत्वं निषिध्य पुण्डरीकाक्षत्वे व्यञ्जितेऽन्यथा तत्रापीदृशरूपाभावात् मकरध्वजलेखनेन मन्मथत्वं व्यञ्जितम्। साधारणनरपुण्डरीकाक्षयोस्तयोर्न्मार्जनादित्यलम्।

अत्र गङ्गाधरकृतः—नारायणव्यञ्जने द्वौ भागौ उपमेयनिषेधः, उपमानारोपश्च। तत्रोपमानारोपभागः पुण्डरीकाक्षोऽयमित्याकारश्चक्रादिलेखनेन तयोस्तत्सम्बन्धितया व्यङ्क्तुं शक्यः। उपमेयनिषेधभागस्तु न, आरोपमात्रव्यञ्जनसमर्थस्य व्यञ्जकस्य तादृशनिषेधव्यञ्जनसामर्थ्याभावात् नाप्यनुभवसिद्धः, येन तद्व्यञ्जनतायोगगवेषणं स्यात्। न च पुरुषतादात्म्यनिषेधं विना नारायणतादात्म्यानुपपत्त्या निषेधोऽपि व्यज्यत इति वाच्यम्, 'मुखं चन्द्रः' इत्यादावपि मुखनिषेधमन्तरेण चन्द्रारोपानुपपत्त्या तत्र मुखनिषेधाभ्युपगमे रूपकोच्छेदापत्तेः। न च मुखत्वसामानाधिकरण्येन चन्द्रतादात्म्यस्यारोप्यमाणतया न मुखनिषेध इति वाच्यम्, साधारणपुरुषत्वसामानाधिकरण्येन पुण्डरीकाक्षारोपसम्भवाद् रूपकध्वनेरेव औचित्यात्। न च पूर्वार्धे मारत्वपह्नुतिः, तथापि चक्रादिदूरीकरणेन 'नायं पुण्डरीकाक्षः' इति निषेधस्य पुष्पचापलिखनेन काम इत्यंशस्य च व्यञ्जयितुं शक्यत्वादुत्तरार्धं एव मास्त्विति वाच्यम्, पुण्डरीकाक्षस्य वर्ण्यत्वाभावेन तन्निषेधस्यापह्नुतावघटकत्वात्, आरोपस्यारोपविषयत्वेन त्वया व्याख्यानात्, प्रसक्तयत्किञ्चिन्निषेध्यवस्तुसामानाधिकरण्येन क्रियमाणवस्त्वन्तरारोपत्वमेव तत्त्वमिति लक्षणे तु तस्य योग्यत्वात्। तस्मादेतदुदाहरणीयम्—

> 'दयिते रदनत्विषां मिषादयि तेऽमी विलसन्ति केसराः।
> अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः॥'

अत्र नैता रदनत्विषः, किन्तु किञ्जल्कपरम्पराः, न चैते अलकाः, अपि त्वलयः, इति पूर्वोत्तरार्धाभ्यां द्वे अपह्नुती, ताभ्याञ्च 'न त्वं नारी, किन्तु कमलिनी' इति तृतीयापह्नुतेर्व्यङ्ग्यत्वम्। तत्सम्बन्धिवस्तुनिषेधारोपयोस्तन्निषेधारोपनिवेदकताया न्याय्यत्वादित्याहुः।

तत्र ब्रूमः—अपह्नुतौ निषेधस्य दीक्षितसम्मततैव। 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्र मुखत्वं धर्मितावच्छेदकीकृत्य चन्द्रतादात्म्यारोपस्यानुभवसाक्षिकत्वेनाङ्गीकारेऽप्यत्र पुण्डरीकाक्षभेदव्याप्यचक्राद्यभावस्य साधारणपुरुषधर्मस्य चक्रादिनापसारणे साधारणपुरुषनिषेधं विना तत्तादात्म्यस्य व्यञ्जयितुमशक्यत्वात्। तस्माद्दीक्षिताशयमविचार्य तदुक्तिरिति बोध्यम्।

श्रीमद्विश्वेश्वरचरणैस्तु—अनुग्राह्यानुग्राहकभावादिनाप्युदाहृतं, यथा—

> 'स्मितं नैतत्किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं, मुखं ब्रूते मूढः कुसुममिदमुद्यत्परिमलम्।
> स्तनद्वन्द्वं मिथ्या कनकनिभमेतत्स्तनयुगं, लता सेयं रम्या भ्रमरकुलनम्या न रमणी॥'

अत्र स्मितापह्नवस्य मुखापह्नुतावनुग्राहकत्वम्। मुखस्तनापह्नुतेर्नायिकापह्नुतौ तत्त्वम्।

मालारूपा यथा—

> 'क्वापि क्षीरनिधिच्छलात्क्वचिदपि प्रोत्फुल्लकुन्दच्छलात्,
> कुत्रापीन्द्रगजच्छलात् क्वचिदपि प्रालेयरश्मिच्छलात्।
> कुत्रापि स्मरवैरिदेहमिषतः कुत्रापि शेषच्छलात्,
> त्रैलोक्यं हिमतुल्यकीर्तिरटति श्रीवाजिचन्द्रप्रभोः॥'

इति बोध्यम्। यत्तु गङ्गाधरकृता कुवलयानन्दे दीक्षितव्याख्यातां पर्यस्तापह्नुतिमुद्दिश्य नायमपह्नुतिभेदः, सामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वात्। उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानस्य सत्यतया स्थापनमित्यर्थकस्य 'अकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः' इति प्रकाशोक्तलक्षणस्य स्फुटमप्रवृत्तेः। 'विषयापह्नवे वस्त्वन्तरप्रतीतावपह्नुतिः' इति सर्वस्वोक्तलक्षणस्यापि तत्र प्रसाराभावाच्च। किञ्च चित्रमीमांसोक्तलक्षणस्य 'प्रकृतस्य निषेधेन' इत्यादिरूपस्यापि तत्राप्यापेक्ष्य।

'तस्माच्चायं सुधांशुः' इत्यादौ दृढारोपरूपकमेव वक्तुं योग्यम्, द्वयोस्सामानाधिकरण्यस्य सत्त्वादिति दूषणं प्रतिपादितम्। तत्रापि ब्रूमः—काव्यप्रकाशादिलक्षणानुसारेण लक्ष्यव्यवस्थानियमाभावात्। स्वलक्ष्यानुसार्यन्यप्रतिपादितलक्षणस्य व्यवस्थापादकत्वात्। अन्यथा भवत्प्रतिपादितपरिणामादेरप्युपमाद्यन्तर्गतत्वस्य काव्यप्रकाशादिप्रतिपादितत्वेन पृथक् कथनवैयर्थ्यापत्तेः। किञ्च पर्यस्ता आरोपव्यधिकरणापह्नुतिर्यत्रेति यौगिकार्थाङ्गीकारेऽपि रूपकस्य तत्र वक्तुमयोग्यतैव। अलङ्काररत्नाकरोक्तलक्षणानुसारेण यद्भेदस्य पृथक्कथने दूषणाभावादित्यलं अप्रकृतचिन्तया।

धरानन्देन रचिता व्याख्यापह्नुतिबोधिनी।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामाप पूर्णताम्॥

इति वासिष्ठगोत्रीयमिश्ररामबलस्य पुत्रेण धरानन्देन निर्मितायां
चित्रमीमांसासुधायामपह्नुतिप्रकरणं समाप्तम्।

अथ उत्प्रेक्षानिरूपणम्

अत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।
प्रकृतं हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥

(भारती)

'जहाँ प्रकृतभिन्न धर्मसम्बन्ध से, अन्यत्व द्वारा उपतर्कित हो, बुद्धिमान् जन उसे ही उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहते हैं ।'

अन्य सम्बन्ध से यहाँ तात्पर्य है— प्रकृत का भिन्न पदार्थ के रूप में की जाने वाली संभावना ।

विमर्श—यह एक सादृश्यमूलक अभेदप्रधान अलंकार है । क्योंकि इस अलङ्कार में उपमेय और उपमान में साम्य एवं अभेद दोनों होता है । तात्पर्य यह है कि कवि इसके उपमेय में उपमान की कल्पना करते हुए दोनों में सादृश्य की ही स्थापना करता है । इस अलङ्कार में उपमेय गौण एवं उपमान उत्कृष्ट या प्रधान दिखायी पड़ता है । क्योंकि बलपूर्वक ही कवि उपमान के साथ उपमेय का साम्य दिखाता है । उपमेय में वे सारे गुण हों या नहीं, किन्तु, कवि उनकी संभावना उपमान के रूप नें करता ही हैं । किसी भी अलङ्कार के प्राण हैं—उनके चमत्कार या सौन्दर्य । और इसी की पूर्त्ति के लिए इस अलङ्कार में उपमान का काल्पनिक वर्णन किया जाता है । क्योंकि यहाँ उपमा में उपमेय और उपमान में सादृश्य दिखाया जाता है । जहाँ रूपक में इन दोनों की एक रूपता होती है, वहाँ उत्प्रेक्षा में उनके सादृश्य की संभावना की जाती है । संभावना सन्देह और निश्चय के बीच की स्थिति है ।

(सुधा)

एवमपह्नुतिं व्याख्याय निश्चितविषयतया सम्भावनाविषयिणीमुत्प्रेक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथेति । अत्र निरूप्यत इति शेषः । उत्प्रेक्षालक्षणं प्रतिपादयति—अत्रेति । यत्र प्रकृतम् अन्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितं भवेत् , प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते कथयन्तीत्यन्वयः । अन्यसम्बन्धेन प्रकृतस्यान्योपतर्कणमुत्प्रेक्षेति तल्लक्षणम् ।

(चित्र०)

यथा—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशिभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

अत्र प्रकृतानि पलाशकुसुमान्यप्रकृतनखक्षतधर्मवक्रत्वलौहित्यसंबन्धान्नखक्षतत्वेनोपकल्पितानि । तर्कः संभावनामात्रं न त्ववधारणम् । तदीयधर्मो हि तत्तादात्म्यसंभावनामात्रहेतुर्न व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गवदवधारणहेतुः । न चात्रेवशब्दस्य सादृश्यपरत्वमित्युपमाशङ्का कार्या ।

उपमाया यत्र क्वचित्स्थितैरपि नखक्षतैः सह वक्तुं शक्यतया वसन्त-नायकसमागतवनस्थलीसंबन्धित्वविशेषणकल्पनानपेक्षत्वात् । पलाशमुकुलानां नखक्षततादात्म्यसंभावनायामेव तथाविधविशेषणस्योपयुक्तत्वात् । एवमन्यत्रापि यत्र यत्राप्रकृततादात्म्यसंभावनोपयुक्तविशेषणकल्पना तत्र सर्वत्राप्युत्प्रेक्षावगन्तव्या । यथा—

(भारती)

जैसे—कलिका रूप होने से अर्द्धचन्द्र के सदृश टेढ़े अत्यन्त लाल वर्ण के पलाश के फूल, 'वसन्तरूपी पुरुष के साथ मिली हुई वनस्थलीरूपी स्त्री के शरीर पर ताजे लगे हुए नखक्षतों के समान शोभित होते थे।'

यहाँ प्रकृत पलाश के फूलों में अप्रकृत अर्थात् भिन्न धर्मी नखक्षतों की संभावना—दोनों पदार्थों में रहने वाले वक्रत्व और लोहितत्व रूप धर्म को निमित्त मान कर की गयी है। अर्थ शब्द की अनेकार्थता की आशंका कर उसका फलितार्थ कहते हैं कि यहाँ तर्कत्व रूप धर्म का उसके साथ तादात्म्य संभावना मात्र में हेतुता है, न कि व्याप्तिपक्षधर्मता की तरह अवधारणा में हेतुता है। फलस्वरूप ऐसा अर्थ करने से अनुमान अलङ्कार में अतिव्याप्ति का निराकरण होता है। 'इव' शब्द का सादृश्यार्थक प्रयोग में 'उपमा' की आशंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जहाँ कहीं भी स्थित नखक्षत के साथ उपमा कहने के कारण वसन्तरूपी नायक के आने पर वनस्थली के सम्बन्धित्व विशेषण रूप कल्पना की अपेक्षा का अभाव है। क्योंकि उसके विशेषण का उसके साथ तादात्म्य की संभावना में ही उपयोग है। इस प्रकार प्रतिपादित अर्थ का जहाँ जहाँ अप्रकृत तादात्म्य संभावना के उपयुक्त विशेषण की कल्पना है, वैसी सभी जगहों में उत्प्रेक्षा ही जाननी चाहिए। जैसे—

(सुधा)

तदुदाहरणमाह—यथेत्यादिना। अविकाशिभावात् बालेन्दुवक्राणि अतिलोहितानि वसन्तेन समागतानां वनस्थलीनां सद्यो नखक्षतानीव बभुरित्यन्वयः। अत्र लक्षणसमन्वयं दर्शयति—अत्रेति। प्रकृतेषु पलाशमुकुलेष्वप्रकृतानां नखक्षतानां वक्रत्वलौहित्यरूपधर्मसम्बन्धान्नखक्षतत्वेन सम्भावितत्वात् लक्षणसमन्वयः। तर्कशब्दस्यानेकार्थतामाशङ्क्यार्थमाह—तर्क इति। अर्थस्य फलमाह—नत्विति। फलितार्थमाह—तर्कत्वरूपधर्मस्य तत्तादात्म्यसम्भावनामात्रहेतुत्वम्, व्याप्तिपक्षधर्मत्ववल्लिङ्गवदवधारणहेतुत्वं नास्तीति भावः। तेनानुमानालङ्कारे नातिव्याप्तिरित्यर्थः। इव शब्दस्य सादृश्यार्थकस्य प्रयोग उपमामाशङ्क्य निराकरोति—न चेति। तत्र हेतुमाह—क्वचिदिति। यत्र कुत्रापि स्थितैर्नखक्षतैस्सहोपमाया वक्तुं शक्यतया वसन्तनायकसमागतवनस्थलीसम्बन्धित्वविशेषणकल्पनस्यापेक्षणाभावात्, तद्विशेषस्य तत्तादात्म्यसम्भावनायामेवोपयोगात्। एवं प्रतिपादितमर्थमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमन्यत्रापीति।

(चित्र०)

उवाह या तनुलता भृङ्गालीरोमवल्लरीम्।
पश्चाद्विभुक्तां वैमल्याद्विम्बितामिव वेणिकाम्॥

उपमा यत्र क्वचित्स्थितयापि वेणिकया वक्तुं शक्येति तत्रानुपयुक्ता, वैमल्यात् पुरोभागप्रतिबिम्बितत्वरूपविशेषणकल्पना तादात्म्यसंभावनार्था । यत्र तु संभावनोपयुक्तविशेषणकल्पनारहितमुपमानं निबध्यते तत्र परमिव-शब्दः सादृश्यपर इत्युपमालङ्कारः ।

अमुमेव विभागमभिप्रेत्य चक्रवर्तिनोक्तम्—'यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति' इत्यादि । दण्डिनापीवशब्दस्योत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमुक्तम्—

(भारती)

'जो शरीररूपी लता काले भौंरों की पंक्ति की तरह निर्मलता के कारण पीछे की ओर मुक्त एवं बिम्बित रोमराजि स्वरूप वेणी का वहन कर रही है।'

जहाँ कहीं अवस्थित अगर वेणी के कारण उपमा अलंकार इस उदाहरण में कहना चाहें तो वह अनुचित ही होगा। क्योंकि निर्मलता के कारण आगे की ओर प्रतिबिम्बितत्वरूप विशेषण की कल्पना से तादात्म्य, यहाँ संभावनार्थक है। जहाँ पर संभावना उपयुक्त विशेषण की कल्पना से रहित उपमान को निर्बन्धित करती है वहाँ ही 'इव' शब्द का सादृश्यपरक होने के कारण उपमा अलंकार होता है।

इसी विभाग को लक्ष्य कर चक्रवर्त्ती ने कहा था—'यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धि-मृच्छति' इत्यादि, अर्थात् जब यह उपमानांश 'इव' शब्द से लोकप्रसिद्ध साधर्म्य की प्रतीति होती है तब उपमा अलङ्कार होता है। एवं जहाँ लोक में अप्रसिद्ध एवं कविकल्पित साधर्म्य का बोध होता है—वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही होता है। (क्योंकि उपमा में उपमेय की उपमान से तुलना की जाती है, जब कि उत्प्रेक्षा में उपमान की उपमेय में संभावना। उत्प्रेक्षा अभेदप्रधान या अध्यवसायमूलक अलंकार है और उपमा भेदाभेदप्रधान साधर्म्यमूलक । 'इव' वाचक उपमा एवं उत्प्रेक्षा दोनों में ही प्रयुक्त होता है।) दण्डीने भी 'इव' शब्द का उत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्व ही अर्थ कहा है।

(सुधा)

उदाहरणान्तरेष्वेतदेवाह—उवाहेति। या तनुलता भृङ्गालीरोमवल्लरीं वैमल्याद् नैर्मल्यात् पश्चाद्विमुक्तां बिम्बितां वेणिकामुवाहेत्यन्वयः। यत्र कुत्रापि स्थितवेण्योपमाया वक्तुं शक्यतया वैमल्यात् पुरोभागे प्रतिबिम्बितत्वरूपविशेषणस्यानुपयोगात् तत्तादात्म्य-संभावनायामेव तत्सार्थक्यादुत्प्रेक्षैव नोपमेत्यर्थः। इवशब्दस्योपमाप्रयोजकता यत्र तं दर्शयति—यत्रेति। सम्भावनोपयोगिविशेषणरहितोपमाननिबन्धने इवस्य सादृश्यपरत्वे-नोपमाप्रयोजकत्वमिति तद्भावः। अत्र चक्रवर्त्युक्तं प्रमाणयति—अमुमेवेति। तदुक्तविभाग-माह—यदेति। दण्डिन्युक्तं प्रमाणयति—दण्डिनापीति।

(चित्र०)

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥ इति ।

अत्रादिशब्देन तर्कयामि, संभावयामि, जाने, उत्प्रेक्षे, स्यात्, इत्येवमा-दीनां संग्रहः। अत्र च—

कस्तूरिकामृगाणामण्डाद्गन्धगुणमखिलमादाय ।
यदि पुनरहं विधिः स्यां खलजिह्वायां निवेशयिष्यामि ॥

(भारती)

'जहाँ उत्प्रेक्षाव्यञ्जक 'मन्ये' 'शंके' 'ध्रुवम्' 'प्रायः' 'नूनम्' इत्यादि एवं 'इव' आदि शब्द वाच्य रहेंगे वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होगी।'

यहाँ आदि शब्द से 'तर्क करता हूँ' 'संभावना करता हूँ' 'जानता हूँ' 'उत्प्रेक्षा करता हूँ' 'होता है' इस प्रकार के शब्दों का संग्रह है। यहाँ और—

'शायद यदि मैं पुनः ब्रह्मा बनूँगा तो कस्तूरी मृगों के अण्डकोष से सारे सुगन्धादि रूप गुणों को दुष्टों की जिह्वा में निवेशित कर दूँगा।'

(यहाँ आत्मा में विधित्व रूप अप्रकृत की संभावना से अतिव्याप्ति है।)

(सुधा)

तदुक्तिमप्याह—मन्ये इति । तादृश इति । सम्भावनार्थकेवशब्दोऽप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जक इत्यर्थः। आदिशब्दार्थमाह—अत्रादीति । दीक्षितोक्तावादिना-अवैमि, ऊहे इत्यङ्गाचारविवादयो गृह्यन्ते इत्यर्थः। उत्प्रेक्षालक्षणं व्याख्याय धर्मसम्बन्धादिति हेतोः फलं दर्शयति—अत्र चेति । उत्प्रेक्षालक्षण इत्यर्थः। कस्तूरिका इति । यदि चेत्पुनरहं ब्रह्मा भवामि, तदा कस्तूरीमृगाणामण्डादखिलं सर्वं गुणं सुगन्धिरूपं दुष्टजिह्वायां निवेशयिष्यामि इत्यन्वयः। अत्रात्मनि विधित्वरूपाप्रकृतस्य संभावनयाऽतिव्याप्तिरित्यर्थः।

(चित्र०)

यद्यनुष्णो भवेद्वह्निर्यद्यशीतं भवेज्जलम् ।
मन्ये दृढव्रतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक् ॥

इत्यादिष्वतिव्याप्तिवारणाय धर्मसम्बन्धादित्युक्तम्। तेषु हि 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इत्यतिशयोक्त्यलङ्कारविषयेषु, 'संभावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये' इति संभावनालंकारविषयेषु वा निर्निमित्तमेव तथा तथोपतर्कणम्।

(भारती)

'यदि आग अपने उष्णत्व धर्म छोड़ कर शीतलता ग्रहण करे और जल अपनी शीतलता छोड़ कर उष्णता को धारण कर ले तब मैं यह मानता हूँ कि दृढव्रती राम भी असत्यवादी हो सकते हैं।'

(यहाँ अग्न्यादि में अप्रकृत अनुष्णत्वादि रूप तर्कितत्व से अतिव्याप्ति है।)

उक्त दोनों उदाहरणों में तथाकथित अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में धर्मसम्बन्ध से हेतु का उपादान है। दोनों ही जगहों में उपतर्कण का हेतुरहित रहने के कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ। अब प्रश्न उठता है कि तो वहाँ कौन अलङ्कार है? उत्तर देते हैं कि मम्मट के मतानुसार **'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'** अर्थात् 'वर्ण्य विषय का उससे भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय' इस लक्षण के अनुसर यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है। चन्द्रालोकादि

के मत में **'संभावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये'** अर्थात् जहाँ किसी कार्य की सिद्धि के विषय में असंभवता का वर्णन किया जाय उसे असंभव अलंकार कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार संभावना अलङ्कार है।

इस प्रकार हेतु के उपादान बताने पर भी उस लक्षण में अतिव्याप्ति की आशंका से **'धर्मसम्बन्धात्'** विशेषण की योजना लक्षण में की गयी है।

(सुधा)

उदाहरणान्तरमाह—यदीति। वह्निरनुष्णो यदि भवेत्, जलमशीतं यदि भवेत्, दृढव्रतो रामस्तदाऽसत्यवागपि स्यादित्यहं मन्ये इत्यत्रापि प्रकृतेऽग्न्यादावप्रकृतानुष्णत्वादेरुपतर्कितत्वादतिव्याप्तिः। तद्वारणाय धर्मसम्बन्धादिति हेतोरुपादानमित्यर्थः। उभयत्राप्युपतर्कणस्य हेतुरहितत्वान्नातिव्याप्तिरिति तद्भावः। तर्हि तत्र को वाऽलङ्कार इत्याशंकां निवर्तयति—तेषु हीत्यादिना। तस्यायं भावः काव्यप्रकाशादिमते तत्रातिशयोक्तिविशेषः, 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इति तदुक्तलक्षणस्य तत्र सत्त्वात। चन्द्रालोकादिमते तु सम्भावनालङ्कारः 'सम्भावनं यदीत्थं स्यात्' इत्यादेस्तत्राङ्गीकारात्।

(चित्र०)

तथापि—

सर्वातिशायिसौन्दर्यं शंके सत्यवतो मुखम्।
येन सा मृगशावाक्षी सावित्री तरलीकृता॥

इत्यादिष्वतिव्याप्तिः स्यादिति तद्वारणायान्यधर्मसंबन्धादित्युक्तम्। तत्र सावित्रीहृदयतरलीभावकारकत्वादिना स्वधर्मेणैव वितर्कणमिति नातिव्याप्तिः।

(भारती)

फिर भी—'मैं सत्यवान के मुख में सर्वातिशायि सौन्दर्य की आशंका करता हूँ। क्योंकि मृगशावक की आंखों की तरह निर्दुष्ट अथ च सुन्दर आंखों वाली उस सावित्री का हृदय उसे देखते ही तरल हो उठा।'

उक्त उदाहरण में प्राप्त अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ ही लक्षण में 'धर्मसम्बन्धात्' विशेषण है। क्योंकि वहाँ सावित्री के हृदय का तरलीकरण स्वधर्म से वितर्कित होने के कारण अतिव्याप्ति नहीं है।

(सुधा)

हेतोरुपादानेऽपि तल्लक्षणेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्य तत्र विशेषणान्तरेण निराकरोति—तथापीति। 'धर्मसम्बन्धात्' इत्युक्तावपीत्यर्थः। सर्वातिशायीति। अहं सत्यवतो मुखं सर्वातिशायिसौन्दर्यं शंके, येन मृगशावाक्षी सा सावित्री तरलीकृता इत्यन्वयः। अत्र सावित्रीहृदयतरलीभावकारकत्वरूपमुखधर्मेण मुखे तादृशसौन्दर्योपतर्कणादतिव्याप्तिः स्यात्। अतस्तद्वारणाय हेतावन्येति। तस्याप्रकृतत्वमर्थः। तस्य धर्मस्य मुखसम्बन्धितयाऽप्रकृतधर्मत्वाभावान्नातिव्याप्तिरित्याशयः।

(चित्र०)

विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शंके हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥

इत्यत्रातिव्याप्तिवारणायान्यत्वेनेति विशेषणम् । तत्र ससैन्ये प्रत्युद्गन्तर्यन्यत्रापि दृष्टस्याग्रे रजोगमनस्य सम्बन्धेन निमित्तेन भरतः प्रत्युद्गतत्वेन वस्तुसद्रूपेणैवोपतर्कितो न त्वन्यत्वेनेति नातिव्याप्तिः ।

नरसिंहमहीपाल विदुस्त्वां मकरध्वजम् ।
मार्गणास्तव सञ्जाताः कथं सुमनसोऽन्यथा ॥

इत्यत्राव्याप्तिवारणायोपतर्कितमित्युक्तम् । तत्रानुमानालङ्कारविषये सुमनोमार्गणत्वेन मन्मथत्वव्याप्तिलिङ्गेन राज्ञि मन्मथत्वमवधृतम् न संभावनामात्रम् ।

(भारती)

'अतिरिक्त सन्ध्या की तरह ताम्रवर्ण पृथ्वी के इन उड़ते धूलिकणों को आगे देखकर, हनुमान के कथनानुसार मैं यह सन्देह करता हूँ कि भरत जी सेना के साथ मुझ से मिलने आ रहे हैं।'

यहाँ अतिव्याप्ति दोषनिवारण के लिए लक्षण में 'अन्यत्वेन' विशेषण की योजना है। क्योंकि यहाँ भरत के आने की उपतर्कणा में रजोभरण उपगतत्व रूप अन्य धर्म के रहने के कारण प्राप्त अतिव्याप्ति के निवारणार्थ अन्यत्वेन विशेषण से निराकरण किया गया है। ऐसा करने से सेना के साथ आते हुए अन्यत्र उस धर्म के देखने से, उसी निमित्त से भरत का वस्तुसद्रूप के ही द्वारा प्रत्युद्गमन से भरत का तर्कितत्व है न कि अन्य रूप से। अतः यहाँ उक्त विशेष के कारण ही अतिव्याप्ति नहीं है।

'हे पृथ्वीपति नरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें साक्षात् मदन ही मानता हूँ अन्यथा तुम्हारे ये बाण पुष्प निर्मित कैसे होते ?'

अनुमान अलङ्कार के इस उदाहरण में फूलों का बाणत्व से निमित्त होने के कारण राजा में मन्मथत्व वर्ण से अतिव्याप्ति दोष होता है। इसके निवारण के लिए लक्षण में उपतर्कित विशेषण का समावेश किया गया है। ऐसा करने पर फूलों का बाणत्व के हेतु से राजा में मन्मथत्व की अवधारणा है, न कि संभावना मात्र का। अतः यहाँ अतिव्याप्ति का निराकरण हुआ।

(सुधा)

'अन्यत्वेन' इत्यस्य वैयर्थ्यं निराकरोति—विरक्तेति। विरक्ता अतिरक्ता या सन्ध्या तद्वत्कपिशं ताम्रं पृथिव्या इदं पार्थिवरजः पुरस्तादग्रे यत उज्जिहीते उद्गच्छति, तस्माद्धनुरस्यास्ति हनूमान् 'शरादीनाञ्च' इति दीर्घः। तेन कथिता प्रवृत्तिरस्मदागमनवार्ता यस्य स भरतः ससैन्यस्सन् मां प्रत्युद्गत इत्यहं शंके तर्कयामीत्यन्वयः। अत्र भरते प्रत्युद्गतत्वस्योपतर्कणे रजोभरोद्गमनत्वरूपान्यधर्मसत्त्वतयातिव्याप्तिः स्यात्, अतस्तद्वारणाय—अन्यत्वेनेति। तथा च ससैन्ये प्रत्युद्गन्तरि अन्यत्र तद्धर्मस्य दृष्टत्वेन तेन निमित्तेन भरतस्य वस्तुसद्रूपेणैव प्रत्युद्गतत्वेन भरतस्य तर्कितत्वं न त्वन्यरूपतयेति नातिव्याप्तिः।

'उपतर्कित' इत्यस्य प्रयोजनमाह—प्रकृतमप्रकृतसम्बन्धादन्यत्वेन वर्णितम् उत्प्रेक्षा, इत्युक्ते—हे नरसिंहमहीपाल, त्वां मकरध्वजं कामं विद्मः, अन्यथा मार्गणा बाणाः सुमनसः पुष्पाणि कथं सञ्जाताः? इत्यनुमानालङ्कारे सुमनोमार्गणत्वेन निमित्तत्वेन राज्ञि मन्मथत्ववर्णनादतिव्याप्तिः स्यादत उपतर्कितमिति पदम्। तथा च सुमनोमार्गणत्वहेतुना राज्ञि मन्मथत्वावधारणं न तु सम्भावनामात्रमिति नातिव्याप्तिः।

(चित्र०)

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥

इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय प्रकृतमित्युक्तम्। तत्र निरतिशयसौन्दर्यसीतावदनादिसंनिधानेन तद्वदनाद्युपमानेष्वपि निकर्षापादकेन प्रशस्तोपमानेष्विन्द्वादिष्वप्रकृतेष्वञ्जनलेपादिनिकर्षसंभावना क्रियत इति नातिव्याप्तिः।

(भारती)

'सीता के मुख के आगे चन्द्रमा ऐसा लगता है जैसे कालिख से पुता हो; नेत्रों के आगे हिरणियों के नयन ऐसे लगते हैं जैसे जडीभूत हो रहे हों, ओठों की लाली के आगे मूंगे के दाने ऐसे लगते हैं जैसे उनकी लाली फीकी पड़ गयी हो, अङ्गशोभा के आगे सोने की चमक ऐसी लगती है जैसे काली पड़ गयी हो, मीठी बोली के आगे कोयल की कूक ऐसी लगती है जैसे कर्कशता से भर उठी हो, और केशपाश के आगे मोर के पंख ऐसे लगते हैं जैसे किसी भी काम के न हों।'

यहाँ चन्द्रमा आदि में कालिख की पुताई रूप अप्रस्तुत कार्यों की जो संभावना की गयी है उसके द्वारा, उनके कारणभूत, सीता के मुख आदि के सौन्दर्यविशेष की जो कि यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतीत है—इस अप्रस्तुत अलंकार के उदाहरण में अतिव्याप्ति निवारण के लिए लक्षण में 'प्रकृतम्' विशेषण दिया गया है। ऐसा विशेषण देने से निरतिशय सौन्दर्यपूर्ण सीता के मुख संधान से अर्थात् अन्य उपमान के निष्कर्षापादक वैसे धर्मों के द्वारा अप्रकृत के प्रशस्त उपमान नेत्रादि में अञ्जन लेपनादि निष्कर्ष की संभावना से प्रकृत में उसका अभाव है। फलतः यहाँ अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है।

(सुधा)

प्रकृतपदस्य फलं निरूपयति—इन्दुरिति। सीतायाः पुरतोऽञ्जनेन इन्दुर्लिप्त इव, मृगीणां जडितेव दृष्टिः विद्रुमलता प्रम्लानारुणिमा इव, हेमप्रभा श्यामेव, कोकिलवधूकण्ठेषु कलया प्रस्तुतं कार्कश्यमिव, हन्त! शिखिनां मयूराणां बर्हाः सगर्हा इव भवन्तीत्यन्वयः। अत्र निरतिशयसौन्दर्य सीतावदनसान्निध्यनिमित्तेनेन्द्वादिष्वञ्जनलेपनादितर्कणस्य सत्वात् अप्रस्तुतप्रशंसायामतिव्याप्तिस्स्यात। अतस्तद्वारणाय प्रकृतमित्युक्तम्। तथा चोपमानान्तरनिष्कर्षापादकतादृशधर्मेणाप्रकृतेषु प्रशस्तोपमानचन्द्रादिष्वञ्जनलेपनादिनिष्कर्षस्य सम्भावनतया प्रकृते तदभावान्नातिव्याप्तिः।

(चित्र०)

नन्वेवमपि—

अस्मद्विक्रमचेष्टितानि निखिलत्रैलोक्यहेलाजय-
प्रह्वीभूतसुरासुराणि भवतो भूमेः सुता शृण्वती ।
पत्यौ द्वेषकषायितेन मनसा स्निग्धा मयि स्थास्यति
स्त्रीणां प्रेम यदुत्तरोत्तरगुणग्रामस्पृहाचञ्चलम् ॥

इत्यत्र चाञ्चल्यसहचरितत्वेनान्यत्र दृष्टस्त्रीत्वस्य संबन्धेन निमित्तेन वस्तुतः प्रत्येकस्थिरचित्ता देवी सीता चञ्चलत्वेनोपतर्किता । न च तत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः, रावणकृततदीप्सितसंघटनानुकूलविचारमात्रस्य निबद्धत्वेन विच्छित्तिविशेषाभावात् । न चान्यधर्मसंबन्धादित्यत्र धर्म उपमायामिव सहृदयहृदयाह्लादो विवक्षितः, न तु साधारणधर्ममात्रम् । तथा च नोक्तातिव्याप्तिः । स्त्रीत्वादेश्चाञ्चल्यादिसंभावनामात्रप्रयोजकत्वेऽपि सहृदयहृदयाह्लादिसाधारणधर्माभावेनोपमालंकारप्रयोजकत्वाभावादिति वाच्यम् ।

(भारती)

'निखिल त्रैलोक्य की विजय के कारण नम्रीभूत देव और दानवों पर मेरे पराक्रमों की चर्चा आप से सुनती हुई, भूमिसुता जानकी, जिसका हृदय, उसके पति के साथ मेरा द्वेष रहने के कारण कषायित है, मन से मुझ पर स्नेह करेगी। क्योंकि स्त्रियों का प्रेम उत्तरोत्तर गुण-समूह की स्पृहा में चंचल होता है।'

इसी प्रकार—चंचल चरित्र के कारण दूसरी जगह देखी गयी स्त्री के सम्बन्ध से यहाँ प्रकृत अर्थात् स्थिरचित्त सीता में दूसरे की चंचलता आदि की उपतर्कणा से अतिव्याप्ति है। अगर यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार ही मान लें, तो अपनी ईप्सित घटना के अनुकूल रावण के विचारमात्र के वर्णन में चमत्कार के अभाव से अन्य समाधान की आशंका कर, निराकरण करते हैं कि अप्रकृत धर्म-सम्बन्ध से यहाँ धर्म शब्द का साधारण धर्म की विवक्षा है । किन्तु, उपमा में सहृदय-हृदय आह्लादक धर्म है। ऐसा करने से स्त्रीत्वादि का उसकी संभावना के प्रयोजकत्व में भी सहृदय हृदय के अह्लादकत्व के अभाव से यहाँ अलङ्कार के प्रयोजकत्वाभाव से अतिव्याप्ति नहीं है ।

(सुधा)

दोषान्तरमाशङ्क्य निराकरोति—नन्विति । एवमपि 'प्रकृतस्याप्रकृतधर्मसम्बन्धादन्यत्वेन सम्भावनम्' इत्युक्तलक्षणेऽपीत्यर्थः ।

अस्मादिति । निखिलस्य सकलस्य त्रैलोक्यस्य हेलाजये नम्रीभूताः सुरासुरा येषु तानि अस्माकं विक्रमचेष्टितानि भवतः शृण्वती भूमेः सुता सीता रामे द्वेषकषायितेन मनसा मयि स्निग्धा स्नेहवती स्थास्यति । यत् स्त्रीणां प्रेम उत्तरोत्तरगुणसमूहे स्पृहाचञ्चलं भवति । अत्र चाञ्चल्यचरितत्वेनान्यत्र दृष्टस्त्रीत्वसम्बन्धेन स्थिरचित्तसीतायां प्रकृतायामन्यस्य चञ्चलत्वादेरुपतर्कणादतिव्याप्तिः स्यात् । तस्य लक्ष्यत्वं निराकरोति—न चेति । लक्ष्यत्वाभावे हेतुमाह—रावणकृतेति । स्वेप्सितसङ्घटनानुकूलरावणविचारमात्रस्य वर्णने चमत्काराभावात् समाधानान्तरमाशङ्क्य निराकरोति—न चेति । अप्रकृतधर्मसम्बन्धा-

दित्यत्र धर्मशब्दस्य न साधारणधर्ममात्रे, किन्तूपमायामिव सहृदयहृदयाह्लादिनि धर्मे। तथा च स्त्रीत्वादेः तत्सम्भावनाप्रयोजकत्वेऽपि सहृदयहृदयाह्लादित्वाभावेनालङ्कारप्रयोजकत्वाभावान्नातिव्याप्तिः।

(चित्र०)

तथापि—

स्तनाभिरामस्तवकां नूनं सीतेति वल्लरीम्।
संभावयन् रघुपतिर्धावति स्म दिदृक्षया॥

इत्यत्रातिव्याप्तेरवारणात्। न चाहार्यत्वं तर्कविशेषणम्। इह त्वनाहार्या संभावनेति वाच्यम्, तथा सति 'शंके हनूमत्कथितप्रवृत्तिः' इति संभावनाया अप्यनाहार्यत्वेन तद्व्यावृत्त्यर्थस्यान्यत्वेनेत्यस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति चेत्; मैवम्। अन्यत्वेनेत्यस्यान्यत्वेनावगतपरतया तस्यैवाहार्यत्वविशेषणपर्यवसायित्वात्।

(भारती)

फिर भी—

'स्तनों की तरह अभिराम. गुच्छावाली, लतावल्लरी में सीता की संभावना करते हुए—रघुपति राम उसे देखने की इच्छा से दौड़ते थे।'

यहाँ अभिरामत्वधर्म से वल्लरी में सीता की संभावना से अतिव्याप्ति है। अगर आप कहें कि संभावना में आहार्यत्व के विशेषण से सीताविषयक संभावना में आहार्यत्व से अतिव्याप्ति नहीं है, तो ऐसा कहने से संभावना में आहार्यत्व विशेषण देने पर—

'विरक्ते संध्याकपिशं पुरस्तादेतद्रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्य……'। (इस श्लोक की व्याख्या हो चुकी है)

इस श्लोक के प्रत्युद्गमन का अन्यत्र रहने के कारण आहार्यसंभावना से उस अतिव्याप्ति की निवृत्ति होने पर भी 'अन्यत्वेन' विशेषण की व्यर्थत्वापत्ति होगी। समाधान करते हुए कहते हैं कि इसीलिए 'अन्यत्वेन' यहाँ ही आहार्यत्व की विशेषणीयता है न कि संभावना की। क्योंकि उसका 'अन्यत्वेन' के साथ अवगतपरता है। ऐसा करने से चञ्चलत्व और सीतात्व का आहार्यत्वाभाव से अतिव्याप्ति नहीं होती है।

(सुधा)

तथापीति। धर्मे सहृदयहृदयाह्लादित्वविवक्षणादतिव्याप्तिनिवारणेऽपीत्यर्थः। रघुपती रामो नूनं वल्लरीं स्तनाभिरामस्तबकवतीं सीतेति सम्भावयन्, दिदृक्षया धावति स्मेत्यन्वयः। अत्राभिरामत्वधर्मेण वल्लर्यां सीतायाः सम्भावनसत्त्वादतिव्याप्तिः। समाधानमाशङ्क्य निराकरोति—न चेति। सम्भावनायामाहार्यत्वस्य विशेषणात् सीताविषयकसंभावनायामाहार्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः—तथा सतीति। सम्भावनायामाहार्यत्वविशेषणदाने सतीत्यर्थः। 'विरक्तेसन्ध्याकपिशं पुरस्तादेतद्रजः पार्थिवमुज्जिहीते। प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्य॥' इति श्लोकशेषः। अत्र प्रत्युद्गमनस्यान्यत्र सत्त्वतयाऽऽहार्यसम्भावनाभावेन तदतिव्याप्तिनिवृत्तावन्यत्वेनेत्यस्य व्यर्थत्वापत्तेरित्याशङ्कार्थः। समाधत्ते—मैवमिति।

अन्यत्वेनेत्यत्रैवाहार्यत्वस्य विशेषणीयत्वं न तु सम्भावनायाः, तस्यान्यत्वेनावगतपरत्वात्। तथा च चञ्चलत्वस्य सीतात्वस्य चाहार्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति समाधानार्थः।

(चित्र०)

ननु तथापि नैतल्लक्षणम्, अव्याप्तेः। तथा हि यत्र स्वमात्रधर्माद्न्यमात्रधर्माद्वा किञ्चिदुत्प्रेक्ष्यते तत्रान्यधर्मसंबन्धादिति लक्षणांशाभावादव्याप्तिः।

यथा—

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

भूयस्तराणि यदमूनि तमस्विनीषु
ज्यौत्स्नीषु च प्रविरलानि ततः प्रतीमः।
संध्यानलेन भृशमम्बरमूषिकाया-
मावर्तितैरुडुभिरेव कृतोऽयमिन्दुः॥

(भारती)

'ननु' से पुनः आशंका करते हैं—तथापि अर्थात् फिर भी प्रकृत का अप्रकृतधर्मसम्बन्ध से आहार्यत्वावगत के द्वारा वैसा लक्षण करने पर भी संभावना है ही। यह लक्षण भी अतिव्याप्ति दोष से दूषित रहने के कारण प्रतिपादन के योग्य नहीं है। यहाँ अव्याप्तिप्रतिपादन के लिए हेतु में विकल्प बताते हैं। वैसा करने पर—जहाँ स्वमात्र धर्म से कुछ उत्प्रेक्षण है अथवा जहाँ अन्यमात्र धर्म से ही कुछ उत्प्रेक्षण है—दोनों ही स्थिति में हेतु के अभाव से व्याप्ति होती है। दोनों को अलग-अलग उदाहरण देकर बताते हैं। जैसे—

'चन्द्रमा अङ्गुलियों की तरह किरणों से केश-सञ्चय की तरह अन्धकार को पकड़ कर, मुकुलित कमलरूपी आंखोंवाली रातरूपी नायिका का मुख चूम रहा है।'

'ये तारे अन्धकाराच्छन्न रात में अविरलभाव से उपस्थित हैं। हमारी ऐसी प्रतीत है कि चन्द्रमाने इन नक्षत्रों को सन्ध्यारूपी आग से आकाशरूपी मूपिका (सोना गलाने की घरिया) में आवर्त्तित कर दिया है।'

(सुधा)

आशङ्कते—नन्विति। तथापीति प्रकृतस्याप्रकृतधर्मसम्बन्धादाहार्यान्यत्वावगतेन सम्भावितस्य तल्लक्षणत्वेऽपीत्यर्थः। एतल्लक्षणस्याव्याप्तिदूषितत्वात् प्रतिपादनमशक्यमित्यर्थः। अव्याप्तिं प्रतिपादयितुं हेतौ विकल्पमाह—तथा हीति। यत्र स्वमात्रधर्माद्दुत्प्रेक्षणं यत्र चान्यमात्रधर्माद्वा, तदुभयोर्हेत्वभावादव्याप्तिः स्यादिति भावः। तदुभयं दर्शयति-अङ्गुलीभिरित्यादिना। शशी चन्द्रः, अङ्गुलीभिरिव मरीचिभिः केशसञ्चयमिव तिमिरं सन्निगृह्य मुकुलितकमललोचनं रात्रिमुखं चुम्बतीवेत्यन्वयः। भूय इति। अमूनि उडूनि तमस्विनीषु यद्भूयस्तराणि ज्यौत्स्नीषु च प्रविरलानि सन्ति, ततस्सन्ध्याग्निना आकाशमूषिकायामावर्तितैर्नक्षत्रैरेवायं चन्द्रः, कृत इति वयं प्रतीम इत्यन्वयः।

(चित्र०)

इत्यत्राद्योदाहरणेऽङ्गुलीसदृशीभिर्मरीचिभिः केशसञ्चयसदृशस्य तिमि-

रस्य ग्रहणात् स्वमात्रधर्मादेव शशिनश्चुम्बनमुत्प्रेक्षितम् । द्वितीये ताराविरलत्वाविरलत्वरूपेणान्यमात्रधर्मेण चन्द्रस्य संध्यानलमध्यगाम्बरमूषिकावर्तिततारानिकरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्षितम् ।

किं च हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षास्वन्यत्वेनेति लक्षणांशाभावादव्याप्तिः । यथा—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥

(भारती)

इन दोनों उदाहरणों के बीच प्रथम उदाहरण में अङ्गुली की तरह किरणों के द्वारा केश-संग्रह के सदृश अन्धकार के ग्रहण से स्वधर्ममात्र से चद्रमा का मुखचुम्बन ही उत्प्रेक्षा है, नकि अन्य मात्र-धर्म सम्बन्ध से। अतः यहाँ अव्याप्ति है। दूसरे में, तारों के विरलत्व और अविरलत्व से अन्य धर्ममात्र से चन्द्रमा का संध्या—अग्नि के बीच आकाशमूषिकावर्त्तित ताराओं के समूह से निर्मितत्व का उत्प्रेक्षण है। यहाँ चन्द्रमा में उसके धर्मसम्बन्ध के अभाव से अव्याप्ति है। यहाँ धर्म का दोनों वृत्ति में नियम है।

किञ्च से लक्षण में अन्य दोष बताते हैं। 'अन्यत्वेन' विशेषण का हेतु फलधर्मस्वरूप उत्प्रेक्षा के स्वभाव से वहाँ अव्याप्ति है। जैसे—

'यह वही वनभूमि है, जहाँ तुमको ढूढ़ते हुए मैंने भूमिपर नूपुर को पाया था, जो मानो तुम्हारे चरण-कमल के विरहजन्य दुःख से मौन दिखलाई पड़ता था।'

(सुधा)

प्रथमेऽव्याप्तिमाह—आद्योदाहरण इति। अङ्गुलीसदृशमरीचिकृतकेशसञ्चयसदृशतिमिरग्रहणेन स्वभावधर्मेण चन्द्रस्य मुखचुम्बनोत्प्रेक्षणं न त्वन्यमात्रधर्मसम्बन्धादित्यव्याप्तिः। द्वितीये—ताराविरलत्वाविरलत्वरूपेणान्यमात्रधर्मेण चन्द्रस्य सन्ध्यानलमध्यगाम्बरमूषिकावर्तिततारानिकरनिर्मितत्वस्योत्प्रेक्षणम्। अत्र चन्द्रे तद्धर्मसम्बन्धाभावादव्याप्तिः धर्मस्योभयवृत्तित्वनियमसत्त्वादिति भावः। लक्षणे दूषणान्तरमाह—किञ्चेति। अन्यत्वेनेत्यस्य हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षास्वभावात् तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। तत्र हेतूत्प्रेक्षायामव्याप्तिमाह—यथेति। सा पूर्वानुभूता स्थली एषा दृश्यत इत्यर्थः। यत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया, त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन दुःखं तस्मादिव बद्धमौनं निश्शब्दमुर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीरः 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। अदृश्यतेत्यन्वयः।

(चित्र०)

इति हेतूत्प्रेक्षोदाहरणे नूपुरगतेन दुःखिसाधारणेन मौनित्वेन निमित्तेन नूपुरे तद्धेतुभूतदुःखमेव धर्मतयोत्प्रेक्ष्यते, न तु दुःखितादात्म्यम् , दुःखशब्दस्योपरि मतुवाद्यश्रवणात्। एवम्—

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः ।
अद्यापि किं वानुभविष्यतीति व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥

इति फलोत्प्रेक्षोदाहरणे द्रुमगतेन ललाटाक्षरदर्शनप्रवृत्तपुरुषसाधारणेन

ललाटपाटनेन निमित्तेन द्रुमाणां तत्फलं ललाटाक्षरदर्शनमुद्देश्यमिति धर्मतयोत्प्रेक्ष्यते न तु ललाटाक्षरदर्शनप्रवृत्तधर्मितादात्म्यम्, द्रष्टुमित्यस्य धर्मिपर्यन्ताभावात्।

तथा—

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः समुद्रः फेनचन्दनम्।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः॥

(भारती)

यहाँ नूपुरगत दुःख साधारण मौनित्वधर्म से नूपुर में धर्मता से उसके हेतुभूत दुःख का ही उत्प्रेक्षण है; न कि अन्य का। अतः हेतूत्प्रेक्षा के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति है। दुःखी का तादात्म्य सम्बन्ध से तो यहाँ उत्प्रेक्षा नहीं है। अतः आगे मतुप् आदि का श्रवणाभाव से वहाँ उसकी उपेक्षा है। इसी प्रकार फलोत्प्रेक्षा की अव्याप्ति बताते हैं। जैसे—

इस श्लोक में राजा नृसिंहदेव का वर्णन है—'जिसके भय से भागे हुए चोल नरेश के ललाट की त्वचा को कँटीले बन प्रदेशों ने, अब भी 'न जाने यह क्या अनुभव करेगा' इस कारण से, मानो विधाता की लिपि देखने के लिए, उधेड़ डाला है।'

फलोत्प्रेक्षा के इस उदाहरण में कँटीले वनप्रदेशरूपी विषय में न केवल 'ललाट की चमड़ी उधेड़ना' जिसका निमित्त है उस 'विधाता की लिपि देखने' की उत्प्रेक्षा यहाँ की जा रही है। किन्तु, वह 'लिपि देखना' जिसका फल है उस 'ललाट की त्वचा उधेड़ने' आदि विषयी की काँटो द्वारा किये गये 'उधेड़ने' आदि विषय में अभेद सम्बन्ध द्वारा उत्प्रेक्षा की जा रही है। तात्पर्य यह कि इस पद्य में 'कँटीले वनप्रदेश' उत्प्रेक्षा का विषय और 'विधाता की लिपि देखना' विषयी नहीं है किन्तु, 'काँटों द्वारा किये गये उधेड़ना' विषय और 'अक्षर देखना जिसका फल है वह ललाट की चमड़ी उधेड़ना' विषयी है।

निष्कर्ष यह है कि—विषयी की उत्प्रेक्षा सर्वत्र धर्मोत्प्रेक्षाओं में और हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रक्षा में भी अभेद सम्बन्ध से ही होती है।

'तथा' शब्द से धर्मस्वरूप उत्प्रेक्षा के उदाहरण में अव्याप्ति बतलाते हैं। जैसे—

'समुद्रतरङ्गों के अग्रभाग से फेनरूपी चन्दन को घिसते हुए की तरह चन्द्रमा ने मानो उस फेनरूपी चन्दन को लेकर किरणरूपी हाथों से दिशावधू के शरीर में लेप कर दिया है।

(सुधा)

अत्र नूपुरगतदुःखिसाधारणमौनित्वधर्मेण नूपुरे धर्मतया तद्धेतुभूतदुःखस्यैवोत्प्रेक्षणं नत्वन्यस्येत्यव्याप्तिः। दुःखिनस्तु तादात्म्यं नोत्प्रेक्ष्यते, ततोऽग्रे मतुबादेः श्रवणाभावात्, तत्र तस्यापेक्षणाच्च। फलोत्प्रेक्षायामव्याप्तिमाह—चोलस्येति। कण्टकवन्तो वृक्षा भीतिपलायितस्य चोलस्य यल्ललाटत्वचं व्यपाटयन् तदद्यापि किं वानुभविष्यतीत्यक्षराणि द्रष्टुमिवेत्यन्वयः। अत्र फलोत्प्रेक्षोदाहरणे द्रुमगततद्दर्शनप्रवृत्तपुरुषसाधारणललाटपाटननिमित्तेन तत्फलललाटाक्षरदर्शनस्य वृक्षोद्देश्यत्वेन तद्दर्शनफलकत्वग्विपाटनमेव धर्मभावेनोत्प्रेक्ष्यते। तथा चात्रापि तदन्यतयोत्प्रेक्षणाभावादव्याप्तिः। अत्र तद्दर्शनप्रवृत्तधर्मिणस्तु तादात्म्यं नोत्प्रेक्ष्यम्, द्रष्टुमित्यस्य तत्पर्यन्तत्वाभावात्, त्वग्विपाटनफल एवान्वयसौकर्यादित्यर्थः। धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेऽव्याप्तिमाह—तथेति। समुद्रः तरङ्गाणामग्रभागैः

फेनरूपं चन्दनं पिनष्टीव, इन्दुस्तत् फेनचन्दनमादाय करैः दिग्रूपा अङ्गना लिम्पतीवेत्यन्वयः ।

(चित्र०)

इति धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणे समुद्रस्य चन्दनघर्षणशिलाप्रान्तस्थानीये तटे हस्तस्थानीयतरङ्गाग्रैः फेनचन्दनपेषकत्वेन शशाङ्कस्य करैर्दिगङ्गनादिधवलीकरणेन च प्रतीयमानेन निमित्तेन तत्कर्तृकं पेषणलेपनमात्रमुत्प्रेक्ष्यते, न तु तयोः पेषणलेपनकर्तृतादात्म्यम् । पिनष्टि लिम्पतीत्याख्यातयोः कर्तृवाचकत्वेऽपि 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति न्यायेन कर्तुः प्रधानभूतक्रियोपसर्जनस्यान्यत्रान्वयासंभवात् । अत एव 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इत्युत्प्रेक्षामुदाहृतवता दण्डिनोक्तोदाहरणयोरिवशब्दश्रवणाल्लेपनवर्षणकर्तृभ्यां तमोनभसोरुपमामाशङ्क्य—

(भारती)

इस उदाहरण में चन्दन घिसने के लिए शिलाप्रान्त स्थानीय किनारे में, समुद्र के हाथ के स्थान में तरङ्गों के अग्रभाग से फेनरूपी चन्दन के पेषकत्व से, और चन्दन का दिग्वधू के धवलीकरण से—प्रतीयमान दोनों निमित्तों के द्वारा तत्कर्तृक पेषण और लेपन मात्र की उत्प्रेक्षा से तथा उससे भिन्न तर्कणाभाव के कारण अव्याप्ति है। अगर आप यह कहें कि दोनों वाच्यों से ही पेषणत्व और लेपनत्व क्रिया से तत्कर्तृक तादात्म्य की उत्प्रेक्षा से अन्यत्व के द्वारा यहाँ संभावना है ही, तो इसका यह उत्तर है कि 'पिनष्टि' इत्यादि क्रिया का कर्तृवाचकत्व होने पर भी, **'भावप्रधानमाख्यातम्' 'सत्त्वप्रधानानि नामानि'** इस क्रियारूप धातु के अर्थ में विशेषणीभूत तिङर्थ के कर्त्ता की सम्भावना में अन्वय असम्भव है।

निष्कर्ष : यहाँ **'भावप्रधानमाख्यातम्'** से वाक्य-विरोध होगा; क्योंकि आख्यात में व्यापार प्रधान होता है; जब कि यहाँ प्रथमांत पद प्रधान है। यह कुछ नहीं है। **'भावप्रधानमाख्यातम्'** क अर्थ 'आख्यात' का 'प्रधान' 'भाव' होता है। यहाँ आख्यात का अर्थ तिङ् प्रत्यय, प्रधान का वाच्य एवं भाव का व्यापार करने पर उपर्युक्त बात की पुष्टि हो जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि 'प्रधान' का यहाँ 'वाच्य' अर्थ कैसे हुआ ? इसके अगले वाक्य **'सत्त्वप्रधानानि नामानि'** का अर्थ 'प्रातिपदिक द्रव्यवाची होते हैं, में 'प्रधान' का अर्थ 'वाच्य' ही है। अतः उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

और भी-अन्य विशेषण का दूसरी जगह अन्वय की अयोग्यता भी है। इसीलिए इस उदाहरण में—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत् पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥

'ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे अंधेरा अंग-अंग में लेप रहा हो, आकाश का जल बरसा रहा हो और आँखें दुष्ट सेवा की भाँति व्यर्थ हो गयी हो।'

यहाँ दो अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षाएँ हैं। यहाँ पर अन्धकार का विना वर्णन किये ही काजल की वर्षा तथा अन्धेरा के लेपन कार्य के रूप में संभावना का कथन किया गया हैं। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है रात्रि का अन्धकार, जो अनुक्त हैं।

विमर्श—'लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' अर्थात् अन्धकार मानो अंगों को काले रंग से पोत रहा है; आकाश मानो काजल बरसा रहा है। इस पद्य में प्रथमांत कर्त्ता अंधकार और आकाश में क्रमशः 'पोतना' और 'बरसना' क्रियाओं के कर्त्ता होने की उत्प्रेक्षा नहीं है। इसका कारण यह है कि इसमें कर्तृत्व आख्यात के अर्थ का विशेषण है, जिसके फलस्वरूप यह वाक्य के प्रधान अंश की अपेक्षा एकदेश है। इसलिए मुख्य न होने से 'कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा नहीं कही जा सकती। तथा 'पोतने', 'अंधकार' आदि में कर्त्ता के अभेद सम्बन्ध होने से यहाँ उत्प्रेक्षा ही है। क्योंकि (कर्त्ता) में क्रिया के विशेषण होने के कारण प्रधानत्व की कमी है। किन्तु यहाँ 'अन्धकार', 'अंग' एवं 'पोतने' रूपी क्रमशः कर्त्ता, कर्म और क्रिया की उत्प्रेक्षा 'आकाश', 'काजल' एवं 'बरसने' इत्यादि में हो रही है। इन दोनों उत्प्रेक्षित—पोतने और बरसने के द्वारा इस उत्प्रेक्षा का विषय 'व्याप्त होना' निगीर्ण कर लिया गया है। फलतः 'व्याप्त होने' का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। इस प्रकार के व्यवहृत उत्प्रेक्षा को अनुपात्तविषया उत्प्रेक्षा कहते हैं। अपने निमित्त धर्म 'काले कर डालना' के कारण वह अनुपात्त है।

यहाँ अन्धकार के व्यापनादि और लेपनादि रूप से संभावना के कारण उत्प्रेक्षा के रूप में इसे उदाहृत करते हुए दण्डी ने लेपन-वर्षणकर्तृक अन्धकार और नभ के शब्दश्रवण से उपमा की तरह आशङ्का कर कहा है—

(सुधा)

अत्रोदाहरणे चन्दनघर्षणशिलाप्रान्तस्थानीयतटे समुद्रस्य हस्तस्थानीयतरङ्गाग्रैः फेनचन्दनपेषकत्वेन चन्दनस्य दिगङ्गनाधवलीकरणेन चेत्येवं प्रतीयमानाभ्यां द्वाभ्यां निमित्ताभ्यां तत्कर्तृकपेषणलेपनमात्रोत्प्रेक्षणेन तदन्यतयोपतर्कणाभावादव्याप्तिः। न च वाच्याभ्यामेव पेषणत्वलेपनत्वाभ्यां तत्कर्तृकतादात्म्यस्योत्प्रेक्षणीयतयाऽन्यत्वेन सम्भावनमस्त्येवेति वाच्यम्, पिनष्टीत्यादेराख्यातस्य कर्तृवाचकत्वेऽपि 'भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति क्रियारूपधात्वर्थे विशेषणीभूततिङर्थस्य कर्तुः सम्भावनायामन्वयासम्भवात्। अन्यविशेषणस्यान्यत्रान्वयायोगात्। अत्र दण्डिमतप्रमाणमुपन्यस्यति—अत एवेति। तमोऽङ्गानि लिम्पतीव, नभोऽञ्जनं वर्षतीव। अत्र तमसो व्यापनादेर्लेपनादिरूपतया सम्भावितत्वादुत्प्रेक्षामुदाहृतवता दण्डिना लेपनवर्षणकर्तृभ्यां तमोनभसोरुपमामिव शब्दश्रवणादाशङ्क्य—

(चित्र०)

कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे।
स्वक्रियासाधने व्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम्॥

इति दूषितम्।

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः॥

इत्यत्र निरतिशयलावण्यशालिजङ्घासृष्ट्यनुमितेन निःशेषलावण्यकोशव्ययेन निमित्तेन विधातुः शेषाङ्गनिर्माणोपयुक्तलावण्योत्पादने यत्नमात्रमुत्प्रेक्ष्यते, न तु तथाभूतयत्नवत्तादात्म्यमिति स्पष्टमेव।

अपि चाप्रकृतधर्मिकोत्प्रेक्षायां प्रकृतमित्यंशाभावादव्याप्तिः। यथा—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥

(भारती)

अर्थात् यदि उपमान ही कर्त्ता हो, तब क्रिया पद में विशेषणीभूत यह अपनी क्रिया की साधनव्यग्रता से अन्वय अर्थात् सादृश्यान्वय की अपेक्षा के लिए समर्थ नहीं होती है।' इससे समाधान करते हुए दूषित कहा है।

'विधाता को पार्वती के शरीर-निर्माण के लिए, एकत्रीकृत सम्पूर्ण सौन्दर्य-द्रव्यों का व्यय, केवल उसके दोनों सुन्दर जंघाओं के निर्माण में ही हो गया। अब शरीर के अन्य अवयवों के निर्माण के लिए उन्हें अतिरिक्त लावण्य द्रव्यों का प्रयत्नपूर्वक संग्रह करना पड़ा।'

यहाँ अत्यन्त सौन्दर्यशाली जंघाओं के निर्माण में सम्पूर्ण लावण्यकोश के व्यय हो जाने के निमित्त से विधाता का पार्वती के शेष अङ्गनिर्माणोपयुक्त लावण्य के उत्पादन में प्रयत्नमात्र की उत्प्रेक्षा है नकि तथाभूत यत्न की तरह तादात्म्य की उत्प्रेक्षा है।

और भी 'प्रकृत' का कथन भी यहाँ उचित नहीं है। क्योंकि अप्रकृतधर्मिका उत्प्रेक्षा में उसके अभाव से अव्याप्ति है। जैसे—

'दमयन्ती के मुख का निर्माण करते समय विधाता ने चन्द्रमा के बीच से सौन्दर्यरूपी सार भाग ले लिया। फलतः चन्द्रमा के बीच में ही छिद्र हो गया। आज भी चन्द्रमा के बीच के उस छेद से होकर उस पार के आकाश की नीलिमा साफ-साफ दिखाई दे रही है।'

(सुधा)

यद्युपमानं कर्ता स्यात्, तदा क्रियापदे विशेषणीभूतोऽसौ स्वक्रियासाधनव्यग्रत्वाद-न्यत्=सादृश्यान्वयमपेक्षितुं समर्थो न भवतीत्यादिना समाहितम्। किञ्च, वृत्तेवर्तुले पूर्वमनुगते अनुपूर्वे, गोपुच्छाकार इत्यर्थः।

वृत्ते च ते अनुपूर्वे च वृत्तानुपूर्वे, नातिदीर्घे च, महाविभाषया समासाभावः। शुभे मङ्गले, तस्या इमे तदीये जङ्घे, सृष्टवतो निर्मितवतो विधातुः स्रष्टुः शेषाङ्गनिर्माण-विधौ विषये जङ्घातिरिक्तावयवनिर्माणार्थम्, उत्पाद्ये पुनः सम्पाद्ये लावण्ये कान्ति-विशेषविषये सयत्न इव आसेत्यन्वयः। अत्राप्युदाहरणे निरतिशयलावण्यशालिजङ्घास-ष्ट्यनुमितनिरशेषलावण्यव्ययात्मकधर्मसम्बन्धेन विधातुः शेषाङ्गनिर्माणोपयोगिलावण्यो-त्पादनयत्नमात्रस्योत्प्रेक्षणं न तु यत्नवत्तादात्म्योत्प्रेक्षा। तथा च तद्यत्नस्यापि तद्धर्मतोऽ-न्यत्वाभावादव्याप्तेश्च। दूषणान्तरं लक्षणे पुनः प्रतिपादयति—अपि चेति। प्रकृतमित्य-स्यापि कथनं न युज्यते, अप्रकृतधर्मिकोत्प्रेक्षायां तस्याभावात्। तदेवाह—यथेति। इन्दुमण्डलं चन्द्रबिम्बं वेधसा ब्रह्मणा दमयन्तीवदनाय तन्निर्मातुं हृतसारमिव गृहीतश्रेष्ठ-भागमिव, कृतं मध्ये बिलं छिद्रं यस्य धृतो गम्भीरखन्यां निम्नगर्ते उपरिस्थस्य खस्या-काशस्य नीलिमा येन तादृशं विलोक्यते दृश्यते तर्क्यते इति यावदित्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र कृतमध्यबिलमिति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गापेक्ष्यातिशयोक्त्या कृत-मध्यरन्ध्राकाशनैल्यत्वेनाध्यवसितो यः कलङ्कस्तद्धत्त्वेन निमित्तेन कलङ्काध्य-

वसितघृतमध्यरन्ध्राकाशनैल्यत्वनिमित्तोत्प्रेक्षितं कृतमध्यबिलत्वेन निमित्तेन वा चन्द्रमण्डलं दमयन्तीवदननिर्माणाय हृतसारत्वेनोत्प्रेक्षितम्, न तु प्रकृतं दमयन्तीवदनमेवोक्तप्रकाराहृतैन्दवसारांशनिर्मितत्वेनोत्प्रेक्षितम्।

यद्बालेन्दुकलोच्चयादुपचितैः सारैरिवोत्पादितम्।
तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्॥'

इत्यत्रेव तथाशब्दान्वयाभावात्।

(भारती)

इस उदाहरण में कलङ्क के निमित्त से अथवा बीच में छेद के निमित्त से चन्द्रमण्डल का दमयन्ती के मुख-निर्माण के लिए 'हृतसारत्व' की उत्प्रेक्षा है नकि प्रकृत दमयन्ती-वदन की उक्त प्रकार से आहृत चन्द्रमा के सारांशत्व से उत्प्रेक्षा है। अतः यहाँ प्रकृत का उत्प्रेक्षणाभाव के कारण अप्रकृत चन्दमण्डल की उत्प्रेक्षा से ही अव्याप्ति है। यहाँ चन्द्र की कलङ्कता और बीच के छेद की निमित्तता कैसे हुई ? यह सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि, 'बीच में छेद कर दिया' इस पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग की अपेक्षा अतिशयोक्ति के द्वारा छिद्र के बीच से प्रदर्शित आकाश की नीलिमा से कलङ्क के अध्यवसित करने के कारण साध्यवसाना लक्षणा से उसी कलङ्क का निश्चयाभिधान के अभाव में भी उसकी विद्यमानता से, तथा कलङ्कत्व के निश्चित होने पर जो चन्द्रमा के बीच के छिद्र से आकाश की नीलिमा की प्रतीति है, उसी निमित्त से बीच के छिद्र की भी उत्प्रेक्षा है।

अगर यह कहें कि दमयन्ती के मुख का ही उसी प्रकार के चन्द्रमा के सारांश से निर्मित होने के कारण उत्प्रेक्षा में प्रकृत की उत्प्रेक्षा से किस प्रकार अव्याप्ति होगी, तो इसका यह उत्तर है कि—

'जिस मुखका निर्माण बालेन्दु की समस्त कलाओं के संग्रह का सार भाग लेकर किया गया है, उस अनङ्गमङ्गल गृह के सदृश (मालती के) मुख को बार-बार देखता है।'

यहाँ यदादि शब्दों का मुख में अन्वय रहने पर भी जैसे प्रकृत की उत्प्रेक्षा है, उसी प्रकार दमयन्ती के मुख में उत्प्रेक्षणीय शब्द का अन्वयाभाव है।

(सुधा)

अत्रोदाहरणे कलङ्कवत्त्वेन निमित्तेन वा मध्यबिलत्वेन निमित्तेन चन्द्रमण्डलस्य दमयन्तीवदननिर्माणार्थं हृतसारत्वेनोत्प्रेक्षणम्, न तु प्रकृतस्य दमयन्तीवदनस्योक्तप्रकाराहृतैन्दवसारांशत्वेनोत्प्रेक्षणम्। अतोऽत्र प्रकृतस्योत्प्रेक्षणाभावेनाप्रकृतस्यैव चन्द्रमण्डलस्योत्प्रेक्षणादव्याप्तिरित्यर्थः। कलङ्कवत्त्वमध्यबिलत्वयोर्निमित्तत्वं कथमिति तु न शंक्यम्, कृतमध्यबिलमिति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गमपेक्ष्यातिशयोक्त्या कृतमध्यरन्ध्राकाशनैल्यत्वेन कलङ्कस्याध्यवसितत्वात्, साध्यवसानलक्षणया तेनैव कलङ्कस्य निश्चितत्वेनाभिधानाभावेऽपि तस्य विद्यमानत्वाच्च, कलङ्कत्वेन निश्चिते यन्मध्यरन्ध्राकाशनैल्यं तेन निमित्तेन मध्यबिलस्याप्युत्प्रेक्षितत्वेन लाभाच्च। न च दमयन्तीवदनस्यैव तादृशैन्दवसारांशनिर्मितत्वेनोत्प्रेक्षणे प्रकृतस्योत्प्रेक्षणसत्त्वात् कथमव्याप्तिरिति वाच्यम्। 'सम्भूयेव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते। यत्रालोकपथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः।

बहालेन्दुकलोच्चयादुपचितैः सारैरिवोत्पादितं, तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ॥' तत् तस्या मालत्या अनङ्गस्य मंगलार्थं गृहं सुवर्णगृहं वा 'कल्याणं मंगलं विद्यात् काञ्चनञ्च तदष्टम्' इति विश्वकोशोक्तेः, अनंगस्य मङ्गलानां सौकुमार्यादीनामुपचय-हेतूनां गृहं या मुखं पुनरपि पश्येयम्। आलोकमार्गावतारिणि सम्मुखीभूते यत्र मुखे सति सुखानि सम्भूयेव मिलित्वेव चेतसि परं बाहुल्यं विस्तारयन्ति नेत्रोत्सवो रतिमनु-रागं प्रस्तौति स्रवति। किञ्च, यन्मुखं बालेन्दोः कलानां समूहादुपचितैर्गृहीतैरिव सारांशै-रुत्पादितमित्यन्वयः।

(चित्र०)

ननु यथा शब्दतोऽन्वयालाभेऽपि 'ब्राह्मणशतं भोज्यताम्' इत्यत्र प्रधान-मतिलङ्घ्योपसर्जने क्रियान्वयपर्यवसानम्, संख्याया भोजनान्वयायोग्यत्वात्, तथेहापि प्रधानमिन्दुमण्डलमतिलङ्घ्योपसर्जने दमयन्तीवदने इन्दुमण्ड-लाहृतसारांशनिर्मितत्वोत्प्रेक्षापर्यवसानं स्यात्, अप्रकृतस्यावर्णनीयत्वादिति चेत्, न; अप्रकृतवर्णनस्याप्यप्रस्तुतप्रशंसारूपेण प्रकृतातिशयाधानार्थतया-न्वेतुं योग्यत्वात्।

(भारती)

अब पुनः 'ननु' से शंका करते हैं कि 'ब्राह्मणशतं भोज्यताम्' यहाँ 'शत' का भोजन की क्रिया में अन्वय नहीं रहने के कारण उसे छोड़कर उसके उपसर्जनीभूत ब्राह्मणों में भोजन-क्रिया के अन्वय का शब्द द्वारा अन्वय नहीं रहने पर भी जैसे पर्यवसान है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रकृत वर्णनीय अनर्हता से अप्रकृत प्रधान इन्दुमण्डल का भी उल्लंघन कर उपसर्जनीभूत दमयन्ती-वदन का इन्दुमण्डल से आकृत असार भाग के द्वारा निर्माण होने के कारण उत्प्रेक्षा से व्याप्ति नहीं है, तो इसका समाधान करते हैं कि यहाँ अप्रकृत वर्णन का भी अपनी ही प्रशंसारूप से प्रकृत के अतिशय आधान में प्रयोजकता से वर्णन की योग्यता द्वारा अन्वय की दुर्निवारता है।

(सुधा)

अत्र यदादिशब्दानां मुखेऽन्वयसत्त्वाद्यथा प्रकृतस्योत्प्रेक्षणं तथा दमयन्तीवदने उत्प्रेक्ष-णीयशब्दस्यान्वयाभावात्। न च 'ब्राह्मणशतं भोज्यताम्' इत्यत्र शतस्य भोजनक्रिया-यामन्वयानर्हतया तमतिलङ्घ्य तदुपसर्जनीभूतब्राह्मणेषु भोजनक्रियान्वयस्य शब्दद्वाराऽन्व-यस्यालाभेऽपि पर्यवसानम्, तथात्राप्यप्रकृतस्य वर्णनीयानर्हतया प्रधानमपीन्दुमण्डलम-प्रकृतमुल्लङ्घ्योपसर्जनस्यापि दमयन्तीवदनस्येन्दुमण्डलाहृतसारांशनिर्मितत्वेनोत्प्रेक्षणान्ना-व्याप्तिरिति वाच्यम्, अप्रकृतवर्णनस्यापि स्वप्रशंसारूपेण प्रकृतातिशयाधाने प्रयोजकतया वर्णनयोग्यत्वेनान्वयस्य दुर्वारतया वक्तुं शक्यत्वात्।

(चित्र०)

न च वाच्यम् 'इन्दुर्लिप्त इव' इत्यप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणान्तर इवात्रापि संभावनामात्रमेव नोत्प्रेक्षेति। तत्र सहृदयहृदयाह्लादिनिमित्ताभावे नोत्प्रेक्षा-सामग्रीपरिपूर्त्यभावादुत्प्रेक्षाया असंभवेऽप्यत्र तत्संभवादप्रस्तुतप्रशंसया संकरापत्तेः। तस्मादव्याप्तत्वान्नेदं लक्षणं युक्तमिति चेत्? अत्र ब्रूमः—

न तावत् 'हृतसारम्' इत्यादावव्याप्तिः, प्रकृतशब्दस्य विषयत्वाभिमतमात्रपरत्वात्। न चैवं 'इन्दुर्लिप्त इव' इत्यादावतिव्याप्तिः, तत्र सीतावदनसंनिधाने वस्तुतोऽन्यधर्मत्वे सत्यपीन्दुगताञ्जनलिप्तत्वसंभावनायामन्यधर्मत्वस्याप्रयोजकत्वात्, धर्मस्य सहृदयहृदयाह्लादिनो विवक्षितत्वाद्वा। अन्यत्वेनेत्यस्यान्येन प्रकारेणेत्यर्थ इति न हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षास्वव्याप्तिः; यत्र धर्मिणि धर्म्यन्तरं तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते तत्र धर्म्यन्तरमन्यः प्रकारः, यत्र तु कश्चिद् धर्म एव किञ्चित्प्रति हेतुतया फलतया स्वरूपेण चोत्प्रेक्ष्यते, तत्र स एव धर्मोऽन्यः प्रकार इति सर्वत्राप्यनुगतेः।

(भारती)

प्रकारान्तर से समाधान की आशंका कर उसका 'नच' से निराकरण करते हैं। 'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन' अर्थात् काजल से लिपा हुआ की तरह इत्यादि अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में जैसे संभावना मात्र ही उत्प्रेक्षा नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी उत्प्रेक्षणाभाव है। तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ सीता के मुखसान्निध्य रूप हेतु का सहृदय-हृदय के आह्लादक रूप निमितत्व के अभाव से अर्थात् उत्प्रेक्षण सामग्री की पूर्ति के अभाव से वहाँ उसकी असंभावना में भी 'बीच के छिद्र' का चमत्कारक रहने के कारण अप्रस्तुत से सङ्कर की उत्पत्ति है। अतः अन्याप्तिग्रस्तरहने के कारण यह लक्षण उचित नहीं है। 'अत्र ब्रूमः' से समाधान करते हैं—

यहाँ प्रकृत शब्द का विषय मात्रपरता का सम्बन्ध दोनों जगहों में समान रूप है। ऐसा करने के कारण ही 'हृतसारमिवेन्दुमण्डलम्' इस उदाहरण में इन्दुमण्डल का भी विषयत्व के अविशेष से उसके उत्प्रेक्षण में अव्याप्ति असंभव है। 'इन्दुर्लिप्त इव' इत्यादि में भी अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि सीता के मुखसान्निध्य को सहृदय-हृदय के आह्लादकत्व का अभाव है। किन्तु 'अन्यत्वेन' इस विशेषण का भी दूसरे ढंग से लक्षण में अन्यपरता व्याख्येय है। इससे पूर्व कथित हेतुफलधर्मस्वरूप उत्प्रेक्षा में भी अव्याप्ति नहीं है। उसे ही कहते हैं कि जहाँ धर्मो में दूसरे धर्म का तादात्म्य सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा है, वहाँ अन्य धर्म की ही अन्यप्रकारता है और जहाँ धर्म ही किसी के प्रति हेतुत्वादि से उत्प्रेक्षित है, वहाँ धर्म की अन्यप्रकारता है

(सुधा)

प्रकारान्तरेण समाधानमाशङ्क्य निराकरोति—न चेति। 'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन' इत्यादावप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे यथा सम्भावनामात्रं नोत्प्रेक्षणं तथेहाप्युत्प्रेक्षणाभाव एवेति वाच्यम्, तत्र सीतावदनसान्निध्यरूपहेतोः सहृदयहृदयाह्लादिरूपनिमित्तत्वाभावादुत्प्रेक्षणसामग्रीपूर्तेरभावात् तत्र तदसम्भवेऽपि मध्यबिलत्वस्य च तच्चमत्कारित्वसम्भवेनाप्रस्तुतसङ्करोपपत्तेः। तस्मादव्याप्तिग्रस्तत्वाद् नेदं लक्षणं युक्तमिति पूर्वपक्षग्रन्थार्थः। अत्र समाधत्ते अत्र—ब्रूम इत्यादिना। प्रकृतशब्दस्य विषयमात्रपरत्वम्, तस्य चोभयत्र समानत्वम्, तथा च 'हृतसारमिवेन्दुमण्डलम्' इत्यत्रेन्दुमण्डलस्यापि विषयत्वाविशेषेण तदुत्प्रेक्षणेऽव्याप्तेरसम्भवात्। 'इन्दुर्लिप्त इव' इत्यादावपि नातिव्याप्तिः, सीतावदनसान्निध्यस्य सहृदयहृदयाह्लादित्वाभावात्। किञ्च तस्यान्यधर्मत्वे सत्यपि इन्दुगताञ्जनलिप्तत्वसम्भावनायां तस्य प्रयोजकत्वाभावात्। किञ्चान्यत्वेनेत्यस्यापि अन्येन प्रकारेणेत्यर्थपरत्वं लक्षणे व्याख्येयम्। तेन पूर्वोक्तासु हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षासु नाव्याप्तिः। तदेवाह—

यत्रेति। यत्र धर्मिणि धर्म्यन्तरस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षणम्, तत्र धर्म्यन्तरस्यैवान्यप्रकारकत्वम्, यत्र धर्म एव किञ्चित्प्रति हेतुत्वादिनोत्प्रेक्ष्यते, तत्र धर्मस्यान्यप्रकारत्वम्।

(चित्र०)

यद्वा हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेष्वपि तादात्म्येनैवोत्प्रेक्षा। तथा हि—'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्', 'चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य' इत्यादिहेतुफलोत्प्रेक्षोदाहरणयोस्तावद्विश्लेषदुःखललाटाक्षरदर्शनाद्धर्मो हेतुतया फलतया वा नोत्प्रेक्ष्यते', किं तु नूपुरयुगादिधार्मिकं यन्निश्चलत्वकण्टकसंश्लेषादिनिमित्तकं मौनव्यापाटनादिकं तदेव दुःखहेतुकमौनललाटाक्षरदर्शनार्थव्यापाटनादितादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते।

(भारती)

वहाँ हेतूत्प्रेक्षा में तादात्म्य सम्बन्ध से उत्प्रेक्षण बताते हैं। वैसा करने से 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्' इस उदाहरण में वियोगजन्य दुःखरूप धर्म की हेतुता से उत्प्रेक्षण नहीं है, किन्तु नूपुरधर्मिक जो निश्चलत्वनिमित्तक मौन है, उसका ही दुःखहेतुक मौन की तादात्म्य सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा है। 'चोलस्य यद् भीतिपलायितस्य' इत्यादि फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण में भी ललाटाक्षर के दर्शनात्मक धर्म का फलत्व से उत्प्रेक्षण नहीं है, बल्कि द्रुमधर्मिक जो कण्टकश्लेष के निमित्त व्यापाटन है, उसका ही ललाटाक्षर देखने के लिए व्यापाटन का अभेद से उत्प्रेक्षण है।

(सुधा)

प्राचां मतमनुसरन्नभेदेनोत्प्रेक्षणं हेत्वादिषु प्रतिपादयति—यद्वेति। तत्र हेतूत्प्रेक्षायां तादात्म्येनोत्प्रेक्षणमाह—तथा हीति। 'सैषा स्थली' इत्यत्र विश्लेषदुःखरूपधर्मस्य हेतुतया नोत्प्रेक्षणम्, किन्तु नूपुरधर्मिकं यन्निश्चलत्वनिमित्तकं मौनम्, तस्यैव दुःखहेतुकमौनतादात्म्येनोत्प्रेक्षणात्। 'चोलस्य यत्' इत्यादिफलोत्प्रेक्षोदाहरणेऽपि ललाटाक्षरदर्शनात्मकधर्मस्य फलत्वेन नोत्प्रेक्षणम्, अपि तु द्रुमधर्मिकं यत् कण्टकश्लेषनिमित्तं व्यापाटनम्, तस्यैव ललाटाक्षरदर्शनार्थव्यापाटनाभेदेनोत्प्रेक्षणाच्च।

(चित्र०)

अवश्यं च द्विविधस्यापि मौनादेस्तादात्म्येनाध्यवसाय आस्थेयः। अन्यथा निश्चलत्वादिहेतुके स्वाभाविकमौनादौ दुःखादेर्हेतुत्वादिनोत्प्रेक्षणमसमञ्जसं स्यात्।

अङ्गीकृतश्च 'सैषा स्थली' इत्यादौ दुःखादिर्धर्म एव मौनादिहेतुतया नूपुरादिगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति वदताप्यलङ्कारसर्वस्वकृता द्विविधस्य मौनादेरभेदाध्यवसायः। 'हेतूत्प्रेक्षायां यस्य प्रकृतसंबन्धिनो धर्मस्य हेतुरुत्प्रेक्ष्यते स धर्मोऽध्यवसायवशादभिन्न उत्प्रेक्षानिमित्तत्वेनाश्रीयते' इत्यादितद्वचनात्।

(भारती)

व्यतिरेक में हेतुदोष 'अवश्यम्' से बताते हैं—दो प्रकार के मौनादि का अभेद से अध्यवसाय

के लिए आवश्यक है। अन्यथा निश्चलत्व आदिहेतुक स्वाभाविक मौनादि में दुःखादि का हेतुत्वादि से उत्प्रेक्षण की असामञ्जस्यापत्ति होगी।

दुःखादि धर्म की ही मौनादिहेतुता से नूपुरादिगतत्व से उत्प्रेक्षण कहने वाले अलङ्कारसर्वस्वकार ने दो प्रकार के मौनादि का अभेदसम्बन्ध से अध्यवसाय की स्वीकृति दी है। अलङ्कारसर्वस्व में लिखा है—"हेतूत्प्रेक्षा में प्रकृतसम्बन्धी जो धर्महेतु का उत्प्रेक्षण है, वही धर्म अध्यवसायवश अभिन्नभाव से उत्प्रेक्षा की हेतुता का आश्रय ग्रहण करता है।

(सुधा)

व्यतिरेके हेतुदूषणमाह—अवश्यमिति। द्विविधमौनादेरभेदेनाध्यवसाय आवश्यकः। अन्यथा निश्चलत्वादिहेतुकस्वाभाविकमौनादौ दुःखादेर्हेतुत्वादिनोत्प्रेक्षणस्यासामञ्जस्यापत्तेः। अलङ्कारसर्वस्वोक्तिं प्रमाणयति—अङ्गीकृतमित्यादिना। दुःखादिधर्मस्यैव मौनादिहेतुतया नूपुरादिगतत्वेनोत्प्रेक्षणमिति वदता अलङ्कारसर्वस्वकृता द्विविधमौनादेरभेदाध्यवसानाङ्गीकारस्य स्वीकारात्। तद्ग्रन्थोक्तिमप्याह—हेतूत्प्रेक्षायामिति। प्रकृतसम्बन्धिनो यस्य धर्मस्य हेतोरुत्प्रेक्षणम्, स धर्मोऽध्यवसायवशात् अभिन्न उत्प्रेक्षाहेतुतयाश्रीयत इति तद्ग्रन्थार्थः।

(चित्र०)

आवश्यकं चान्यत्रापि क्वचित्क्वचिद्धेतूत्प्रेक्षोदाहरणे निमित्तांशे तादात्म्याध्यवसायाश्रयणम्। तथा—

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः॥

(भारती)

इसी प्रकार काव्यप्रकाशादि के उदाहरणों में भी कहीं कहीं हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरणों के निमित्तांश में भी तादात्म्य सम्बन्ध से अध्यवसाय आश्रित है। जैसे—

'अरी सुन्दरी! मालूम तो ऐसा पड़ता है कि कमल की सुन्दरता इसलिए प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे पैरों में आ विराजी है कि इन्दीवरनयनी तुम्ही एक ऐसी रही जिसने अपनी मुखशोभा से बलपूर्वक उस चन्द्रमा का सौन्दर्य-दर्प चूर कर दिया—जो रात में उस कमल की सुन्दरता का शत्रु बन गया, तथा उस कमल की शोभा के उल्लास को सहन न कर सका।'

(सुधा)

एवमलङ्कारसर्वस्वोक्तिमुपन्यस्य प्रकाशोदाहरणेऽपि तदाश्रयणं प्रतिपादयति—आवश्यकञ्चान्यत्रापीत्यादिना। उन्मेषमिति। 'जात्या स्वभावेनैव वैरी शत्रुर्य इन्दुः, मम निशायाम् उन्मेषं विकासं न सहते, तस्येन्दोः सौन्दर्यगर्वः, इन्दीवरदलदृशा अनया मुखकान्त्या प्रसभं बलात्कारेण शान्तिं नीत इति हर्षात् हे ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीर्लग्ना इत्यहं मन्ये, इत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र हेतुतया हर्षोत्प्रेक्षां प्रति तत्फलत्वाभिमतं पादयोः पद्मलक्ष्म्या लगनं निमित्तं वाच्यम्, तच्च सर्वथैवासिद्धम्। अतस्तत्र पादयोर्यः स्वाभाविकशोभा-संबन्धः स एव पद्मलक्ष्मीलग्नत्वेनाध्यवसितो निमित्तमिति समर्थनीयम्।

(भारती)

यहाँ नायिका के चरणों में स्वभावतः लिपटी कमल की शोभा तो उपमेय रूप प्रकृत है और इसकी तादात्म्य-संभावना जिससे की गयी है वह है उस नायिक के मुख की शोभा—जिससे चन्द्रमा के सौन्दर्यदर्प के दमन किये जाने के कारण प्रसन्नतापूर्वक उस नायिका के पैरों में लिपटने वाली कमल की शोभा (इस सम्बन्ध में प्रदीपकार का विचार दर्शनीय है—"अत्र पद्म-लक्ष्म्याः कामिनीचरणयोः स्वभावलग्नत्वं यथोक्तहर्षहेतुकलग्नत्वतादात्म्येन संभावित-मिति हेतूत्प्रेक्षेयम्"।

तात्पर्य यह कि इस पद्य में जो हेतूत्प्रेक्षा है, उसमें भी शोभारूपी विषय में केवल हर्षरूपी हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती है। किन्तु; 'हर्ष' जिसका हेतु है उस विषयी (चिपकना) का अभेदसंबन्ध द्वारा स्वाभाविक 'चिपकना' आदि विषय में उत्प्रेक्षा की जा रही है। अर्थात् पद्म की शोभा जो पैरों में स्वभावतः लिपटी हुई है, न कि हर्ष के कारण, उस स्वाभाविक लिपटने में—हर्ष के कारण लिपटने की, कवि-कल्पना होने के कारण, उत्प्रेक्षा की जा रही है।

(सुधा)

अत्र निमित्तस्य तादात्म्येनाध्यवसायं प्रतिपादयति—अत्रेत्यादि। हर्षोत्प्रेक्षणं प्रति हर्षरूपफलाभिमतस्य, चरणाश्रयपद्मलक्ष्मीलग्नात्मकनिमित्तस्य सर्वथाऽसिद्धत्वेन पाद-विषयकशोभासम्बन्धस्यैव पद्मलक्ष्मीलग्नत्वेनाध्यवसितस्य निमित्तत्वसम्भवादित्याशयः।

(चित्र०)

एवं निमित्तांशे तादात्म्याध्यवसानावश्यंभावे तत्रैवोत्प्रेक्षाविश्रान्तिरस्तु। न च तत्र निमित्तान्तरमन्वेष्यं स्यादिति वाच्यम्; निश्चलत्वहेतुकमौनत्वेनोत्प्रे-क्षायां चरणारविन्दविश्लेषकालभवत्वं निमित्तं कण्टकसंश्लेषहेतुकव्यापाटनस्य ललाटलिपिदर्शनार्थव्यापाटनत्वेनोत्प्रेक्षायां महाराजोऽप्येवं कष्टमनुभवति, इतः परमपि कियदनुभाव्यमनेनेति जिज्ञासोत्थापकपलायनकालभवत्वमित्यादेः स्पष्टत्वात्।

(भारती)

इस प्रकार निमित्तांश के अवश्यम्भावी तादात्म्य-संभावना में उत्प्रेक्षा की विश्रान्ति है। अगर आप यह कहें कि वहाँ उत्प्रेक्षा में अन्य धर्म की अन्वेषणापत्ति है, तो इसका उत्तर यह है कि 'सैषा वनस्थली' इत्यादि अर्थात् 'यह वही वनभूमि है जहाँ तुमको ढूढ़ते हुए मैंने भूमि पर नूपुर को पाया था, जो तुम्हारे चरण-कमल के विरहजन्य दुःख से मौन दिखलाई पड़ता था।' इस उदाहरण में तुम्हारे चरण-कमल का विरह काल हो इसका तथा इस प्रकार महाराज के कष्टानुभव में भी इससे अधिक और क्या? जिसका अनुभव किया जाय और इस जिज्ञासा से उत्पन्न पलायन

काल हो इसका भी,—निश्चलत्वहेतुक मौन का दुःख हेतुक मौनत्व के साथ उत्प्रेक्षा में कण्टक-संश्लेषनिमित्तक चमड़ी उधेड़ने का—'ललाटलिपि देखने के लिए' व्यापाटनत्व से उत्प्रेक्षण में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन है।

विमर्श—निष्कर्ष यह कि जिनकी दृष्टि में हर्ष के कारण लिपटनेरूपी कार्य जो चेतनकृत है, को उत्प्रेक्षा का निमित्त मानते हैं, तो उनके विषय में प्राचीनों का कहना है कि—उन्हें भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि हर्ष के कारण लिपटनेरूपी विषयी का विषय अर्थात् पैरों में रहने वाले उसके सजातीय, अर्थात् स्वाभाविक लिपटने के साथ अभेद माना गया है। कारण, जब तक ये 'दोनों लिपटने' एक नहीं माने जायेगें तब तक लिपटना उत्प्रेक्षा का निमित्त कैसे बन सकता है ? क्योंकि निमित्त बनने वाले धर्मविषय और विषयी दोनों में अभिन्न रूप से अवश्यमेव रहना चाहिए, अन्यथा हेतुरूपी विषयी धर्म शोभा के 'चिपकने' के साथ रहने वाले कार्य हर्ष के कारण चिपकने के विषय अर्थात् पैरों में न रहने के कारण उत्प्रेक्षा ही न हो सकेगी अर्थात् उन्हें भी स्वाभाविक चिपकने को 'हर्ष के कारण चिपकने' के अन्तःप्रविष्ट (अभिन्न) माने बिना कोई गति नहीं है। अतः पूर्वकथित प्रक्रिया ही इस दृष्टि से उचित है।

(सुधा)

फलितमाह—निमित्तांशे तादात्म्याध्यवसानस्यावश्यम्भावे निमित्तांशे उत्प्रेक्षण-विश्रामः। न च तत्रोत्प्रेक्षणे धर्मान्तरान्वेषणापत्तिरिति वाच्यम् , 'सैषा स्थली' इत्यादौ चरणारविन्दविश्लेषकालभवत्वस्य महाराजस्यापि एवं कष्टानुभवे, इतः परमनेन किं यदनुभाव्य इति जिज्ञासोत्थापकपलायनकालभवत्वस्य च निश्चलत्वहेतुकमौनस्य दुःख-हेतुकमौनत्वेनोत्प्रेक्षणे कण्टकसंश्लेषनिमित्तकव्यापाटनस्य ललाटलिपिदर्शनार्थव्यापाटन-त्वेनोत्प्रेक्षणे च स्पष्टत्वेन प्रतिपादनादित्याशयः।

(चित्र०)

अयमेव पक्षो दण्डिनोऽभिमतः। यदाह—

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥
मध्यन्दिनार्कसन्तप्तः सरसीं गाहते गजः।
मन्ये मार्तण्डगृह्याणि पद्मान्युद्धर्तुमुद्यतः॥
स्नातुं पातुं बिसान्यत्तुं करिणो जलगाहनम्।
तद्वैरनिष्क्रयायेति कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते॥ इति।

अत्र संतापनिवृत्त्यर्थत्वेनान्यथैव स्थिता करिणश्चेतनस्य जलगाहनरूपा वृत्तिः, अन्यथा तद्वैरनिष्क्रयार्थजलावगाहनत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति स्वकृतलक्षणा-नुसारेणैव योजितम्।

(भारती)

यही पक्ष आचार्य दण्डी को भी अभिमत है। जैसे—'यदि चेतन या अचेतन की अन्य प्रकार से स्थित स्वाभाविक गुण-क्रिया आदि की अन्य प्रकार से संभावना की जाय तो वहाँ उत्प्रेक्षा होगी।'

(यहाँ दण्डी ने चेतन और अचेतन वस्तुओं की संभावना की परिधि में उत्प्रेक्षा को रखकर अपने लक्षण में नवीनता प्रदर्शित की है।)

'दोपहर के सूर्य से संतप्त हाथी सरोवर में बैठ कर कमलों को उखाड़ रहा है' यहाँ सूर्य से संतप्त हाथी उनसे अनुगृहीत कमलों को उखाड़ कर अपना ताप अर्थात् सूर्य के प्रति क्रोध को शान्त कर रहा है।

उक्त लक्षण का समन्वय करते हुए दण्डी ने लिखा है कि यहाँ स्नानादि कार्य के लिए हाथियों का जलावगाहन कवि के द्वारा उसके वैर निष्क्रियत्व से उत्प्रेक्षित है। यहाँ संतापनिवृत्ति फल से भिन्न चेतन की जलावगाहनरूप वृत्ति है। हाथियों के वैर साधने के लिए जलावगाहन से उत्प्रेक्षा का यहाँ प्रतिपादन है।

(सुधा)

अत्र दण्डिमतसम्मतिमाह—अयमेवेति। तदुक्तलक्षणं प्रतिपादयति—यदाहेत्यादिना। 'चेतनाचेतनयोरन्यथास्थितवृत्तेर्यत्रान्यथोत्प्रेक्षणं सा उत्प्रेक्षा' इति दण्डिनो लक्षणम्। तत्सम्मतोदाहरणमाह—मध्यन्दिनेति। मध्याह्नार्कसन्तप्तो गजः सरसीं गाहते। मार्तण्डेनानुग्राह्याणि कमलानि उद्धर्तुम् उत्कण्ठित इत्यहं मन्ये, इत्यन्वयः। अत्र लक्षणसमन्वयमाह—स्नानादिकार्यं कर्तुं हस्तिनो जलावगाहनं कविना तद्वैरनिष्क्रयत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यत्र सन्तापनिवृत्तिफलकत्वेनान्यथात्वेन वर्तमानायाश्चेतनजलावगाहनरूपवृत्तेः, अन्यथा तद्वैरनिष्क्रयार्थजलावगाहनत्वेनोत्प्रेक्षणस्य प्रतिपानात्।

(चित्र०)

काव्यप्रकाशिकाकारस्याप्ययमेव पक्षोऽभिमतः। तेन हि 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इत्युपमानोपमेयस्य तादात्म्यसम्भावनमुत्प्रेक्षालक्षणमभिधाय 'उन्मेषं यो मम न सहते' इति तत्रोदारणं कृतम्। ततश्च स्वकृतलक्षणानुरोधेन स्वाभाविकी पादशोभैव स्ववैरिजयप्रभवहर्षलग्नपद्मलक्ष्मीत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यभिमतमिति स्फुटमेव।

(भारती)

काव्यप्रकाश-कार मम्मट भट्ट को भी यही पक्ष अभिमत है। इसी से उन्होंने लिखा है—**सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्'** अर्थात् प्रस्तुत विषय की उसके सदृश के साथ संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।' इस तरह उपमानोपमेय के तादात्म्य-संभावना को उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण कहकर—**'उन्मेषं यो मम न सहते'** इत्यादि श्लोक को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उसके बाद अपने लक्षण के अनुरोध से इसे हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण माना है क्योंकि यहाँ शोभारूपी विषय में केवल हर्षरूपी हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा रही है। किन्तु, हर्ष जिसका हेतु है, उस लिपटने आदि विषयी की, अभेद सम्बन्ध द्वारा स्वाभाविक लिपटना आदि विषय में उत्प्रेक्षा की जा रही है—अर्थात् पद्म की शोभा जो पैरों में स्वभावतः लिपटी है, न कि हर्ष के कारण, उस स्वभावतः चिपकने में 'हर्ष के कारण चिपकने' (जो कल्पित है) की उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है।

(सुधा)

मम्मटस्याप्यस्मिन् पक्षेऽभिमतत्वं प्रतिपादयति—काव्यप्रकाशिकाकारस्येत्यादिना।

तदुक्तलक्षणमाह—सम्भावनमिति। 'प्रकृतस्योपमेयस्य समेनोपमानेन यत्तादात्म्यसम्भावनम्, सोत्प्रेक्षा' इत्यभिप्रायोदाहृतम् 'उन्मेषम्' इत्यादि। अत्र प्रदीपकारैः पद्मलक्ष्म्याः कामिनीचरणयोः स्वभावलग्नत्वं यथोत्कर्षहेतुफलक्षतादात्म्येन सम्भावितमिति व्याकृतम्। अत्र अभ्रस्य तादात्म्येन सम्भावनोक्तिः फलतः पर्यवसानाभिप्राया, तस्य पदार्थैकदेशत्वात्। किन्तु स्वभावलग्नायां हर्षहेतुफलग्नाया अभेदेन सम्भावनमिति प्रदीपव्याख्यातारः। तथा चात्र तत्पक्षस्य स्पष्टत्व।

(चित्र०)

तथा 'पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः' इत्यादिधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेष्वपि प्रेरणादिरेव पेषणादिरूपत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। न च प्रेरणादेर्विषयस्यानुपादानं दोषः, अतिशयोक्ताविव तदुपपत्तेः। उत्प्रेक्षाया अध्यवसायगर्भतया तत्र विषयनिगरणस्योचितत्वाच्च।

(भारती)

'पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः' इत्यादि धर्मस्वरूप उत्प्रेक्षा के इस उदाहरण में प्रतिपादित प्रेरणादि में पेषणादि का ही तादात्म्य से उत्प्रेक्षण है। यहाँ विषय का अनुपादान तो साध्यवसानलक्षणा की स्वीकृति के कारण अतिशयोक्ति की तरह दोष के लिए नहीं है। क्योंकि वहाँ विषय का निगरण औचित्यपूर्ण है।

विमर्श :—यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा में निमित्त धर्म उपात्त और अनुपात्त दोनों रूपों में रह सकता है। पर, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उसका उपात्त होना अनिवार्य है, क्योंकि वहाँ हेतु और फल उसी धर्म के सिद्ध करने के लिए वर्णन किये जाते हैं। उसके वर्णन के विना हेतु और फल का वर्णन ही असम्बद्ध हो जायगा।

(सुधा)

एवं हेतुफलोत्प्रेक्षणे तादात्म्येनोत्प्रेक्षणं व्यवस्थाप्य धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणे तद्व्यवस्थापयति—तथेति। 'पिनष्टीव' इत्यादि धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षणेऽपि प्रेरणादौ पेषणादेरेव तादात्म्येनोत्प्रेक्षणम्। विषयानुपादानन्तु साध्यवसानलक्षणाङ्गीकारेणातिशयोक्ताविव न दोषायेति बोध्यम्, तत्र विषयस्य निगरणौचित्याच्च।

(चित्र०)

न च प्रेरणादेर्विषयत्वेन निमित्तत्वाभावे निमित्तान्तरमन्वेष्यं स्यादिति वाच्यम्; प्रेरणस्य पेषणरूपतयोत्प्रेक्षायां प्रान्तगतफेनचन्दनपुञ्जीभवनं निमित्तम्, करव्यापनस्य दिगङ्गनालेपनत्वेनोत्प्रेक्षायां तद्धवलीकरणं निमित्तमिति निमित्तान्तरस्य जागरूकत्वात्।

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इत्यादौ व्यापनादिलेपनादिरूपतया सम्भावितमिति वदता काव्यप्रकाशिकाकारेणापि धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेषु तादात्म्योत्प्रेक्षणपक्ष एवाश्रितः।

(भारती)

अगर आप यह कहें कि उसके विषयत्व में निमित्तत्व के अभाव से दूसरे निमित्त की अन्वेषणापत्ति होगी। तो इसका उत्तर यह है कि प्रेरणा की पेषणता से उत्प्रेक्षालङ्कार में तटगत फेनरूपी चन्दन का पुञ्जीभवन ही निमित्त है। करव्यापन का दिशारूपी अङ्गना के लेपन से उत्प्रेक्षा में उसका जो धवलीकरण निमित्त है—इससे निमित्तान्तर की जागरूकता है।

'अंधकार मानो अंगों को काले रंग से पोत रहा है और आकाश मानो काजल बरसा रहा है।' यहाँ अन्धकार कर्त्ता है और अंग कर्म है। यहाँ पोतनेरूपी क्रिया की तथा बरसनेरूपी क्रिया की उत्प्रेक्षा की जा रही है। अर्थात् दोनों उत्प्रेक्षित किये जाने वाली क्रिया 'पोतने' और 'बरसने' द्वारा जिसका अन्धकार कर्त्ता है, व्याप्त होना रूपी क्रिया जो इस उत्प्रेक्षा का विषय है निगीर्ण कर लिया गया है। तात्पर्य यह है कि 'अन्धकार मानो काले रंग से अंगों को पोत रहा है' और आकाश मानो काजल बरसा रहा है। यह अन्धकार व्याप्त होने के स्थान पर कवि द्वारा निर्दिष्ट है। अतः वास्तविक 'व्याप्त होने' को उत्प्रेक्षा का विषय और पोतने तथा बरसने को विषयी माना जाना चाहिए और वह व्याप्त होना इन्हीं शब्दों से सूचित हो जाता है। अतः उसे अलग नहीं लिखा गया है। अतएव ऐसे स्थलों में यह उत्प्रेक्षा अनुपात्तविषया कहलाती है। यही मम्मटभट्ट का भी अभिमत है।

(सुधा)

न च तस्य विषयत्वे निमित्तत्वाभावान्निमित्तान्तरस्यान्वेषणीयतापत्तिरिति वाच्यम्, प्रेरणस्य पेषणतयोत्प्रेक्षणे प्रान्तगतफेनचन्दनपुञ्जीभवनस्यैव सत्त्वात्। करव्यापनस्य दिगङ्गनालेपनोत्प्रेक्षणे तद्धवलीकरणस्य निमित्तत्वसत्त्वाच्च। अत्रापि तथोत्प्रेक्षणे प्रकाशकारस्य सम्मतिमाह—लिम्पतीवेत्यादिना। व्यापनादेः लेपनादिरूपतया सम्भावनं वदतस्तस्यैष एव पक्षोऽभिमतः। उत्प्रेक्षाया अध्यवसानगर्भतया विषयानुपादानेऽपि न दोषः, तस्या व्यञ्जनया गम्यत्वादिति तद्व्याख्यातारः।

(चित्र०)

एवं 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी'इत्यादावपि रजन्या वदनत्वेनाध्यवसितं यदारम्भाख्यं मुखं तस्य शशिनश्च संबन्धश्चुम्बनत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । 'वृत्तानुपूर्वे च' इत्यत्रायत्नपूर्वके शेषाङ्गनिर्माणे यत्नपूर्वकत्वतादात्म्योत्प्रेक्षेत्याद्यूह्यम् ।

अन्यधर्मोऽनुगामितयैव न विवक्षितः, किन्तूपमायां साधारणधर्म इव बिम्बप्रतिबिम्बभावादिभिः सर्वैरपि प्रकारैर्विवक्षितः । तथा च यथा—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
सुजातपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविता लतेव ॥

इत्यत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावकृताभेदाध्यवसायेन ।

(भारती)

'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयम्' इत्यादि उदाहरण में रात के मुख से अध्यवसित, आरम्भात्मक मुख का चन्द्रमा के सम्बन्ध से चुम्बन क्रिया की उत्प्रेक्षा है। **'वृत्तानुपूर्वे च'** इत्यादि में

बिना प्रयास के ही शेष अवयव के निर्माण में प्रयासपूर्वक तादात्म्य की उत्प्रेक्षा वहाँ जाननी चाहिए। आदि पद से 'भूयस्तराणि' पद का सम्बन्ध है।

धर्म-निरूपण की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि यहाँ भी उपमाविषयक साधारण धर्म की तरह बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव आदि के सभी भेद विवक्षित हैं। उदाहरण जैसे—

'स्तन के बोझ से शरीर को कुछ झुकाई हुई, प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान लाल साड़ी पहनी हुई, पार्वती को, फूलों से भरे हुए गुच्छों के भार से लटकने वाली, नये पल्लवों को धारण करने वाली गमनशील अर्थात् चलने-फिरने वाली लता के समान अवस्थित देखा।'

यहाँ 'पुष्पस्तवक' और 'स्तन' दोनों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के द्वारा अभेदाध्यवसाय से उन दोनों की उत्प्रेक्षा है।

(सुधा)

एवम् 'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयम्' इत्यादौ रजन्या वदनतयाऽध्यवसितारम्भात्मनो मुखस्य तच्चन्द्रसम्बन्धस्य च चुम्बनत्वेनोत्प्रेक्षणम्। 'वृत्तानुपूर्वे च' इत्यादावप्ययत्नपूर्वकशेषाङ्गनिर्माणे यत्नपूर्वकतादात्म्योत्प्रेक्षणस्य तत्रापि सत्त्वमिति बोध्यम्। आदिना 'भूयस्तराणि' इत्यादि ग्राह्यम्। धर्मनिरूपणे विशेषमाह—अन्यधर्म इत्यादिना। उपमाविषयकसाधारणधर्म इव अत्रापि बिम्बप्रतिबिम्बभावादयः सर्वे प्रकारा विवक्षिता इति। बिम्बप्रतिबिम्बभावमुदाहरति—तथा च यथेत्यादि—स्तनाभ्यां किञ्चिदावर्जिता ईषदानमिता तरुणार्कराग इव रागो यस्य तद्वासो वसाना आच्छादयन्ती सुपुष्पस्तबकैरवनम्रा पल्लविनी किसलयिनी सञ्चारिणी लतेव स्थिता। अत्र पुष्पस्तबकस्तनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावकृताभेदाध्यवसायेन तयोरुत्प्रेक्षणम्।

(चित्र०)

तारुण्यकुञ्जरारूढां विलासकमलाकुलाम्।
मूर्तामिव मनोजस्य त्रैलोक्यविजयश्रियम्॥

इत्यत्र समासभेदाश्रयणकृताभेदाध्यवसायेन च धर्मस्य प्रकृताप्रकृतसाधारण्यादन्यधर्मसंबन्धः। तथा—'अङ्गुलीभिरिव' इत्यत्रान्वयभेदकृताभेदाध्यवसायेन धर्मस्य प्रकृताप्रकृतसाधारण्यादन्यधर्मसंबन्धः सुसंपाद इति न तत्राव्याप्तिः।

नापि 'भूयस्तराणि' इत्यत्राव्याप्तिः। तत्रोपात्तधर्माक्षिप्तधर्मान्तरसंबन्धस्य निमित्तत्वात्।

(भारती)

'युवावस्थारूपी हाथी पर सवार, विलास-कमलों से आकुल तीनों लोको की विजयश्री तथा साक्षात् कामदेव की मूर्त्ति की तरह मैं इसे मानता हूं।'

यहाँ समासकृत जो अभेदाध्यवसाय है उससे धर्मके वर्णनीय साधारण्य से अन्य धर्मके सम्बन्ध द्वारा सम्पादन से दूसरी जगह अर्थात् 'अङ्गुलीभिरिव' इस उदाहरण में रजनी के मुख को चाँद चूमता है इत्यादि में अतिव्याप्ति नहीं हुई। 'भूयस्तराणि' इत्यादि उदाहरण में भी उपात्त धर्म से आक्षिप्त अन्य धर्म-सम्बन्ध के निमित्त होने से अव्याप्ति दोष का परिहार है।

(सुधा)

तारुण्यं कुञ्जरमिव, तत्रारूढाम्, तारुण्यमेव कुञ्जरम्, तत्रारूढां वा विलासाः कमलानीव, तैराकुलाम्, विलासा एव कमलानि तैराकुलां वा मनोजस्य मूर्तिमतीं त्रैलोक्यविजयश्रियमिव तां मन्य इत्यन्वयः।

अत्र समासकृतो योभेदाध्यवसायश्च तेन धर्मस्य वर्णनीयसाधारण्यादन्यधर्मसम्बन्धस्य सुसम्पादत्वाद् अन्यत्रापि 'मुखं शशी' इत्यादौ नाव्याप्तिः। अन्यत्राप्यव्याप्तिवारणमतिदिशति—भूयस्तराणीति। अत्र उपात्तधर्माक्षिप्तधर्मान्तरसम्बन्धस्य निमित्तत्वान्नाव्याप्तिः।

(चित्र०)

तत्र हि चन्द्ररूपविषयगतसंध्यानलमध्यगाम्बरमूपिकावर्तिततारानिकरनिर्मितत्वोत्प्रेक्षायां तारागतेन तत्तद्रात्रिषु विरलत्वाविरलत्वरूपेणोपात्तधर्मेण निमित्तेन धर्मस्य चन्द्रगतस्य तद्विरलत्वाविरलत्वानुविधायिवृद्धिह्रासशालित्वस्याक्षेपः।

अयं चापरोऽपि विशेषः। अन्यधर्मसंबन्धादित्यन्यपदार्थो धर्म्युत्प्रेक्षासु विषय्येव, धर्मोत्प्रेक्षासु तु विषयिणो धर्मस्याश्रयः। एवं स्थिते यत्रानुपात्तो निमित्तभूतो धर्मस्तत्र सर्वत्रापि यो धर्मोऽन्यपदार्थस्य विषयस्य च संबन्धितया सम्भावनापदवीमारोहति तथाभूतोऽन्वेष्यः।

(भारती)

उसका आक्षेप किस प्रकार हुआ, इसे बताते हैं कि चन्द्ररूप विषयगत संध्या रूपी आग के बीच आकाश मूषिकावर्त्तित ताराओं के समूह से निर्मितत्व की उत्प्रेक्षा में ताराओं के द्वारा उन रात्रियों में विरल और अविरल रूप उपात्तधर्म के निमित्त से चन्द्रगत विरलत्व अनुविधायि वृद्धि और ह्रासशाली रूप का यहाँ आक्षेप है।

यह इसकी दूसरी विशेषता है। उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है—एक धर्मी उत्प्रेक्षा-जिसमें किसी पदार्थ की किसी अन्य पदार्थ के रूप में उत्प्रेक्षा की जाती है और दूसरी धर्म उत्प्रेक्षा, जिसमें किसी धर्म की किसी धर्मी में उत्प्रेक्षा की जाती है—जिस धर्मी का उस धर्म के साथ कोई सम्बन्ध न हो। धर्मी उत्प्रेक्षा तादात्म्य अर्थात् अभेद सम्बन्ध द्वारा होती है और धर्मोत्प्रेक्षा अन्य सम्बन्ध अर्थात् सामानाधिकरण्य के द्वारा। ऐसी स्थिति में उपात्त और अनुपात्त के निमित्तभूत धर्मों के अन्य पदार्थ के विषय-सम्बन्धित्व से जिसकी संभावना है वैसे ही धर्म का उत्प्रेक्षा में उपयोग जानना चाहिए।

(सुधा)

कथं तेन तस्याक्षेप इत्याह—तत्र हीति। चन्द्ररूपविषयगतसन्ध्यानलमध्यगाम्बरमूषिकावर्तितारानिर्मितत्वोत्प्रेक्षायां तारागतेन तत्तद्रात्रिषु विरलत्वाविरलत्वरूपेणोपात्तधर्मेण निमित्तेन चन्द्रगतविरलत्वानुविधायिवृद्धिह्रासशालित्वरूपस्य तस्याक्षिप्तत्वात्। तथा च तत्र तस्य सत्त्वेन नाव्याप्तिरित्याशयः। अन्यमपि विशेषं रचयति—अयञ्चेति। अयं वक्ष्यमाणोऽपरो विशेषः। अन्यधर्मसम्बन्धादित्यत्र धर्मिण उत्प्रेक्षणे विषयिणोऽन्य-

पदार्थत्वम् । धर्मोत्प्रेक्षणे विषयिणो धर्मस्याश्रयोऽन्यपदार्थः । एवं स्थिते उपात्तानुपात्तयोर्निमित्तभूतधर्मयोरन्यपदार्थस्य विषयसम्बन्धित्वेन यस्य सम्भावना मार्गावरोहस्तथाभूतस्यैवोत्प्रेक्षायामुपयोगो बोध्यः ।

(चित्र०)

तत्र 'वर्षतीवाञ्जनं नभः' इत्यत्र नभोगतत्वेन वर्षणक्रियोत्प्रेक्षापक्षे नभसो भूपर्यन्तगामिनीलिमव्याप्तत्वमञ्जनवर्षुकसाधारणनिमित्तम् । तमसो व्यापने नभःकर्तृकाञ्जनवर्षणक्रियात्वोत्प्रेक्षेति पक्षे तु सकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरणादि । एवं 'वेलेव रागसागरस्य' इत्यादौ संक्षोभकारित्वादि गम्यं निमित्तमूहनीयम् ।

यत्र तु निमित्ततया धर्मस्योपादाने सत्यपि तत्संबन्धो विषयस्यान्यपदार्थस्य वाञ्जसा न प्रतीयते, तत्र क्वचिन्निमित्तभूतधर्मादन्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य ताद्रूप्यसंपादनेन तत्संबन्धः समर्थनीयः । क्वचिद्विषयस्य चान्यपदार्थस्य वा तद्धर्माश्रयताद्रूप्यसंपादनेन, क्वचिन्मिलितेन तेनोभयेन, क्वचिदुपात्तधर्मकृतधर्मान्तराक्षेपेण । तत्र धर्मान्तरस्य निमित्तताद्रूप्यसंपादनमुपमायां धर्मस्य संपादनमिव बिम्बप्रतिबिम्बभावादिभिः प्रकारैस्ते प्रदर्शिताः ।

(भारती)

'वर्षतीवाञ्जनं नभः' इस उदाहरण में जिसका अंधकार कर्त्ता है और अंग कर्म है उस पोतनेरूपी क्रिया की तथा जिसका आकाश कर्त्ता हैं और काजल कर्म है उस बरसनेरूपी क्रिया की उत्प्रेक्षा की जा रही है । एक में धरती से आकाश तक गाढ तमस का व्याप्तत्व निमित्त है और दूसरे में सारी वस्तुओं को क़ालिमा से पोतना निमित्त है । तात्पर्य यह कि इन दोनों का निमित्त धर्म है 'काले कर डालना' इसी प्रकार 'वेलेव रागसागरस्य' यहाँ संक्षोभकारित्व निमित्त है ।

जहाँ धर्म की निमित्तता से उपादान रहने पर भी विषय अथवा अन्य पदार्थ में धर्म सम्बन्ध का साक्षात् अन्वय नहीं होता, वहाँ उत्प्रेक्षा कैसे होती है ? तो इसका उत्तर है कि ऐसे स्थलों में प्रकारभेद से उत्प्रेक्षा होती है । जैसे कहीं निमित्तभूत धर्म से अन्य किसी धर्म का ताद्रूप्य सम्पादन से उसका सम्बन्ध है, कहीं विषय अथवा पदार्थ के उस धर्माश्रय का ताद्रूप्य-सम्पादन से सम्बन्ध है और कहीं उसके मिलने से सम्बन्ध है और कहीं दोनों से सम्बन्ध है, कहीं उपात्त धर्म से धर्मान्तर के आक्षेप से सम्बन्ध है । वहाँ धर्मान्तर के निमित्त से ताद्रूप्य का सम्पादन, बिम्बप्रतिबिम्बभावादि से उपमा की तरह साधारण्य का सम्पादन जानना चाहिये ।

(सुधा)

तदेवाह—तत्रेति । 'वर्षतीवाञ्जनं नभः' इत्यत्र नभोगतत्वेन वर्षणक्रियोत्प्रेक्षणपक्षेऽञ्जनवर्षुकसाधारणं नभसो भूपर्यन्तं गाढनीलिमव्याप्तत्वं निमित्तम् । तमसो व्यापने नभःकर्तृकाञ्जनवर्षणक्रियात्वोत्प्रेक्षणे तु सकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरणादेर्निमित्तत्वम् । एवम् 'वेलेव रागसागरस्य' इत्यत्र संक्षोभकारित्वं निमित्तम् । ननु यत्र धर्मस्य निमित्ततयोपादाने सत्यपि विषयेऽन्यपदार्थे वा तत्सम्बन्धस्य साक्षादन्वयो न भवति, तत्र कथमुत्प्रेक्षा इति चेत् , न; प्रकारभेदानां सत्त्वात् । तथा हि—क्वचिन्निमित्तभूताद्धर्माद-

न्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य ताद्रूप्यसम्पादनतया तत्सम्बन्धः, क्वचिद्विषयस्य वान्यपदार्थस्य वा तद्धर्माश्रयताद्रूप्यसम्पादनेन सम्बन्धः, क्वचिन्मिलितेनोभयेन सम्बन्धः, क्वचिदुपात्तधर्मकृतधर्मान्तराक्षेपेण सम्बन्धः। तत्र धर्मान्तरस्य निमित्तताद्रूप्यसम्पादनं बिम्बप्रतिबिम्बभावादिनोपमायामिव साधारण्यसम्पादनं बोध्यम्।

(चित्र०)

एवं विषयस्यान्यपदार्थस्य वा धर्माश्रयात्ताद्रूप्यसंपादनं श्लेषादिभङ्ग्या। तत्र विषयस्य श्लेषेण धर्माश्रयताद्रूप्यसंपादनं यथा—

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः॥

(भारती)

इस प्रकार विषय का अथवा अन्य पदार्थ का धर्म के आश्रय से ताद्रूप्य का सम्पादन श्लेषादि भङ्गी से। यहाँ श्लेष से विषय के धर्माश्रय ताद्रूप्य सम्पादन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

इसमें दमयन्ती का वर्णन है। राजा नल कहता है कि 'मैं दमयन्ती के विषय में मुनियों के मोह की तर्कणा करता हूं' क्योंकि बड़ा प्रपात (जल गिरने का तटरहित पर्वतीय स्थान-विशेष) स्तनरूपी पर्वत का परिशीलन करता है। दूसरे पक्ष में—बड़े तपस्वी भृगु मुनि स्तनरूपी पर्वत का परिशीलन करते हैं अर्थात् वहाँ निवास करते हैं, तप करते हैं। किंवा कामुक होकर इसके उन्नत स्तनों का मर्दन करना चाहते हैं। अथवा-अवट अर्थात् पर्वतीय प्रपात दमयन्ती के स्तन के शील-स्वभाव का परिशीलन करता है, किन्तु वह आज तक भी इन स्तनों के स्वभाव को नहीं प्राप्त कर सका है। दमयन्ती का मुख अनेक अर्थात् बत्तीस दाँतों से आह्लादित करने वाला है। पक्षान्तर में मुख नारद मुनि को आह्लादित करने वाला नहीं है ऐसा नहीं, किन्तु आह्लादित करने वाला ही है अर्थात् नारद मुनि भी इसको गान विद्या सिखाने या स्वयं सीखने के लिए इसके मुख को प्राप्त कर आह्लादित होते हैं, अथवा नारद मुनि भी कामुक होकर मुख चूमने की इच्छा से इस दमयन्ती के मुख को देखकर आह्लादित होते हैं और अत्यन्त कान्तियुत तथा रति के योग्य ऊरु अर्थात् जंघा का विस्तार आश्रय ग्रहण कर रहा है। अर्थात् ऊरुद्वय का विस्तार अतिशय कान्तियुक्त एवं रति योग्य है। पक्ष में–महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थ की रचना करने वाले व्यासमुनि (केले की छाया के भ्रम से इसके) ऊरुद्वय का आश्रय कर रहे हैं, या दमयन्ती का कामुक होकर भोग की इच्छा से इसके ऊरुद्वय का आश्रय कर रहे हैं।

(सुधा)

एतच्च 'आवर्जिता' इत्यादावुदाहृतम्। द्वितीयं तु श्लेषादिभङ्ग्या। तत्र श्लेषेण विषयस्य धर्माश्रयताद्रूप्यसम्पादनमुदाहरति—अस्यामिति। अस्यां भैम्यां मुनीनां मननशीलानामपि मोहम् आसक्तिमूहे तर्कयामि। का वार्ता विषयपराणाम्? यस्माद् महान् भृगुः प्रपातः कुचशैलं स्तनरूपं पर्वतं शीलयति सेवते तच्छीलो वर्तते। पक्षे भृगुर्नाम ऋषिः 'भृगुः शक्रे प्रपाते च' इति विश्वः। मुखं नानारदैः यथोचितसंख्यैर्दन्तैः आह्लादयति तथा वर्तते। न नारदोऽनारदः नारदभिन्नः, न अनारदो नारदभिन्नभिन्नो नारद इति यावत्। महती भा कान्तिर्यस्य, रतसर्गे सुरतसृष्टौ योग्यः स चासौ स चेत्यर्थः। व्यासो

विस्तार:, श्रितावूरू येन तादृशो वर्तते। अथ महाभारतस्य सर्गे योग्यः 'व्यासो मुनौ स्याद्विस्तारे' इति विश्व इत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र भृग्वादिमुनिरूपविषयगतदमयन्तीगोचरमोहोत्प्रेक्षायां यदेव तत्कुच-परिशीलनादि निमित्तं न तद्विषयगतं किं तु तटादिगतम्। तस्य भृग्वादि-शब्दश्लेषेण विषयगततानिर्वाहः।

(भारती)

भृग्वादि मुनि के रूप विषय में दमयन्ती विषयक मोह की उत्प्रेक्षा में कुछ-परिशीलन आदि निमित्त का तटादिगतता से विषय में साक्षात् सम्बन्ध के अभाव से 'भृग्वादि' शब्दश्लेप के द्वारा उस तादात्म्य के निश्चय से विषय की गतार्थता जाननी चाहिए।

विमर्श—उक्त पद्य में जो धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा मुनियों में मोह की उत्प्रेक्षा है, उसमें भी मुनियों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य किसी धर्म देखने आदि रूपी विषय में दमयन्तीविषयक मोहरूपी विषयी की अभेद सम्बन्ध ही उत्प्रेक्षा है। फिर यहाँ विषय देखने आदि का वर्णन क्यों नहीं? ऐसा पूछा जा सकता है। किन्तु इसका उत्तर यह है कि यह उत्प्रेक्षा साध्यवसाना है—यहाँ विषय विषयी द्वारा निगीर्ण है। अतः उसका ग्रहण न करना ही युक्तिसंगत है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म है—उन उन अङ्गों में मुनियों की चित्तवृत्ति का आसक्त हो जाना।

(सुधा)

लक्षणान्वयं प्रतिपादयति—अत्रेति। भृग्वादिमुनिरूपविषये दमयन्तीविषयक-मोहोत्प्रेक्षायां कुचपरिशीलनादिनिमित्तस्य तटादिगतत्वेन विषये साक्षात् सम्बन्धाभावाद् भृग्वादिशब्दश्लेषेण तत्तादात्म्यनिश्चयाद्विषयगतत्वं बोध्यम्।

(चित्र०)

अपह्नुत्या यथा—

किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः।
दग्धां दग्धामरण्यानीं पश्यतीव विभावसुः॥

अत्र दावानलरूपविषयगतदग्धादग्धवनप्रदेशदर्शनक्रियोत्प्रेक्षायां तरुसमा-रोहणं निमित्तम्। तदपि न विषयगतं किं तु किंशुकपुष्पगतम्। तत्रापि यद्यपि मुख्यं समारोहणं नास्ति तथापि तदीयं तरुसमाश्रयणमेव तदारोहण-त्वेनाध्यवसितम्, ततश्च तत्रापह्नुत्या विषयस्य किंशुकपुष्पताद्रूप्यसंपादनेन धर्मसंबन्धनिर्वाहः।

(भारती)

विषय का अपह्नुति से धर्माश्रयताद्रूप्य-सम्पादन का उदाहरण देते हैं। जैसे—

'विभावसु अर्थात् दावाग्नि किंशुक फूलों के बहाने से वृक्ष पर चढ़कर मानो चारो ओर से जलते हुए इस महाजंगल को देख रही है।'

यहाँ दावानलरूपी विषय में जंगल का जलना या नहीं जलना-देखने की क्रिया की उत्प्रेक्षा

में वृक्ष पर चढ़नेरूपी निमित्त का वृक्षसमाश्रयण का ही उस पर आरोहणत्व से अध्यवसित मुख्यारोह की उसमें संभावना नहीं है। किंशुक फूल के द्वारा दावानलरूप विषयगतत्वाभाव से 'यह किंशुक का वृक्ष नहीं है, अपितु दावानल है' इस अपह्नुति से दावाग्नि के विषय में किंशुक फूल से अभिन्नत्व में वृक्ष पर चढ़नारूप निमित्त की नियमित उपस्थिति से ही यहाँ धर्मसम्बन्ध का निर्वाह है।

(सुधा)

विषयस्यापह्नुत्या धर्माश्रयताद्रूप्यसम्पादनमुदाहरति—किंशुकेति। विभावसुर्दावाग्निः किंशुकमिषेण वृक्षमारुह्य सर्वतो दग्धां दग्धामरण्यानीं महदरण्यं पश्यतीवेत्यन्वयः। लक्षणगोचरतां प्रतिपादयति—अत्रेति। दावानलविषये दग्धादग्धवनदर्शनक्रियोत्प्रेक्षायां तरुसमारोहणनिमित्तस्य तरुसमाश्रयणस्यैव तदारोहणत्वेनाध्यवसितस्य मुख्यारोहस्य तेष्वसम्भवात्, किंशुकपुष्पगतत्वेन दावानलरूपविषयगतत्वाभावान्नायं किंशुकतरुः, अपि तु दावाग्निः, इत्यपह्नुत्या दावाग्नेर्विषयकिंशुकपुष्पाभिन्नत्वे तरुसमारोहणरूपनिमित्तस्य तत्र सत्त्वाच्च।

(चित्र०)

अन्यपदार्थस्य श्लेषेण धर्माश्रयताद्रूप्यसंपादनं यथा—

अस्या दोहदशालिन्या मुखमापाण्डुरप्रभम्।
सत्यं राजेति मन्येऽद्य यद्भुवं भोक्तुमिच्छति॥

अत्र मुखस्य चन्द्रत्वोत्प्रेक्षायां भुवं भोक्तुमभिलाषो निमित्तम्, तद्विषयगतमपि नान्यपदार्थभूतचन्द्रगतम्। अतस्तत्र राजशब्दश्लेषेण चन्द्रस्य धर्माश्रयताद्रूप्यसंपादनेन धर्मस्य तदीयतानिर्वाहः।

(भारती)

पूर्वोक्त प्रकार से धर्माश्रय-ताद्रूप्य के सम्पादन से सम्बन्ध का प्रतिपादन कर अब अन्य पदार्थ का श्लेष से धर्माश्रय ताद्रूप्य का प्रतिपादन करते हैं। जैसे—

'इस दोहदशालिनी के प्रभा से आपीत अर्थात् सर्वतोभावेन पाण्डुर मुखमण्डल को देखकर मैं इसे सच्चे अर्थ में 'राजा' मानता हूं। क्योंकि समस्त पृथ्वी मण्डल के उपभोग की इच्छा यह व्यक्त कर रही है।'

यहाँ मुख में चन्द्रमा की उत्प्रेक्षा है। यद्यपि (मुख में) समस्त धरती के उपभोग की अभिलाषा रूपी निमित्त के रहने पर भी चन्द्र शब्द का अभाव है। फिर भी पद्य में उपस्थित श्लिष्ट 'राज शब्द से 'चन्द्र' अर्थ की उपलब्धि है। अतः इन दोनों के अभेद-सम्पादन में धरती के उपभोगजन्य अभिलाषारूपी निमित्त का अन्य पदार्थभूत चन्द्रमा में भी उपस्थिति से यहाँ लक्षण का समन्वय है।

(सुधा)

एवं विषये उक्तप्रकारेण धर्माश्रयताद्रूप्यसम्पादनेन सम्बन्धं प्रतिपाद्यान्यपदार्थस्य तत्त्वं प्रतिपादयति—अस्या इति दोहदशालिन्या अस्या आपाण्डुरं मुखम्, राजा इति सत्यम्, यतो भुवं भोक्तुम् इच्छतीत्यन्वयः। लक्षणान्वयं प्रतिपादयति—अत्रेत्यादिना।

मुखे चन्द्रत्वोत्प्रेक्षणे भूभोगाभिलाषस्य निमित्तस्य मुखे सत्त्वेऽपि चन्द्रेऽभावाद्राजशब्द-श्लेषेण तयोरभेदसम्पादने भूभोगाभिलाषरूपनिमित्तस्यान्यपदार्थीभूतचन्द्रे सम्भवाल्लक्षणसमन्वयः।

(चित्र०)

धर्मान्तरस्य निमित्तधर्मताद्रूप्यसंपादनं विषयस्य तद्धर्माश्रयताद्रूप्यसंपादनं चेत्युभयमेलनं यथा—

आकृष्टिवेगविवलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥

(भारती)

इस प्रकार अन्य पदार्थ का अभेदाध्यवसाय में धर्माश्रयता का प्रतिपादन कर, निमित्तभूत धर्म में अन्य धर्म के ताद्रूप्य-सम्पादन और विषय का तादृश धर्माश्रय-ताद्रूप्य का सम्पादन—अर्थात् इन दोनों से संमिश्रित उत्प्रेक्षा का उदाहरण देते हैं। जैसे—

'यही वह समुद्र है, जिसकी मन्थन-व्यथा की शान्ति के लिए, मानो मन्दाकिनी गंगा उसके पादमूल अर्थात् एकदेश अथवा चरण पर पड़ी रहती है और मन्थन-काल में, देव और असुर वृन्द द्वारा, एक दूसरे की ओर खींचातानी के कारण छूट कर गिरी नागराज वासुकी की केंचुल के बहाने उसके व्रण के उपचार के लिए, बंधी पट्टी सी दिखायी दिया करती है।'

(सुधा)

एवमन्यपदार्थस्याभेदाध्यवसाये धर्माश्रयतां सम्पाद्य निमित्तीभूतधर्मे धर्मान्तरताद्रूप्यसम्पादनं विषयस्य तादृशधर्माश्रयताद्रूप्यसम्पादनं चेत्युभयेन मिलितेनोत्प्रेक्षणसत्त्वमुदाहरति—आकृष्टिवेगेत्यादि । मन्दाकिनी आकृष्टिवेगविवलद्भुजगेन्द्रभोगनिर्मोकपट्टपरिवेष्टनया यस्याम्बुराशेः मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिव आशु पादमूले चिरमवेष्टतेत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र मन्दाकिनीरूपविषयगतपयोधिमन्थव्यथाव्युपशमरूपफलोत्प्रेक्षायां यन्निमित्तं चरणमूले वेष्टनं तत्तादात्म्यसंपादनं पर्यन्तवेष्टनस्य श्लेषेण विषयस्य यत्ताद्रूप्यसंपादनमपह्नुत्या वेति मिलितेनोभयेन विषयस्यान्यधर्मसंबन्धनिर्वाहः।

(भारती)

यहाँ दोनों तरह के धर्म सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं । मन्दाकिनीरूप विषय में समुद्र-मन्थन के श्रम से उत्पन्न व्यथा की शान्तिरूप फल की उत्प्रेक्षा में, चरणमूल-वेष्टनरूप निमित्त का खण्डश्लेष के द्वारा प्रत्यन्त पर्वत वेष्टन से ताद्रूप्य अभेद का प्रतिपादन कर—मन्दाकिनीरूप विषय का अपह्नुति से तादृश प्रथम विशेषण के द्वारा प्रतिपादित वेष्टन ही दूसरा ताद्रूप्य है और इन दोनों के सम्मिश्रण से मन्दाकिनीरूप विषय के साथ चरणवेष्टनरूप धर्मसम्बन्ध के निर्वाह से लक्षण का समन्वय है।

विमर्श—यहाँ वासुकी की केंचुल पर उसके अपह्नव या अपलाप के साथ, मन्दाकिनी के आरोप में अपह्नुति की रूपरेखा उभड़ी है। किन्तु, यह अपह्नुति भी यहाँ के 'श्लेष' की अङ्गभूत सी प्रतीत हो रही है क्योंकि इसीके द्वारा मन्दाकिनी के वास्तविक 'पादमूलवेष्टन' और 'पदमूलवेष्टन' की श्लिष्टता का अभिप्राय निकल रहा है। क्योंकि 'पादमूलशब्द' दोनों अर्थ का वाचक है। यह श्लेष भी यहाँ अतिशयोक्ति का अङ्ग ही है। क्योंकि इसीके द्वारा 'पादमूलवेष्टन' के साथ 'पदमूल-वेष्टन' अभेदाध्यवसाय में कवि ने चमत्कार उत्पन्न किया है। यह अतिशयोक्ति भी यहाँ मन्थन व्यथा की मानो शान्ति के लिए इस उत्प्रेक्षा का अंग है और यह उत्प्रेक्षा भी यहाँ 'अम्बुराशि' और मन्दाकिनी में नायक-नायिका के व्यवहार-समारोप की प्रतीति कराती हुई दिखाई दे रही है।

(सुधा)

अत्रोभयाभ्यां धर्मसम्बन्धं प्रतिपादयति—अत्रेति। मन्दाकिनीरूपे विषये समुद्र-मन्थनव्यथोपशमरूपफलोत्प्रेक्षणे चरणमूलवेष्टनस्य निमित्तस्य खण्डश्लेषेण प्रत्यन्तपर्वत-वेष्टनेन, ताद्रूप्यमभेदं प्रतिपाद्य मन्दाकिनीरूप-विषयस्यापह्नुत्या तादृशप्रथमविशेषण-प्रतिपादितवेष्टनताद्रूप्यञ्च मिलिताभ्यामुभाभ्यां विषयस्य मन्दाकिनीरूपस्य चरणमूल-वेष्टनरूपधर्मसम्बन्धस्य निर्वाहाल्लक्षणसमन्वयः।

(चित्र०)

उपात्तधर्मेण धर्मान्तराक्षेपस्तु दर्शित एव। तस्मादन्यधर्मसंबन्धादित्ये-तदपि सर्वोत्प्रेक्षानुगतमिति न काप्यव्याप्तमिति सर्वं समञ्जसम्।

(भारती)

इस तरह तीनों भेदों का उदाहरण देकर चौथा भेद पूर्व की तरह ही कहते हैं। उपात्त धर्म से धर्मान्तर का आक्षेप—'भूयस्तराणि यदमूनि' इस उदाहरण में पहले ही दिखा चुके हैं। इस प्रकार लक्षण की निर्दोषता का प्रतिपादन कर 'तस्मात्' से उपसंहार करते हैं। अर्थात् धर्म का भी सभी प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में अनुगत रहने के कारण ये सभी लक्षण समीचीन हैं।

विमर्श—निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि अलंकारसर्वस्वकार ने उत्प्रेक्षा अलंकार के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण, नवीन विचार तथा स्वस्थ स्वरूप अभिव्यक्त किया है। इन्होंने संभावना एवं अध्यवसाय के स्थान पर 'साध्य अध्यवसाय' पद का प्रयोग किया है। इनके अनुसार अध्यवसाय में व्यापार की प्रधानता होने पर उत्प्रेक्षा होती है। 'अध्यवसाय' का अर्थ है—विषय का निगरण कर उसके साथ अभेद की प्रतीति। यह दो प्रकार का होता है—साध्य और सिद्ध। जब विषयी की असत्यतया प्रतीति हो तो साध्य तथा असत्य विषयी का भी जब सत्य रूप में बोध हो तो सिद्ध अध्यवसाय होगा। उत्प्रेक्षा अलंकार में साध्य अध्यवसान होता है। इसमें विषय का पूर्णतः निगरण नहीं होता, बल्कि वह निगरण की प्रक्रिया की स्थिति में रहता है। इसे ही साध्य अध्यवसान कहते हैं। साध्य अध्यवसान में विषयी की प्रतीति सदा असत्य रूप में ही होती है। इस प्रकार अप्रकृत के गुण, क्रियादि के रूप में जब प्रकृत की संभावना की जाती है, तब वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है। रुय्यकने अलंकारसर्वस्व में लिखा है—

'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। स च द्विविधः साध्यः सिद्धश्च।

साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। असत्यत्वं च विषयिगतस्य धर्मस्य विषय उपनिबन्धे, विषयिसंभवित्वेन विषयासंभवित्वेन च प्रतीतेः। धर्मो गुणक्रियारूपः तस्य संभवासंभवप्रतीतौ संभवाश्रयस्य तत्रापरमार्थतया सत्यत्वम्। यस्यासत्यत्वं, तस्य सत्यत्व-प्रतीतावध्यवसायः साध्यः। अतश्च व्यापारप्राधान्यम्। सिद्धो यत्र विषयिणो वस्तुतोऽसत्यस्यापि सत्यताप्रतीतिः। सत्यत्वं च पूर्वकस्यासत्यत्वनिमित्तस्याभावात्। अतश्चाध्यवसिताप्राधान्यम्। तत्र साध्यत्वप्रतीतौ व्यापार-प्राधान्येऽध्यवसायः संभावनमभिमानस्तर्क ऊह उत्प्रेक्षेत्यादिशब्दैरुच्यते। तदेवमप्रकृतगुणक्रियाभिसम्बन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावन उत्प्रेक्षा।'—रुय्यक

तात्पर्य यह कि जहाँ विषयवाचक शब्द के पृथक् होने पर भी विषय विषयी में प्रविष्ट होते दिखाई देता है, वहीं उत्प्रेक्षा होती है। रुय्यक की मान्यता है कि उत्प्रेक्षा केवल अभेद सम्बन्ध से ही होती है। फलतः उन्होंने 'सैषा स्थली यत्र···' इस उदाहरण में नूपुर में रहने वाले मौनत्व को हेतु बनाकर दुःखरूपी गुण की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का नूपुर में रहने वाले 'शब्दहीन होना' से अभिन्न माना हुआ मौनत्व ही निमित्त है।

इसी प्रकार 'जहाँ धर्म ही धर्मी में रहने वाले के रूप में उत्प्रेक्षित हों' इत्यादि लिखकर धर्मोत्प्रेक्षा के प्रसंग में कहा है—'लिम्पतीव तमोङ्गानि' इस जगह 'लेपन' क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है और उसमें व्याप्त होना निमित्त है।

पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में रुय्यक के ये सारे मत या सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। उन्होंने इन सबों का खंडन अपने ढंग से किया है। इनके अनुसार 'दुःख' गुण की उत्प्रेक्षा, जो अभेदमिश्रित हो, में इस प्रकार का अध्यवसान असम्भव है। फलतः रुय्यक का लक्षण इस स्थान पर घटित नहीं हो सकता है। इन्होंने 'मौन' में अध्यवसान को माना है। इसमें 'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होने' को 'मौनीपन' के अन्तःप्रविष्ट को मानकर अभेद समझ लिया गया है। लेकिन वह तो सिद्ध अध्यवसान है, जो अतिशयोक्ति होने का कारण हो सकता है—उत्प्रेक्षा का कारण नहीं, जब कि रुय्यक के अनुसार 'मौन' की उत्प्रेक्षा के निमित्त रूप से उत्प्रेक्षा भी नहीं की गई है। ये ही बातें 'लिम्पतीव तमोङ्गानि' के साथ भी लागू है। इसमें 'लेपन' को रुय्यक ने 'कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा का निमित्त बताया है। पण्डितराज ने रुय्यक के इन दोनों विचारों की असमानता को दर्शाते हुए लिखा है कि एक ओर तो 'व्याप्त होने' आदि को उत्प्रेक्षा का विषय मान लेने पर अन्य निमित्त को ढूँढ़ने के कारण उत्प्रेक्षा का विषय उचित नहीं माना है और दूसरी ओर पूर्वोक्त लक्षण दिया है—यह अनवस्था है।

पुनः दूसरे प्रकार से इस बात पर विचार करने से असम्बद्धता और स्पष्ट हो उठती है 'मुख मानो चन्द्रमा है' में अध्यवसान की कोई झलक नहीं मिलती। क्योंकि यहाँ विषय सामने है, जब कि इसके विषयी के अंतर्गत न होने पर अध्यवसान के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। एक प्रश्न और उठता है कि अध्यवसान की सिद्धि में विषय विषयी में लिप्त रहता है, पर साध्य अध्यवसान में वह अलग से प्राप्त होता है। पण्डितराज ने इसका भी खंडन करते हुए लिखा है कि विषय की पृथक्ता को मानकर अध्यवसान की कल्पना रूपक अलंकार में भी उसकी उत्पत्ति का बोधक है और अगर रूपक में अध्यवसान नहीं होता है तो उत्प्रेक्षा में विषय की पृथक्ता अध्यवसान का बोधक कैसे है? दूसरी बात—'सारोपा' और 'साध्यवसाना', जो लक्षणा के दो भेद हैं, अध्यवसान को भी एक प्रकार की लक्षणा ही सिद्ध करती हैं। परन्तु उत्प्रेक्षा के विधेय अंश में लक्षणा का कोई प्रश्न ही नहीं है। यहाँ लक्षणा की अपेक्षा चिन्तकों ने

अभेदादि संसर्गों से आहार्यबोध ही स्वीकार्य किया है। अतः पण्डितराज की दृष्टि में रुय्यक का यह उत्प्रेक्षा विमर्श अस्त-व्यस्त है।

किन्तु, यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। दीक्षित जी ने इसकी स्वीकृति कुछ सोच-समझकर ही अपने ग्रंथ में दी है। दीक्षित जी ने धर्मोत्प्रेक्षा के दो उदाहरणों में से गुणरूप धर्म का उत्प्रेक्षा के उदाहरण 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' आदि में भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की व्याख्या स्पष्ट रूप से कर चुके हैं। रही बात क्रियारूपी धर्म की उत्प्रेक्षा 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' आदि के विषय में मतभेद। इस पर भी वाद-विवाद कर दीक्षित जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि वहाँ भी प्रथमान्त पद के अर्थ में प्रकृत क्रिया के 'कर्तृत्व' की आश्रयता सम्बन्ध से अथवा कर्त्ता के अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानना कोई अनुचित नहीं है। जहाँ तक हेतूत्प्रेक्षा का प्रश्न है–'वियोग के दुःख से' इस पद का अर्थ दीक्षित जी ने किया है—वियोग के दुःख से अभिन्न हेतु ! इस अर्थ की प्रयोज्यता सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा 'इव' आदि द्वारा समझायी गई है। जहाँ तक मौनत्व के अन्तःप्रविष्ट को मान कर अभेद के द्वारा लक्षण-समन्वय किया गया है। उसपर पण्डितराज ने इसे सिद्ध अवसान मानकर अतिशयोक्ति कहा है। उसके सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यही है कि रुय्यक ने उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति की सीमा का निर्धारण कर दिया है। अतिशयोक्ति में विषय या उपमेय का जहाँ पूर्ण निगरण हो जाता है वहाँ उत्प्रेक्षा में विषय-निगरण की प्रक्रिया की स्थिति में रहता है। अतः हम कह सकते हैं कि 'मौनत्व' पूर्ण निगरित न होकर निगरण की स्थिति में है। धर्मी उत्प्रेक्षा के उदाहरण अर्थात् 'मुख मानो चन्द्रमा है' इत्यादि में जो अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है पण्डितराज के अतिरिक्त और किसी का इस पर मतभेद है ही नहीं।

(सुधा)

एवं प्रकारत्रयमुदाहृत्य चतुर्थप्रकारं पूर्वत्रैवोपदिशति—उपात्तधर्मेणेति। दर्शित एवेति। 'भूयस्तरणि यदमूनि' इत्यादावित्यर्थः। निर्दोषतां लक्षणस्य प्रतिपाद्योपसंहरति—तस्मादिति। धर्मस्यापि सर्वोत्प्रेक्षास्वनुगतत्वात् सर्वमपि लक्षणं समीचीनमिति तदर्थः। रसगङ्गाधरकृतस्तु—तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्ति-तद्धर्मसमानाधिकरणान्यतर-तद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा। "लोकोत्तरप्रभावं त्वां मन्ये नारायणं परम्" इति सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्येति विशेषणम्। तस्य च सम्भावनायामाहार्यगमकत्वम्, तेन 'धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः' इति भ्रान्तिमति नातिव्याप्तिः। 'वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमावहसि यदा।' 'जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितम्' ॥ इति सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय रमणीयतद्धर्मनिमित्तकमिति। 'दूरे तिष्ठन् देवदत्त इव भाति' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय धर्मे रमणीयत्वविशेषणम्। रूपकवित्तावतिप्रसङ्गवारणाय सम्भावनमिति। अत्रैकयोक्त्या लक्षणद्वयविवक्षणं धर्म्युत्प्रेक्षायां तादात्म्यसम्बन्धो धर्मोत्प्रेक्षायां सम्बन्धान्तरमिति प्रतिपादनार्थमिति। उत्प्रेक्षालक्षणं विधायाभेदेनैव सर्वत्रोत्प्रेक्षणमिति प्राचीनमतं प्रदर्श्य तत्र विचार्यते—अभेदेनैव सर्वत्रोत्प्रेक्षणनियमे प्रमाणाभावः, 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यादौ भेदेनाप्युत्प्रेक्षणस्य सत्त्वात्, न च मुनिसम्बन्धिधर्मविशेषे मोहस्याभेदेनोत्प्रेक्षणम्। तादृशनियम एव प्रमाणाभावेनतस्य दुराग्रहस्य निर्मूलत्वात् 'लिम्पतीव' इत्यादावपि लेपनकर्तृत्वस्य न तमआदिपूत्प्रेक्षणमेव युक्तम्। अनुकूलव्यापारात्मकाख्यातार्थस्य कर्तुराश्रयतासम्बन्धेनान्वयात् 'भावप्रधानमाख्यातम्'

इति स्मृतेर्व्यापारार्थकं तिङित्यर्थकरणाच्च विरोधः। न च 'लः कर्म्मणि' इति सूत्रविरोधः, 'कर्तरि कृत्' इत्यत्र धर्मिपरस्यापि कर्तृपदस्य धर्मपरत्वेन व्याख्याने दोषाभावात्। न च सकर्मकाकर्मकत्वविभागोच्छेदापत्तिः, आख्यातार्थव्यापारव्यधिकरणसमानाधिकरणत्वाभ्यां तत्सम्भवात्।

यद्वा, अस्तु फलव्यापारयोः धात्वर्थता, आश्रयस्य तिङर्थत्वम्। देवदत्तः पचतीत्यादौ प्रथमान्ते तिङर्थस्याश्रयस्याभेदेनैव विशेष्यता युक्ता। देवदत्तः पचमान इत्यादाविव भेदेन धात्वर्थभावनायां तु न विशेषणता, सर्वजनसिद्धस्योद्देश्यविधेयभावस्य भङ्गापत्तेः। वैयाकरणमतविरोधस्त्वालङ्कारिकतन्त्रस्य स्वतन्त्रत्वेनाकिञ्चित्कर एव। तथा च 'लिम्पतीव' इत्यादौ भेदेनाभेदेन वा तिङर्थस्यैव प्रथमान्ते उत्प्रेक्षणम्, न तु धात्वर्थस्य लेपनस्य स्वनिमिते स्वनिगीर्णे व्यापनादौ सर्वजनसिद्धायाः इवार्थविधेयताया अनुपपत्तेः। एवम् 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्' इत्यादौ निश्चलत्वनिमित्तकनिश्शब्दत्वविषये विश्लेषदुःखहेतुकमौनमभेदेनोत्प्रेक्ष्यते, किन्तु मौनहेतुत्वेन नूपुरे विश्लेषदुःखमेव, उत्प्रेक्षायामिवशब्दान्वितस्योत्प्रेक्ष्यतायाः स्वभावसिद्धत्वात्, विषयस्य निगीर्णतया विषयिणो विधेयानुपपत्तेश्च, निःशब्दत्वमौनयोः सम्भावनानिमित्तकधर्मान्तरगवेषणापत्तेश्च। एककालीनत्वादिधर्मस्य चमत्कारानाधायकत्वेन तत्राप्रयोजकत्वात्। तर्हि भवन्मतेऽपि तदुत्प्रेक्षायां को धर्मः। निश्चलत्वनिमित्तकं यन्निश्शब्दत्वं तत्ताद्रूप्येणाध्यवसितमौनस्यैव सत्त्वात्, तस्य विश्लेषदुःखसमानाधिकरणत्वात्, नूपुरवृत्तित्वाच्च। एवं फलोत्प्रेक्षायामपि बोध्यम्। एतेन हेत्वाद्युत्प्रेक्षोदाहरणेषु तादात्म्येनैवोत्प्रेक्षणमिति प्राचीनमतमनुसरता द्रविडपुङ्गवेन यदुक्तं तदप्यपास्तमिति प्रतिपादयाञ्चक्रुः। तदपि प्राचीनार्वाचीनसकलग्रन्थविरुद्धमेव। तथा हि—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' [काव्य. प्र. उ. १०, सू. १३७] इति प्रकाशोक्तलक्षणस्य प्रकृतस्याप्रकृतेन तादात्म्यसम्भावनमुत्प्रेक्षेति परिष्कारेणाभेदेनैव सर्वत्रोत्प्रेक्षणे तात्पर्यात्। अत एव 'उन्मेषम्' इति तदुदाहरणस्यात्र पद्मलक्ष्म्याः कामिनीचरणयोः स्वभावलग्नत्वं यथोत्कर्षहेतुलग्नतादात्म्येन सम्भावितमिति–प्रदीपे व्याख्यातम्। तथा च तद्विरोधः। एतत्कथनानुरोधस्यैवाभेदेनोत्प्रेक्षणनियमे प्रमाणत्वेन 'अस्यां मुनीनामपि' इत्यादौ मुनिसम्बन्धिनि विषयभूते धर्मान्तरे मोहस्यैवाभेदेनोत्प्रेक्षणात्। यत्तु, 'लिम्पतीव' इत्यादौ लेपनकर्तृत्वं तमस्युत्प्रेक्ष्यते इत्यादि तदपि न, वैयाकरणमते धात्वर्थक्रियाप्राधान्येनाख्यातार्थकर्तृत्वप्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतया धातुजन्योपस्थितिरूपकार्यकारणभावात्, तद्विशेषणतयाऽन्वितस्य तस्य सम्भावनार्थके इत्यादौ तदन्वयासम्भवात्। गम्यमानतमसो व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितमिति प्रदीपादिविरोधापत्तेः।

न च 'भावप्रधानमाख्यातम्' इत्यस्य व्यापारार्थकं तिङित्यर्थः। सम्भवति नामलक्षणस्य सत्त्वप्रधानानि नामानीत्यग्रे प्रतिपादितत्वेन तिङ्साहचर्येणाख्यातपदस्य धातुपरत्वावगमात्। किञ्च नामाख्यातोपसर्गनिपातानां कथने प्रवृत्तस्य त्रयाणां प्रकृतिरूपतयाख्यातपदस्य तिङ्परत्वे सन्दर्भविरोधापत्तेः। आख्यायते सर्वप्रधानभूतोऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या धातुपरताया एव तस्य योग्यत्वाच्च। व्यापारप्रधानबोधजनकत्वमिति धातुलक्षणकथनस्यैव तादृशवचने इष्टत्वात्। किञ्च व्यापारस्य प्रत्ययार्थत्वे 'लः कर्मणि च' इत्यादिसूत्रविरोधः। तेन व्यापारस्य प्रत्ययार्थतयाऽप्रतिपादनाच्च। पचति पक्ववानित्यादौ फूत्कारादिप्रतीतयेऽनेकप्रत्ययानां कल्पनापेक्षयैकस्य धातोरेव शक्तिकल्पने लाघवात्।

किञ्च फूत्कारादेः प्रत्ययार्थत्वे गच्छतीत्यादावपि तत्प्रतीतिवारणाय तद्बोधे पचिसमभिव्याहारस्यापि कारणत्वकल्पने गौरवाच्च। यत्तु, आख्यातार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वादिना सकर्मकाकर्मकत्वव्यवहारः, तन्न; अभिधानानभिधानव्यवस्थोच्छेदापत्तेः। किञ्च कर्तृपदस्य 'लः कर्मणि च' इत्यत्र धर्मवृत्तिपरत्वे प्रमाणाभावः। 'कर्तरि कृत्' इत्यादावपि तदापत्तेः, तत्रापि तत्कल्पने जक्षभ्यमानाधिकरणोच्छेदप्रसङ्गाच्च। यत्तु फलव्यापारयोर्धातुवाच्यत्वेऽपि प्रथमान्तार्थे एव तिङर्थस्याश्रयस्याभेदेनान्वयः, पचमानो देवदत्त इतिवत्, न तु भेदेनापीत्यादि। तदपि न, आख्यातार्थप्रकारकेत्यादिकार्यकारणभावविरोधस्य वैयाकरणमते विरोधात्। न च तार्किकमतेन निर्वाहः, आख्यातार्थकर्तृप्रकारकबोधं प्रत्यन्याविशेषणीभूतप्रथमान्तपदजन्योपस्थितेः कारणत्वकल्पनसत्त्वेन तद्विरोधाच्च। आख्यातार्थकर्तुरुत्प्रेक्षणाश्रयत्ववत्सादृश्यादावप्यन्वयसत्त्वात्, उपमानत्वसम्भवेनोपमाया आवश्यकत्वात् दण्डिमतस्य विरोधापत्तेश्च। तेन तत्रान्वयासत्त्वेनोपमानभावस्य निराकृतत्वाच्च। तस्माद् व्यापनादौ लेपनादिरूपतयैव सम्भावनम्। न तु तत्कर्तुस्तमसि विषये तत्सम्भावनमिति बोध्यम्। 'सैषा स्थली' इत्यादावपि तादृशमौनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति प्राचीनोक्तमेव सर्वं समञ्जसमित्यलम्।

(चित्र०)

अलङ्कारसर्वस्वकृतेत्थमस्य विभागः प्रदर्शितः। वाच्या प्रतीयमाना चेति तावदुत्प्रेक्षा द्विविधा। इवादिप्रयोगे वाच्या, तदप्रयोगे प्रतीयमाना। तत्र वाच्या जातिगुणक्रियाद्रव्याणामप्रकृतानामध्यवसेयत्वेन चतुर्विधा। तेषां च प्रत्येकं भावाभावाभिमानरूपतया द्वैविध्येनाष्टविधा। तेषु निमित्तगुणक्रियारूपत्वेन षोडशभेदाः। निमित्तस्य पुनरुपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशत्प्रकाराः। तेषु पुनः प्रत्येकं स्वरूपहेतुफलोत्प्रेक्षारूपत्वेन षण्णवतिर्भेदाः।

(भारती)

अलङ्कार-सर्वस्वकार ने इसका अधोक्लित विभाग किया है। सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—वाच्या और प्रतीयमाना। जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री इव, मानो, निश्चय प्रभृति उत्प्रेक्षा-प्रतिपादक शब्दों सहित हो–वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है और जहाँ प्रतिपादक शब्द न हो किन्तु, केवल सामग्रीमात्र हो वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य के आधार पर वाच्य के चार भेद होते हैं तथा प्रत्येक के भाव और अभाव के कारण आठ प्रकार हुए। ये आठ भेद भी गुण और क्रिया के भेद से सोलह प्रकार के होते हैं और निमित्त के उपादान तथा अनुपादान के कारण ये बत्तीस प्रकार के हुए। इनमें प्रत्येक के हेतु, स्वरूप और फल रूप में ९६ भेद हुए।

(सुधा)

अथोत्प्रेक्षाविभागमलङ्कारसर्वस्वरीत्या स्वयं दर्शयति—अलङ्कारसर्वस्वकृतेत्यादिना केउत्प्रेक्षा द्विविधा, वाच्या, प्रतीयमाना चेति। वाच्यालक्षणमाह—इवादीति। आदिना मन्ये, शङ्के ध्रुवम्, नूनमित्यादयः। तेषामेवाप्रयोगे प्रतीयमाना चेति बोध्यम्। तत्र वाच्या, अप्रकृतानां जातिगुणक्रियाद्रव्याणामध्यवसेयत्वाच्चतुर्विधा। जात्यादीनां क्वचि-

सत्त्वम् , क्वचिदसत्त्वम् , इत्यष्टौ भेदाः। अष्टसु क्वचिद् गुणरूपं निमित्तम् , क्वचित्क्रिया-रूपम् , इति निमित्तभेदात् षोडश भेदाः। तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद्भेदाः। तेषां प्रत्येकं स्वरूपहेतुफलोत्प्रेक्षारूपतया षण्णवतिर्भेदाः।

(चित्र०)

तत्र द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलोत्प्रेक्षास्ततोऽपि विपातनीयाः। ततः षोडशभेदा न्यूनाः। जात्यादीनामपि हेतुफलोत्प्रेक्षयोर्निमित्तस्यानुपादानं न संभवति ततश्चतुर्विंशतिर्भेदा न्यूनाः। तथा च स्वरूपोत्प्रेक्षा वैकल्येन द्वात्रिंशद्भेदा, हेतुफलोत्प्रेक्षे प्रत्येकं द्वादशभेदे, इति पञ्चपञ्चाशद्भेदा वाच्योत्प्रेक्षा। प्रतीयमानोत्प्रेक्षायामप्येवमेव गणना। तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षायामपि निमित्तानुपादानं न संभवतीति भेदः। ततश्च तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा षोडशभेदा, हेतुफलोत्प्रेक्षे पूर्ववद् द्वादशभेदे इति चत्वारिंशद्भेदा गम्योत्प्रेक्षा। एवमेव मिलित्वा षण्णवतिभेदोत्प्रेक्षेति।

(भारती)

वहाँ द्रव्य का तो स्वरूपोत्प्रेक्षा में ही अन्तर्भाव होता है। वहाँ हेतु और फल की उत्प्रेक्षा की संभावना है ही नहीं। इस तरह १६ भेद तो यों ही समाप्त हो गये। हेतु और फल की उत्प्रेक्षा के निमित्त के अनुपादान असंभव है। अतः उसके द्वारा कृत २४ भेद और घटा दीजिए। ऐसा करने पर स्वरूपोत्प्रेक्षा के ३२ भेद हुए। दूसरे प्रत्येक १२ भेद हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में ५६ भेद वाले हैं। जाति २४, गुण २४, क्रिया २४, द्रव्य ७ इस प्रकार कुल ७० भेद हैं। हेतु और फल के निमित्त अनुपादान के अभाव से ८० भेद में २४ घट गया तो शेष भेद केवल ५६ बच जाते हैं। स्वरूपोत्प्रेक्षा ७, हेतु ७, फल ७, २४ उपादान और अनुपादान के ४७ स्वरूप से ३२ हेतु और फल २४, ये विभाग निमित्तानुपादान स्वरूपोत्प्रेक्षा में प्रतीत नहीं होते हैं। उसका १६ हेतु और फल में २४ पहले की तरह कुल मिलाकर ४० भेद होते हैं।

(सुधा)

अत्र विशेषमाह—तत्रेति। द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव भवतीति। तत्र हेतुफलोत्प्रेक्षयोरसत्त्वात् षोडश भेदाः दूरीकृताः। हेतुफलोत्प्रेक्षणयोर्निमित्तस्यानुपादानासम्भवात् तत्कृताश्चतुर्विंशतिर्भेदा न्यूनाः। तथा च स्वरूपोत्प्रेक्षा द्वात्रिंशद्भेदा। अपरे (प्रत्येकं द्वादश) हेतुफलोत्प्रेक्षे प्रत्येकं द्वादशभेदे इति षट्पञ्चाशद्भेदाः। जातिः २४, गुणः २४, क्रिया २४, द्रव्यम् ७, एवम् ७० भेदाः। हेतुफलयोर्निमित्तानुपादानाभावाच्चतुर्विंशतिर्भेदा न्यूनाः, २४ एतत्संख्या अशीतौ पतिता, अवशिष्टा ५६, स्वरूपोत्प्रेक्षा ७, हेतुः ७, फलम् ७, २४ उपादानानुपादानाभ्याम्, ४७ तत्र स्वरूपम्, ३२ हेतुफलयोः २४ एवं विभागः प्रतीयमानायां निमित्तानुपादानं स्वरूपोत्प्रेक्षणे न भवतीति। तस्याः १६ हेतुफले २४ पूर्ववत्। एवम् ४० भेदाः।

(चित्र०)

विद्यानाथेन पुनर्द्रव्यस्य हेतुफलोत्प्रेक्षणमप्यङ्गीकृत्यानुपात्तनिमित्तेषु गम्यस्य गुणक्रियारूपत्वेन भेदगणनमजातपुत्रनामकरणकल्पं न चारुत्वा-

वहमिति तदनाहत्यान्यथा विभागो दर्शितः। वाच्यायां स्वरूपोत्प्रेक्षा चतुर्विंशतिभेदा, अनुपात्तनिमित्तायां गुणक्रियारूपभेदगणनाभावेन भेदाष्टकह्रासात्। हेतुफलोत्प्रेक्षे प्रत्येकं षोडशविधे। द्रव्योत्प्रेक्षागोचराणां भावाभावाभिमानेन गुणक्रियानिमित्तत्वेन चतुर्णां भेदानामाधिक्यात्। एवं षट्पञ्चाशद्भेदा वाच्योत्प्रेक्षा। प्रतीयमानायां पुनः स्वरूपोत्प्रेक्षापि षोडशप्रकारा। तत्र निमित्तानुपादानासंभवेन तन्निबन्धनभेदाष्टकह्रासात्। ततश्चाष्टचत्वारिंशद्भेदा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। एवं मिलित्वा चतुरुत्तरशतभेदोत्प्रेक्षेति।

(भारती)

विद्यानाथ ने फिर द्रव्य का हेतु और फल के उत्प्रेक्षण को भी स्वीकृत कर अनुपात्त निमित्तों में गम्योत्प्रेक्षा का गुण और क्रियारूपत्व से उत्प्रेक्षा के भेद की गणना पुत्रजन्म से पूर्व नामकरण की अशोभन कल्पना की तरह ही की है। इनके विचार से वाच्योत्प्रेक्षा के २४ भेद हैं। हेतु और फल के प्रत्येक से १६ भेद हैं। इस प्रकार ५६ गम्योत्प्रेक्षा में तो तीनों के प्रत्येक के १६-१६ भेद हैं। इस तरह तीनों के ४८ भेद मिलकर कुल १०४ भेद उत्प्रेक्षा के बताये हैं। अब प्रश्न है कि ये भेद कैसे? अनुपात्त निमित्तों में और गम्योत्प्रेक्षा के निमित्त में गुण क्रिया रूप से गणना में चमत्कार के अभाव से ८ भेद घट जाने के कारण हेतु और फल का प्रत्येक चार भेद अधिक हैं। द्रव्य और उत्प्रेक्षा के गोचरों में भाव और अभाव के अभिमान से गुण और क्रिया रूप में तत्त्व वर्णन से चार की अधिकता है।

(सुधा)

विद्यानाथेन तु कृतं विभागमाह—वाच्यायां स्वरूपोत्प्रेक्षणे २४ भेदाः, हेतुफले प्रत्येकं १६ विधे, एवम् ५६ गम्यायान्तु त्रयाणां प्रत्येकं १६ ततस्त्रयाणां ४७ मिलित्वा १०४। ननु कथमेतत्। अत आह—अनुपात्तनिमित्तेषु गम्यनिमित्ते गुणक्रियारूपत्वेन गणनायां चमत्काराभावात् भेदाष्टकह्रासात् हेतुफलयोः प्रत्येकं चतुर्णामाधिक्यम्। द्रव्योत्प्रेक्षागोचरेषु भावाऽभावाभिमानेन गुणाक्रियारूपे तत्त्ववर्णनाच्चतुर्णामाधिक्यादिति।

(चित्र०)

अथोदाहरणानि दिङ्मात्रेण प्रदर्श्यन्ते। उपात्तगुणनिमित्तजातिभावस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

स वः पायादिन्दुर्नवबिसलताकोटिकुटिलः
स्मरारेर्यो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशे भाति निहितः।
स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव॥

(भारती)

अब दिग्मात्र से उदाहरण दिखाते हैं। उपात्त गुण निमित्त जाति भाव स्वरूप उत्प्रेक्षा। जैसे—नये विलास के कारण वह वक्र नवेन्दु तुम्हारी रक्षा करें, जो ज्वलित जटाओं के कारण

कपिश वर्ण भगवान शङ्कर के शिर पर चूती हुई मन्दाकिनी गंगा के जल से प्रतिदिन सिक्त होने के कारण स्फटिक की तरह स्वच्छ ललाट से उन्मुक्त अङ्कुर की तरह शोभता है।

(सुधा)

अथ तन्मतरीत्योदाहरणानि दर्शयितुं प्रतिजानीते—अथेत्यादि । तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा-भेदानाह—स. वः इति। नवबिसलताकोटिकुटिलः स इन्दुर्वः पायात्। रक्षतु इत्यर्थः। यः शिवस्य ज्वलनकपिशे शिरसि स्रवन्मन्दाकिन्या गङ्गायाः पयसा प्रतिदिवसं सिक्तेन स्फटिकधवलेन कपालेनोन्मुक्तः अंकुर इव भातीत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्राङ्कुरशब्दस्य जातिशब्दत्वाज्जातिरुत्प्रेक्ष्यते। उपात्तः कौटिल्यगुणो निमित्तम्। एवमुपात्तक्रियानिमित्तापि जातिभावस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहर्तव्या।

उपात्तक्रियानिमित्तगुणभावस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

निवेशितं यावकरागदीप्तये लग्नं तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम्।
रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्माणि॥

अत्रौत्सुक्यं गुण उत्प्रेक्ष्यते। उपात्ता लगनक्रिया निमित्तम्। एवमुपात्त-गुणनिमित्तापि गुणभावस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहर्तव्या।

(भारती)

यहाँ चन्द्रमा में अङ्कुरत्व जाति की उत्प्रेक्षा में कौटिल्य गुण के रहने के कारण उपात्तगुण निमित्ता जातिभावस्वरूपोत्प्रेक्षा है। इस प्रकार उपात्तक्रिया निमित्त रहने पर भी जातिभाव स्वरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण हुआ।

उपात्त क्रिया निमित्त गुण भाव स्वरूप उत्प्रेक्षा जैसे—

'यावक राग की कान्ति के लिए निवेशित दमयन्ती के अधरप्रान्त में संलग्न सिक्थ ठीक उसी प्रकार शोभता था जैसे मधु की उत्कण्ठा को छोड़कर सुधा के समान धर्मवाली वह उसी अधर प्रान्त में निवास के लिए समुत्सुक हो।'

यहाँ उपात्त से लग्न आत्मकथा निमित्तभूत क्रिया से औत्सुक्य गुण के उत्प्रेक्षण से उपात्त गुण क्रिया के निमित्त से गुणस्वरूप उत्प्रेक्षा है। 'लग्नम्' यहाँ औत्सुक्य गुण से उसके ही उत्प्रेक्षण से उपात्त गुण निमित्त भी जानना चाहिए।

(सुधा)

अत्र चन्द्रे अंकुरत्वजातेरुत्प्रेक्षणे कौटिल्यगुणस्य सत्त्वादुपात्तगुणनिमित्ता जातिभावस्व-रूपोत्प्रेक्षा। अत्रैव रचित इति पाठकल्पने उपात्तक्रियानिमित्ता सा बोध्या। निवेशितमिति। यावकरागदीप्तये निवेशितं तदीयाधरसीम्नि लग्नं सिक्थकं मधूनि उत्कण्ठां निर्धूय सुधासमानधर्मवति तत्रैव निवस्तुमुत्सुकमिव रराजेत्यन्वयः। अत्रोपात्तया लग्नेत्यात्म-कथानिमित्तभूतक्रिययौत्सुक्यगुणस्योत्प्रेक्षणादुपात्तगुणक्रियानिमित्ता गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा। लग्नमित्यत्रोक्तमिति पाठे औत्सुक्यगुणेन तस्यैवोत्प्रेक्षणादुपात्तगुणनिमित्तापि बोध्या।

(चित्र०)

उपात्तगुणनिमित्तक्रियाभावस्वरूपोत्प्रेक्षा—

अथ सान्ध्यसान्द्रकिरणारुणितं हरिहेतिहूति मिथुनं पततोः।
पृथगुत्पपात विरहार्तिगलद्धृदयस्रुतासृगनुलिप्तमिव ॥

अत्र रुधिरानुलेपनक्रियोत्प्रेक्ष्यते । उपात्त आरुण्यगुणो निमित्तम्। एवमुपात्तक्रियानिमित्तापि क्रियाभावस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहर्तव्या।

(भारती)

उपात्त गुण निमित्त क्रिया भाव स्वरूप उत्प्रेक्षा जैसे—

'सन्ध्या हो जाने के बाद सघन एवं प्रगाढ़ सन्ध्या की लाल किरणों से रंगे हुए लाल वर्ण के चक्रवाक दम्पति मानो विरह-वेदना से फटते हुए हृदय से निकले रुधिर से अनुलिप्त की भाँति, अलग-अलग हो कर उड़ गये।'

विमर्श—लोक-विश्वास के अनुसार रात में अर्थात् संध्या के बाद और प्रभात के पूर्व चक्रवाक-दम्पत्ति साथ रह करें भी वियुक्त रहते हैं। इस पद्य में 'हरिहेतिहूति' का अर्थ है भगवान विष्णु के अस्त्र अर्थात् चक्र की संज्ञा धारण करने वाला 'चक्रवाक'। एक साधारण शब्द के लिए इतनी क्लिष्ट कल्पना, इस पद्य में दर्शनीय है।

अत्रेति। यहाँ रुधिर के अनुलेपन की क्रिया से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उपात्त रक्तिमगुण ही निमित्त है। इसी प्रकार उपात्त क्रिया निमित्त भी क्रियाभावस्वरूप उत्प्रेक्षा का उदाहरण जानना चाहिए।

(सुधा)

अथेति। सान्द्रा ये सन्ध्यायां भवाः किरणास्तैररुणितम् अरुणीकृतम् अत एव विरहार्त्या तद्व्यापदा'''गलतो विदीर्यमाणाद् हृदयात् स्रुतेनासृजा रुधिरेणानुलिप्तमिव स्थितं हरेर्विष्णोः हेतिः चक्रं तद्धूतिराह्वानं यस्य तत् पतत्रिणोर्मिथुनं चक्रवाकद्वन्द्वं पृथक् भावेनोत्पपातेत्यन्वयः। अत्रोपात्तेनारुण्यगुणेन निमित्तेन रुधिरानुलेपनक्रियाया उत्प्रेक्षणाद्धुपात्तगुणनिमित्ता क्रियाभावस्वरूपोत्प्रेक्षा। अत्रैव किरणकर्तृकया रक्तीकरणक्रियया तदुत्प्रेक्षणे उपात्तक्रियानिमित्ताऽपि सा बोध्या इत्याह—एवमिति।

(चित्र०)

उपात्तक्रियानिमित्तद्रव्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

एकैकमुद्गतगुणं च्युतदूषणं च
हित्वाऽन्यमन्यमुपगम्य परित्यजन्तीम्।
एतां जगाद जगदर्चितपादपद्मां
पद्मामिवाच्युतभुजान्तरविच्युतां सा ॥

अत्र पद्मायाः एकतया द्रव्यत्वाद् द्रव्यमुत्प्रेक्ष्यते । उपात्ता उपगम्य-परित्यजनक्रिया निमित्तम् । एवमुपात्तगुणनिमित्तद्रव्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहर्तव्या। एवं भावाभिमानेषु जात्यादिषूपात्तनिमित्ता अष्टौ भेदाः संपन्नाः।

अनुपात्तनिमित्तजातिभावस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

वर्षातपानावरणं चिराय काष्ठौघमालम्ब्य समुक्षितेषु ।
वालेषु ताराकवकेष्विवैकं विकस्वरीभूतमवैमि चन्द्रम् ।।

(भारती)

उपात्त क्रिया के निमित्त द्रव्यभाव स्वरूप उत्प्रेक्षा के उदाहरण । जैसे—

'अधिक गुणसम्पन्न दोषहीन राजाओं को एक-एक कर छोड़ती हुई आगे बढ़कर दूसरे राजा के पास पहुंचती और फिर उन्हें भी छोड़कर वह दमयन्ती, भगवान विष्णु की बाँहों से छुटी हुई जगदाराध्या विश्वपूजिता भगवती लक्ष्मी की तरह बोली ।'

यहाँ पद्मा की एकता से द्रव्यत्व के द्वारा द्रव्य की उत्प्रेक्षा में, उपात्त का उपगम्य परित्यजन क्रिया के निमित्तभूत, उपात्तक्रिया निमित्तक द्रव्यभाव स्वरूप उत्प्रेक्षा है । यहाँ ही विश्वपूजित अध्यवसित आधिक्य गुण का गुणनिमित्तक द्रव्यभाव स्वरूप उत्प्रेक्षा जाननी चाहिए । इसी प्रकार भावाभिमानिनी जात्यादि में उपात्तनिमित्तक आठो भेद सम्पन्न हैं ।

अनुपात्त निमित्त जातिभाव स्वरूप उत्प्रेक्षा । जैसे—

'अनाच्छादक रूप काष्ठों के दारुण दिशाओं को बहुत दिनों के लिए अवलम्बन कर अनेकों ताराओं में विकसित इसे मैं चन्द्रमा मानता हूं ।'

(सुधा)

एकैकमिति । अधिकगुणं दोषहीनम् एकैकं नृपं हित्वा अन्यमन्यमुपगम्य तमपि त्यजन्तीमेतां दमयन्तीं सा सरस्वती विपुलवक्षसः च्युतां जगदाराध्यां पद्मामिव जगाद बभाणेत्यन्वयः। अत्र पद्माया एकतया द्रव्यत्वात् द्रव्यस्योत्प्रेक्षणं उपगम्य परित्यजन-क्रियाया निमित्तभूतायाः सत्त्वादुपात्तक्रियानिमित्ता द्रव्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षा । चञ्चलत्वाद् अत्रैव जगदर्चिताध्यवसिताधिक्यगुणस्य निमित्तभूतस्य सत्त्वादुपात्तगुणनिमित्ता द्रव्यभाव-स्वरूपोत्प्रेक्षा बोध्या । एवं भावाभिमानिनी जात्याद्युत्प्रेक्षा उपात्तनिमित्ता बोध्या । वर्षातपेति । वर्षातपानावरणम् = अनाच्छादकम्, काष्ठानां दारूणां दिशां वा समूहं चिरायालम्ब्य अनेकेषु ताराकवकेषु नक्षत्राख्यच्छत्राकेषु विकस्वरीभूतं विकसितं चन्द्रमवैमि जानामि इत्यन्वयः ।

(चित्र०)

अत्र कवकजातिरुत्प्रेक्ष्यते । अनुपात्तो धावल्यवर्तुलत्वादिर्गुणो निमित्तम् ।

अनुपात्तनिमित्तगुणभावस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

अयमाभाति राजेन्द्रो विजिताखिलशात्रवः ।
अनुजीविषु सर्वेषु प्रसाद इव मूर्तिमान् ।।

अत्र प्रसादो गुण उत्प्रेक्ष्यते ।

अनुपात्तो बहुप्रदत्वसुखनिषेव्यत्वादिर्निमित्तक्रियाभावोत्प्रेक्षा यथा—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ।।

(भारती)

यहाँ अनुपात्त धावल्यादिगुण के द्वारा कवक जाति की उत्प्रेक्षा से अनुपात्तनिमित्ता जातिभाव स्वरूप उत्प्रेक्षा है। उपलक्षण क्रिया के अनुपादान में यही अनुपात्त क्रिया निमित्तक रूप है इसे जानना चाहिए। अनुपात्त निमित्तक गुण भाव स्वरूप उत्प्रेक्षा। जैसे—

'अपने समस्त शत्रुओं को जीत लिया है जिसने-ऐसा यह राजा अपने सभी सेवकों के बीच साक्षात् प्रसन्नता की मूर्त्ति की तरह शोभ रहा है।'

यहाँ प्रसाद गुण की उत्प्रेक्षा है। अनुपात्त बहुप्रदत्व, सुखनिषेव्यत्व आदि निमित्त क्रिया भाव के उदाहरण, जैसे—

'अन्धकार मानो अंगों को काले रंगों से पोत रहा है, आकाश मानो काजल बरसा रहा है। आंखें दुष्ट-सेवा की भाँति व्यर्थ हो गयी हैं।'

(सुधा)

अत्रानुपात्तधावल्यादिगुणेन कवकजातेरुत्प्रेक्षणादनुपात्तनिमित्ता जातिभावस्वरूपोत्प्रेक्षा। उपलक्षणक्रियानुपादाने इयमेवानुपात्तक्रियानिमित्तेत्यादिरूपा बोध्या। अयमितीति। विजितमखिलं शात्रवं शत्रुसमूहो येन तादृशोऽयं नृपतिः सर्वेषु सेवकेषु मूर्तिमान् प्रसाद इव आभातीत्यन्वयः। अत्र बहुप्रदत्वाद्यनुपात्तेन निमित्तेन प्रसादगुणस्य निमित्तस्यानुपादाने द्वितीया। औदार्यादिगुणस्य नृपे उत्प्रेक्षणादुपात्तनिमित्ता गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा। लिम्पतीति। तमोऽङ्गानि लिम्पतीव, नभः अञ्जनं वर्षतीव। दृष्टिरसत्पुरुषसेवेव निष्फलत्वं गतेत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र क्रियोत्प्रेक्ष्यते। अनुपात्तं व्यापनादि निमित्तम्। अनुपात्तनिमित्तद्रव्यभावोत्प्रेक्षा यथा—

देहस्था दर्पणे यस्य पश्यति प्रतिमामुमा।
अन्यार्धाभ्यामिवोत्पन्नमर्धनारीश्वरान्तरम् ॥

अत्रार्धान्तरोत्पन्नार्धनारीश्वरान्तरद्रव्यमुत्प्रेक्ष्यते। प्रतिबिम्बव्यत्यस्तभागस्त्रीपुरुषाकारशालित्वमनुपात्तं निमित्तम्। अर्धनारीश्वरान्तरोत्प्रेक्षायामपि वस्तुतोऽर्धनारीश्वरस्यैकत्वाद् द्रव्योत्प्रेक्षात्वमविरुद्धम्। यथा वा—

(भारती)

यहाँ क्रिया की उत्प्रेक्षा है। अनुपात्त व्यापादनादि निमित्त है। अनुपात्त निमित्त द्रव्यभाव की उत्प्रेक्षा। जैसे—

'आधे अन्य से उत्पन्न अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमा को उमा अपने शरीरस्थ दर्पण में देखती है।'

यहाँ अर्धान्तरोत्पन्न अर्थात् प्रतिबिम्बगत बिम्ब व्यत्यस्तभाग स्त्री और पुरुष के आकारशालित्व रूप अनुपात्तता के अर्धान्तर से उत्पन्न अर्द्धनारीश्वरान्तर जो द्रव्य है, उसकी उत्प्रेक्षा में दोनों के एकत्व से द्रव्यत्व रहने के कारण अनुपात्त निमित्ता द्रव्यभावोत्प्रेक्षा है। अथवा जैसे—

(सुधा)

अत्र व्यापनादिनाऽनुपात्तेन निमित्तेन लेपनादिक्रियोत्प्रेक्षणादनुपात्तनिमित्ता क्रियाभावोत्प्रेक्षा। सान्द्राद्वितमिष्टगुणादेरनुपादाने द्वितीया बोध्या। देहस्थेति। देहस्था उमा, यस्य प्रतिमामन्यार्धाभ्यामुत्पन्नमिव, अर्धनारीश्वरान्तरं पश्यतीत्यन्वयः। अत्र प्रतिबिम्बगतस्य बिम्बव्यत्यस्तभागस्त्रीपुरुषाकारशालित्वस्यानुपात्ततया अर्धान्तराभ्यामुत्पन्नं यदर्धनारीश्वरान्तरं द्रव्यं तस्योत्प्रेक्षणे उभयोरेकत्वेन द्रव्यत्वसत्त्वादनुपात्तनिमित्ता द्रव्यभावोत्प्रेक्षा। अत्र बिम्बप्रतिबिम्बयोर्भिन्नत्वपक्षे जातेरेवोत्प्रेक्षणे प्राहेऽस्वरसमालोक्योदाहरणान्तरमाह—यथा वेति।

(चित्र०)

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥

अत्र देवपुरीद्रव्यमुत्प्रेक्ष्यते। सौभाग्यातिशयः कुण्डिनपुरीगतोऽनुपात्तो निमित्तम्। एवं चतुर्विधानुपात्तनिमित्तोदाहृता। अस्यां निमित्तस्य गुणक्रियारूपभेदमालोच्याष्टविधत्वमूहनीयम्। एवं जात्याद्युत्प्रेक्षा भावाभिमानवत्यः षोडश संपन्नाः।

(भारती)

'जो कुण्डिन नगरी खाई के कपट से स्पष्ट स्फुरित होते हुए प्रतिबिम्ब से निराधार जलवाले कहीं जलाशय के बीच में प्रतिबिम्बित हुए स्वर्ग के समान शोभती थी। अर्थात् बड़े भारी जलाशय के बीच में प्रतिबिम्बित स्वर्गरूप छोटी वस्तु के समान खाई के जल में स्थित वह कुण्डिन पुरी शोभती थी।'

यहाँ कुण्डिनपुरगत सौभाग्य के अतिशय से, अनुपात्त के द्वारा निमित्त से, कुण्डिन नगरी में देवपुरी रूपी द्रव्य की उत्प्रेक्षा से अनुपात्तनिमित्ता द्रव्यभाव की उत्प्रेक्षा है। यहाँ निरतिशय सौभाग्यभागित्व क्रिया रूप निमित्त से अनुपादान लेकर द्वितीया है। इसी प्रकार चार प्रकार के अनुपात्त निमित्त के भेद का उदाहरण दिया जा चुका है। इसमें निमित्त का गुण, क्रिया रूप भेद की आलोचना कर आठ भेद की स्वयं ऊह करनी चाहिए। इसी प्रकार भावात्मक सोलह भेद अलङ्कारसर्वस्व के मत से जानना चाहिए।

(सुधा)

या नगरी क्वचन कस्मिंश्चिद् जलाशयोदरे जलाधारमध्येऽनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरिव विललास। मध्य एव प्रतिबिम्बितेयमत्र हेतुमाह—प्रकारं परितो जलसहितो गर्तः परिखा, तस्याः कपटं व्याजस्तेन स्फुटमव्यक्तं स्फुरता प्रतिबिम्बेनानवलम्बितमसम्बद्धमम्बु यत्रेत्यन्वयः। अत्र कुण्डिनपुरीगतसौभाग्यातिशयेनानुपात्तेन निमित्तेन कुण्डिननगर्यां देवपुरीद्रव्यस्योत्प्रेक्षणत्वादनुपात्तनिमित्ता द्रव्यभावोत्प्रेक्षा। अत्र निरतिशयसौभाग्यभागित्वं क्रियारूपं निमित्तानुपादानमादाय द्वितीया। एवं भावात्मकाः षोडशभेदा अलङ्कारसर्वस्वमते बोध्याः।

(चित्र०)

अथ वा विद्यानाथोक्तप्रकारेणानुपात्तनिमित्तगुणक्रियाभेदो न चिन्तनीयः। अनुपात्ते निमित्ते तद्व्यवस्थाया असंभवात्। यथा—'विललास जलाशयोदरे' इत्यत्र निरतिशयसौभाग्यवत्त्वं गुणो निमित्तमित्यपि वक्तुं शक्यम्। निरतिशयसौभाग्यभागित्वं क्रियानिमित्तमित्यपि। अतो द्वादशैव भेदाः। अथाभावाभिमानवत्यः स्वरूपोत्प्रेक्षाः।

उपात्तगुणनिमित्तजातिगुणक्रियाणामभावोत्प्रेक्षा यथा—

अकुङ्कुमक्षोदमिवाङ्गमेतदयावकारुण्यमिवाधरं ते।
अनञ्जनोल्लेखमिवाक्षियुग्मं स्वाभाविकैरेव गुणैरुदीच्चे॥

(भारती)

अथवा विद्यानाथ के द्वारा उक्त प्रकार से अनुपात्त निमित्त गुणक्रिया भेद चिन्तनीय नहीं है। क्योंकि अनुपात्त निमित्त में उसकी व्यवस्था असंभव है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण 'विललास जलाशयोदरे' में निरतिशय सौभाग्यवत्त्व को गुणनिमित्त भी कह सकते हैं और निरतिशय सौभाग्यभागित्व क्रियानिमित्त भी। अतः केवल १२ भेद ही उत्प्रेक्षा के संभव है। अभावाभिमानवती स्वरूपोत्प्रेक्षा अर्थात् उपात्तगुण निमित्त क्रियाओं के अभाव की उत्प्रेक्षा जैसे—

'स्वाभाविक गुणों से ही तुम्हारे अङ्ग विना कुङ्कुम रजलेप के ही गौरवर्ण की तरह, अधर विना यावक के ही रक्तवर्ण की तरह, दोनों आँखें विना अञ्जन की ही कजरारी वनी हुई की तरह मुझे दिखाई दे रही हैं।'

(सुधा)

विद्यानाथस्तु—अनुपात्ते गुणक्रिययोर्विशेषतो ज्ञानाभावेनैकत्रोक्तौ विनिगमनाभावादुपात्तनिमित्तायामष्टौ, अनुपात्ते चत्वार एवेति द्वादशभेदाः सम्भवन्तीत्याहेत्यादि तन्मतमाह—अथवेति। अथाभावोत्प्रेक्षणे एकेन श्लोकेनोपात्तगुणनिमित्तां जातिगुणक्रियाणामभावोत्प्रेक्षामुदाहरति—अकुङ्कुमक्षोदमिति। अहं स्वाभाविकैरेव गुणैस्तेऽङ्गम् अकुङ्कुमक्षोदमिव; अधरम् अयावकारुण्यमिव; नेत्रयुग्मम् अनञ्जनोल्लेखमिव; उदीक्षे इत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र कुङ्कुमरजोयावकरागाञ्जनोल्लेखनरूपाणां जातिगुणक्रियाणामभावा उत्प्रेक्ष्यन्ते। उपात्ताः स्वाभाविकगौरारुणनीलवर्णा निमित्तम्। एतासु क्रियानिमित्तमप्युदाहार्यम्। उपात्तक्रियानिमित्तद्रव्याभावोत्प्रेक्षा यथा—

भुवि त्वन्मुखमालोक्य पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
अचन्द्रामिव पश्यामि दिवं शोभाविवर्जनात्॥

(भारती)

यहाँ स्वाभाविक शब्द से उपात्त गौर, रक्त और नीलवर्ण के निमित्त से अङ्गादि विषयों में

जाति, गुण और क्रियाओं के अभाव से उत्प्रेक्षा के तीन भेद हैं। उसी उपात्त से तद्गुण शोभन रूप क्रिया का वहाँ उसके उत्प्रेक्षण से अन्य ३ भेद हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ६ भेद हुए। शेष दो भेद के उदाहरण जैसे—

'पूर्णचन्द्र की तरह उदित धरती पर तुम्हारे मुख को देखकर, शोभाशून्य आकाश को चन्द्र रहित की तरह देखता हूँ।'

(सुधा)

अत्र स्वाभाविकशब्दोपात्तगौरारुण्यनीलवर्णात्मकेन निमित्तेनाङ्गादिविषयेषु जातिगुणक्रियाणामभावोत्प्रेक्षणात्त्रयो भेदाः। तेनैवोपात्ततत्तद्गुणशोभनरूपक्रियया तत्र तदुत्प्रेक्षणादन्यद्भेदत्रयम्। एवम् ६ भेदाः। शेषं भेदद्वयमुदाहरति—भुवीति। पूर्णचन्द्रमिवोदितं भुवि त्वन्मुखम् आलोक्य शोभाविवर्जनात् दिवं चन्द्ररहितामिव पश्यामीत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र चन्द्रस्य द्रव्यस्याभाव उत्प्रेक्ष्यते। उपात्ता वर्जनक्रिया निमित्तम्। एवमुपात्तगुणनिमित्तापि द्रव्याभावोत्प्रेक्षोदाहार्या।

एतावेव श्लोकौ 'इदं विशालाक्षि विभावयामि' 'पदवीममृतान्धसाम्' चतुर्थपादयोः पाठेऽनुपात्तनिमित्तजात्याद्यभावोत्प्रेक्षोदाहरणे। एवमभावाभिमानवत्योऽपि स्वरूपोत्प्रेक्षाः पूर्वोक्तरीत्या षोडश द्वादश वेति द्वात्रिंशच्चतुर्विंशतिर्वा स्वरूपोत्प्रेक्षाभेदाः प्रदर्शितप्रायाः।

(भारती)

यहाँ शब्दोपात्त वर्जन क्रिया से निमित्तभूत आकाश के विषय में चन्द्ररूपद्रव्याभाव की उत्प्रेक्षा से उपात्तक्रियानिमित्ता द्रव्याभाव की उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार उपमिति निमित्त में ७ भेद सम्पन्न हुए। पूर्वोक्त दोनों श्लोक के ही पाठान्तर कल्पना से अनुपात्त निमित्त के ८ भेदों को उदाहृत करते हैं। वहाँ प्रथम श्लोक में चतुर्थ पाद हटाकर 'इदं विशालाक्षि विभावयामि' इतना जोड़ देने से पहले की तरह क्रिया गुणों से ६ भेद हैं। दूसरे श्लोक में भी 'दिवि' इत्यादि पद के स्थान में 'पदवीममृतान्धसाम्' यह पाठ कर देने पर दोनों भेदों के आठ भेद मिलकर १६ अथवा १२ भेद हैं। भाव और अभाव मिलकर आचार्य रुय्यक के मत से ३२ और विद्यानाथ के मत से २४ भेद होते हैं।

(सुधा)

अत्र शब्दोपात्तवर्जनक्रियया निमित्तभूतया दिवि चन्द्ररूपद्रव्याभावस्योत्प्रेक्षणादुपात्तक्रियानिमित्ता द्रव्याभावोत्प्रेक्षा। अत्रैव शोभाविभागत इति पाठकल्पने उपात्तगुणनिमित्ता द्रव्याभावोत्प्रेक्षा। तथा उपात्ते निमित्ते सप्तभेदाः संपन्नाः। अनयोरेव पाठान्तरकल्पनयाऽनुपात्तनिमित्तस्याष्टौ भेदानुदाहरति—एतावेवेति। तत्र प्रथमश्लोके चतुर्थपदापनयने 'इदं विशालाक्षि विभावयामि' इत्युपन्यस्ते पूर्ववत् क्रियागुणाभ्यामनुपात्ताभ्यां षड् भेदाः। द्वितीयेऽपि दिवमित्यादिपदस्थाने 'पदवीममृतान्धसाम्' इति पाठकल्पने द्वौ भेदावित्यष्टौ भेदा मिलित्वा षोडश द्वादश वा भेदाः। भावाभावयोर्मिलित्वा सर्वस्वकारमते ३२, विद्यानाथमते २४; सम्पद्यन्ते।

(चित्र०)

एतासु विषयिणः क्वचित्तादात्म्येनाध्यवसायः । यथा—'स वः पायादिन्दुः' इत्यत्र । क्वचित्तु संसर्गितया यथा—'निवेशितं यावकरागदीप्तये' इत्यत्रौत्सुक्यस्येत्ययमपि भेदो बोद्धव्यः । अथ हेतूत्प्रेक्षा । उपात्तगुणनिमित्ता जातिहेतूत्प्रेक्षा यथा—

तनुरेणशावकदृशस्तनीयसी शनकैरवाप शरकाण्डपाण्डुताम् ।
उदरान्तरस्थितिमुपेयुषो हरेः करपाञ्चजन्यकिरणैरिवोद्गतैः ॥

(भारती)

इस प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा के भेदों का निरूपण कर उत्प्रेक्षा में सम्बन्धकृत विशेष का प्रतिपादन करते हैं 'स वः पायादिन्दुः' यहाँ इन्दु में तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा अङ्कुरत्व के उत्प्रेक्षण से तादात्म्य का सम्बन्धत्व है 'निवेशितम्' इस नैषधीय पद्य में औत्सुक्य का सम्बन्धान्तर से अध्यवसाय रूप भेद है । अब हेतूत्प्रेक्षा कहते हैं । उपात्तगुण निमित्ता जाति हेतूत्प्रेक्षा-जैसे—

'उस मृगशावक नयनी ने अपने गर्भ में स्थित भगवान विष्णु को पाकर विकसित शरीर वाली होती हुई उनके करस्थ पाञ्चजन्य की धीरे-धीरे उद्गत किरणों से शरकाण्ड की तरह पाण्डुरता को प्राप्त किया ।'

(सुधा)

एवं स्वरूपोत्प्रेक्षाभेदान्निरूप्य तत्रोत्प्रेक्षणे सम्बन्धकृतं विशेषं प्रतिपादयति—एतास्विति । 'स वः पायादिन्दुः' इत्यत्र इन्दौ तादात्म्यसम्बन्धेनाङ्कुरत्वोत्प्रेक्षणात्तादात्म्यस्य सम्बन्धत्वम् । 'निवेशितम्' इति नैषधीयपद्ये औत्सुक्यस्य सम्बन्धान्तरेणाध्यवसायरूपो भेदः । एवं स्वरूपोत्प्रेक्षामुभयमते ब्रह्माहार्यं हेतूत्प्रेक्षाभेदान्निरूपयितुं प्रतिजानीते—अथेति । तनुरिति । एणशावकदृशस्तनीयसी तनुः उदरान्तरस्थितिमाप्तवतो हरेः शनैः उद्गतैः करस्थपाञ्चजन्यकिरणैरिव शरकाण्डपाण्डुतामवाप प्रापेत्यन्वयः ।

(चित्र०)

अत्र किरणजातिः पाण्डिमानं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । स एव पाण्डिमा निमित्तम् । एवं क्रियानिमित्तापि जातिहेतूत्प्रेक्षोहनीया ।

क्रियानिमित्ता गुणहेतूत्प्रेक्षा यथा—

वहतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य करं ययौ पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥

(भारती)

यहाँ किरणरूपी जाति का पीलापन के प्रति हेतुत्व से उत्प्रेक्षण है । अतः पीतत्व ही उपात्तनिमित्तता से उपात्तगुणनिमित्ता जाति हेतूत्प्रेक्षा है । यहाँ ही पीतभागित्व का निमितत्त्व में उपात्त क्रियानिमित्ता जाति हेतूत्प्रेक्षा भी जाननी चाहिए । क्रियानिमित्ता गुणहेतूत्प्रेक्षा से जैसे—

'वह पक्षी अर्थात् राजहंस बहुत शैवालयुक्त भूमिवाले सरोवर से शिव सम्बन्धी या शिव भक्तों की बहुत से चिह्नों को धारण करते हुए नल के मानो भ्रमर सदृश रुद्राक्ष को धारण करते हुए, हाथ को रुद्राक्ष सदृश भ्रमरों वाले रक्त कमल के भ्रम से पुनः प्राप्त किया। अर्थात् बहुत से शैवाल युक्त भूमि वाले तड़ाग के रुद्राक्ष तुल्य भ्रमरों से युक्त रक्तकमल के भ्रम से वह हंस बहुत से शैव अर्थात् शिवभक्त या शिवसम्बन्धी या मङ्गलकारक सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ चिह्नों वाले रक्त वर्ण नल के हाथ को पुनः प्राप्त किया अर्थात् नल के हाथ में पुनः आया।

अथवा रुद्राक्ष के मधुतुल्य श्रेष्ठ व्रतों को धारण करते हुए हाथ को—अथवा रुद्र को नहीं सहन करने वाले अर्थात् शिवद्रोहियों को पराभूत करनेवाले व्रत अर्थात् नियम या प्रतिज्ञा से युक्त, शिवद्रोही पराभवकारक नल कर को; अथवा गूंजते हुए एवं अग्नि तुल्य पिङ्गल वर्ण नेत्र वाले भ्रमरों से युक्त रक्त कमल की भ्रान्ति से।

(सुधा)

अत्र किरणजातेः पाण्डिमानं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे पाण्डिम्न एव उपात्तनिमित्ततया उपात्तगुणनिमित्ता जातिहेतूत्प्रेक्षा। अत्रैव पाण्डिमभागित्वस्य निमित्तत्वे उपात्तक्रियानिमित्ता जातिहेतूत्प्रेक्षा बोध्या। वहत इति। स खगो हंसः सरसस्सकाशान्नलस्य करं कोकनदभ्रमादिव रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ। सरस इति षष्ठी वा। तत्सम्बन्धिनस्तद्भ्रमादिवेत्यर्थः। कथंभूतस्य नलस्य सरसश्च बहूनि शिवसम्बन्धीनि लक्षमाणि यस्य तद्भावस्त्वं वहतः, शिवं कल्याणं तत्सम्बन्धीनि तत्स्तवकानि लक्षमाणि मत्स्यादीनि यस्येति वा। पक्षे बहूनि शैवलानि यस्यां तादृशी क्ष्मा यत्र तद्वत्तां वहतः, कथंभूतं करम्? धृता रुद्राक्षा इव मधुव्रता भ्रमरा येन, पक्षे रुद्राक्षा इव मधुव्रता भ्रमरा येनेत्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र नलकरप्राप्तिक्रियां प्रति कोकनदभ्रमो हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। सैव प्राप्तिक्रिया निमित्तम्। उत्तरत्रापि हेतूत्प्रेक्षायां सर्वत्र फलमेव निमित्तम्। एवं गुणनिमित्तापि गुणहेतूत्प्रेक्षा द्रष्टव्या।

गुणनिमित्ता क्रियाहेतूत्प्रेक्षा यथा—

विवस्वतानायिषतेव मिश्राः स्वगोसहस्रेण समं जनानाम्।
गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनेदमान्ध्यं खलु नान्धकारैः॥

(भारती)

यहाँ नल के हाथ में प्राप्ति क्रिया के प्रति कोकनदभ्रम के हेतुत्व से उत्प्रेक्षण में, उसी प्राप्त क्रिया रूप निमित्त का उपात्तत्व से उपात्तक्रिया निमित्ता गुण हेतूत्प्रेक्षा हुई। यहाँ ही करशालित्व गुण का तदर्थभूत के रहने पर उपात्त गुणनिमित्ता उसे जाननी चाहिए। गुणनिमित्ता क्रिया हेतूत्प्रेक्षा से जैसे—

'सूर्य मानो अपनी हजारों गायों (किरणों) के साथ लोगों की नेत्र अपरनामवाली गायों (रश्मियों) को भी ले गये, इसीसे यह आंध्य है, न कि अंधकारों से।'

(सुधा)

अत्र नलकरप्राप्तिक्रियां प्रति कोकनदभ्रमस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे तस्यैव प्राप्तक्रियारूपस्य निमित्तस्योपात्तत्वादुपात्तक्रियानिमित्ता गुणहेतूत्प्रेक्षा । अत्रैव करशालित्वगुणस्य तदर्थभूतस्य सत्त्वे उपात्तगुणनिमित्ता सा बोध्या । विवस्वतेति । विवस्वता सूर्येण स्वस्य गोसहस्रेण किरणसहस्रेण मिश्रा जनानां नेत्रापरनामधेया गावोऽपि अनायिषत इव, यथा गोपालेन परकीयैर्गोभिः मिश्राः स्वगावो नीयन्ते । गोपदवाच्यतासाजात्येन मिश्रिता विवस्वतापि नीता इवेत्यर्थः । खलु सम्भावनायाम्, तेनानयनेन इदमान्ध्यं न त्वन्धकारैरित्यन्वयः ।

(चित्र०)

अत्रान्ध्यगुणं प्रति नयनक्रिया हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । एवं क्रियानिमित्तापि क्रियाहेतूत्प्रेक्षोदाहार्या ।

क्रियानिमित्ता द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा यथा—

हृदयं परिपूतमेव नित्यं विदुषस्तस्य विशुद्धकर्मभाजः ।
वियदापगयेव विश्वमूर्तेः प्रवहन्त्या वसतोऽन्तरङ्घ्रिपद्मात् ।।

अत्र पवनक्रियां प्रति गङ्गाद्रव्यं हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । एवं गुणनिमित्तापि हेतूत्प्रेक्षोदाहार्या । इत्थं भावाभिमानवत्यो हेतूत्प्रेक्षा उदाहृताः ।

(भारती)

यहाँ अन्ध गुण के प्रति गो की आनयन क्रिया से हेतुत्वेन उत्प्रेक्षा में आन्ध्य गुण का ही निमित्तत्व से ही उपात्त गुण निमित्ता क्रिया हेतूत्प्रेक्षा हुई । यहाँ ही अन्धीकरण क्रिया के प्रति उस क्रिया की हेतूत्प्रेक्षा में अन्धीकरण क्रिया के निमित्तभूत उपात्तत्व से उपात्त क्रिया निमित्ता उसे जाननी चाहिए । क्रियानिमित्ता द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा से जैसे—

'विशुद्ध कर्म के भागी उस विद्वान के हृदय में बसने वाले विश्वमूर्ति अर्थात् भगवान विष्णु के चरण-कमलों से प्रवाहित आकाश गंगा की तरह गंगा ही प्रतिदिन उसे पवित्र करती हैं ।'

यहाँ पावन क्रिया के प्रति गङ्गा रूप द्रव्य का हेतुत्व से उत्प्रेक्षा में उसी क्रिया का उपात्त निमित्तत्व से उपात्तक्रियानिमित्ता द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा हुई । यहाँ ही पवित्रताशालित्व से निमित्त के उपादान में उपात्त गुण निमित्ता भी उसे जाननी चाहिए । इस प्रकार भावाभिमानवती हेतूत्प्रेक्षा के आठ भेदों को जानना चाहिए ।

(सुधा)

अत्रान्ध्यगुणं प्रति गवानयनक्रियाया हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे आन्ध्यगुणस्यव निमित्तत्वेनोपात्तत्वादुपात्तगुणनिमित्ता क्रियाहेतूत्प्रेक्षा । अत्रैव अन्धीकरणक्रियां प्रति तत्क्रियाहेतूत्प्रेक्षणेऽन्धीकरणक्रियाया निमित्तभूताया उपात्तत्वेनोपात्तक्रियानिमित्ता सा बोध्या । हृदयमिति । विशुद्धकर्मभाजस्तस्य विदुषो हृदयमन्तर्वसतो विश्वमूर्तेश्चरणपद्मात् प्रवहन्त्या वियदापगयेव गङ्गयेव नित्यमेव परिपूतमित्यन्वयः । अत्र पावनक्रियां प्रति गङ्गारूपद्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे तस्या एव क्रियाया उपात्तनिमित्तत्वेनोपात्तक्रिया-

निमित्ता द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा । अत्रैव पवित्रताशालित्वेन निमित्तस्योपादाने उपात्तगुणनिमित्ताऽपि सा बोध्या । अष्टौ भेदानुपसंहरति--इत्थमिति ।

(चित्र०)

अथाभावाभिमानवत्यः—

रात्रौ रवेर्दिवा चेन्दोरभावादिव स प्रभुः ।
भूमौ प्रतापयशसी सृष्टवान् सततोत्थिते ॥
तस्मिन्नस्तं गते भानौ विधुस्तस्य पदे कियान् ।
इत्यनादरतो नूनं मीलत्यम्बुरुहाकरः ॥
वीणावादनसंरम्भाच्चकम्पे दक्षिणः स्तनः ।
अदृष्ट्वेवेतरं तस्यास्तम्भाभोगतिरोहितम् ॥

अत्राद्यश्लोके रविचन्द्रयोर्जातिद्रव्ययोरभावौ हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्येते । द्वितीयतृतीयश्लोकयोरादरदर्शनयोर्गुणक्रिययोरभावौ । सृष्टिमीलनकम्पक्रियास्तु निमित्तानि । एवं गुणनिमित्ता अप्यभावहेतूत्प्रेक्षा उदाहार्याः । एवं षोडशभेदा हेतूत्प्रेक्षा दर्शिता ।

(भारती)

अब भावाभिमानवती से जैसे—

'वह परम पराक्रमी राजा ने धरती पर रात में सूर्य के अभाव से तथा दिन में चन्द्रमा के अभाव से सर्वदा वर्द्धिष्णु अपने सूर्यचन्द्र रूपी प्रताप यश की सृष्टि की ।'

'उस सूर्य के अस्त हो जाने पर उसके पद स्थान पर क्या यह चन्द्रमा है ? इस अनादर से मानो ये कमलों से भरे सरोवर निमीलित हैं ।'

'इस सुन्दरी के दाहिने स्तन, वीणा बजाते समय वीणा की तुम्बी देह से बायें स्तन को छिपे देखकर ही मानो काँप उठे ।'

यहाँ प्रथम श्लोक में सूर्य और चन्द्रमा रूपी जाति और द्रव्य के अभावरूप हेतु से उत्प्रेक्षा है । द्वितीय और तृतीय श्लोक में क्रमशः आदर के अभाव रूप गुणभाव के उत्प्रेक्षण में मीलन क्रिया के द्वारा निमित्तता से उपात्त क्रिया निमित्ता गुणाभावहेतूत्प्रेक्षा है । निमीलन का गुण के रूप में स्वीकृति में तो यही उपात्त गुणनिमित्ता जाननी चाहिए ।

तीसरे श्लोक में दर्शन क्रिया के अभावरूप उत्प्रेक्षण में कम्पन क्रिया के द्वारा निमित्तत्व से, उपात्त क्रियानिमित्ता क्रियाभावरूप हेतूत्प्रेक्षा है । यहाँ कम्पन से उपात्त वादनात्मक यत्न के ग्रहण में तुम्बी को ही उपात्त गुण निमित्ता जाननी चाहिए । भावरूप से ये उत्प्रेक्षा के १६ भेद प्रदर्शित हैं ।

(सुधा)

जात्यादीनां हेत्वभावोत्प्रेक्षणेऽष्टौ भेदानुदाहरति—अथेति रात्राविति । स प्रक्रान्तः प्रभुः भूमौ रात्रौ रवेरभावादिव दिवा विधोरभावादिव सततमुदिते प्रतापयशसी इत्यन्वयः । अत्र प्रतापयशःसृष्टिं प्रति जातिद्रव्यरूपत्वं रविचन्द्रयोरभावोत्प्रेक्षणे सृष्टिक्रियाया निमित्तभूताया उपात्तत्वेनोपात्तक्रियानिमित्ता जातिद्रव्ययोरभावरूपत्वेन तूत्प्रेक्षा । अत्रव

निरन्तरतच्छालित्वोत्प्रेक्षणे तस्यैव तदर्थलभ्यतयोपात्तेन गुणेनोपात्तगुणनिमित्ता तदभावहेतूत्प्रेक्षा। तस्मिन्निति। तस्मिन् भानौ अस्तं गते सति तस्य पदे स्थाने विधुश्चन्द्रः क्रियानित्यनादरादिव कमलाकरो मीलतीत्यन्वयः। अत्रादराभावस्य गुणाभावस्योत्प्रेक्षणे मीलनक्रियाया निमित्ततयोपात्तक्रियानिमित्ता गुणाभावहेतूत्प्रेक्षा। निमीलनस्य गुणत्वाङ्गीकारे तूपात्तगुणनिमित्तेयमेव बोध्या। वीणेति। तस्या दक्षिणः स्तनो वीणावादनसंरम्भात् तुम्बीदेहेन तिरोहितमितरमदृष्ट्वेव चकम्पे इत्यन्वयः। अत्र दर्शनक्रियाऽभावोत्प्रेक्षणे कम्पनक्रियाया निमित्तत्वेनोपात्तक्रियानिमित्ता क्रियाभावहेतूत्प्रेक्षा। कम्पनोपात्तस्य वदनात्मकयत्नस्य ग्रहणे त्वियमेवोपात्तगुणनिमित्ता बोध्या। हेतूत्प्रेक्षाभेदानुपसंहरति—एवमिति। षोडशभेदा भावरूपत्वेन दर्शिता इत्यर्थः।

(चित्र०)

अथ फलोत्प्रेक्षा—

सौधेषु यत्र मुखभासु मृगेक्षणानां
ज्योत्स्नापहासचतुरासु विसृत्वरीषु।
चन्द्रस्तदर्थमिव रात्रिषु बम्भ्रमीति
कुर्वन् करप्रसरणान्यधिजालवर्गम्॥
तव निर्वर्ण्य यद्वर्णं स्वर्णं वर्णाय तादृशे।
त्वत्कोशगेहान्निर्गम्य तीर्थेषु वसति ध्रुवम्॥

(भारती)

इसके बाद फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण जैसे—

'जहाँ महलों में चन्द्रज्योत्स्ना के उपहास में चतुर मृगनयनियों की मुखकान्ति है, वहाँ खिड़कियों से अपनी किरणों को प्रसारित करते हुए रात में चन्द्रमा मानो घूम रहा है, ऐसा प्रतीत हो रहा है।'

'तुम्हारे वर्ण अर्थात् स्वरूप को अच्छी तरह देख कर सोना तुम्हारे ही तरह के स्वरूप पाने के लिए मानो तुम्हारे कोशगृह से निकल कर निश्चित रूप से तीर्थों में अग्नियोगादि के लिए वास कर रहा है। अर्थात् तप कर रहा है।'

(सुधा)

हेतूत्प्रेक्षां निरूप्य फलोत्प्रेक्षां निरूपयति—अथेति। सौधेष्विति। यत्र सौधेषु मृगेक्षणानां ज्योत्स्नोपहासचतुरासु विसृत्वरीषु मुखकान्तिषु सतीषु अधिजालवर्गं करप्रसरणानि कुर्वन् चन्द्रस्तदर्थमिव रात्रिषु बम्भ्रमीतीत्यन्वयः।

अत्र मुखप्रभागौरत्वरूपायाः जातेः फलत्वेनोत्प्रेक्षणे भ्रमणरूपक्रियाया निमित्ततयोपात्तक्रियानिमित्ता भावरूपा जातेः फलत्वेनोत्प्रेक्षा। अत्रैव चन्द्रस्य भ्रमणशालित्वकथनेनोपात्तगुणनिमित्ता बोध्या। तवेति। तव वर्णं निर्वर्ण्य यत्कनकं तादृशे वर्णाय तद्वर्णं प्राप्तुमित्यर्थः। तव कोशगृहान्निर्गम्य ध्रुवं तीर्थेष्वग्नियोगादिषु वसतीत्यन्वयः। अत्र गौरवर्णस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणे तीर्थवसनक्रियाया निमित्तभूताया उपादानादुपात्तक्रियानिमित्ता भावरूपा गुणस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षा। अत्रैव वासशालित्वकथने तूपात्तगुणनिमित्तापीयमेव बोध्या।

(चित्र०)

रथस्थितानां परिवर्तनाय पुरातनानामिव वाहनानाम् ।
उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्थे रविरुत्तरस्याम् ॥
दुग्धार्णवसहस्राय कैलासाचलकोटये ।
नूनं प्रतापरुद्रेण यशो दिक्षु प्रसारितम् ॥

एषु श्लोकेषु क्रमेण मुखप्रभागौरवर्णपरिवर्तनदुग्धार्णवकैलासरूपाणि जातिगुणक्रियाद्रव्याणि फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यन्ते । भ्रमणतीर्थवासप्रस्थानप्रसारण-क्रिया निमित्तानि । एवं गुणनिमित्ता अप्युदाहार्याः ।

(भारती)

'रथ में नियुक्त पुराने अश्वों को बदलने के लिए ही मानो उत्तम घोड़ों की उत्पत्तिभूमि उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया ।'

'राजा प्रतापरुद्र ने क्षीरसागर को हजारों की संख्या में तथा कैलाश पर्वत को करोड़ों की संख्या में बनाने के लिए मानो अपने धवल यश को दिशाओं में फैलाया ।'

इन श्लोकों में क्रमशः मुखप्रभा, गौरवर्ण, परिवर्त्तन, क्षीरसागर तथा कैलाश पर्वत रूप जाति, गुण और क्रिया के फलत्व से उत्प्रेक्षा है । भ्रमण, तीर्थवास और प्रसारण की क्रिया निमित्त हैं । इसी प्रकार गुण निमित्त के भी उदाहरण देना चाहिए ।

(सुधा)

रथस्थितानामिति । रथे स्थितानां नियुक्तानां पुरातनानां वा वाहनानामश्वानां परिवर्तनायेव तुरगोत्तमानामुत्पत्तिभूमावुत्तरस्यां दिशि प्रतस्थे इत्यन्वयः । अत्र परिवर्तन-क्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्षणे निमित्तभूतप्रस्थानक्रियाया उपात्तत्वादुपात्तक्रियानिमित्ता भाव-रूपक्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्षा । प्रस्थानशालित्वेन तत्कथने तूपात्तगुणनिमित्ता बोध्या । दुग्धार्णवेत्यादि । प्रतापरुद्रेण राज्ञा यशो दुग्धसमुद्राणां सहस्रं कर्तुम्, कैलासपर्वतस्य कोटिसंख्यां कर्तुं नूनं दिक्षु प्रसारितमित्यन्वयः ।

अत्रोपात्तया निमित्तभूतप्रसारणक्रियया दुग्धाब्धिकैलासादिरूपद्रव्यस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणादुपात्तक्रियानिमित्ता भावाभिमानवती द्रव्यस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षा । दिक्षु प्रसारणशालित्वस्य यशसि प्रतिपाद्ये तूपात्तगुणनिमित्ता द्रव्यस्य फलोत्प्रेक्षा ।

(चित्र०)

अभावाभिमानवत्यः फलोत्प्रेक्षा यथा—

त्वदाननेन सादृश्यं प्राप्तुकामो निशाकरः ।
कलङ्कपङ्काभावाय नूनं मज्जति सागरे ॥
अरण्यवासार्जितबान्धवासु मृगीष्ववैरार्थमिवाशरण्याः ।
कलिन्ददेशेश्वरवैरिनार्यः पराङ्मुखा लोचनविभ्रमेषु ॥

हेमाद्रिकुञ्जेषु विहारभाजः सिद्धाङ्गनाः कल्पितचन्द्रकार्थान् ।
श्रीवीररुद्रस्य यशोविलासान् गायन्त्यसंस्प्रष्टुमिवान्धकारम् ॥
वीररुद्रनरेन्द्रस्य जयप्रस्थानसंभवम् ।
रजःपिहितदिग्गोलं निराकाशमिवोत्थितम् ॥

(भारती)

अभावाभिमानवती फलोत्प्रेक्षा से जैसे—

'तुम्हारे मुख के साथ सादृश्य प्राप्ति की कामना से निशाकर चन्द्रमा कलङ्करूपी पङ्क को हटाने के लिए निश्चय ही सागर में स्नान कर रहा है।'

'अरण्यवास से अर्जित किया है हरिणियों में बन्धुत्व जिसने, ऐसी अवैरार्थ की तरह शरण-रहित, कलिङ्गाधिपति के दुश्मनों की पत्नियां आंखों के विभ्रम में पराङ्मुख हुईं।'

'हिमालय के कुञ्जों में विहार करने वाली सिद्धाङ्गनाएँ कल्पित चन्द्रकिरणों को मानो अन्धकार को बिना स्पर्श किये हुए की तरह, श्री वीररुद्र के यशो-विलासों का गायन करती हैं।'

'वीर रुद्रनरेन्द्र के विजय-प्रस्थान से समुत्पन्न धूलिकणों से आच्छादित दिग्गोल आकाश-रहित की तरह प्रतीत हो रहा है।'

(सुधा)

एवं भावाभिमानवत्याः फलोत्प्रेक्षाया अष्टौ भेदान्निरूप्याभावाभिमानवत्या अष्टौ भेदान् निरूपयितुमाह—अभावाभिमानवत्य इति।

त्वन्मुखेन सादृश्यं प्राप्तुकामो निशाकरश्चन्द्रः कलङ्कपङ्काभावाय नूनं सागरे मज्जतीत्यन्वयः। अत्र मज्जनेन निमित्तेन पङ्कस्वरूपजातेरभावः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते इत्युपात्तक्रिया-निमित्ता जात्यभावफलोत्प्रेक्षा। (पङ्कगुणश्यामः) अत्र मज्जनोपात्तशुद्धिरूपगुणकथने तु एषैव गुणनिमित्तापि बोध्या। अरण्येति। अरण्यवासेनार्जितं बान्धवं याभिस्तासु मृगीषु अवैरार्थमिव अशरण्याः कलिङ्गदेशेश्वरस्य वैरिनार्यो लोचनविभ्रमेषु पराङ्मुखा अभूवन् इत्यन्वयः। अत्र पराङ्मुखत्वगुणेन वैराभावः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। तथा च गुणनिमित्ता वैराभावफलोत्प्रेक्षा।

हेमाद्रीति—हेमाद्रिकुञ्जेषु विहारभाजः सिद्धाङ्गनाः कल्पितचन्द्रकार्थान् श्रीवीररुद्रस्य यशोविलासान् अन्धकारमसंस्प्रष्टुमिव गायन्ति इत्यन्वयः। अत्र निमित्तभूतचन्द्रक्रियया संस्पर्शाभावस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्ता स्पर्शनाभावरूपफलोत्प्रेक्षा। चन्द्र-शब्दोपात्ताह्लादगुणेन तदुत्प्रेक्षायां गुणनिमित्ता बोध्या। एवं पूर्वश्लोकेऽपि पराङ्मुखत्वभा-गित्वक्रिययोत्प्रेक्षणे क्रियानिमित्तापि बोध्या।

वीरेति—वीररुद्रनृपतेर्जयप्रस्थानसम्भवं रजआच्छादितदिग्गोलं निराकाशमिवोत्थितम्। अत्रोत्थानक्रियया निमित्तभूतयाऽऽकाशाभावस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणे क्रियानिमित्ता फला-भावोत्प्रेक्षा। आवरणशालित्वगुणत्वेनोत्प्रेक्षणे तु गुणनिमित्तापि बोध्या।

(चित्र०)

एषु श्लोकेषु पङ्कवैरस्पर्शनाकाशानामभावाः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यन्ते। तेषु पराङ्मुखत्वमेको गुणः। अन्याः क्रियाः। इत्थं गुणक्रियानिमित्तभेदा उदाहार्याः।

एवं फलोत्प्रेक्षाः षोडश दर्शिताः । इति वाच्योत्प्रेक्षावर्गः ।
अथ गम्योत्प्रेक्षा दिङ्मात्रेणोदाह्रियते—

नभसि महसां ध्वान्तध्वाङ्क्षप्रमापणपत्त्रिणा-
मिह विहरणैः श्यैनम्पातां रवेरवलोकयन् ।
शशविशसनत्रासादाशामगाच्चरमां शशी
तदधिगमनात्तारापारावतैरुदडीयत ॥

(भारती)

इन श्लोकों में क्रमशः पङ्क, वैर, स्पर्श एवं आकाश के अभाव फलत्वेन उत्प्रेक्षित हैं। उनमें पराङ्मुखत्व एक गुण ही है, तथा शेष सारी क्रियायें हैं। इस प्रकार गुण क्रिया निमित्त भेद से उदाहरण जानना चाहिए। इस प्रकार फलोत्प्रेक्षा के १६ भेद दिखाये गये। ये वाच्योत्प्रेक्षा के वर्ग हैं।

गम्योत्प्रेक्षा के दिङ्मात्र उदाहरण यहाँ देते हैं। जैसे—

'आकाश में महान तेजस्वी सूर्य के काकों के हिंसन के लिए श्येनरूपी किरणों के विहरण रूप निमित्त से अर्थात् सूर्य की किरणरूपी बाज को आकाश में शिकार के लिये घूमते हुए देखकर, चन्द्रमा (अपनी गोद में स्थित) खरहे की हिंसा के भय से दूसरी दिशा की ओर चल दिये और चन्द्रमा को दूसरी ओर जाते देखकर तारेरूपी कबूतर भी उड़ गये।'

(सुधा)

फलोत्प्रेक्षामुपसंहरति—एवमिति । वाच्योत्प्रेक्षामुपसंहरति—इतीति । अथ संक्षेपेण गम्योत्प्रेक्षामुदाहरति—

अथेति । सम्भावनावाचकपदाभावे गम्योत्प्रेक्षा भवति । सा च पूर्वोदाहृतेषु इवाद्यभावे यद्यपि ज्ञातुं शक्यते; तथाप्युपलक्षणार्थमुदाहरणमाह—नभसीति । नभसि महसां तेजसां ध्वान्तध्वाङ्क्षप्रमापणपत्त्रिणां विहरणैः रवेः श्यैनम्पातां मृगयां विलोकयन् शशी शशहिंसनत्रासाच्चरमां दिशमगात् । चन्द्रस्याधिगमनात्ताराकपोतैरुदडीयतेत्यन्वयः ।

(चित्र०)

अत्र सूर्येण विसृष्टानां ध्वान्तकाकप्रमापणश्येनरूपाणां किरणानां विहरणेन निमित्तेन सूर्यस्य श्येनपातवती मृगयाविहारक्रियोत्प्रेक्ष्यत इति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा तावदेका । तस्माच्छशाशनत्रासः तस्य दिगन्तरगमनं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति हेतूत्प्रेक्षाऽन्या । ततस्तदधिगमस्तारापारावतानां मुग्धत्वेनाध्यवसितः तत्तत्स्थानेऽस्फुरणं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यपरा च हेतूत्प्रेक्षा । सर्वाश्चैता गम्याः, इवाद्यभावात् । एवमन्या अपि स्वयमेव बोध्याः । नूनमादिशब्दविरहेण पूर्वोक्तप्रकाराणामुन्नेतुं शक्यत्वात् । प्रागुदाहृतानामेव श्लोकानां नूनमादिशब्दाविधानेन गम्योत्प्रेक्षोदाहरणत्वसंभवाच्च गम्योत्प्रेक्षाः पृथक्साकल्येन नोदाहृताः ।

(भारती)

यहाँ सूर्य के द्वारा विसृष्ट काक-हिंसन श्येनरूप किरणों के विहरणरूप निमित्त से सूर्य के शिकार के लिए विहार करने की क्रिया के उत्प्रेक्षण से उपात्तनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा हुई। उससे उत्पन्न डरके कारण चन्द्रमा का दिशान्तर की ओर गमन के प्रति हेतुत्व से उत्प्रेक्षण के कारण हेतूत्प्रेक्षा हुई। उसके बाद चन्द्रमा के अवगमन के कारण तारारूपी कबूतरों के उड्डीनत्व से निश्चित स्थान के लिए स्फुरण के प्रति हेतुत्व के उत्प्रेक्षण से अन्या हेतूत्प्रेक्षा हुई। इवादि शब्द के अभाव से ये सभी गम्या उत्प्रेक्षा हुई। इसी प्रकार अन्य सबों को स्वयं ही जानना चाहिए। 'नूनम्' आदि शब्द विरह से पूर्वोक्त सभी प्रकारों का उन्नयन संभव है। पूर्वोक्त उदाहरणों में ही 'नूनम्' आदि शब्द के अविधान से गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरण संभव हैं। अतः गम्योत्प्रेक्षा के सभी उदाहरण अलग-अलग नहीं दिये।

(सुधा)

लक्षणसमन्वयमाह—अत्रेति। सूर्यविसृष्टानां काकहिंसनश्येनरूपायाः किरणानां विहरणरूपनिमित्तेन रवेः श्येनपातवत्या मृगयाविहारक्रियाया उत्प्रेक्षणादुपात्तक्रिया-निमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा, तज्जन्यशशिन्नासस्य दिगन्तरगमनं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा। ततश्चन्द्रस्यावगमनं तारापारावतत्वोड्डीनत्वेन निश्चिततरस्थानास्फुरणं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणादन्या हेतूत्प्रेक्षा। आसाम् गम्यत्वमाह—सर्वा इति। उपसंहरति—एवमिति। न्यूनत्वशङ्कापरिहारायाह—नूनमित्यादि।

(चित्र०)

इदं तु चिन्त्यते। गम्योत्प्रेक्षासु जातिद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षे संभवतो न वेति। संभवत इति पक्षे—

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निराश्रयाः खलु।
अनुसायमभुविलेपनापणकाश्मीरजपण्यवीथयः ॥
परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरः।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

(भारती)

यहाँ विशेषता बतलाते हैं कि जाति और द्रव्य की स्वरूपोत्प्रेक्षा से गम्योत्प्रेक्षा संभव है अथवा नहीं! यहाँ कुछ लोग संभव पक्ष कहते हैं। उनके मत से उदाहरण देते हैं जैसे—

'जिस कुण्डिन नगरी में प्रत्येक सायंकाल में लेप-सामग्रियों के बाजार में बिकने वाले कुङ्कुम के मार्ग अस्तंगत सूर्य की गिरी हुई निरवलम्ब किरणों के समान शोभती थीं। सायंकाल में कुण्डिन पुरी के लेप बिकने वाले बाजार में कुंकुम बिकने वाले मार्ग गिरे हुए कुङ्कुमों से रंजित होने के कारण ऐसे प्रतीत होते थे कि अस्तङ्गत सूर्य की लाल लाल किरणें निराश्रय होने से भूमि पर गिर गयी हैं'।

'खाई के घेरे के कपट से घिरी हुई, अत एव शेषनाग के अंशावतार पतंजलि से कथित 'महाभाष्यग्रंथ की फक्किका के समान विषम अज्ञेय, पक्षान्तर में अप्रवेश्य—जिस कुण्डनपुरी को दूसरों ने नहीं जाना, पक्षान्तर में वश में नहीं किया। शेषनाग के अवतार श्री पतञ्जलि द्वारा

रचित भाष्य में कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके वास्तविक आशय का ज्ञान न होने के कारण उन्हें वररुचि ने घेर कर उनका दुर्ज्ञेयत्व सूचित कर दिया है, इस प्रकार इस कुण्डिन नगरी की चारो ओर ऐसी खाई है कि इसे कोई भी शत्रु अपने वश में नहीं कर सकता, अत एव यह नगरी उस भाष्य की फक्किका के समान दूसरों से अग्राह्य है।'

(सुधा)

अत्र विशेषमाह--इदन्त्विति।

जातिद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षयोर्गम्योत्प्रेक्षायां सम्भवो न वा? अत्र केचित् सम्भवपक्षं वदन्ति, तन्मतरीत्योदाह्रियते—रुचय इति। यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसन्ध्याकालं विलेपनापणे सुगन्धद्रव्यविक्रयहट्टे काश्मीरजं पण्यं विक्रेयं तस्य वीथयो मार्गाः, अस्तमितस्य अस्तङ्गतस्य भास्वतो रवेः स्खलिताः च्युता निराश्रया रुचय इव अभुः भान्ति स्मेत्यन्वयः। अत्र वीथित्वजातीनां रुचित्वजातिसम्भावनसत्त्वेन इवादेरभावाद् गम्या जातिस्वरूपोत्प्रेक्षेति भावः। द्वितीयामुदाहरति—परिखेति। या नगरी परिखावलयच्छलेन परिखामण्डलव्याजेन कुण्डलनां रेखावलयमवापिता प्रापिता सती परेषां शत्रुग्रहणस्य तत्स्वाधीनत्वस्य गोचरो विषयो न शत्रुभिर्ग्रहीतुं शक्येत्यर्थः। किं भूता फणिभाषिता शेषोक्ता भाष्यफक्किका, तद्वद्विषमा दुर्ग्रहा शेषव्यतिरिक्तेन ज्ञातुमशक्या। यथा भाष्यफक्किका वररुचिना कुण्डलितेति प्रसिद्धिरिति।

(चित्र०)

इत्यादिनोदाहरणेन भाव्यम्। अभिमतं च तथा केषांचित्। अलङ्कारसर्वस्वकारस्य तु न संभवत इति पक्षः। एतदभिप्रायेणैव तेनोक्तं गम्योत्प्रेक्षाविभागे 'प्रायश्चात्र स्वरूपोत्प्रेक्षा न संभवति' इति।

कस्तर्ह्यनयोस्तस्य पक्षेऽलङ्कारः? रूपकमेव। अत एव—

पीयूषप्रसृतिर्नवा मखभुजां दात्रं तमोलूतये
स्वर्गङ्गाविमनस्ककोकवदनस्रस्ता मृणालीलता।
द्विर्भावः स्मरकार्मुकस्य किमपि प्राणेश्वरी सागसा-
माशातन्तुरुदञ्चति प्रतिपदि प्रालेयभानोस्तनुः॥

(भारती)

यहाँ परिखावलय का रेखावलय से सम्भावना है। वहाँ इवादि शब्द के अभाव से गम्यता है। उससे नगरी का भाष्य की फक्किका के स्वरूप से तत्त्व है। यहाँ छलपद के उपादान से अपह्नुति संकीर्णा द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा है-यह उन लोगों के कहने का आशय है। 'न वा' इस उत्तर पक्ष में तो अलङ्कारसर्वस्वकार की ही सम्मति है। क्योंकि अलंकार सर्वस्वकार ने अपने ग्रन्थ में गम्योत्प्रेक्षा के भेद कहते समय लिखा है कि प्रायः यहाँ गम्योत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा की संभावना नहीं है।

अगर आप यह कहें कि पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में कौन अलङ्कार है; क्योंकि यहाँ रूपक अलङ्कार ही है? तो रूपक की स्वीकृति में उक्त उदाहरण रूप सम्मति कहते हैं—

'क्योंकि यहाँ रूपक है अत एव उससे 'पीयूषप्रसृतिः' इस उदाहरण में रूपक की व्याख्या से उसके द्वारा 'स्वर्गङ्गा विमनस्का' इत्यादि उदाहरण में भी रूपक की ही स्वीकृति है।'

प्रिया के सागस् (सापराध) पतियों की कोई अपूर्व आशातन्तु की तरह प्रतिपद् की रात में आकाश में उदित क्षीण चन्द्र को देखकर कवि ने उत्प्रेक्षा की है—मानो यह चाँद नहीं है, प्रत्युत देवताओं ने नये अमृत के लिए हाथ फैलाया है, अथवा अन्धकार को चीरने के लिए मानो यह आरा है, किंवा स्वर्गङ्गा से दुखी चक्रवाक के मुख से भ्रष्ट मृणाली-लता है अथवा काम के धनुष का द्विर्भाव हुआ है।

(सुधा)

अत्र परिखावलयस्य रेखावलयत्वेन सम्भावना। तत्र चेवादेरभावात् गम्यत्वम्। तेन पुर्या भाष्यफक्किकास्वरूपेण तत्त्वम्। अत्र च्छलपदोपादानादपह्नुतिसंकीर्णा द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षेति तेषामाशयः। न वेत्युत्तरपक्षस्तु अलङ्कारसर्वस्वकारस्य सम्मतः। गम्योत्प्रेक्षाविभागकथनावसरे प्रायश्चात्र गम्योत्प्रेक्षायां स्वरूपोत्प्रेक्षा न सम्भवतीति तद्ग्रन्थे प्रतिपादनादित्याह—अलङ्कारसर्वस्वकारस्येति। न च तत्पक्षे पूर्वोक्तोदाहरणयोः को वाऽलङ्कारः स्यादिति वाच्यम्? रूपकस्यैव सत्त्वात्। रूपकाङ्गीकारे तदुदाहरणरूपां सम्मतिमाह—अत एवेति। यतोऽत्र रूपकम्, अत एव तेन 'पीयूषप्रसृतिः' इत्युदाहरणे रूपकं व्याचक्षाणेन तेन 'स्वर्गङ्गा विमनस्का' इत्याद्युदाहरणेष्वपि रूपकमेवाङ्गीकृतमित्यन्वयः। उदाहरणव्याख्या तु—देवानां नवा पीयूषप्रसृतिः अमृतार्थं करप्रसृतिः, तमसो लूतये च्छेदनाय दात्रं, स्वर्गङ्गाया विमनस्कस्य कोकस्य वक्त्रात् स्रस्ता मृणालीलता, स्मरधनुषो द्विर्भावः, प्राणेश्वरी-सागसां किमप्यपूर्वमाशातन्तुरियं चन्द्रस्य तनुः प्रतिपदि उदञ्चति उदयतीत्यन्वयः।

(चित्र०)

इत्यत्र मालारूपकमुदाहरता 'स्वर्गङ्गा विमनस्का' इत्यादिष्वपि रूपकमेवोररीकृतम्। तस्माज्जातिद्रव्योत्प्रेक्षे परिहृत्यैव गम्योत्प्रेक्षावर्गः परिगणनीयः।

इदं चान्यद् बोद्धव्यम्। धर्म्युत्प्रेक्षासु विषयिविषयानुगतो धर्मो धर्मोत्प्रेक्षासु विषयाश्रयविषयानुगतो धर्मश्च निमित्तम्।

तेन 'उवाह या तनुलताम्' इत्यादौ वैमल्यं निमित्तमित्यादिपक्षो न युक्तः, तस्य तादात्म्यसंभावनोपयुक्तप्रतिबिम्बघटकस्य तनुधर्मस्य विषयधर्मत्वाभावात्। 'यत्रान्यधर्मसंबन्धात्' इत्यादिलक्षणं वदद्भिः सर्वैरपि विषयधर्मस्यैव निमित्तत्वस्य व्यवहृतत्वादित्यलमतिविस्तरेण।

(भारती)

यहाँ मालारूपक का उदाहरण देते हुए 'स्वर्गङ्गा विमनस्का' इत्यादि में भी रूपक ही स्वीकार किया है। अतः जाति और द्रव्य की उत्प्रेक्षा में गम्योत्प्रेक्षावर्ग को छोड़कर ही गणना करनी चाहिए।

दूसरी विशेषता भी कहते हैं कि विषयी और विषय के अनुगत धर्म का धर्मी उत्प्रेक्षा में निमित्तत्व है और विषयी का आश्रय ग्रहण कर जो विषय में अनुगत है उसकी धर्मोत्प्रेक्षा में निमित्तता है।

इस कथन का फल बताते हैं कि इससे 'उवाह या तनुलताम्' इत्यादि में विमलता का निमित्तत्व कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि तादात्म्य संभावना के उपयुक्त प्रतिबिम्बघटक तनु धर्म का विषय धर्मत्वाभाव है। इसमें सम्मति कहते हैं कि जहाँ सभी अलङ्कारसर्वस्वकारादिगण ने 'यत्रान्यधर्मसम्बन्धात्' इत्यादि अपने ही लक्षण में विषयधर्म का ही निमित्तत्व से व्यवहार स्वीकृत किया है।

विमर्श—इस प्रकार अलङ्कारसर्वस्वकार के मत में स्वरूपोत्प्रेक्षा के ३२ भेदों को तथा हेतु और फलोत्प्रेक्षा के २४ भेदों को मिलाकर ५६ भेद वाच्योत्प्रेक्षा के हैं। इसी प्रकार गम्योत्प्रेक्षा में—स्वरूपोत्प्रेक्षा के १६, हेतूत्प्रेक्षा के १२, फलोत्प्रेक्षा के १२, सम्मिलित के ४० और दोनों भेदों को मिलाकर ९६ भेदों को दिखाकर—विद्यानाथ के मत में वाच्योत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा के २४ भेद, हेतूत्प्रेक्षा के १६, फलोत्प्रेक्षा के १६, कुल मिलाकर ५६ भेद हैं। गम्या में स्वरूप, हेतु और फलोत्प्रेक्षा में प्रत्येक १६, १६ भेदों को मिलाकर ४८ भेद और फिर इस पूर्वोक्त तीनों के भेदों को मिलाकर कुल १०४ भेद बताये हैं।

मुख्यतः सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा के दो ही भेद हैं—वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। पुनः वाच्योत्प्रेक्षा स्वरूप, हेतु और फल के भेद से तीन प्रकार की हैं। इन तीनों में स्वरूप-वाच्योत्प्रेक्षा के ३२ भेद हैं। जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया के भेद से प्रथम इसके ४ भेद हैं, फिर इन चारों के भावाभिमानवती और अभावाभिमानवती के रूप से ८ भेद हुए। इन आठों का गुण और क्रिया रूप से द्विविध होने के कारण दो-दो प्रकार के होकर १६ भेद बन जाते हैं। इन १६ भेदों के उपादान और अनुपादान के भेद से ३२ प्रकार के भेद हुए।

फलगतवाच्योत्प्रेक्षा में द्रव्य का फलोत्प्रेक्षा और उसके ४ भेद की कोई संभावना नहीं रहने के कारण १२ भेद ही संभव हैं। हेतुगतवाच्योत्प्रेक्षा भी १२ प्रकार की ही हुआ करती हैं। क्योंकि वाच्योत्प्रेक्षा के इस भेद में द्रव्य की हेतूत्प्रेक्षा और उसके ४ भेदों की संभावना नहीं रहती है। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के कुल ५६ भेद अर्थात् स्वरूप के ३२, फल के १२, और हेतु के १२ भेदों को प्रतिपादन और अप्रतिपादन के भेद से ११२ भेद सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ६४ प्रकार की है। इसमें स्वरूपोत्प्रेक्षा के ३२ भेद असंभव हैं। किन्तु फलगत १६ और हेतुगत १६ भेद आवश्यक हैं जोकि प्रस्तुत के प्रतिपादन और अप्रतिपादन की दृष्टि से कुल मिलाकर ६४ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलङ्कार के कुल मिलाकर वाच्योत्प्रेक्षा ११२ और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के भेद ६४ अर्थात् ११२ + ६४ = १७६ हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इन भेदों को आलङ्कारिकों की परम्परा मानी है।

(सुधा)

अत्र मालारूपकलङ्कारः 'मालारूपकमाद्यञ्चेद् यथोत्तरगुणावहम्' इति तल्लक्षणोक्तेः। उपसंहरति—तस्मादिति। अन्यमपि विशेषमाह—इदमिति। विषयिविषययोरनुगतस्य धर्मस्य धर्म्युत्प्रेक्षायां निमित्तत्वं विषयिणमाश्रित्य यो विषयेऽनुगतस्तस्य धर्मोत्प्रेक्षायां निमित्तत्वम्। एतत्कथनस्य फलमाह—तेनेत्यादि। 'उवाह या तनुलताम्' इत्यादौ वैमल्यस्य निमित्तत्वकथनमयुक्तम्। तादात्म्यसंभावनायोग्यप्रतिबिम्बसाधनभूतस्य तनुधर्मस्य वैमल्यस्य वेणिकाधर्मत्वाभावात्। तत्र सम्मतिमाह—यत्रेति। सर्वैरलङ्कारसर्वस्वकारादिभिः 'यत्रान्य…'इत्यादिस्वोक्तलक्षणे विषयधर्मस्यैव निमित्तत्वेन व्यवहारोऽङ्गीकृत इति दिक्।

(चित्र०)

अत्र ब्रूमः—

विषयिण उत्प्रेक्षायां जातिगुणाद्यात्मना विभागविधा ।
यादर्शि नैव शोभा तयोपमायामिवोपमेयस्य ॥
तदभावेऽलङ्कारा: संभवमात्रेण न विभागम् ।
अर्हन्तीतरथास्या विषयोऽप्येवं विभक्तव्यः ॥
धर्मस्यापि विभागो गुणक्रियात्मा न चारुताहेतुः ।
उपमायामिव सोऽपि न्यूनस्तदभावयोरसंकलनात् ॥

(भारती)

'अत्र ब्रूमः' से दोनों पक्षों का दोष कहते हैं—

आप लोगों ने उत्प्रेक्षा में जाति द्रव्य, गुण और क्रियाओं से जो विषयी के भेद दिखाये हैं वे सारे भेद उपमा अलङ्कार में उपमेय की ही शोभा नहीं देते ।

'उसके अभाव में सम्भावना मात्र से अलङ्कारों के भेद नहीं हो सकते । अन्यथा सम्भावना मात्र से उसकी स्वीकृति में विषय भी इस प्रकार जाति आदि से विभाग करने योग्य होंगे ।'

अन्य दोष भी बताते हैं कि उत्प्रेक्षा निमित्त धर्म के भी गुण और क्रिया से ही भेद सुन्दरता के हेतु नहीं होते हैं । उपमा की तरह ही जाति, क्रिया और द्रव्य के अभाव में भी विभाजकता के असम्भव होने के कारण तावन्मात्र का ही तत्त्व में न्यूनता के दोष का प्रसङ्ग है ।

(सुधा)

एवमलंकारसर्वस्वकृन्मते स्वरूपोत्प्रेक्षाया ३२ द्वात्रिंशद् भेदान्; हेतुफलोत्प्रेक्षयोश्चतुर्विंशति २४ भेदान्; मिलित्वा षट्पञ्चाशत् ५६ भेदान् वाच्योत्प्रेक्षायाम् । गम्यायान्तु स्वरूपोत्प्रेक्षणे १६; हेतूत्प्रेक्षणे १२; फलोत्प्रेक्षणे १२, मिलित्वा: ४०; उभयोर्भेदान् ९६ षण्णवतिसंख्याकान् प्रदर्श्य विद्यानाथमते वाच्योत्प्रेक्षायां स्वरूपोत्प्रेक्षणे २४ भेदाः, हेतूत्प्रेक्षणे १६, फलोत्प्रेक्षणे १६, मिलित्वा ५६ षट्पञ्चाशद्भेदान्, गम्यायाञ्च स्वरूपहेतुफलोत्प्रेक्षणेषु प्रत्येकं १६ षोडशभेदान्, मिलित्वा ४८ अष्टचत्वारिंशत्संख्याकान् मिलित्वा १०४ चतुरुत्तरशतं भेदान् व्याख्याय तत्र तत्तद्विशेषवशा···दुक्तं व्याख्याय चोभयमते दूषणोपन्यासं वक्तुमारभते—अत्र ब्रूम इत्यादिना ।

भवद्भिरुत्प्रेक्षायां जातिद्रव्यगुणक्रियाभिर्या विषयिणो विभागविधाऽदर्शि, तया विषयोपमालङ्कारे तैरुपमेयस्येव शोभा नैवेत्यन्वयः । तदभावे योग्ये सम्भवमात्रेणालंकारा भेदं नार्हन्ति । इतरथा सम्भवमात्रेण तदङ्गीकारे विषयोऽप्येवं जात्यादिभिर्विभागं कर्तुं योग्यः स्यादिति । किञ्च दूषणान्तरम्—उत्प्रेक्षानिमित्तधर्मस्यापि गुणक्रियाभ्यामेव भेदो रमणीयताहेतुर्न भवति । उपमायामिव जातिक्रियाद्रव्याभावयोरपि विभाजकतासम्भवेन तावन्मात्रस्य तत्त्वे न्यूनतादोषप्रसङ्ग इति ।

(चित्र०)

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः ।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न संमुखवास्तुनि वस्तुनि ॥

वतंसनीलाम्बुरुहेण किं दृशा विलोकमाने विमनीबभूवतुः।
अपि श्रुती दर्शनसक्तचेतसां न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीदृशाम् ॥
इत्यादिषु पश्यामो गुणक्रियाभावयोरपि व्यक्तम्।
उज्ज्वलभावनिबन्धनमुत्प्रेक्षायां निमित्तत्वम् ॥

(भारती)

'मन में स्थित प्रिय नल को देखने के लिए मानो भीतर को घुसी अर्थात् चिन्ता से भीतर की ओर धँसी हुई दमयन्ती की आँखों को, सामने पड़ी हुई वस्तुओं को भी देखने की शक्ति नहीं रही। तात्पर्य यह कि चिन्ता के कारण दमयन्ती की आँखें भीतर धँस गई थीं तथा वे सामने भी पड़ी हुई वस्तुओं को नहीं देख सकती थीं।'

'मृगनयनी दमयन्ती के कान भी मानो आँखें बन गये। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि कर्णावतंस रूप नील कमल रूपी आँखों से ही देखती हुई दमयन्ती के दोनों कान क्या विमन (बहरे) हो गये ? अर्थात् अपने काम में मन नहीं लगाते। उसी विमन होने के कारण दमयन्ती के कान नल-दर्शन के लिए संलग्नचित्त रहने के कारण कुछ सुनते ही नहीं थे। तात्पर्य यह कि दमयन्ती के हृदयगत प्रिय राजा नल के दर्शनार्थ उसकी आँखें अन्तर्मुख हो गयीं। इससे बाहरी वस्तु देखने की उसकी शक्ति ही नष्ट हो गयी। फलतः एकाग्रता के कारण कान भी अपने सुनने के कार्यों को छोड़कर दर्शन क्रिया में ही संलग्न हो गये।'

'इत्यादि उदाहरणों में हम देखते हैं कि गुण और क्रिया भाव भी व्यक्त हैं। इनमें उज्ज्वल भाव के निबन्धन रूप उत्प्रेक्षा में निमित्तता है।'

(सुधा)

अप्रसिद्धिवारणायोदाहरणद्वयमाह—मनसीति। अस्या इमे इदमीये, तयोर्दमयन्ती-नयनयोः सम्मुखवास्तुनि वस्तुन्यपि ग्रहणशक्तिर्नाभूत् चिन्तया विषयान्तरशक्तिग्रहणे ज्ञानसामर्थ्यं नाभूत्। किंभूतयोः ? मनसि स्थितं नलं प्रियमीक्षितुं वाञ्छयेव हृदयदेशमुपेतयोः। प्रविष्टयोः विरहव्यथया नेत्रयोर्निम्नदेशत्वेन निरसहत्वात् अग्रे स्थितमपि वस्तु ग्रहीतुं न शक्यत इति भावः। वतंसेति। कर्णावतंसनीलोत्पलेनैव नेत्रेण विलोकमाने पश्यन्त्यौ श्रुती कर्णावपि विमनीबभूवतुः किम्। स्वकर्मणि मनो न दधतुः किमित्यर्थः। तेनैव विमनीभवनेन हेतुना नलदर्शनलग्नचेतसां स्त्रीणां ते श्रुती न शुश्रुवतुरित्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र ह्याद्ये उदाहरणे नयनयोर्हृदयगतप्रियवीक्षणायान्तःप्रविष्टत्वोत्प्रेक्षणायां बाह्यवस्तुग्रहणशक्त्यभावो निमित्तम्। द्वितीये श्रोत्रेन्द्रियगतविलोकनैकाग्रत्वोत्प्रेक्षायां श्रवणक्रियाभावो निमित्तम्। एवम्—

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥

इत्यादीन्यभावनिमित्तत्वे भूयांस्युदाहरणानि।

(भारती)

यहाँ प्रथम उदाहरण में आँखों के हृदयगत प्रियदर्शन के लिए अन्तःप्रविष्ट होने की उत्प्रेक्षा है और इस उत्प्रेक्षा में बाहरी वस्तु ग्रहण करने की शक्ति का अभाव निमित्त है। दूसरे उदाहरण में कर्णगत देखना रूप एकाग्रता की उत्प्रेक्षा है, जिसमें सुनने की क्रिया का अभाव निमित्त है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण जैसे—

'वीरासन से बैठकर ध्यान करने वाले मुनियों के वेदिमध्य में स्थित ये वृक्ष भी वायु के अभाव से स्थिर होने के कारण ध्यान करते हुए के समान शोभते हैं।'

यहाँ कम्पनाभाव का योगाधिरूढत्व की उत्प्रेक्षा में निमित्तता है। इसी प्रकार अभावनिमित्तत्व में बहुत से उदाहरणों को जानना चाहिए।

(सुधा)

अत्र प्रथमोदाहरणे नयनयोर्हृदयगतं प्रियस्य वीक्षणं तदर्थमन्तःप्रविष्टत्वस्योत्प्रेक्षणे बाह्यवस्तुग्रहणसामर्थ्याभावस्य निमित्तत्वम्, द्वितीये श्रोत्रेन्द्रियगतं यद् विलोकनं तद्रूपं यदेकाग्रत्वम्, तदुत्प्रेक्षायां श्रवणक्रियाभावस्य निमित्तत्वम्। तथा च गुणक्रियातद्भावयोरुज्ज्वलभावनिबन्धनस्योत्प्रेक्षानिमित्तत्वस्य व्यक्ततया न तयोरेव गुणक्रिययोस्तन्निमित्तत्वनियम इत्यर्थः। उदाहरणान्तरमाह—वीरासनैरिति। ध्यानभाजामृषीणां सम्बन्धिनः समध्यासितं वेदिमध्यं यैस्तेऽमी शालिनो वृक्षा निवातनिष्कम्पतयाऽधिरूढयोगा इव विभान्तीत्यन्वयः।

वीरासनन्तु योगशास्त्रे—'एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः। इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमितीरितम्॥' इत्युक्तम्। अत्र कम्पनाभावस्य योगाधिरूढत्वोत्प्रेक्षणे निमित्तत्वम्। एवमेवाभावनिमित्तत्वे बहून्युदाहरणानि बोध्यानि। अत्रादिशब्देन—'राज्याभिषेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः। सुधाभिर्जगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः॥' इत्यनुपात्तनिमित्तायां शम्बरनिष्ठवर्तमानक्रियाभावस्य निमित्तत्वमपि बोध्यम्। तस्माद् गुणक्रिययोरिव तदभावयोरपि निमित्तत्वस्य सम्भवेन तदकरणेन न्यूनत्वदोषो दुष्परिहर एव।

(चित्र०)

अपि च समुच्चयभेदः परिगणनीयो निमित्तेषु।
भावौ भावाभावौ समुच्चितावपि निमित्ततां भजतः॥
अवैमि हंसावलयो वलक्षास्त्वत्कीर्तिमूर्तेश्चपलाः पुलाकाः।
उड्डीय युक्तं पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः प्लवन्ते॥

(भारती)

'और भी गुण और क्रिया की निमित्तता जैसे भाव और अभाव के रूप में कही गयी है वैसे ही उस समुच्चय के तत्व से निमित्तता की भी संभावना से न्यूनता कहते हैं। निमित्तों में समुच्चय भेद भी भाव के रूप में ही गिनना चाहिए। क्योंकि भाव और अभाव रूप समुच्चय भी निमित्त भाव को प्राप्त करते हैं।' जैसे—

'मैं श्वेत हंस-समूह को आप की कान्ति कीर्ति का चञ्चल पुआल मानती हूँ। अतः उड़कर

पुनः गिरे हुए वे नदी तथा छोटे छोटे गड्ढों के प्रवाह के चारो तरफ तैरते हैं।' तात्पर्य यह कि जिस प्रकार धान का निःसार भाग भुस्सी उड़कर गिरने पर नदियों तथा गड्ढों के पानी पर तैरती रहती है, उसी प्रकार नदियों तथा छोटे-छोटे जलाशयों के जल की सब ओर रहने वाले श्वेत हंस समूह को भी मैं आप की कान्ति-कीर्ति का पुआल ही समझती हूँ। श्वेततम कान्ति-कीर्ति का श्वेत पुआल से तुलना है। अर्थात् आप की कान्ति-कीर्त्ति हंससमूह से भी अधिक धवल तथा गुणवती है।

इस उदाहरण में नारीहृदय की कोमलता और पुरुष हृदय की कठोरता का वर्णन प्रभातवर्णन के माध्यम से हृदयहारी है।

(सुधा)

किञ्च, गुणक्रिययोर्यथा निमित्तता भावाभावरूपेणोक्ता तथा तत्समुच्चयस्य तत्त्वेन निमित्तत्वस्यापि सम्भवेन न्यूनतेत्याह—अपि चेति। निमित्तेषु समुच्चयभेदोऽपि भावः परिगणनीयः। यतो भावाभावौ समुच्चितावपि निमित्तभावं भजत इत्यन्वयः। समुच्चितोदाहरणमप्रसिद्धिनिरासायाह—अवैमीति। वलक्षा हंसानामावलयः पङ्क्तयस्तव कान्तेः शोभायाः कीर्तेः प्रशंसायाश्चपलाः पुलाकास्तुच्छधान्यानीति अवैमि जाने 'पुलाकस्तुच्छधान्ये स्यात्' इति विश्वः। स्रवन्त्यः नद्यः 'स्रवन्ती निम्नगापगा' इत्यमरः वेशन्ताः पल्वलानि च तेषां पूरान् परितः समन्तात् पतिताः सन्तः उड्डीय उद्गमनं कृत्वा प्लवन्ते तरन्तीति युक्तम्।

(चित्र०)

उडुपरिषदः किं नार्हन्ती निशः किमनौचिती
पतिरिह न यद्दृष्टस्ताभ्यां गणेयरुचां गणः।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन-
श्छविमदनयोर्विच्छेदेऽपि द्रुतं बत न द्रुतम्॥
एवमादिषु बह्वीषु निह्नोतुं केन शक्यते।
समुचितनिमित्तत्वमुत्प्रेक्षासु निरीक्षितम्॥

(भारती)

'पतिरूप चन्द्र के सर्वथा अस्त होने के पहले नहीं, किन्तु उसके क्षीणकाय अर्थात् निष्प्रभ होने के पहले ही चन्द्र प्रिया ताराएँ और रात नष्ट हो गयीं। यह उन परम सती नारियों के लिए उचित ही है। किन्तु, अपनी ऐसी प्रियाओं के नष्ट हो जाने पर भी चन्द्रमा जो मलिन कान्ति होकर ही स्थित है—शीघ्र मरा नहीं, अत एव ज्ञात होता है कि इसका हृदय पत्थर का है।'

'इस प्रकार बहुतसी उत्प्रेक्षाओं में देखे गये—उत्प्रेक्षा के समुचित निमित्तत्व को कैसे छिपाया जा सकता है?'

(सुधा)

उडुपरिषद इति। तारासमूहस्य किमार्हन्ती औचित्यं न निशो रात्रेरनौचिती किम्! द्वयोरौचित्यमेवेत्यर्थः। यतस्ताभ्यां तारापरिषद्रात्रिभ्यां गणेयोऽल्पो रुचां कान्तीनां गणः समूहो यस्य तादृशः पतिश्चन्द्र इह न दृष्टः। चन्द्रस्य वक्षः अश्मनो विकार आश्मम् इति

स्फुटमेव। यदनयो राज्युडुपरिषदोर्नाशेऽपि शीघ्रं वतेति खेदे न द्रुतं द्रवीभूतम्। किंभूतं वक्षः! स्फुरन् मलिनाश्मच्छविमत् कलङ्कित्वादानीलशिलाश्यामलमित्यर्थः।

(चित्र०)

आद्ये उदाहरणे हंसावलीनां कीर्तिपुलाकत्वोत्प्रेक्षायां धावल्यगुणो जलोपरि प्लवनक्रिया चेत्युभयं निमित्तम्।

द्वितीये उडुपतिवक्षसोऽश्मविकारत्वोत्प्रेक्षायामश्मच्छविरूपो भावो द्रुतत्वाभावाश्चेत्युभयं निमित्तम्।

किं च—

उत्प्रेक्षायां निमित्तत्वं यज्जातिद्रव्ययोरपि।
तेनापि विकलां विद्धि निमित्तगणनामिमाम्॥
द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्य-
सौभाग्यकार्मणमयीमुपदां गिरिस्ते।
तद्द्वीपदीप इव दीप्तिभिरोषधीनां
चूडामिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः॥

(भारती)

प्रथम उदाहरण में हंसावलियों की कीर्त्ति पुआल की उत्प्रेक्षा में धावल्यगुण और पानीपर पुआलों के तैरने की क्रिया दोनों निमित्त हैं।

दूसरे उदाहरण में चन्द्रमा के हृदय में पत्थर की उत्प्रेक्षा में काले पत्थर के छविरूपभाव और शीघ्रता के अभाव ये दो निमित्त हैं।

किन्तु—

'जो उत्प्रेक्षा में जाति और द्रव्य के निमित्तत्व प्रसिद्ध है, उसके द्वारा प्रसिद्ध भाव से भी इस गणना को कम ही जाननी चाहिए।'

'उस द्वीप में वह द्रोण पर्वत, अपनी कान्ति से शिखर संलग्न दर्शनीय कज्जल जलद की तरह—भाग्य से पूर्व जन्मार्जित पुण्य विशेष से प्राप्ति के योग्य अपने प्रति पति की आसक्तिरूप कर्मभूत शिखरोत्पन्न दीप की तरह औषधियों का उपहार तुम्हें भेंट करेगा।'

(सुधा)

अनयोः प्रथमोदाहरणे हंसावलीनां कीर्तिपुलाकत्वोत्प्रेक्षायां धावल्यगुणस्य जलतरणक्रियायाश्च निमित्तत्वात् समुच्चितयोरपि तत्त्वं स्पष्टमेव। द्वितीयोदाहरणे चन्द्रवक्षसोऽश्मविकारत्वोत्प्रेक्षायामश्मच्छविरूपाभावस्य द्रवणाभावस्य च निमित्तत्वेन गुणक्रियाभावयोः समुच्चयस्य स्पष्टत्वम्। एवमादिषु बह्वीपूत्प्रेक्षासु दृष्टमुत्प्रेक्षायाः समुच्चितनिमित्तत्वं केन निह्नोतुं शक्यत इति भावः। यत्तु, गुणक्रिययोरेव निमित्तत्वनियमः, तदपि तदा सम्भवेत्, यदा जातिद्रव्ययोर्निमित्तत्वं न स्यात्, तस्य सम्भवे तु दोष एवेत्याह—किञ्चेति। यदुत्प्रेक्षायां जातिद्रव्योर्निमित्तत्वं प्रसिद्धम्, तेन प्रसिद्धभावेनापि इमां गणनां न्यूनां विद्धि इत्यर्थः। तत्र जातेर्निमित्तत्वमुदाहरति—द्रोण इति। तत्र द्वीपे द्रोणो नाम पर्वतः, विगीर्णत्वाच्च गिरय इति मात्स्ये व्युत्पत्तिदर्शनात् भाग्येन पूर्वभवीयपुण्यविशेषेण

लभ्यं प्राप्तुं योग्यं तादृशं सौभाग्यं पत्युः स्वासक्त्यादिरूपं कार्मणं कर्म, 'मूलकर्म तु कार्मणम्' इत्यमरः । तद्रूपामुपदामुपहारं तव दास्यति, किंभूतः, ओषधीनां वश्यादिकर्त्रीणां दीप्तिभिः कान्तिभिः चूडायां शिखरे मिलन्तः संयुज्यमाना ये जलदा मेघाः तद्रूपेण कज्जलेनाञ्जनेन दर्शनीयो रम्यः, स चासौ द्वीपश्च, तस्य दीप इव, तत्र वशीकरणाद्युपायभूता मणिमन्त्रौषधयो गमनकाल एव सुलभाः, अन्यत्र तु भाग्यलभ्या विलम्बेनेति लघमणः ।

(चित्र०)

अत्र द्रोणाचलस्य दीपत्वोत्प्रेक्षायां तत्प्ररूढौषधिवृक्षदीपस्योपरि स्थितं जलदकज्जलं च निमित्तमिति जातेर्निमित्तत्वं दृष्टम् ।

निशासु मूर्ध्नि स्फुरता यत्सौधो राजतीन्दुना ।
श्रीकण्ठो भक्तरक्षार्थं संनिधानं भजन्निव ।।

इत्यत्र बाणासुरसौधस्य शिवरूपोत्प्रेक्षायां मूर्ध्नि स्फुरन्निन्दुर्निमित्तम् ।

(भारती)

यहाँ द्रोण पर्वत का दीपत्व की उत्प्रेक्षा में उस पर उत्पन्न औषधिवृक्ष रूपी दीप के ऊपर स्थित जलद कज्जल जो निमित्त है, उसी जाति का निमित्तत्व देखा जाता है ।

'जिस बाणासुर के राजमहल के कंगूरे पर, रात में प्रकाशमान चन्द्रमा शोभते हैं, उसकी उत्प्रेक्षा कवि करता है कि मानो वह महल नहीं है प्रत्युत साक्षात् भगवान् शंकर ने अपने भक्त बाणासुर की रक्षा के लिए उसकी निकटता प्राप्त की है ।'

यहाँ बाणासुर के राजमहल की शिवत्व की उत्प्रेक्षा में निमित्तता है । किन्तु, यहाँ न केवल जात्यादि चारों की ही निमित्तता है; प्रत्युत अलङ्कार आदि का जात्यादि समुच्चय को भी निमित्तत्व है ।

(सुधा)

द्रोणस्य दीपत्वोत्प्रेक्षायां तदुत्पन्नौषधिवृक्षकान्तेरुपरिस्थितजलदकज्जलस्य निमित्तत्वेन जातेर्निमित्तत्वं स्पष्टमेव । अथ द्रव्यस्य निमित्तत्वमुदाहरति—निशास्विति । यत्सौधो राजसदनं मूर्ध्नि प्रकाशमानेन चन्द्रेण शोभते, भक्तरक्षया सन्निधानं नैकट्यं भजन् शिव इवेत्यन्वयः । अत्र बाणासुरगृहस्य शिवत्वेनोत्प्रेक्षणे चन्द्ररूपद्रव्यस्य निमित्तत्वम् । किञ्च, न केवलं जात्यादिचतुर्णामेव निमित्तत्वम् अपि तु अलङ्कारादेः जात्यादिसमुच्चयस्यापि निमित्तत्वम् ।

(चित्र०)

एवम्—

'भास्वतालङ्कारेण, श्वेतरोचिषा स्मितेन, लोहितेनाधरेण, सौम्येन दर्शनेन, गुरुणा नितम्बेन, सितेन हारेण, शनैश्चरेण पादेन, विकचेन लोचनोत्पलेन, त्रिभुवनविजयकेतुना रूपेण, ग्रहमयीमिव' ।

इत्यत्र वासवदत्तायाः सकलग्रहमयत्वोत्प्रेक्षायां श्लेषेण तत्तद्ग्रहरूपापन्नालंकारादयो निमित्तमिति जातिक्रियागुणानां समुच्चितानां निमित्तत्वं दृष्टम् ।

(भारती)

इसी प्रकार वासवदत्ता के वर्णन में—

'भास्वत अर्थात् दीप्त अलङ्कारों के द्वारा जैसे—शुभ्रकान्ति के द्वारा सूर्य से, स्मित अर्थात् मन्दहास्य के द्वारा चन्द्रमा से, लोहित अर्थात रक्त अधर के द्वारा मङ्गल से, सौम्येन अर्थात शोभन दर्शन के द्वारा बुध से गुरुणा अर्थात् विशाल नितम्ब के द्वारा गुरु बृहस्पति से, मन्द चारी चरणों के द्वारा शनिश्चर से, विकसित नेत्र कमलों के द्वारा केतु से, शुभहार के द्वारा शुक्र से, मानो ग्रहमयी की तरह उस वासवदत्ता को स्वप्न में देखा।'

यहाँ वासवदत्ता की सकल ग्रहमयिता की उत्प्रेक्षा में श्लेष के द्वारा उन ग्रहों के रूपापन्न अलङ्कारों के निमित्तत्त्व से समुचितों का निमित्तत्व देखा जाता है।

(सुधा)

दृष्टमित्याह—एवमिति। वासवदत्तावर्णनम्।

शनैश्चरेण मन्दचारिणा चरणेन शनिना च, सौम्येन शोभनेन दर्शनेन बुधेन च, गुरुणा महता नितम्बेन बृहस्पतिना च, लोहितेन रक्तेनाधरेण मङ्गलेन च, विकचेन विकसितेन नेत्रकमलेन केतुना शुक्रेण वा, 'शुक्रे केतौ च विकच उत्फुल्ले च निगद्यते' इति विश्वः। भास्वता दीप्यमानेनालङ्कारेण रविणा च श्वेतरोचिषा स्मितेनेन्दुना च ग्रहमयीमिव तां स्वप्नेऽपश्यदित्यन्वयः। अत्र वासवदत्तायाः सकलग्रहमयतयोत्प्रेक्षणे श्लेषेण तद्ग्रहरूपापन्नालङ्काराणां निमित्तत्वेन समुचितानां निमित्तत्वं दृष्टम्।

(चित्र०)

न चोदाहृतेषु दीप्त्यादिसंबन्धो निमित्तं स च सर्वो गुण एवेति वाच्यम्; तथा सति 'ईदृक्षां क्षामतां गतौ' इत्यादावपि गमनादिक्रियासंबन्ध एव निमित्तमिति क्रियाया एव निमित्तत्वप्रसङ्गात्।

न च तथापि 'भास्वतालंकारेण' इत्यादौ श्लेषेण सूर्यरूपताद्यापन्ना अलङ्कारादयो निमित्तं न त्वविशिष्टा जातिर्द्रव्यं वेति वाच्यम्।

तथा सति 'कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव' इत्यादावपि कपालोन्मुक्ताङ्कुरत्वादिविशिष्टमेवोत्प्रेक्षणीयं न त्वविशिष्टं जात्यादिकमिति विषयिणोऽपि जात्यादिरूपेण विभागस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गात्।

तस्माद्विषयिण इव निमित्तस्यापि जात्यादिरूपेण चतुर्विधतया पुनः प्रत्येकं भावाभावाभ्यामष्टविधतया च विभागः कर्तव्य इति न्यून इवायं विभागः।

(भारती)

यहाँ शंका करते हैं कि उक्त उदाहरणों में दीप्त्यादि सम्बन्धों का निमित्तत्व दर्शन के द्वारा सभी जगह गुण का ही निमित्तत्व है। समाधान करते हैं कि ऐसा कहने से **'ईदृक्षां क्षामतां गतौ'** इत्यादि उदाहरण में भी गमनादि क्रिया के सम्बन्ध का ही निमित्तत्व से क्रिया का भी निमित्तत्वाभाव प्रसङ्ग होगा।

फिर शंका करते हैं कि 'भास्वतालङ्कारेण' इत्यादि में श्लेष के द्वारा सूर्यादि आत्मता आपन्न अलङ्कारादिकों की निमित्तता से शुद्ध जात्यादि के निमित्तत्वाभाव होगा, तो समाधान

करते हैं कि **'कपोलेनोन्मुक्त'** इत्यादि उदाहरण में कपोलोन्मुक्त अङ्कुरत्वादि विशिष्ट की ही उत्प्रेक्षणीयता से केवल जात्यादि के सत्वाभाव से जात्यादिरूप विषयिविभाग के असामञ्जस्य का प्रसङ्ग हो जायगा।

इसलिए जैसे जात्यादि रूप से विषयी के हैं उसी प्रकार निमित्त के भी जाति, द्रव्य, गुण और क्रियाओं के प्रत्येक समुच्चितों के अथवा उनका भी भाव और अभावाभिमानता से आठ प्रकार के विभाग योग्य दोनों मतों से प्रतिपादित विभागों की न्यूनता ही है।

(सुधा)

अत्राशङ्कते—न चेति। उदाहरणेषु दीप्त्यादिसम्बन्धस्य निमित्तत्वदर्शनेन सर्वत्र गुणस्यैव निमित्तत्वमित्याशङ्कार्थः। समाधीयते—एवं सति 'ईर्ष्यां वामतां गतौ' इत्यादावपि गमनादिक्रियासम्बन्धस्यैव निमित्तत्वेन क्रियाया अपि निमित्तत्वाभावप्रसङ्गात्। पुनराशङ्कते—भास्वतालङ्कारेणेत्यादौ श्लेषेण सूर्याद्यात्मतामापन्नानामलङ्कारादीनां निमित्ततया शुद्धजात्यादेर्निमित्तत्वाभाव इति भावः। समाधीयते—तथेति। 'कपालेनोन्मुक्त इव' इत्यादौ कपालोन्मुक्ताङ्कुरत्वादिविशिष्टस्यैवोत्प्रेक्षणीयतया केवलजात्यादेस्तत्त्वाभावेन जात्यादिरूपविषयिविभागस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गात्। दूषणमुपसंहरति—तस्मादिति। तस्माद् यथा जात्यादिरूपेण विषयिणो विभागस्तथा निमित्तस्यापि जातिद्रव्यगुणक्रियाणां प्रत्येकं समुच्चितानां वा तेषामपि भावाभावाभिमानतयाऽष्टधा विभागे योग्ये उभयमतप्रतिपादितविभागस्य न्यूनत्वमेव।

(चित्र०)

किं च यद्धेतूत्प्रेक्षायामनुपादानं निमित्तस्य क्वापि न संभव इति प्रतिश्रुतं तदपि नो चारु।

मग्ना सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चतास्य दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद्भिया नु॥

इह हेतावुत्प्रेक्ष्ये मज्जनलगने निमित्तमनुपात्तम्।
तत्कार्यं दृष्टिगतं चिरेण यन्मुखकुचत्यजनम्॥

(भारती)

किन्तु जो हेतु और फल के निमित्तोपादन की संभावना ही नहीं है—ऐसा कहते हैं तो यह भी सुन्दर नहीं है।

'नल की दृष्टि दमयन्ती के मुख रूपी चन्द्रमा के अमृत में मग्न हुई थी क्या ? अथवा—दमयन्ती के मृणाल सूत्र के लिये भी मध्य में अवकाश शून्य दोनों स्तनों के बीच में अँटक कर उलझ गयी थी क्या ? अथवा—अत्यन्त पतला होने के कारण गिरने के भय से उस दमयन्ती के अत्यन्त क्षीण कटि प्रदेश को देर से छोड़ा क्या ? तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति कीचड़ में फँसकर या संकीर्ण स्थानों में उलझ कर अथवा तार या रस्सी आदि पर चलते समय गिरने के भय से बड़ी सावधानी से चलकर उसे बहुत विलम्ब से छोड़ता है। उसी प्रकार राजा नल दमयन्ती के मुख और स्तनों को देखने के बाद कृशतम कटि भाग को बहुत देर तक देखते रहे।'

'यहाँ दृष्टिगत विलम्ब से मुख और स्तन को छोड़ने रूप कार्य के प्रति मज्जनलग्न निमित्त के अनुपादन से अनुपात्तनिमित्ता हेतूत्प्रेक्षा हुई।'

(सुधा)

यत्पूर्वं जात्यादीनामपि हेतुफलोत्प्रेक्षयोर्निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवतीति तद् दूषयति—किञ्चेति। यत् हेतुफलयोर्निमित्तोपादानस्य सम्भव एव नास्तीति प्रतिज्ञातम्, तदपि न मनोहरम्। मग्नेति। तस्या भैम्या मुखेन्दोः सुधायां मग्ना किमु! किं वा तस्याः कुचयोरन्तर्मध्ये लग्ना सती स्थिता। सुधाया इव द्रव्यत्वेन तत्र मज्जनम्, लग्नत्वन्तु कठिने यत् किञ्चिदवलम्ब्यावस्थानम्, तेन स्तनयोर्दृढत्वस्य वर्णनात् पर्वतप्रायत्वसूचनम्। प्रथमभैमीमुखावलोकनकृतादानन्दान्मग्नेति मुकुलितत्वं दृष्टेर्व्यङ्ग्यम्। 'प्रसन्नान्ता श्लिष्टपुटा मुकुलोर्ध्वपुटान्विता। सुखामीलिततारा च मुकुला दृष्टिरिष्यते॥' ततश्च मुखदर्शनापेक्षया स्तनदर्शनस्यातिदुर्लभतया तद्दर्शनकृतमप्यानन्दं च तद्दर्शनेच्छया- ऽश्लिनीय तत्र स्थितया विस्मिता दृष्टिर्ध्वनिता। तथा च भरतः—'विस्मयोद्वृत्ततारा या स्पृष्टोभयपुटान्विता। समा विकसिता दृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता॥' अत एव स्तनरूपावलोकनाद्भुतेन तत्रासक्तिरपि सङ्गच्छते। अस्य नलस्य दृष्टिश्चिरेण स्खलनाद्गीस्येव कृशतरं तस्या भैम्या मध्यमगुञ्चत, कृशस्य परेषामनाश्रयणात् इत्यन्वयः। अत्र दृष्टिगतचिरकालीनमुखकुचत्यजनरूपकार्यं प्रति मज्जनलग्ननिमित्तयोरनुपादानादनुपात्तनिमित्ता हेतूत्प्रेक्षा।०

(चित्र०)

स्यादेतत्। इह मज्जनलगनोत्प्रेक्ष्ययोश्चिरेण मुखकुचत्यागावनुपात्तौ निमित्ते, तयोश्च न मज्जनलगने हेतुत्वयोग्ये इति। सत्यम्। तथापि हेतूत्प्रेक्षैव न हि हेतूभवनक्षमस्योत्प्रेक्षैव हेतूत्प्रेक्षा, किं तु हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा। यथा—'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्' इत्यत्र। अत्र हि पञ्चमी हेतुत्वप्रतिपादिका।

तथा—

कपोलफलकावस्याः कथं भूत्वा तथाविधौ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ॥

इत्यत्र क्षामतागमनं प्रति परस्परादर्शनस्य हेतुत्वोत्प्रेक्षायां शतृप्रत्ययो हेतुत्वप्रतिपादकः।

(भारती)

यहाँ सन्देह करते हैं कि हेतूत्प्रेक्षा में मज्जन और लगन के उत्प्रेक्षण में बहुत देर से मुख और कुचत्याग के अनुपात्त की निमित्तता में मज्जन और लगन की हेतुत्वयोग्यता में भी हेतूत्प्रेक्षा की संभावना नहीं है। क्योंकि यहाँ भी हेतुभवनक्षम का ही हेतुत्व के अनियम से हेतुत्व से ही तत्त्व में उसकी संभावना है। 'सैषास्थली' इत्यादि उदाहरण में हेतुत्व प्रतिपादक पञ्चमी से उस तत्त्व की स्पष्टता है। उसी प्रकार—

'इस सुन्दरी के ये दोनों कपोल फलक इस तरह कैसे हो गये? कवि की यहाँ उत्प्रेक्षा है कि मानो ये दोनों एक दूसरे को नहीं देखते हुए ही इस तरह की कृशता प्राप्त किये हैं।'

इस उदाहरण में कृशत्व गमन के प्रति एक दूसरे को नहीं देखने के हेतूत्प्रेक्षण में हेतुत्व प्रतिपादक शतृप्रत्यय दिखाई पड़ता है।

(सुधा)

अत्राशङ्कते—स्यादेतदिति। अत्र हेतूत्प्रेक्षायां मज्जनलगनोत्प्रेक्षणे चिरेण सुखकुचत्यागयोरनुपात्तयोर्निमित्ततायां मज्जनलगनयोर्हेतुत्वयोग्यतायामपि हेतूत्प्रेक्षाया न सम्भवः। हेतुभवनक्षमस्यैव हेतुत्वानियमात् , हेतुत्वेनैव तत्त्वे तत्सम्भवात्। 'सैषा स्थली' इत्याद्युदाहरणे हेतुत्वप्रतिपादिकायाः पञ्चम्यास्तत्सत्त्वस्य स्पष्टत्वात्। तथा 'कपोलफलकावस्य' इत्यादौ कृशत्वगमनं प्रति अपरादर्शनस्य हेतूत्प्रेक्षणे हेतुत्वप्रतिपादकशतृप्रत्ययदर्शनाच्च।

(चित्र०)

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥

इत्यत्र हृदयस्य मदनतापेन स्फुटितत्वोत्पतनाभावे कुचद्वययन्त्रणाया हेतुत्वोत्प्रेक्षायामुत्पतनप्रतिबन्धकत्वपरः प्रतिबध्नतीशब्दः फलतोऽनुत्पतनहेतुत्वप्रतिपादकः।

(भारती)

'काम के सन्ताप की अधिकता के ही कारण मानो दमयन्ती का हृदय फट कर जो बाहर निकल गया, उस अपराध को रोकने वाले सटे हुए बड़े-बड़े स्तनों के दबाव ने धारण किया। अर्थात् सघन एवं विशाल स्तनों के बोझ के कारण ही विरह पीड़ा में भी दमयन्ती का हृदय फटकर भी टुकड़ा टुकड़ा न हो गया। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वल्लादि कोई हल्की वस्तु वजन दार बड़े पत्थरों के दबाव से ऊपर को नहीं उड़ने पाती। अथवा—उस अपराध को रोकने वाले सटे हुए बड़े बड़े दोनों स्तनों ने पी लिया—यह भी अर्थान्तर हो सकता है।'

इस उदाहरण में हृदय का मदन के संताप से फटकर निकलने के अभाव में स्तनद्वय के नियंत्रण की हेतुता के कारण उत्प्रेक्षा है। फट कर निकलने के प्रतिबन्धक फल से 'नहीं फटकर निकलना' रूप हेतुत्वप्रतिपादक के प्रति बन्धन है।

(सुधा)

मदनेति। दमनस्वसुर्दमयन्त्या हृदा हृदयेन मदनतापभरेण मदनजनितज्वरबाहुल्येन विदीर्य स्फुटित्वा यन्नोदपादि उत्पतितम् , निबिडं निरन्तरम्, पीनं पीवरं कुचद्वयं तेन यन्त्रणाबन्धनं प्रतिबध्नती तमपराधमधात् दधार। विरहसन्तापभाराद् भैमीहृदयमुद्गन्तुकामं जातं स्तनद्वयेन तमपराधं सोढ्वापि रक्षितम्। अन्यथा गतमेव स्यात्। स्तनद्वयापराधोऽयं न तु हृदयस्येत्युदाहरणे हृदयस्य मदनसन्तापेन स्फुटित्वोत्पतनाभावे कुचद्वययन्त्रणाया हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा। उत्पतनप्रतिबन्धकत्वफलतोऽनुत्पतनहेतुत्वप्रतिपादकस्य प्रतिबध्नतीत्यस्य सत्त्वात्।

(चित्र०)

एतादृशेषु च फलस्य निमित्तस्योपादानं नियतमेव। अन्यथा पञ्चम्यादीनामन्वयसंघटनाभावात्। यत्र हेतुत्वप्रतिपादकः शब्दो नास्ति तत्र हेतुभवनक्षमस्यापि स्वरूपोत्प्रेक्षैव।

अत एवालङ्कारसर्वस्वकृता—

प्राप्याभिषेकमेतस्मिन् प्रतितिष्ठासति द्विषाम् ।
चकम्पे लोक्यमानार्थभयविह्वलितेव भूः ॥

इत्यत्र विह्वलितत्वस्योत्प्रेक्ष्यस्य हेतुत्वप्रतिपादकशब्दरहितस्य कम्पं प्रति हेतुभवनक्षमत्वेऽपि स्वरूपोत्प्रेक्षोदाहृतेति चेत् । मैवम् ।

(भारती)

ऐसे उदाहरणों में निमित्त के फल का उपादान आवश्यक है । अन्यथा पञ्चम्यादि के अन्वय संघन की अयोग्यता से वैयर्थ्यापत्ति होगी । अतः हेतुत्व से सत्व की ही उत्प्रेक्षा है । न कि हेतु भवनक्षम के सत्व में भी । वैसे स्थलों में तो स्वरूपोत्प्रेक्षा का ही सत्व है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार की सम्मति कहते हैं—

'राज्याभिषेक पाकर इस राजा में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा देखकर लोक्यमानार्थ शत्रुओं की धरती भय से विह्वल होकर लता की तरह काँपने लगी ।'

यहाँ उत्प्रेक्षा की विह्वलता के हेतुत्वप्रतिपादक शब्द से रहित कम्पन के प्रति भवनक्षमत्व में भी स्वरूपोत्प्रेक्षा के ही उदाहरण दिये हैं । यहाँ समाधान करते हैं ऐसा नहीं है ।

(सुधा)

एतादृशोदाहरणेषु निमित्तस्य फलस्योपादानमावश्यकम् । अन्यथा पञ्चम्यादीनामन्वयसङ्घटनायोग्यतया वैयर्थ्यापत्तेः । तस्माद्धेतुत्वेन सत्व एवोत्प्रेक्षा, न तु हेतुभवनक्षमस्य सत्त्वेऽपीति । तादृशस्थले तु स्वरूपोत्प्रेक्षाया एव सत्त्वम् । अत्रालङ्कारसर्वस्वकारसम्मतिमाह—अत एवेति । राज्याभिषेकं प्राप्यैतस्मिन् राज्ञि प्रतिष्ठातुमिच्छति सति लोक्यमानार्था शत्रूणां पृथ्वी भयविह्वलितेव चकम्पे इत्यन्वयः । अत्रोत्प्रेक्ष्यस्य विह्वलितत्वस्य हेतुत्वप्रतिपादकशब्दरहितस्य कम्पं प्रति भवनक्षमत्वेऽपि स्वरूपोत्प्रेक्षैवोदाहृता । तस्मात् 'मग्ना सुधायाम्' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षाया असत्त्वेन स्वरूपोत्प्रेक्षाया एव सत्वाद्धेतूत्प्रेक्षणे निमित्तोपादानस्यासम्भव एवेति मतं सम्यगेवेति पूर्वपक्षग्रन्थस्याभिप्रायः । अत्र समाधीयते—मैवमित्यादि ।

(चित्र०)

एवं हि—

स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम् ।
च्युतकेसरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥

इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षा लक्ष्या न स्यात् । स्मरणगतहेतुत्वप्रतिपादकशब्दाभावात् । न चेष्टापत्तिः ।

(भारती)

क्योंकि—

'हे स्मर ! किसी समय एकान्त में तुम्हारे मुख से धोखे से निकला हुआ सपत्नी का नाम सुनकर मैंने प्रणयकोप से तुम को काँची गुण से बाँधा था, और अपने कर्णभूषण कुवलय से

तुम्हारे मुख में ताडन किया था, जिसके पराग पड़ जाने से तुम्हारी आँखों में कुछ व्यथा भी हुई थी। इस प्रकार किये हुए मेरे अपराधों को याद करके ही मेरे सामने नहीं आ रहे हो क्या ?'

यहाँ स्मरणगत हेतुत्व के प्रतिपादक शब्दाभाव से हेतूत्प्रेक्षात्व-भङ्गापत्ति होगी। अगर इसे इष्टापत्ति मानते हैं तो—

(सुधा)

हे स्मर काम ! गोत्रस्खलनेषु नामव्यत्यासेषु, 'गोत्रं नाम्नि कुले जने' इति विश्वः। मेखलागुणैर्बन्धनं स्मरसि उत ! च्युतकेसरैर्भ्रष्टकिञ्जल्कैर्दूषिते ईक्षणे येषु तान्यवतंसोत्पल-ताडनानि सधूलिक्षेपताडनानि च स्मरसीत्यन्वयः। अत्र स्मरणगतहेतुत्वप्रतिपादकशब्दा-भावेन हेतूत्प्रेक्षात्वभङ्गापत्तेः, न चेष्टापत्तिः।

(चित्र०)

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥

इत्युक्त्यनन्तरं प्रवृत्तस्यास्य श्लोकस्य, अथ वा मत्पूर्वकृतापराधस्मरणे-नैव दर्शनं न दीयते किमिति हेतूत्प्रेक्षापरत्व एव सामञ्जस्यात्। यदि तु हेतुत्वप्रतिपादकशब्दाभावेऽपि पूर्वापरानुगुण्येनापि हेतूत्प्रेक्षा भवेत् तर्हीहापि तृतीयोत्प्रेक्षासमभिव्यहारात्तस्यां चिरेण मध्यत्यजने शब्दोपात्ते स्खलनभय-स्यैवाद्योत्प्रेक्षयोरपि निमित्ततया गम्यमाने चिरान्मुखकुचत्यजने मज्जनस्य लगनस्य च हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणमित्येव युक्तम्।

(भारती)

'हे नाथ ! तुमने स्वप्न में भी कभी मेरी बुराई नहीं की और न मैंने ही कभी तुम्हारी कोई बुराई की है; तब बिना कारण ही क्यों विलखती हुई मुझे अपना दर्शन नहीं देते हो।'

यहाँ पहले श्लोक से 'क्यों बिना कारण ही दर्शन नहीं देते' इस उक्ति के अनन्तर निबद्ध श्लोक के हेतूत्प्रेक्षाभाव में असामञ्जस्यापत्ति होगी। तत्व रहने पर तो प्रथम कृत अपराध के स्मरण से ही दर्शनदेनाभाव रूप सामञ्जस्य है ही। अगर यहाँ पूर्वापर श्लोक के द्वारा अनुगुणन से हेतुत्वप्रतिपादक शब्दाभाव में हेतूत्प्रेक्षात्व हो तो 'मग्नासुधायाम्' इत्यादि में वैसे अभाव से न होगा, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि 'मग्नासुधायाम्' यहाँ भी 'बहुत देर से बीच में छोड़ने' शब्द के उपात्त में 'गिरने' रूपी भय का ही पूर्वोत्प्रेक्षा में भी निमित्तत्व से गम्यमान 'विलम्ब से मुख छोड़ने में' मज्जन और लगन का हेतुत्व से उत्प्रेक्षण की ही योग्यता से तृतीया द्वारा उत्प्रेक्षा समभिव्याहार का ही प्रमाणत्व है।

(सुधा)

कृतवानिति। त्वं मे विप्रियं न कृतवानसि, तव प्रतिकूलं मया न कृतम्, अकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये किं न दीयते त्वयेति शेषः। अत्र पूर्वश्लोकेन किमित्यकारणमेव दर्शनं न दीयते इत्युक्त्यनन्तरनिबद्धस्य श्लोकस्य हेतूत्प्रेक्षाभावेऽसामञ्जस्यापत्तेः। तत्त्वे तु मत्पूर्वकृतापराधस्मरणादेव दर्शनदानाभाव इति तस्य सामञ्जस्यमेवेति भावः। न चात्र पूर्वापरश्लोकयोरानुगुण्येन हेतुत्वप्रतिपादकशब्दाभावे हेतूत्प्रेक्षात्वमस्तु। मग्नेत्यादौ

तु तथाभावान्नेति वाच्यम्, मग्नेत्यत्रापि चिरेण मध्यत्यजने शब्दोपात्ते स्खलनभयस्यैव पूर्वोत्प्रेक्षयोरपि निमित्तत्वेन गम्यमानचिरान्मुखत्यजने मज्जनस्य लगनस्य च हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणस्यैव योग्यत्वेन तृतीयोत्प्रेक्षा समभिव्याहारस्यैव प्रमाणत्वसत्त्वादिति भावः।

(चित्र०)

यत्रापि हि फले फलत्वप्रतिपादकशब्दस्तत्राप्यौचित्येन फलोत्प्रेक्षामवधीर्य हेतूत्प्रेक्षाङ्गीकार्या दृश्यते।

यथा—

हृत्तस्य यन्मन्त्रयते रहस्त्वां तद्व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य॥

(भारती)

किन्तु, जहाँ फलत्वप्रतिपादक शब्द फल में दिखाई देता है, वहाँ भी औचित्य द्वारा फलोत्प्रेक्षा का तिरस्कार कर हेतूत्प्रेक्षा ही करने योग्य है। जैसे—

'जो उस नल के हृदय ने तुम्हारे साथ एकान्त में मंत्रणा की, अर्थात् वैसी वार्त्ता में उसी प्रकार के आमंत्रण से एकान्त में चुम्बन, आलिङ्गन आदि व्यापार की इच्छा की है—उस रहस्य को जिस मुख ने स्पष्ट रूप में प्रकट कर दिया। अर्थात् उस दमयन्ती के हृदय के साथ नल के वैरी काम के मित्र चन्द्रमा ने मित्रोचित व्यवहार ही किया। क्योंकि अपने मित्र का दुश्मन भी अपना दुश्मन ही होता है इस परम्परा से हृदय की मुख के साथ दुश्मनी रहने के कारण उसका रहस्य-भेद कर दिया।'

(सुधा)

किञ्च, यत्र फलत्वप्रतिपादकशब्दः फले दृश्यते तत्राप्यौचित्येन फलोत्प्रेक्षां तिरस्कृत्य हेतूत्प्रेक्षैव कर्तुं योग्या, तथैव दर्शनादित्याह—यत्रापीत्यादि। एतदेव प्रमाणयितुमुदाहरणं दर्शयितुमाह—हृत्तस्येत्यादि। यत्तस्य नलस्य हृत् हृदयम्, त्वां रहो मन्त्रयते, तादृशवार्त्तायां तथैवामन्त्रणात्, भावनयोपानीय, तत्र चुम्बनालिङ्गनादिव्यापारमिच्छतीत्यर्थः। यन्मुखं तद्रहस्यं व्यक्तं प्रकटमेवामन्त्रयते प्रकाशयति, सा तस्या दमयन्त्या हृदयस्य नलस्य वैरी कामः, तस्य मित्रं चन्द्रस्तस्य सख्येनौचिती किमु! स्वमित्रवैरिणोऽपि स्ववैरित्वमिति परम्परया हृदयस्य मुखवैरित्वात्तद्रहस्यभेदः क्रियत इति भावः।

(चित्र०)

अत्र हि हृदयकृतरहस्यमन्त्रणोद्भेदनप्रत्यवमर्शकेन तच्छब्देन सख्यौचितीशब्दस्य कर्मार्थकष्यञन्तस्य सामानाधिकरण्याच्छब्दतो रहस्योद्भेदनस्य मुखगतहृदयवैरिमन्मथसुहृच्चन्द्रसख्यकार्यत्वं प्रतीयते। तथापि तत्र सख्यस्य रहस्योद्भेदनं प्रति हेतुत्वेनैवोत्प्रेक्षा, न तु रहस्योद्भेदनस्य सख्यफलत्वेन। रहस्योद्भेदनं फलमुद्दिश्य सख्यं कृतमित्युत्प्रेक्षाया असामञ्जस्यात्। हेतुत्वमात्रेण हेतूत्प्रेक्षाया इव तदुद्देशं विना कार्यत्वमात्रेण फलोत्प्रेक्षाया अनिर्वाहात्।

(भारती)

इस उदाहरण में जैसे 'तत्' शब्द का हृदयकृत रहस्य की मन्त्रणा के उद्भेदन के प्रति अवमर्शकत्व है। उसी प्रकार उसके द्वारा कर्मार्थक ष्यञ् प्रत्ययान्त का औचित्य शब्द के साथ सामानाधिकरण्य है। उसके बाद मुखगत हृदय के शत्रु काम के सुहृद् चन्द्र के मित्रत्व का रहस्यप्रकाशन कार्य यद्यपि प्रतीत होता है। फिर भी मित्रता का रहस्य प्रकाशन के प्रति हेतुत्व से ही उत्प्रेक्षा योग्य है। न कि रहस्योद्भेदन का मित्रता रूपी फल से। मैत्रीकरण का रहस्योद्भेदन रूपी फल के उद्देश्यत्व में उत्प्रेक्षण की असामञ्जस्यापत्ति होगी। हेतूत्वमात्र द्वारा हेतूत्प्रेक्षा की तरह उसके उद्देश के बिना कार्यत्वकथन मात्र से फलोत्प्रेक्षा के निर्वाह का अभाव है, यही यहाँ कहने का तात्पर्य है।

(सुधा)

अत्रोदाहरणे तच्छब्दस्य हृदयकृतरहस्यमन्त्रणोद्भेदनप्रत्यवमर्शकत्वम्। तथाविधेन तेन कर्मार्थकष्यञ्प्रत्ययान्तस्यौचितीशब्दस्य सामानाधिकरण्यम्। ततश्च मुखगतहृदयवैरिमन्मथसुहृच्चन्द्रसखित्वस्य रहस्यप्रकाशनकार्यं यद्यपि प्रतीयते, तथापि सख्यस्य रहस्यप्रकाशं प्रति हेतुत्वेनैवोत्प्रेक्षा योग्या, न तु रहस्योद्भेदनस्य सखित्वफलतया, सख्यकरणस्य रहस्योद्भेदनफलोद्देश्यत्वे उत्प्रेक्षणासामञ्जस्यापत्तेः। हेतुत्वमात्रेण हेतूत्प्रेक्षावत् तदुद्देशं विना कार्यत्वकथनमात्रेण फलोत्प्रेक्षाया निर्वाहाभावादित्याशयः।

(चित्र०)

एवं यत्र हेतौ हेतुत्वप्रतिपादकः शब्दस्तत्रापि क्वचिदौचित्येन हेतूत्प्रेक्षामवधीर्य फलोत्प्रेक्षाङ्गीकार्या दृश्यते।

यथा—

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि खलु प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या तदशोभि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निखाय॥

(भारती)

हेतु में हेतुत्वप्रतिपादक शब्द रहने पर भी हेतूत्प्रेक्षा को अस्वीकृत कर औचित्य से फलोत्प्रेक्षा की स्वीकृति कहीं आवश्यक है। जैसे—

'जिस दमयन्ती की सभा में फूलों ने कामवाण बन कर जो विदर्भकुमारी दमयन्ती के हृदय को पीडित किया, उस वैरी की माला बनाती हुई, एक स्त्रीने उन फूलों में सूई की नोंक चुभाकर बदला ले लिया।' तात्पर्य यह कि कामवाण बनकर जिन फूलों ने दमयन्ती के हृदय में गड़कर उसे पीड़ित किया था। उनके हृदय (बीच) में सूई चुभा कर ही वैर का बदला लिया जा सकता है। यह विचार कर दमयन्ती को पीड़ित करने वाले पुष्प से उसकी सखी ने वैसा ही किया। तात्पर्य यह कि दमयन्ती की सभा में सखीगण फूलों की माला गूंथ रही थीं।

(सुधा)

अन्यमपि विशेषमाह—एवमिति। हेतौ हेतुत्वप्रतिपादकशब्दसत्त्वेऽपि हेतूत्प्रेक्षामनङ्गीकृत्यौचित्यात् फलोत्प्रेक्षाया क्वचिदङ्गीकार आवश्यक इत्याह—एवमिति। तद्विषयमुदाहरति—यथेति। खलूत्प्रेक्षायाम्। प्रसूनैः पुष्पैः स्मरस्य बाणभावं प्राप्याशुगौ वायुविशिखौ

विदर्भसुभ्रूः दमयन्ती, तस्या वक्षो हृदयं यत् यस्मादद्योऽपि भिन्नम्, यत्र सभायां स्रजं मालां सृजन्त्या कुर्वाणया एकया सख्या तेषु पुष्पेषु सूचिशिखां सूच्यग्रं निखायारोप्य तद्वैरमशोधि निर्यातितम्।

(चित्र०)

अत्र निखनने पूर्वकालत्वरूपकारणत्वप्रतिपादकक्त्वाप्रत्ययसद्भावेऽपि न तद्वैरशोधनं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यं किं तु वैरशोधनार्थं निखननमिति वैरशोधनमेव फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यम्। सिद्धासिद्धयोरपि सिद्धस्योत्प्रेक्षणीयत्वात्। इह तदुद्देशोत्प्रेक्षणसंभवाच्च।

यथा वा—

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयाऽस्याम्॥

(भारती)

उक्त उदाहरण में 'क्त्वा' प्रत्यय का 'खनन' में पूर्वकालत्वरूप कारणत्व के प्रतिपादक की उपस्थिति में भी उसके वैरिशोधन के प्रति हेतुत्व से उसकी उत्प्रेक्षा नहीं है, बल्कि फलोत्प्रेक्षा ही है। क्योंकि वैरशोधन के लिए 'निखननम्' इस उक्ति से वैरिशोधन का ही फलत्व से उत्प्रेक्षण है। सिद्ध और असिद्ध की उपस्थिति में असिद्ध की ही उत्प्रेक्षा में योग्यता होती है। और यहाँ वैरिशोधन रूप फलोद्देश्यता की उत्प्रेक्षा में संभावना भी है। अथवा जैसे—

'इसी तुम्हारे हाथ के बनाने के लिए ही कमल की रचना मेरा हस्तलेख अर्थात् प्रथम रेखाभ्यास है। इस प्रकार ब्रह्मा, मृगनयनी दमयन्ती के—हाथ में रेखा की गयी या लिखी गयी—उस कमल-रचना द्वारा कहते हैं क्या?' निष्कर्ष यह कि दमयन्ती के हाथ में कमल का चिह्न अङ्कित है। अतः मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा इस दमयन्ती के हाथ में कमल की रेखा बनाकर 'हमने तुम्हारे हाथ की रचना करने के लिए ही अभ्यासार्थ रेखा रूप से हाथ में अङ्कित कमल की सृष्टि की है' यह कह रहे हैं। दूसरा कोई भी शिल्पी किसी उत्तम वस्तु को बनाने के पूर्व रेखा आदि बनाकर अभ्यास कर लेता है। दमयन्ती के हाथ कमल से भी अधिक सुन्दर तथा कमल रेखाङ्कित होने से शुभ लक्षण सम्पन्न हैं।'

(सुधा)

अत्रोदाहरणे क्त्वाप्रत्ययस्य खनने पूर्वकालत्वरूपकारणत्वप्रतिपादकस्य सत्वेपि तद्वैरिशोधनं प्रति न तस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा, किन्तु फलोत्प्रेक्षैव, वैरशोधनाय निखननमित्युक्त्या वैरशोधनस्यैव फलत्वेनोत्प्रेक्षणात्, सिद्धासिद्धयोरसिद्धस्यैवोत्प्रेक्षणत्वे योग्यत्वात्, अत्र वैरिशोधनरूपफलोद्देश्यताया उत्प्रेक्षायां सम्भवाच्च। अस्यैवोदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। अस्यैव भवत्याः करस्य सर्गाय निर्माणाय सरोजानां सृष्टिः रचना मम हस्तलेखो वर्तते। पद्मसृष्टिविधानेन हस्तनिर्माणेऽतिवैदग्ध्यं भविष्यतीति कृत्वा पद्मसृष्टिः क्रियत इति भावः। धाता ब्रह्मा हस्तलेखीकृतया तया पद्मसृष्ट्याऽस्यां हरिणेक्षणायां दमयन्त्यामिति इत्थमाह उक्तवान् इत्यर्थः। यस्मात् पद्मानि भैम्या हस्तलेखीकृतानि, तेनायमर्थः सूचित इत्यर्थः। 'इमानि तानि पद्मानि हस्तत्तोयैः कुलस्त्रियः। राजराज्येऽभिषेचयन्ते नरेन्द्रैर्भर्तृभिः सह॥' इति लङ्काकाण्डे सीतोक्तेः।

(चित्र०)

अत्र हस्तलेखीकृतया सरोजसृष्टयेति करणविभक्तिसद्भावेऽपि न सा विधातृकर्तृकसरोजसृष्टिगतहस्तलेखत्वप्रकाशनं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते, किन्तु तत्प्रकाशनार्थं सरोजसृष्टिर्हस्तलेखकरणमिति तत्प्रकाशनमेव फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यम् ।

किं बहुना, यत्र हेतुत्वप्रतिपादकः शब्दस्तस्यैव फलत्वमौचित्येन क्वचिदङ्गीकार्यं दृश्यते ।

(भारती)

यहाँ हस्तलेखीकृत से कमल की रचना द्वारा कारणविभक्ति के रहने पर भी विधाता के द्वारा कमल की रचना हाथ से लिखने के प्रति हेतुत्व से उत्प्रेक्षा नहीं है। बल्कि, उसके प्रकाशन के लिए कमल की रचना—हस्तलेखकरण—का प्रकाशन ही फलत्व से उत्प्रेक्षित है।

अधिक क्या ? हेतुत्वप्रतिपादक शब्द का ही औचित्य से कहीं फलत्व स्वीकृत करना चाहिए।

(सुधा)

अत्र विधातृकर्तृकसरोजसृष्टिगतहस्तलेखत्वप्रकाशनं प्रति हस्तलेखीकृतविशेषणविशिष्टसृष्टयेतिकरणविशेषसद्भावेऽपि न तस्या हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा, किन्तु तत्प्रकाशनार्थं सरोजसृष्टेर्हस्तलेखकरणमिति रीत्या तत्प्रकाशनस्यैव फलत्वेनोत्प्रेक्षणीयत्वात्। अन्यदपि विशेषान्तरमाह—किं बहुनेति । हेतुत्वप्रतिपादकशब्दस्यैवौचित्येन क्वचित् फलत्वमङ्गीकार्यम्, तथोदाहरणे दृष्टत्वादित्याह—दृश्यते यथेति ।

(चित्र०)

यथा—

स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥

अत्र शतुर्हेतौ विधानेऽपि फलस्याप्युद्देश्यतया कथंचिद्धेतुत्वमित्युपपाद्य फलोत्प्रेक्षाङ्गीकरणीया ।

एवं च फलत्वादिप्रतिपादनमप्यनादृत्य हेतूत्प्रेक्षादिकमौचित्येनाङ्गीकार्यं तदा किमु वक्तव्यं विरोधिशब्दाभावे औचित्यानुसरणं कार्यमिति ।

एवमनया दिशान्यत्रापि निमित्तानुपादानं संभवदूहनीयम् ।

(भारती)

जैसे—

'वह युवक इस तन्वङ्गी के दोनों विशाल स्तनों को देखकर अपना शिर कँपाता है। मालूम पड़ता है जैसे उस युवती के दोनों स्तनों के बीच गड़ी हुई अपनी आँखों को उखाड़ रहा है।'

यहाँ 'उत्पाटयन्' गत हेतु में शतृप्रत्यय विधान करने पर भी उसकी हेतुता अनिश्चित है। क्योंकि शिर कँपाने में उत्पाटन क्रिया का फलत्वेन उत्प्रेक्षण ही स्वीकृत करना चाहिए।

इसी प्रकार हेतुत्वप्रतिपादक शब्द रहने पर भी उसका अनादर कर, फलोत्प्रेक्षा ही स्वीकृत करना चाहिए। जब फलत्वप्रतिपादक शब्द रहने पर भी औचित्य से हेतूत्प्रेक्षण का ही प्रतिपादन हो, तब विरोधी शब्द के अभाव में औचित्यानुसरण को अस्वीकृत करना चाहिए, इस कथन में क्या दोष है ?

इसलिए 'मग्ना' इत्यादि में अनुपात्त निमित्त हेतूत्प्रेक्षा रहने से उस उत्प्रेक्षा में निमित्तानुपादन कहीं भी संभव नहीं है। यह कथन असंगत ही है।

इसी प्रकार इससे उक्त निमित्त और अनुक्त निमित्त के जो भेद की स्वीकृति है, वह भी अयुक्त है, क्योंकि उन दोनों के समुच्चय का भी दृष्टत्व है। अतः उन दोनों की गणना का विरोध स्पष्ट है।

(सुधा)

यत्रैतदुदाहरणे प्रसिद्धं तदुदाहरति—स्तनाविति। युवा तन्वङ्ग्याः कुचावालोक्य शिरो मस्तकं कम्पयते। तयोः स्तनयोर्मध्ये निमग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निवेत्यन्वयः। अत्र उत्पाटयन्नित्यत्र हेतौ शतृप्रत्ययविधानेऽपि तस्य हेतुत्वमनिश्चित्य शिरःकम्पने उत्पाटनस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणमेवाङ्गीकार्यमिति भावः। दूषणमुपसंहरति—एवञ्चेति। हेतुत्वप्रतिपादकशब्दसत्त्वेऽपि तदनादृत्य फलोत्प्रेक्षाया एवाङ्गीकारे इत्यर्थः। यदा फलत्वप्रतिपादकशब्दसत्त्वेऽप्यौचित्येन हेतूत्प्रेक्षणस्येति प्रतिपादनम्, यदा विरोधिशब्दाभावे औचित्यानुसरणमङ्गीकार्यमिति कथने को दोष इति। तस्मात् 'मग्ना' इत्यादावनुपात्तनिमित्तहेतूत्प्रेक्षासत्त्वेन तदुत्प्रेक्षायां निमित्तानुपादानं न क्वापि संभवतीति प्रतिपादनमसङ्गतमेवेति ग्रन्थकृदभिप्रायः। उपसंहरति—एवमनयेति। यथोक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ताभ्यां यद्भेदाङ्गीकरणं तदप्ययुक्तम्, तयोः समुच्चयस्यापि दृष्टत्वात्।

(चित्र०)

अपि च—

यथोपात्तनिमित्तत्वमनुपात्तनिमित्तता ।
प्रत्येकं वर्तते तद्वत्समुच्चित्यापि दृश्यते ॥

यथा—

मुनिद्रुमः कोरकितोऽसितद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥

अत्र कोरकनिर्गमनविशिष्टस्य मुनिद्रुमस्य विधुकलाकलापवमनविशिष्टराहुरूपत्वे उत्प्रेक्ष्यमाणे विशिष्योत्प्रेक्षानिमित्तमसितवर्णत्वमुपात्तम्, विशेषणोत्प्रेक्षानिमित्तं तु कोरकविधुकलासाधर्म्यादिरूपं नोपात्तम्।

(भारती)

और भी—'उपात्त निमित्तत्व और अनुपात्त निमित्तत्व जैसे प्रत्येक देखे जाते हैं उसी प्रकार उन दोनों के समुच्चय भी देखे जाते हैं।' जैसे—

'इस नल ने वन में कोरकित कृष्ण वर्ण अगस्त्य को कृष्ण पक्ष में चन्द्रकलाक्षय के कपट से भक्षित चन्द्रकला को वमन करते अर्थात् उगलते राहु के समान माना। अथवा अन्धकार में कपट

पूर्वक खाये गये पशु आदि को वमन करते हुए सिंह के बच्चे के समान माना। कहने का तात्पर्य यह कि प्रथम पक्ष के अर्थ में—यह राहु चन्द्रमा को खा गया था, अत एव मुझे संताप नहीं होता है किन्तु, अब पुनः यह चन्द्रमा को वमन कर रहा है—अत एव यह चन्द्रमा मुझे पुनः संतप्त करेगा, ऐसा समझकर वे डर गये। दूसरे अर्थ में—अन्धकार में किसी पशु को खाकर उसे उगलते हुए सिंह को जंगल में देखने से भयभीत होना स्वाभाविक ही है। निष्कर्ष यह कि अगस्त्य को कलीयुत देखकर उसे कामोद्दीपक होने के कारण राजा नल डर गये।'

इस उदाहरण में मुनिद्रुम का कोरकित विशेषण विशिष्ट का चन्द्रमा के कला-कलापविशिष्ट राहुरूपत्व की उत्प्रेक्षा में राहुरूप विशेष्य उत्प्रेक्षा निमित्त का कालेरंग के उपादान से और कोरक विधुकला साधर्म्यवाचक विशेषण उत्प्रेक्षा निमित्त अनुपादान से उपात्तनिमित्ता और अनुपात्तनिमित्ता के समुच्चितत्व से लक्षण का समन्वय है।

(सुधा)

तस्मात्ताभ्यामेव गणनं विरुद्धमिति दूषणं प्रतिपादयितुमारभते—अपि चेति। उपात्तनिमित्तत्वमनुपात्तनिमित्तत्वञ्च यथा प्रत्येकं दृश्यते तथा तयोः समुच्चयोऽपि दृश्यते इत्यन्वयः। उपात्तनिमित्तानुपात्तनिमित्तयोः समुच्चयमुदाहरति—यथेति। अमुना नलेन वने वाटिकायाम्, असितद्युतिः कृष्णवर्णः 'सिती धवलमेचकौ' इत्यमरः। कोरकितः कुड्मलितः, तारकादित्वादितच्। मुनिद्रुमोऽगस्तिवृक्षः, तमिस्रपक्षः कृष्णपक्षस्तस्मिन् या त्रुटिः क्षयः, तस्य कूटं छलम्। 'माया निश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु। अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम् ॥' इत्यमरः। तेन-भक्षितं निगीर्णं वैधवं चान्द्रम्, शैषिकोऽण्, कलानां कलापं समूहं किल निश्चयेन वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत मेन इत्यर्थः। अत्रोदाहरणे मुनिद्रुमस्य कोरकितविशेषणविशिष्टस्य विधुकलाकलापवमन-विशिष्टराहुरूपत्वोत्प्रेक्षणे राहुरूपविशेष्योत्प्रेक्षानिमित्तस्यासितवर्णत्वस्योपादानेन कोरकविधुकलासाधर्म्यवाचकस्य विशेषणोत्प्रेक्षानिमित्तस्यानुपादानेन चोपात्तनिमित्तानुपात्तनिमित्तत्वयोः समुच्चितत्वस्य सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः।

(चित्र०)

यथा वा—

त्वत्प्राङ्गणे सुन्दर पाण्ड्यदेव मतङ्गजाः शृङ्खलिनो विभान्ति।
आवासदानादरिभूपतीनामाशान्तशैला इव सापराधाः ॥

अत्र विशेषणभूतसापराधत्वोत्प्रेक्षानिमित्तं शृङ्खलितत्वमुपात्तम्, विशेष्य-शैलरूपत्वोत्प्रेक्षानिमित्तमौन्नत्यादिकं नोपात्तम्।

यथा वा—

अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥

(भारती)

अथवा दूसरा उदाहरण जैसे—'हे सुन्दर पाण्ड्य देव! तुम्हारे प्राङ्गण में जंजीरों में बन्धे मद-मत्त हाथियों के समूह, दुश्मन राजाओं के निवासदान से अपराधयुत दिगन्त शैल की तरह शोभ रहे हैं।'

यहाँ विशेषणभूत सापराध उत्प्रेक्षा निमित्त का शृङ्खलितत्व निमित्त के उपादान से और विशेष्यीभूत शैलरूपत्व की उत्प्रेक्षा में औन्नत्य रूप निमित्त के अनुपादान से, उन दोनों के समुच्चितत्व विशेष्य के उत्प्रेक्षण में निमित्तोपादन है। अर्थात् यहाँ विशेषण के उत्प्रेक्षण में निमित्तोपादान है। अथवा जैसे—

'यह घोड़े का वर्णन है, घोड़ा कैसा है? चरणेषु=पैरों में, रेणुभिः=धूलियों से, उपास्यमान= सेव्यमान है। वह धूलि कैसी है? अजस्रं=अनवरत अर्थात् लगातार, यत्=जो, भूमितटस्य=धरती का, कुट्टनं=क्षोदन, तेन=उससे, उत्थितैः = उड़े हुए, किसकी तरह? रयः=वेग, तस्य प्रकर्षः=उसका अतिशय, तस्य अध्ययनं = उसकी शिक्षा, तदर्थं=उसके लिए, आगतैः=प्राप्त, लोकस्य=मनुष्य के, चेतोभिः = मन की तरह, फिर वह कैसा है? अणुत्वेन=अणु से, अङ्कितैः=चिह्नित है।

(सुधा)

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। हे सुन्दर पाण्ड्यदेव! मतङ्गजाः हस्तिनः शृङ्खलायुताः तव प्राङ्गणे शत्रुनृपतीनां निवासदानाय सापराधा दिगन्तशैला इव, विभान्ति शोभन्ते इत्यन्वयः। अत्र विशेषणीभूतसापराधोत्प्रेक्षानिमित्तस्य शृङ्खलितत्वनिमित्तस्योपादानेन विशेष्यीभूतशैलरूपत्वोत्प्रेक्षणे औन्नत्यरूपनिमित्तस्यानुपादानेन च तयोः समुच्चितत्वं पूर्वत्र विशेष्योत्प्रेक्षणे निमित्तोपादानम्। इह विशेषणोत्प्रेक्षणे निमित्तोपादानमिति विशेषः। अत्रैवोदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। पुनः कीदृशं हयं चरणेषु रेणुभिः धूलिभिः उपास्यमानं सेव्यमानं कीदृशैः अजस्रमनवरतं यत् भूमीतटस्य पृथ्वीतलस्य कुट्टनं चोदनं तेनोत्थितैः कैरिव, रयो वेगस्तस्य प्रकर्षोऽतिशयः, तस्याध्ययनं शिक्षा, तदर्थमागतैः प्राप्तैः लोकस्य चेतोभिरिव कीदृशैरणुत्वेनाङ्कितैः चिह्नितैरित्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र विशेष्यभूतचेतोरूपत्वोत्प्रेक्षायामणिमाङ्कितैरिति निमित्तमुपात्तम्। अध्ययनार्थमागतैरिति तद्विशेषणोत्प्रेक्षायामपि चरणोपासनारूपं निमित्तमुपात्तम्।

रयप्रकर्षेत्यध्ययनविशेषणे निमित्तं चेतसां वर्णनीयादश्वादपकृष्टरयत्वं नोपात्तम्।

एवमन्यत्रापि निमित्तोपादानानुपादानसमुच्चये उदाहर्तव्यम्।

(भारती)

इस उदाहरण में विशेष्यभूत धूलियों के मनरूपत्व से उत्प्रेक्षण है। वहाँ 'अणुत्वाङ्कितम्' इस निमित्त के इस उपादान से अध्ययनार्थ आगमन की उत्प्रेक्षा में भी चरण की उपासना रूप निमित्तोपादान से गुण और क्रिया के निमित्तभूत का भी समुच्चय है।

वेग की विशेषता का अध्ययनविशेष की स्वीकृति में तो वर्णनीय घोड़े से मन का अपकृष्ट वेगत्व निमित्त अनुपात्त है। इससे उपात्त और अनुपात्त निमित्त से ही समुच्चय है।

इसी प्रकार दूसरी जगह भी निमित्त का उपादान और अनुपादान समुच्चय में उदाहरण मानना चाहिए।

(सुधा)

अत्रोदाहरणे विशेष्यभूतरेणूनां चेतोरूपत्वेनोत्प्रेक्षणम्, तत्र अणुत्वाञ्चितमिति निमित्तस्योपादानेनाध्ययनार्थमागमनोत्प्रेक्षायामपि चरणोपासनारूपनिमित्तोपादानेन च गुणक्रिययोर्निमित्तभूतयोरपि समुच्चयः। भावाभावयोः समुच्चयोदाहरणे भावयोरेव समुच्चयकथनं सन्दर्भविरुद्धमित्याशङ्क्याह—रयःप्रकर्षेति। तस्याध्ययनविशेषणाङ्गीकारे तु वर्णनीयहयाश्चेतसामपकृष्टरयत्वं निमित्तमनुपात्तमित्युपात्तानुपात्तनिमित्तयोरेव समुच्चय इति।

एतद्रीतिमन्यत्रातिदिशति—एवमन्यत्रापीति। यथा—'विचिन्वती पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्। व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥' इत्यत्र कोरकावलीनां बलिदीपिकात्वोत्प्रेक्षणेऽलिकज्जलेष्वपुण्यकर्मत्वोत्प्रेक्षणे चानुपात्तनिमित्तयोरपि समुच्चय उदाहर्त्तव्य इति।

(चित्र०)

तस्मान्न्यूनः सतृणाभ्यवहारश्चायं विभागः। अतोऽत्र विषयिणो जात्यादिरूपेणाष्टधा विभागम्, धर्मस्य गुणक्रियारूपेण विभागं चापहाय विभागान्तरलभ्या यावन्तो भेदास्तावन्त एव चमत्कारिणः।

स्वरूपहेतुफलोत्प्रेक्षासु तु विधान्तरेणाप्यवान्तरभेदाः संभवन्ति। यथा—स्वरूपोत्प्रेक्षा द्विविधा, अविशिष्टोत्प्रेक्षा विशिष्टोत्प्रेक्षा च।

यत्र विषयिणो विशेषणमुपात्तमपि नोत्प्रेक्षणीयमवगम्यते तद्विषयरूपस्य तन्निमित्तरूपस्य वा विषयविशेषणस्याभावात्, किं तु तद्विशेषणं विषयिणि विधान्तरेणोपयुज्यते सा विशिष्टोत्प्रेक्षा।

यत्र तु विषयिणो विशेषणमप्युत्प्रेक्षणीयमवगम्यते तद्विषयरूपस्य तन्निमित्तरूपस्य वा विषयविशेषणस्योपादानात् सा विशिष्टोत्प्रेक्षा।

(भारती)

अतः उनके मत से उपपादित दोनों भेदविभाग न्यून ही हैं। जिस तरह तृण और भूसे से सम्मिलित भोजन में स्वाद नहीं आता है, उसी प्रकार उक्त मतद्वय के भेद में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं जानना चाहिए।

इस लिए यहाँ विषयी के जात्यादिरूप से आठ प्रकार के भेद, गुण और क्रिया रूपों के भेदों को छोड़कर विभागान्तर प्राप्त भेदों को चमत्कारी मानते हैं। स्वरूपोत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—१ उक्त विषया और २ अनुक्त विषया। हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में प्रत्येक दो प्रकार की है। असिद्ध और सिद्ध विषय के भेद से इन भेदों को ही चमत्कारजनक जानना चाहिए।

प्रकारान्तर से उन भेदों को बताते हैं। स्वरूपोत्प्रेक्षा दो प्रकार की है १ अविशिष्ट उत्प्रेक्षा और २ विशिष्ट उत्प्रेक्षा। उनमें पहली उत्प्रेक्षा का लक्षण बताते हैं—जहाँ उसके विषय रूपक अथवा उसके निमित्त रूप का विषय विशेषण के अभाव से उपात्त का भी विषयी के विशेषण की उत्प्रेक्षा का अवगमन न हो, किन्तु विषयी का प्रकारान्तर से उपयोग हो—वही अविशिष्टोत्प्रेक्षा कहलाती है।

दूसरी उत्प्रेक्षा का लक्षण कहते हैं—जहाँ विषयिरूप का अथवा विषयिनिमित्त रूपका विषयिविशेषण के उपादान से भी उत्प्रेक्षणीयत्व से अवगमन हो वहाँ विशिष्टोत्प्रेक्षा होती है।

(सुधा)

भेदगणनादूषणमुपसंहरति—तस्मादिति। तस्मान्मतद्वयोपपादितभेदविभागो न्यून एव सतृणाभ्यवहारश्च = यथा तृणादिसहितान्नभोजने नास्वादः तथात्र मतद्वयभेदे चमत्काराभाव इति बोध्यम्। स्वयं वक्ष्यमाणरीत्या विभागमाह—अतोऽत्रेति। विषयिणो जात्यादिरूपेणाष्टधा प्रकारं गुणक्रियारूपाभ्यां धर्मभेदञ्च परित्यज्य विभागान्तरलभ्या यावन्तो भेदाः; स्वरूपोत्प्रेक्षा द्विधा—उक्तविषया, अनुक्तविषया च, हेतुफलोत्प्रेक्षे प्रत्येकं द्विधा असिद्धसिद्धविषयभेदात्, एतेषामेव चमत्कारकारित्वम्। प्रकारान्तरेण तेषु भेदमाह—स्वरूप इत्यादि। स्वरूपोत्प्रेक्षा द्विविधा, अविशिष्टोत्प्रेक्षाविशिष्टोत्प्रेक्षाभेदात्। तत्राद्याया लक्षणमाह—यत्र चेति। तद्विषयरूपस्य तन्निमित्तरूपस्य वा विषयविशेषणस्याभावेनोपात्तस्यापि विषयिविशेषणस्य नोत्प्रेक्षावगमः, किन्तु विषयिणि प्रकारान्तरेणोपयोगः, सा अविशिष्टोत्प्रेक्षेति लक्षणार्थः। द्वितीयाया लक्षणमाह—यत्र त्विति। विषयिरूपस्य विषयिनिमित्तरूपस्य वा विषयिविशेषणस्योपादानात् विषयिणो विशेषणस्याप्युत्प्रेक्षणीयत्वेनावगमनं द्वितीयेत्यर्थः।

(चित्र०)

तत्राद्या यथा—

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्॥

अत्र मदनरूपत्वोत्प्रेक्षायां मदनाकृतिशालित्वमस्ति निमित्तम्। अतस्तावदुत्प्रेक्षणीयमवगम्यते तत्प्रत्यर्पणं रत्यनुनयप्रसन्नेन परमेश्वरेण कृतमिति विशेषणांशस्तु नोत्प्रेक्षणीयोऽवगम्यते, तदंशे विषयस्य वाच्यस्य गम्यस्य वा निमित्तस्य वा लाभात्। किं तु परमेश्वरदग्धस्य मदनदेहस्यासुरदग्धस्य कचदेहस्य शुक्र इव न कश्चिदन्यः प्रत्यर्पणं कर्तुं शक्नोतीति विषयिणि प्रत्यर्पणोपपादकतया तद्विशेषणमुपयुज्यते इत्यविशिष्टोत्प्रेक्षेयम्।

(भारती)

प्रथम का जैसे—'रति अर्थात् कामपत्नी की प्रार्थना को स्वीकार कर शिवजी से फिर अपने शरीर को प्राप्त किये हुए काम के समान अज को देखते हुए राजाओं का मन इन्दुमती को पाने से निराश हो गया।'

इस उदाहरण में अज का मदन रूप की उत्प्रेक्षा में मदन के आकृतिशालित्व रूप की उत्प्रेक्षणीयता में अवगमन रहने पर भी रति की प्रार्थना से प्रसन्न महादेव द्वारा प्रत्यर्पण रूप विशेषणांशविषय का अथवा वाच्य का प्रतीयमान के लाभत्व से उत्प्रेक्षणीयता का अवगम नहीं है। किन्तु महादेव के द्वारा जलाई गयी मदन की देह प्रत्यर्पण में, दैत्य के द्वारा जलाई गयी कच की देह के प्रत्यर्पण में शुक्र की तरह दूसरे के सामर्थ्य के अभाव से विषयी में प्रत्यर्पण की उपपादकता से उसके उपयोग द्वारा अविशिष्ट उत्प्रेक्षा ही यहाँ हुई।

(सुधा)

तत्र प्रथमभेदस्योदाहरणं कथयति—तत्रेति। रतेः स्मरप्रियायाः सकाशाद् गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन, सापेक्षत्वेन गमकतया समासः, ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं प्रतिदत्तशरीरं काममिव स्थितं काकुत्स्थमजमालोकयतां नृपाणां मनः कर्तृ इन्दुमत्यां निःस्पृहं बभूव इत्यन्वयः। अत्रोदाहरणेऽजस्य मदनरूपत्वेनोत्प्रेक्षणे मदनाकृतिशालित्वरूपस्य निमित्तस्योत्प्रेक्षणीयत्वावगमनेऽपि रतिप्रार्थनाप्रसन्नेश्वरकृतप्रत्यर्पणरूपविशेषणांशस्य विषयस्य वाच्यस्य वा प्रतीयमानस्य लाभत्वेन नोत्प्रेक्षणीयत्वावगमोऽस्ति, किन्तु हरदग्धस्य मदनतनोः प्रत्यर्पणे दैत्यदग्धकचदेहार्पणे काव्यस्येवान्यस्य सामर्थ्याभावात् विषयिणि प्रत्यर्पणोपपादकतया तस्योपयोगेनाविशिष्टोत्प्रेक्षेति तद्भावः।

(चित्र०)

विशिष्टोत्प्रेक्षायां 'मुनिद्रुमः कोरकितोऽसितद्युतिः' 'त्वत्प्राङ्गणे सुन्दर पाण्ड्यदेव' इत्याद्युदाहरणे विषयोपादानाद्विषयिविशेषणस्योत्प्रेक्षतावगम्यते। द्वितीये निमित्तोपादानाद्धेतुफलोत्प्रेक्षे त्वसिद्धयोः सिद्धयोर्वा हेतुफलभावेनोत्प्रेक्षणीयतया प्रत्येकं द्विविधे। 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्' 'चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य' इत्यादिषु नूपुरकण्टकिद्रुमादावसिद्धयोर्विश्लेषदुःखललाटलिपिदर्शनादिकयोर्हेतुफलाभावेनोत्प्रेक्षणीयता।

(भारती)

दूसरी उत्प्रेक्षा का उदाहरण देते हैं—'मुनिद्रुमः कोरकितोऽसितद्युतिः', 'त्वत्प्राङ्गणे सुन्दर पाण्ड्यदेव' इत्यादि पूर्व व्याख्यात उदाहरणों में विधुकलाकलाप विषय के उपादान से विषयी 'मुनिद्रुम' का जो विशेषण कोरकितत्व है उसका भी उत्प्रेक्षावगम से विशिष्टोत्प्रेक्षा है। दूसरे में जंजीर रूप निमित्तोपादान से अपराध युक्त विशेषण के रहने पर दोनों में भेद है। असिद्ध अथवा सिद्ध के हेतुत्व से अथवा फलत्व से उत्प्रेक्षण में हेतु और फल की उत्प्रेक्षा से प्रत्येक दो प्रकार की हैं। उन दोनों के असिद्धास्पद हेतु फलोत्प्रेक्षा में उदाहरण देते हैं—'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्' 'चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य' इत्यादि पूर्व व्याख्यात उदाहरणों में क्रमशः नूपुर के मौनत्व की उत्प्रेक्षा में उसके जड़त्व से असिद्ध के वियोग रूप दुःख हेतुत्व की उत्प्रेक्षा से असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा है। दूसरे में कण्टकित वृक्ष से माथे की चमड़ी उधेड़ने में ललाटलिपि दर्शन की इच्छा से जड़ता में असंभावना के कारण उसका फलत्वेन उत्प्रेक्षण में असिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा जाननी चाहिए। सिद्धास्पदा हेतुफलोत्प्रेक्षा के उदाहरण जैसे—

(सुधा)

द्वितीयामुदाहरति—मुनिद्रुम इति त्वत्प्राङ्गण इति च। पूर्वमेवोभौ व्याख्यातौ। द्वयोर्विषयमाह—विषयेति। विधुकलाकलापस्य विषयस्योपादानेन विषयिणो मुनिद्रुमस्य यद्विशेषणं कोरकितत्वं तस्याप्युत्प्रेक्ष्यतावगमाद् विशिष्टोत्प्रेक्षा। द्वितीये शृङ्खलितत्वरूपनिमित्तोपादानात् सापराधस्य विशेषणस्य तत्त्वेन सेति तयोर्भेद इत्यर्थः। असिद्धयोर्वा हेतुत्वेन वा फलत्वेन वोत्प्रेक्षणे हेतुफलोत्प्रेक्षे प्रत्येकं द्विविधे। तयोरसिद्धास्पदहेतुफलोत्प्रेक्षे उदाहरति-सैषा स्थलीति। चोलस्येति पूर्वं व्याख्यातम्। आद्ये नूपुरस्य मौनत्वोत्प्रे-

क्षणे तस्य जडत्वेनासिद्धस्य विश्लेषदुःखस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा। द्वितीये कण्टकिद्रुमः भालस्थोत्पाटने ललाटलिपिदर्शनेच्छाया जडेष्वसंभवात् तस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणेऽसिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षाऽवगन्तव्या।

(चित्र०)

आलोहिततलावेतौ क्षितौ विक्षेपणादिव।
वर्णयेम कथं तन्व्याः पादौ पल्लवकोमलौ॥
पूरं विधुर्वर्धयितुं पयोधेः शङ्केयमेणाङ्कमणिं कियन्ति।
पयांसि दोग्धि प्रियविप्रयोगात्सशोककोकीनयने कियन्ति॥

इत्यादिषु पादचन्द्रादौ स्वतःसिद्धयोरेव विक्षेपपयोवर्धनादिकयोर्हेतुफलाभावेनोत्प्रेक्षणीयता। प्रकारान्तरेणापि कतिचिदस्या भेदान् समासोक्तिप्रकरणे दर्शयिष्यामः।

(भारती)

'इस कोमलाङ्गी नायिका के ये दोनों पल्लव के सदृश कोमल चरण जो धरती पर पदक्षेप के कारण अत्यन्त आरक्त हैं—उनका वर्णन हम कैसे करें ?'

'यह चन्द्रमा इस समुद्र के प्रवाह को बढ़ाने की इच्छा से मानो इस चन्द्रकान्तमणि से कितने अपरिमित पय अर्थात् जल दूहता है तथा अपने प्रिय के वियोग से संतप्त चक्रवाकी की आखों से कितना जल दूहता है।'

प्रथम उदाहरण में विशेषण का चरण के साथ हेतूत्प्रेक्षा है और दूसरे में चन्द्रकान्त मणि का पयदोहन में सागर के प्रवाहवर्द्धनरूपी फल का वस्तुतः सागर में ही रहने के कारण सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा ही चमत्कारक है। प्रकारान्तर से भी इसके अन्य भेदों को समासोक्ति प्रकरण में दिखायेंगे।

विमर्श—चित्रमीमांसा में समासोक्ति नाम का कोई प्रकरण नहीं है किन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ इस प्रकरण का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट रूप से यह पता चलता है कि यह ग्रंथ अधूरा है। इतना ही नहीं यह ग्रन्थ अधूरा है इसके प्रमाण में ग्रन्थकार की स्वयं स्वीकारोक्ति है—

'अप्यर्द्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला'।

(सुधा)

सिद्धास्पदे हेतुफलोत्प्रेक्षे उदाहरति—आलोहिततलाविति। तन्वङ्ग्या नायिकाया एतौ पल्लवकोमलौ पादौ, क्षितौ भूम्यां विक्षेपणाद् विन्यासादिवालोहिततलौ वयं कथं वर्णयेमेत्यन्वयः। अत्र विक्षेपणस्य चरणयोः सत्त्वेन सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा। पूरमिति। अयं विधुश्चन्द्रः पयोधेः समुद्रस्य पूरं वर्द्धयितुमेणाङ्कमणिं चन्द्रकान्तमणिं कियन्त्यपरिमितानि पयांसि दोग्धीति शेषः। 'अकथितञ्च' इति सूत्रेण एणाङ्कमणेरित्यस्य कर्मसंज्ञात्वेन द्वितीया। तथा प्रियैर्वियोगे सति सशोकानां कोकाङ्गनानां नयने कियन्ति पयांसि दोग्धीत्यन्वयः। अत्रैणाङ्कमणेः पयसां दोहने पयोधेः प्रवाहवर्द्धनस्य फलस्य वस्तुतः पयोधौ सत्त्वेन सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा एव चमत्कारवती। अष्टौ भेदान् प्रदर्श्य प्रकारान्तरेण सम्भवतो भेदान् अतिदिशति—प्रकारान्तरेणापीति। यद्यपि समासोक्तिप्रकरणे

चित्रमीमांसा नास्ति तथाप्येवमभिप्रायो ग्रन्थकारस्यानुमीयते। उत्प्रेक्षा प्रकारान्तरेण द्विविधा—शुद्धा, संकीर्णा च। आद्या दर्शिता। द्वितीयायां रूपकसंकीर्णत्वं यथा—'नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरं मिलदिन्दिरम्। इदमिन्दीवरं मन्ये सुन्दराङ्गि तवाननम्॥' अत्र प्रथमार्धंगतः प्रथमो धर्मो रूपकेण विषयिविषयसाधारणीकृतः, द्वितीयश्चाभेदाध्यवसायेन। श्लेषसंकीर्णोदाहृता। अन्यापि यथा—'विभाति यस्यां ललितालकायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः। कपोलपालिं तव तन्वि मन्ये नरेन्द्रकन्ये दिशमुत्तराख्याम्॥' विषयविषयिधर्मविशेषणयोरलकालकयोः श्रवणवैश्रवणयोश्च श्लेषेणाभेदे उत्प्रेक्षाधर्मस्य साधारण्यात् संकीर्णा। अपह्नुतिसंकीर्णा यथा—'स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम्। मनोनुरागि ते तन्वि मन्ये वल्लभमीक्षते॥' अत्र वल्लभेक्षणस्य मनस्युत्प्रेक्षायां तन्निमित्तमन्तःप्रदेशाद् बहिरागमनमुत्प्रेक्ष्यम्। तत्र बहिःप्रदेशसम्बन्धरूपं माणिक्यमात्रवृत्ति मनसो न सम्भवतीति माणिक्यापह्नुत्या मनोगतं क्रियते। एवमन्यदप्यूह्यमित्यलम्।

(चित्र०)

यत्तु सर्वस्वकृता वैचित्र्यान्तरमस्या दर्शितम्। एषा क्वचिद्धर्मविषये श्लिष्टा, क्वचिच्छलादिशब्देन सापह्नवा, क्वचित्पदार्थान्वयवेलायां सादृश्याभिधानादुपमाक्रान्ताप्युपमावाक्यार्थतात्पर्यसामर्थ्यादभिमन्तृव्यापारौचित्यक्रमेणोत्प्रेक्षायां पर्यवस्यतीत्युपमोपक्रमा चेति।

तत्र धर्मविषये श्लिष्टत्वं किमित्युपन्यस्तम्। किं धर्मस्य निमित्तानुगामितयेव श्लेषेणापि निर्वाह्यत इति, किं वा धर्मांशेषु शुद्धतेव श्लेषेणालङ्कृतापि दृश्यत इति। आद्ये उपमायां साधारणधर्मस्यानुगामित्वादयो यावन्तो भेदाः साधारण्यनिर्वाहकास्ते सर्वेऽप्युत्प्रेक्षायां धर्मस्य निमित्ततानिर्वाहकाः संभवन्तीति न्यूनो विभागः। तथा हि 'बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावात्' इत्यादौ तावदनुगामित्वं स्पष्टम्।

(भारती)

यहाँ यत्तु से अलंकारसर्वस्वकार के मत का फिर खण्डन करते हैं। यह उत्प्रेक्षा कहीं धर्मविषय में श्लिष्ट है, तो कहीं कपट आदि शब्द से अपह्नुति के साथ है और कहीं पदार्थान्वय समय में सादृश्य के अभिधान से उपमा के उपक्रान्तत्व रहने पर भी वाक्यार्थ तात्पर्य सामर्थ्य से अभिमानवर्ती व्यापार के औचित्य क्रम से उत्प्रेक्षा पर्यवसान द्वारा उपमोपक्रमा उत्प्रेक्षा में तीन प्रकार की विचित्रता अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने स्वीकृत की है।

रुय्यक के उक्त लक्षण में दोष दिखाते हुए पूछते हैं कि वहाँ धर्मविषयश्लिष्टत्व का क्या अर्थ करते हैं? धर्म की अनुगामिता से जैसी निमित्तता होती है वैसी ही निमित्तता श्लेष से भी होती है अथवा धर्म के अंश में शुद्धा की तरह कपट व्याज से श्लेषालङ्कार में भी निमित्तता होती है? प्रथम में दोष बताते हैं कि अनुगामित्व आदि भेदों का जब तक उपमा में साधारण धर्म के साधारण्य की निर्वाहकता है तभी तक उत्प्रेक्षा में धर्म की निमित्तता का निर्वाह संभव है। अन्यथा उक्त तीन भेदों के कथन में न्यूनत्वापत्ति है।

'बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावात्' इत्यादि उदाहरण में अनुगामिता स्पष्टरूप से प्रतीत है। (इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है)

(सुधा)

पुनः सर्वस्वकारमतं खण्डयितुमुपक्रमते—यत्त्विति । एषा क्वचिद्धर्मविषये श्लिष्टा, क्वचिच्छलादिशब्देन सापह्नवा, क्वचित्पदार्थान्वयसमये सादृश्याभिधानादुपमाया उपक्रान्तत्वेऽपि वाक्यार्थतात्पर्यसामर्थ्येनाभिमन्तृव्यापारौचित्यक्रमादुत्प्रेक्षापर्यवसानेनोपमोपक्रमा चेत्युत्प्रेक्षायां त्रैविध्यवैचित्र्यमलङ्कारसर्वस्वकृताङ्गीकृतम् । तद् दूषयति—तत्रेति । धर्मविषयश्लिष्टत्वमित्यस्य कोऽर्थः । धर्मस्यानुगामितया यथा निमित्तता तथा श्लेषेणापि । किं वा ! धर्मांशे शुद्धतावच्छ्लेषेणालङ्कृतापि । अद्ये दूषणमाह—आद्य इति । आद्येऽनुगामित्वादीनां यावद्भेदानामुपमायां साधारणधर्मस्य साधारण्यनिर्वाहकत्वं तावतामेवोत्प्रेक्षायां धर्मस्य निमित्ततानिर्वाहकत्वसम्भवे त्रैविध्यकथने न्यूनत्वापत्तेः । अनुगामित्वम् 'बालेन्दुवक्राणि' इति श्लोके पूर्वं व्याख्याते बोध्यम् ।

(चित्र०)

यथा—

व्यराजत सखे तन्व्या वक्त्रं वलितकन्धरम् ।
लावण्यौघजलावृत्तनालदण्डमिवाम्बुजम् ॥

इत्यत्र वस्तुप्रतिवस्तुभावः । बिम्बप्रतिबिम्बभावादयस्तु प्रागेवोदाहृताः ।

द्वितीये निमित्तांशेन श्लेषेणेवालंकारान्तरेणाप्यलंकृतता दृश्यते इति न्यूनो विभागः । तथा हि 'अङ्गुलीभिरिव केशसंचयम्' इति निमित्तांशे उपमालङ्कारः स्पष्टः ।

(भारती)

जैसे—

'हे मित्र ! इस सुन्दरी के कन्धे पर झुका हुआ इसका मुखकमल सौन्दर्यसमूह में उत्पन्न, जल के बीच नालदण्ड में खिले कमल के फूल की तरह शोभ रहा है ।'

इसी प्रकार वस्तुप्रतिवस्तुभाव से उदाहरण जैसे—यहाँ मुख का कमल से उत्प्रेक्षण में कन्धे पर झुके हुए अभिन्नवृत्त नालदण्ड के निमित्त के उपादान से लक्षण का समन्वय है । एक ही धर्म का सम्बन्धिभेद से दो बार कथन वस्तुप्रतिवस्तुभाव रूप से उपस्थित है । बिम्बप्रतिबिम्बभावादि तो **'आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्'** इत्यादि रूप में पहले ही उदाहृत किया जा चुका है ।

द्वितीय पक्ष की स्वीकृति में दोष बताते हैं—साधारण धर्मरूप निमित्त के अंश द्वारा श्लेषालङ्कार का अन्य अलङ्कार से भी अलंकृतता देखने से उसके कथन में ही न्यूनतापत्ति है ।

अन्य अलङ्कार से अलंकृतता निमित्तांश में जैसे—**'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः'** इत्यादि पूर्व व्याख्यात उदाहरण में रात्रिरूपी नायिका के मुखचुम्बन की उत्प्रेक्षा में किरणों का अङ्गुलियों से सादृश्य वर्णन रहने पर निमित्तांश में उपमालङ्कार से अलंकृत है ।

(सुधा)

वस्तुप्रतिवस्तुभावो यथा—हे सखे ! तन्व्याः वलितकन्धरं मुखं शुशुभे, लावण्यसमूहेन जलेन आवृत्तनालदण्डं कमलमिवेत्यन्वयः । अत्र मुखस्य कमलत्वेनो-

प्रेक्षणे वलितकन्धराभिन्नावृत्तनालदण्डस्य निमित्तस्योपादानात् लक्षणसमन्वयः। एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति तल्लक्षणात्। बिम्बप्रतिबिम्बभावादयस्तु 'आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्' इत्यादावुदाहृता एवेत्याह—बिम्बप्रतिबिम्बभावादयस्त्विति। द्वितीयपक्षाङ्गीकारे दूषणमाह—द्वितीये त्विति। साधारणधर्मरूपनिमित्तांशेन श्लेषेणेवालङ्कारान्तरेणापि अलङ्कृततादर्शनात् तेनैवेति कथने न्यूनत्वापत्तेः। अलङ्कारान्तरेणालङ्कृतता निमित्तांशे यथा 'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः' इत्यादौ रजनीमुखचुम्बनोत्प्रेक्षणे मरीचीनामङ्गुलीभिः सादृश्यस्य वर्णनसत्त्वान्निमित्तांशे उपमालङ्कारेणालङ्कृतता।

(चित्र०)

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किल।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः॥

इत्यत्रोत्प्रेक्षा। अत्र दमयन्त्युदरस्य केनचित्कुतुकिना परिमीयमाणत्वोत्प्रेक्षायां काञ्चिसहितासु वलीषु तदीयाङ्गुलित्वोत्प्रेक्षालब्धमुदरगतं तदीयाङ्गुलिचतुष्टयधारणं निमित्तम्।

(भारती)

'कोई कौतुकी अर्थात् ब्रह्मा दमयन्ती के उदर को मुट्ठी से नापता है क्या? क्योंकि स्वर्ण की करधनी सहित त्रिवलियों से ऐसा शोभता है कि मानो उस कौतुकी की चारो अङ्गुलियों के बीच की तीन रेखाओं को धारण कर रहा हो। इस श्लोक में करधनी के सहित त्रिवलियों की चार अङ्गुलियों के बीच की रेखा से उत्प्रेक्षा की गई है।'

इस उदाहरण में दमयन्ती के उदर का किसी कौतुकी द्वारा नापने की उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा निमित्तांश में अलंकृतत्व है। उदरगत उसकी चार अङ्गुलियों के धारण रूप निमित्त का करधनी सहित त्रिवलियों में उसके अङ्गुलित्व की उत्प्रेक्षा से प्राप्त वह भाव है।

(सुधा)

एवं निमित्तांशे उत्प्रेक्षालङ्कारेणापि अलङ्कृततामुदाहरति—उदरमिति। कोऽपि कुतुकी दमस्वसुः दमस्वसुः दमयन्त्या उदरं मुष्टिना इयत्तया परिमाति व्यवच्छिनत्ति। यद् यस्मात्तदुदरं सहेमकाञ्चिभिः सुवर्णमेखलासहिताभिर्वलिभिः कृत्वा धृतास्तस्य मुष्टेश्चतस्रोऽङ्गुलयो येन एवंविधमिव भाति। तिस्रो वलयः, चतुर्थी हेमकाञ्चीति चतस्रोऽङ्गुलयस्तस्य मुष्टेरित्यर्थः। अत्रोदाहरणे दमयन्त्युदरस्य कौतुकिकर्तृकपरिमीयमाणत्वोत्प्रेक्षणे उत्प्रेक्षालङ्कारेण निमित्तांशेऽलङ्कृतत्वम्, उदरगततदङ्गुलिचतुष्टयधारणरूपनिमित्तस्य काञ्चीसहितवलीषु तदङ्गुलित्वोत्प्रेक्षया लब्धतद्भावत्वात्।

(चित्र०)

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां संकल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानादिव त्वन्मयतामवाप्य॥

इत्यत्रासंगतिः। यतोऽत्र नलस्य दमयन्तीरूपतावाप्त्युत्प्रेक्षायां दमयन्तीकर्तृकेण सोपानारोहणेन नलस्य श्वासवर्षणं निमित्तम्।

(भारती)

इस श्लोक में नल की संकल्प दशा का वर्णन है—तुम नल की संकल्प रूप सीढ़ियों की श्रेणी पर बहुत दूर तक चढ़ती हो, अर्थात् 'दमयन्ती मुझे कैसे मिलेगी, उसे पाकर मैं उसके साथ इस प्रकार वार्त्तालाप, क्रीड़ा तथा विहार आदि करूँगा' इत्यादि अनेक विध संकल्प तुम्हारे विषय में राजा नल किया करते हैं। वे जो बार-बार श्वासों की वृष्टि करते हैं अर्थात् अधिक श्वास लेते हैं, वह तुम्हारी चिन्ता में लीन होकर तुम्हारे ध्यान के कारण करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जो बहुत दूर तक सीढ़ियों पर चढ़ता है, वही अधिक श्वास लेता है अर्थात् हाँफता है। किन्तु यहाँ पर जो तुम नल के संकल्प रूप सीढ़ियों पर चढ़ती हो-अतः नियमानुसार तुम्हें ही अधिक श्वास लेना चाहिए था, किन्तु इसके विपरीत तुम्हारी अपेक्षा नल ही अधिक श्वास लेते हैं। इसका कारण यह है कि राजा नल तुम्हारे चिन्तन के कारण 'त्वन्मय' हो गये हैं। अतः ऐसी स्थिति में ऐसा होना उचित ही है। क्योंकि अब राजा नल के साथ तुम्हारा कोई भेद रह ही नहीं गया है।'

(सुधा)

असङ्गत्यलङ्कारेणोत्प्रेक्षानिमित्तांशेऽलङ्कृततामुदाहरति—अजस्रमिति। त्वं नलसम्बन्धिनीं दूरवर्तिनीं धारावाहिकत्वेनोत्पत्त्या दीर्घां संकल्पो भावनाविशेषः तस्यारोहणपरम्पराम् 'आरोहणं स्यात् सोपानम्' इत्यमरः। अजस्रमनवरतमारोहसि, विषयतासम्बन्धेनेत्यर्थः। स नलः पुनः श्वासानधिकं वर्षतीति यत् तत् तव ध्यानात् त्वन्मयतां प्राप्येत्यन्वयः। अत्रोदाहरणेऽन्येन सोपानारोहणमन्यत्र श्वासाधिक्यमित्यसङ्गत्या नलस्य दमयन्तीरूपताप्राप्त्युत्प्रेक्षायां दमयन्तीकर्तृकसोपानारोहणेन नलश्वासवर्षणस्य निमित्तत्वाङ्गीकारादिति भवति। तेन निमित्तांशेऽलङ्कृततेति भावः।

(चित्र०)

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत॥

इत्यत्र विरोधाभासः। अत्र हि विरुद्धधर्मगतस्याश्रयभेदकत्वत्यागोत्प्रेक्षायां विरुद्धतयावभासमानधर्माणां नले सहवासो निमित्तम्।

(भारती)

इस उदाहरण में दूसरे के सीढ़ी चढ़ने पर दूसरे का श्वासाधिक्य रूप असंगति है। नल का दमयन्ती की ताद्रूप्यता की प्राप्तिरूप उत्प्रेक्षा में दमयन्ती कर्तृक सोपान आरोहण से नल के श्वास की वृष्टि रूप निमित्तत्व की स्वीकृति है। इसी से निमित्तांश में अलङ्कृतता है।

'विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावों ने भी उस नल के भय से भेदभाव को छोड़ दिया क्या? जो नल शत्रुओं को जीतने वाले होकर भी मित्रजित् अर्थात् अपने मित्रों को जीतने वाले; विरोध परिहार के पक्ष में—अपने प्रताप से सूर्य को जीतने वाले थे तथा चारदृक् अर्थात् गुप्तचरों के द्वारा कार्यकलाप को देखने वाले होकर भी विचार दृक् अर्थात् गुप्तचरों द्वारा नहीं देखने वाले, विरोध परिहार पक्ष में-विचार से देखने वाले अर्थात् विचारपूर्वक कार्य करने वाले थे। तात्पर्य यह कि जो नल मित्रजित् थे, उनका अमित्रजित् होना तथा जो चारदृक्

थे, उनका विचारदृक् होना अर्थ से विरोध की प्रतीति होती है अतः उसका परिहार 'जो नल प्रभाव से सूर्य को जीतने वाले थे, वे शत्रुओं को भी जीतने वाले थे और जो चारदृक् अर्थात् दूतों के द्वारा कार्य देखने वाले थे, वे विचारदृक् अर्थात् विचारपूर्वक कार्यों को देखने वाले थे—इस प्रकार अर्थ की संगति बैठती है।'

इस उदाहरण में विरुद्ध धर्म समवेत स्वाश्रय भेदकत्व के त्याग की उत्प्रेक्षा में विरुद्ध रूप से प्रतीत होने वाले धर्मों का नल में सहवासात्मक विरोधाभास की निमित्तांश में उपस्थिति है।

(सुधा)

विरोधाभासालङ्कारेणोत्प्रेक्षानिमित्तेऽलङ्कृततामुदाहरति—प्रतीपभूपरिति । ततो नलाद् भिया विरुद्धाः परस्पराधिकरणावृत्तयो ये धर्मा वृत्तिमन्तस्तैरपि भेत्तृता परस्पराश्रयव्यापकता उज्झिता त्यक्ता, कैरिव, प्रतीपा विरुद्धा ये राजानस्तैरिव, यद् यस्मादोजसा तेजसा मित्रजिदपि सूर्यजिदपि अमित्रजित्, शत्रुजिन्मित्रजिदन्यश्च। चारः स्पशो दृग् हिताहितगोचरज्ञानजनको यस्य सोऽपि 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इत्युक्तेः। विचारः सत्तर्को दृक् निर्णयप्रयोजको यस्य सोऽवर्तत आसीत्, चारदृगन्य इति वा। अत्रोदाहरणे विरुद्धधर्मसमवेतस्वाश्रयभेदकत्वत्यागोत्प्रेक्षणे विरुद्धतयावभासमानधर्माणां नले सहवासात्मकविरोधाभासस्य निमित्तांशे सत्त्वादिति भावः।

(चित्र०)

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः॥

इत्यत्रार्थान्तरन्यासः। यद्यप्यत्र दमयन्तीगतस्य चापलस्य नलदूतहंसपक्षवेगो हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते, तथापि तत्रोत्प्रेक्षायामध्ययनफलमात्रं न निमित्तं किं त्वन्यवेगात्कथमन्यत्र चापलमिति शङ्कावारणाय निबद्धेन 'तदुदितः स हि यो यदनन्तरः' इत्यर्थान्तरन्यासेनोपस्कृतम्।

(भारती)

कृशोदरी उस दमयन्ती ने प्रियदूत हंस के पंखों के वेग से नारियों की मर्यादा की विरोधिनी अधीरता को धारण किया, सीखा अर्थात् प्रिय नल के दूत हंस के उड़कर चले जाने पर अधीर हो गयीं। क्योंकि जिसके बाद जो होता है; वह उसी से उत्पन्न समझा जाता है। हंस का उड़ना स्थिरता विरुद्ध चंचल अर्थात् अधैर्य युक्त था। अतएव उसके जाने के बाद दमयन्ती को जो अधीरता हो गयी है, वह मानो उसी हंसगमन की शिक्षा से ही उत्पन्न हुई है।

इस उदाहरण में दमयन्तीगत चपलता का राजा नल के दूत हंस के पंखों के हेतुत्व से उत्प्रेक्षा में चपलता की निमित्तता नहीं है किन्तु, दूसरे के वेग से दूसरी जगह चपलता कैसे होगी इस शंका के निवारणार्थ इस न्याय का प्रमाण देते हैं—

यस्माद् यो यदनन्तरः स तदुदितस्तस्मादेवोपपद्यते,
यदनन्तरमेव यद् दृश्यते तत्तस्य कारणम्—गौतम।

अर्थात् यहाँ पूर्वोक्त रूप से उपनिबद्ध अर्थान्तरन्यास से उसके जिस अंश में उपस्कृतत्व है, वहाँ अलंकृतत्व है।

(सुधा)

अर्थान्तरन्यासेनोत्प्रेक्षायां निमित्तांशेऽलङ्कृतत्वमुदाहरति–ध्रुवमिति। इयं द्व्यणुकोदरी अतिकृशोदरी भैमी दयितस्य दूतो यः पतङ्गमः पक्षी, तस्य यो वेगस्तस्मात् स्थितेः विरोधकरीम् अधीरतां ध्रुवमधीतवती स्वीचकारेत्यर्थः। अध्ययने न्यायं प्रमाणयति–हि यस्माद् यो यदनन्तरः स तदुदितस्तस्मादेवोत्पद्यते, 'यदनन्तरमेव यद् दृश्यते तत्तस्य कारणम्' इति गौतमोक्तेः । अत्रोदाहरणे दमयन्तीगतचापलस्य नलदूतहंसपक्षवेगस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे चापलस्य न निमित्तत्वम् । किन्त्वन्यवेगादन्यत्र कथं चापलं भवतीत्याशङ्कावारणार्थमुपनिबद्धेनार्थान्तरन्यासेन तस्योपस्कृतत्वात् यस्य तत्रांशेऽलङ्कृतत्वमिति भावः।

(चित्र०)

एवम्—

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तेयमर्धतनूसमस्याम् ।
इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याम् ।।

इत्यत्र निमित्तांशे रूपकमित्याद्यूहनीयम् । तस्मादुभयथापि तत्र श्लिष्टत्वमात्रकीर्तनं न्यूनमितरेषामप्युपलक्षणं द्रष्टव्यम् ।

(भारती)

इसी प्रकार सौभाग्यवती या सुन्दरी वह दमयन्ती पार्वती के समान किसी समय विवाह होने पर पति के साथ आधे शरीर को सङ्घटित करेगी, मानो इसीलिए ब्रह्मा ने इस दमयन्ती के शरीर के बीच में रोमावली रूप नील एवं चमकदार सूत्र के चिह्न को रख दिया है। जैसे कोई शिल्पी काष्ठ आदि को बीच में काले सूत्र से चिह्नित कर विभाग कर देता है, उसी प्रकार ब्रह्मा ने दमयन्ती के शरीर के बीच में रोमावली रूप काले सूत का चिह्न कर दिया है कि विवाह होने पर यह दमयन्ती भी पार्वती के समान पति की अर्द्धाङ्गिनी बनेगी।

यहाँ रोमावली में मेचक सूत्रत्व के आरोप से रूपक है। इससे उपस्कृत उस दमयन्ती से गौरीत्व की उत्प्रेक्षा में निमित्तभूत रूप के उस अंश में उपस्कृतत्व है। इसी प्रकार दूसरी जगहों में भी उत्प्रेक्षा के निमित्त अंश में श्लिष्टत्व है। इसलिए दोनों पक्ष में भी श्लिष्टता कहने से न्यूनता दोष जानना चाहिए। उपलक्षण में कोई दोष नहीं है।

यद्यपि रुय्यक ने अलङ्कार सर्वस्व में स्वरूपोत्प्रेक्षा में अपह्नुति का उदाहरण दिया है, फिर भी हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में भी उपलक्षणपरता से व्याख्या करनी चाहिए।

(सुधा)

रूपकालङ्कारेणोत्प्रेक्षानिमित्तांशेऽलङ्कृततामुदाहरति—एवमिति। गौरीवेति । गौरीव पार्वतीव इयमपि सुभगा दमयन्ती कदाचित्काले पत्या सह तन्वा अर्द्धमर्द्धतनूः 'अर्द्धं नपुंसकम्' इति समासः, तस्याः समस्याम् संक्षेपं कर्त्ता करिष्यति । यथा गौर्या शरीरार्द्धं भगवद्देहे प्रवेशितं तथेयमपि करिष्यतीत्यर्थः। अस्मात् कारणादिव विधाता ब्रह्मा अस्या मध्ये रोम्णामावली, तदेव मेचकसूत्रं कृष्णतन्तुं विदधे स्थापयामास। 'मेचकः शिखिकण्ठाभः' इति दुर्गः। अत्र रोमावल्यां मेचकसूत्रत्वारोपो रूपकम्। तेनोपस्कृतं तद्दमयन्त्या गौरीत्वोत्प्रेक्षणे निमित्तमिति रूपकस्य तदंशे उपस्कृतत्वमिति भावः। एव-

मन्येषामपि उत्प्रेक्षानिमित्तांशे श्लिष्टत्वमित्याह—इत्यादीति । दूषणमुपसंहरति—तस्मादिति । उभयथापि पक्षद्वयेऽपि श्लिष्टत्वमात्रकीर्तने न्यूनतादोष इति बोध्यम् । इतरोपलक्षणत्वे तु न दोष इत्याह—इतरेषामिति ।

(चित्र०)

यत्तु सापह्नवत्वे—

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु ।
यत्रोल्लसत्फेनलवच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा ॥

इति स्वरूपोत्प्रेक्षायामुदाहृतं तदपि हेतुफलोत्प्रेक्षयोरपि सापह्नवत्वे उपलक्षणं बोद्धव्यम् ।

तत्र सापह्नवहेतूत्प्रेक्षायाम्—

मुग्धः स मोहात्सुभगात्तदेहाद्ददद्भ्रुवद्भ्रूरचनाय चापम् ।
भ्रूभङ्गजेयस्तव मन्मनोभूरनेन रूपेण यदा तदासीत् ॥

(भारती)

आचार्य रुय्यक द्वारा उदाहृत उदाहरण है—नगरविलासिनियों का समूह शिप्रा नामक नदी में स्नानार्थ प्रवेश करते ही मछलियों के झुंडों को देखते ही घबड़ाहट के मारे डर कर, किनारे लौट आयी। उसकी इस भयाक्रान्त स्थिति पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि शिप्रा की तीव्र धारा से समुत्थित फेन क्या है? मानो इस फेन के बहाने उक्त विलासिनियों की भयविह्वलता पर शिप्रा मुक्त अट्टहास करती हुई शोभ रही है।

इस उदाहरण में फेन पंक्तियों में अट्टहास की उत्प्रेक्षा में अपह्नुति की निमित्तता है। यद्यपि यह स्वरूपोत्प्रेक्षा में ही उदाहृत है फिर भी हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में भी अपह्नुति उपलक्षण से जाननी चाहिए। उस उपलक्षणत्व की हेतूत्प्रेक्षा में अपह्नुति का उदाहरण देते हैं—

तुम्हारी दोनों भृकुटियों की रचना करने के लिए कामदेव ब्रह्मा को अपना चाप देते हुए मोह अर्थात् मूर्खता से मुग्ध अर्थात् मूढ हो गया। तुम्हारे सौन्दर्य से मुग्ध नहीं हुआ इस कारण वह कामदेव सर्वदा तुम्हारे भ्रूभङ्ग मात्र से इस रूप के द्वारा जीतने योग्य हो गया। तात्पर्य यह कि अपने चाप के साथ भी जब काम ने तुम्हें नहीं जीता तो भला अपने धनुष को तुम्हारी दोनों भौहों को बनाने के लिए देकर हथियारहीन होने से कैसे जीत सकता है अर्थात् इस स्थिति में तो वह कदापि जीत नहीं सकता है। वह एक क्षुद्रतम शत्रु की तरह मात्र भौंहें टेढ़ी करने पर ही जीतने योग्य हो गया है। अन्य भी कोई मूर्ख इसी प्रकार अपने शत्रु को अपना हथियार देकर फिर शस्त्रहीन होकर उसे कदापि जीत नहीं सकता है। अर्थात् तुम्हारी दोनों भौहें काम के धनुष के समान जगन्मोहक हैं।

(सुधा)

यत्तु, अलङ्कारसर्वस्वकृता स्वरूपोत्प्रेक्षायां सापह्नवत्वमुदाहृतम्, तदपि हेतुफलोत्प्रेक्षयोरपि उपलक्षणपरतया व्याख्येयमित्याह—यत्त्विति। तदुदाहृतमुदाहरति—गतास्विति। पुरे भवाः पौराः, तासु विलासिनीषु तिमीनां मत्स्यानां सङ्घट्टनेन सभयं यथा स्यात्तथा तीरं गतासु यत्र नगर्यां शिप्रा नदी उल्लसन्तीनां फेनततीनां छलेन मुक्तः अट्टहासो यथा तथाभूः

तेव भातीत्यन्वयः। अत्रोदाहरणे फेनततिषु अट्टहासोत्प्रेक्षणेऽपह्नुतेर्निमित्तत्वमस्तीति भावः। तत्रोपलक्षणत्वे हेतूत्प्रेक्षायां सापह्नवत्वमुदाहरति—मुग्धः स मोहादिति। स मनोभूः कामः, भवतो भ्रुवो रचनाय चापं ददत् मोहादज्ञानात् मुग्धो मूढो देहाद्यङ्गान्मुग्धो रमणीयो नास्ति। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। कामस्य मुग्धत्वं तावदविवादम्। तच्च त्वद्भ्रूनिर्माणाय स्वकार्मुकदानान्न तु सौन्दर्यादिति भावः। यस्मात् कामोऽनेन तव रूपेण लावण्यविशेषेण यदा तदा यत्र कुत्रापि काले सर्वदैव न त्ववस्थाविशेषेणेत्यर्थः। भ्रूभङ्गो भ्रूव्यापारस्तन्मात्रेण जेयो जेतुं शक्योऽभूदित्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र मदनगते मुग्धशब्दवाच्यत्वे वस्तुतोऽहेतोः सौन्दर्यस्य हेतुत्वमपह्नुत्य नलभ्रूरचनाय स्वचापदानप्रयुक्तस्य मौढ्यस्य हेतुत्वमुत्प्रेक्षितम्।

सापह्नवफलोत्प्रेक्षा यथा—

रवितप्तो गजः पद्मांस्तद्गृह्यान् बाधितुं ध्रुवम्।
सरो विशति न स्नातुं गजस्नानं हि निष्फलम्॥

(भारती)

इस उदाहरण में मदनगत मुग्ध शब्द द्वारा जो वाच्यता है, वह परमार्थतः हेतुरूप सौन्दर्य की हेतुता अपह्नुति से हेतु की भी भ्रू-रचना के लिए अपने चापदान प्रयुक्त मूढ़ता का हेतुत्व से सापह्नवा हेतूत्प्रेक्षा हुई। फलोत्प्रेक्षा में सापह्नवत्व का उदाहरण देते हैं—

'सूर्य से संतप्त हाथी सरोवर में उसके प्रियबन्धु कमल को बाधित करने के लिए ही प्रवेश करता है, न कि स्नान करने के लिए। यही कारण है कि हाथी का स्नान निष्फल है।'

(सुधा)

अत्रोदाहरणे मदनगतं यन्मुग्धशब्देन वाच्यत्वं तत्र परमार्थतो हेतुरूपस्य सौन्दर्यस्य हेतुत्वमपह्नुत्या हेतोरपि भ्रूरचनार्थं स्वचापदानप्रयुक्तमौढ्यस्य हेतुत्वेन सापह्नवा हेतूत्प्रेक्षा। फलोत्प्रेक्षायां सापह्नवत्वमुदाहरति—रवितप्त इति। रविणा तप्तो गजः तद्गृह्यान् गृहे भवान् बन्धून् पद्मान् बाधितुं प्रायः सरः प्रविशति न तु स्नातुम्, हि यस्मात् गजस्य स्नानं निष्फलमित्यन्वयः।

(चित्र०)

अत्र गजस्य सरःप्रवेशं प्रति वस्तुतः फलस्य स्नानस्य फलत्वमपह्नुत्य पद्मबाधनमत्र फलत्वेनोत्प्रेक्षितम्।

न च स्वरूपोत्प्रेक्षाया वास्तवविषयस्वरूपापह्नव एव विच्छित्तिविशेषो न तु फलोत्प्रेक्षयोः प्रसिद्धहेतुफलापह्नव इत्यस्ति। प्रत्युतोदाहृतयोर्हेतुफलोत्प्रेक्षयोः सिद्धहेतुफलापह्नवोऽपि सहेतुकः न तूदाहृतविषयः स्वरूपापह्नवोत्प्रेक्षे इत्युपलक्षणतैव युक्ता।

अन्यदत्र विचारणीयं समासोक्तिप्रकरणे विचारयिष्यते।

यत्ते 'कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके' इत्यादावुपक्रान्ता उपमा औचित्या-

दुत्प्रेक्षायां पर्यवस्यतीत्युक्तं तत्र भालादिस्थानविशेषसंबन्धस्य कस्तूरीतिलकादितादात्म्यमात्रे औचित्यं चेत् रूपके पर्यवसानं स्यादिति तस्य तादात्म्यसंभावनायामौचित्यमुपगम्योत्प्रेक्षायां पयवसानं वाच्यम् ।

(भारती)

यहाँ गज का सरोवर में प्रवेश के प्रति वस्तुतः फलरूप स्नान का फलत्व छिपा कर कमलबाधनरूप फलत्व से उत्प्रेक्षित है ।

यहाँ शंका करते हैं कि पारमार्थिक विषय के स्वरूप की जो अपह्नुति स्वरूपोत्प्रेक्षा में है, वहाँ ही शोभा विशेष के उपलम्भन से हेतुफलोत्प्रेक्षा की प्रसिद्ध हेतु फल की अपह्नुति में विच्छित्तिविशेष के अभाव से चमत्कार नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि यहाँ हेतु और फल का उपलक्षण है । इस शंका का समाधान करते हैं कि हेतुफलोत्प्रेक्षण में भी प्रसिद्ध हेतु फल की अपह्नुति में हेतु रहने के कारण चमत्कार दिखाई पड़ता है; और विषयस्वरूप की अपह्नुति में तो हेतु के अभाव से उसकी अपेक्षा उन दोनों के ही चमत्कारातिशय से उपलक्षणपरता स्पष्ट है ही । यही ग्रन्थकार का आशय है । अतः हेतुफलोत्प्रेक्षा में भी अपह्नुति है । इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ विचारणीय है—उसे समासोक्ति प्रकरण में कहेंगे ।

'यत्तु' से उनके मत में और दोष दिखाते हैं कि आचार्य रुय्यक ने अपने अलङ्कार सर्वस्व में उपक्रान्तोपमा का उदाहरण-'कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके' इत्यादि दिया है । उस उपमा की उत्प्रेक्षा में पर्यवसान से और उस उपक्रम से ही पर्यवसान होता है । फिर भी रूपकादि की उपलक्षणपरता से व्याख्या करनी चाहिए । ललाट आदि स्थान विशेष के सम्बन्ध का कस्तूरी तिलक आदि तादात्म्य मात्र में औचित्य से रूपक में पर्यवसान की योग्यता से ललाटादि स्थान विशेष के सम्बन्ध का कस्तूरी तिलकादि मात्र की उचित संभावना की उत्प्रेक्षा में पर्यवसान के द्वारा उपक्रान्त रूपक से भी उत्प्रेक्षा है ।

(सुधा)

अत्रोदाहरणे गजस्य सरःप्रवेशं प्रति परमार्थतोऽफलस्य स्नानस्य फलत्वमपह्नुत्य पद्मबाधनस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवा फलोत्प्रेक्षा । आशंकते—न चेति । पारमार्थिकविषयस्य यत्स्वरूपस्यापह्नवः स्वरूपोत्प्रेक्षायामस्ति, तत्रैव शोभाविशेषोपलम्भात् हेतुफलोत्प्रेक्षयोः प्रसिद्धहेतुफलापह्नवे विच्छित्तिविशेषाभावात् न चमत्कार इति न तयोरुपलक्षणत्वमिति शंकाभिप्रायः । समाधानन्तु हेतुफलोत्प्रेक्षणेऽपि प्रसिद्धस्य हेतोः फलस्य चापह्नवे हेतुसत्त्वेन चमत्कारोदयः, विषयस्वरूपापह्नवे तु हेतोरभावेन तदपेक्षया तयोरेव चमत्कारातिशयेनोपलक्षणपरत्वमेवेत्येव सम्यगिति समाधानग्रन्थाभिप्रायः । उपसंहरति—तस्मादिति । हेतुफलोत्प्रेक्षे अपि सापह्नवे इति तद्भावः । यदन्यद् विचारणीयं तत्समासोक्तिप्रकरणे विचारणीयमित्याह—अन्यदिति । अन्यदपि तन्मते दूषणमाक्षिपति—यत्त्विति । अलंकारसर्वस्वकृतोपक्रान्तोपमा यथा 'कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके' इत्याद्युदाहृता । तस्या उपमाया उत्प्रेक्षायां पर्यवसानेन तदुपक्रमाच्च···पर्यवस्यति इत्युक्तम् । तदपि रूपकादेरुपलक्षणपरतया व्याख्यातव्यमित्याह—तत्रेति । भालादिस्थानविशेषसम्बन्धस्य कस्तूरीतिलकादितादात्म्यमात्रे औचित्यसत्त्वेन रूपके पर्यवसानस्य योग्यतया भालादिस्थानविशेषसंबन्धस्य कस्तूरीतिलकादिमात्रतादात्म्यसंभावनायामौचित्याभ्युपगमे उत्प्रेक्षायां पर्यवसानेनोपक्रान्तरूपकाया अप्युत्प्रेक्षायास्तत्र सत्त्वादिति भावः ।

(चित्र०)

तथा च—

रक्षन्तु त्वामसितजलजैरञ्जलिः पादमूले
मीना नाभीसरसि हृदये कौस्तुभाख्या मुरारेः ।
हाराः कण्ठे हरिमणिमया वक्त्रपद्मे द्विरेफाः
पिच्छाचूडाश्चिकुरनिकरे घोषयोषित्कटाक्षाः ॥

इत्यादौ रूपकप्रतीतिस्थलेऽप्युत्प्रेक्षोपगन्तव्या ।

(भारती)

और भी—आभीर योषित् अर्थात् गोपाङ्गनाओं की वे कटाक्ष तुम्हारी रक्षा करें, जो पाद-मूल में कृष्ण जल की अञ्जलि रूप में हैं, नाभि रूपी सरोवर में मछली रूप से हैं, श्री कृष्ण के हृदय में कामवाण के रूप में हैं, कण्ठ में इन्द्रनील मणि के हाररूप में हैं, मुख कमल में भ्रमर रूप से हैं तथा केशसमूह में मयूरपुच्छ के समान हैं ।'

इस उदाहरण में कमलादि तादात्म्य का अञ्जलित्वादि से उत्प्रेक्षण में उपक्रान्त रूपक की उत्प्रेक्षा में पर्यवसान से उपक्रान्त रूप उत्प्रेक्षा है ।

उपमा की प्रतीति के स्थल में जैसे उत्प्रेक्षा है उसी प्रकार रूपकादि प्रतीति के स्थल में भी उसकी संभावना से तावन्मात्र कथन में न्यूनता दोष को स्पष्ट करने के लिए पहले ही उपमा की प्रतीति में उत्प्रेक्षा रहने पर दोनों से उदाहरण देकर रूपक की प्रतीति में भी उत्प्रेक्षा की संभावना दोनों से प्रकट करने के अभिप्राय से लिखते हैं ।

(सुधा)

उपक्रान्तरूपकोत्प्रेक्षामुदाहरति—तथा चेति । रक्षन्त्विति । आभीरयोषितां कटाक्षाः त्वां रक्षन्तु इत्यर्थः । तान् वर्णयति—पादमूलेऽसितजलजैरञ्जलिरूपाः, नाभीसरसि मीनरूपाः, कृष्णस्य हृदि कामबाणरूपाः, कण्ठे इन्द्रनीलमणिमयहाररूपाः, मुखकमले भ्रमररूपाः, केशसमूहे पिच्छाभरणरूपा इत्यन्वयः । अत्रोदाहरणे कटाक्षाणां कमलादि-तादात्म्यमभ्युपगम्याञ्जलित्वादिनोत्प्रेक्षणेनोपक्रान्तरूपकस्योत्प्रेक्षायां पर्यवसानेनोपक्रान्त-रूपोत्प्रेक्षेति भावः ।

(चित्र०)

तथा—

'पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥'
'लोकाश्रयो मण्डपमादिसृष्टेर्ब्रह्माण्डमाभात्यनुकायमस्य ।'
'अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥'

इत्यादावुपमाप्रतीतिस्थले यथोत्प्रेक्षायां पर्यवसानम् ।

(भारती)

वैसे ही—'सुन्दर उस पक्षी अर्थात् हंस से रहित तड़ाग को छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी, पक्षान्तर में शोभा, के चलने से चञ्चल चरण कमल के नूपुरों के समान राजहंस समूह तीर पर कूजने लगा। तात्पर्य यह कि लोक में भी प्रिय से रहित स्थान को छोड़कर जाती हुई नायिका के चरण के नूपुर शब्द करते हैं। जाती हुई से तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी ने तत्क्षण उस स्थान को छोड़ दिया।'

'प्रथम सृष्टि और समस्त ब्रह्माण्ड ही लोकों के आश्रयभूत मण्डप के चारो ओर प्रत्येक काष्ठ अपनी कान्ति से शोभित थे।'

एक दिन कृष्णाजिन तथा पलाशदण्डधारी जटायुक्त कोई अपरिचित ब्रह्मचारी पार्वती के आश्रम में उपस्थित हुआ। उसकी आवाज गंभीर थी। वह ब्रह्मतेज से पूर्ण था। मालूम होता था कि ब्रह्मचर्याश्रम ही मूर्त्तिमान होकर तपोवन में मानो आविर्भूत हुआ है।'

यहाँ उपमा की प्रतीति की उत्प्रेक्षा में पर्यवसान है। यह पर्यवसान रूपक में भी संभव है। इसे दो उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं।

(सुधा)

उपमाप्रतीतिस्थले यथोत्प्रेक्षा तथा रूपकादिप्रतीतिस्थलेऽपि तत्सम्भवेन तावन्मात्र-कथने न्यूनतादोषं स्पष्टयितुं पूर्वमुपमाप्रतीतावुत्प्रेक्षायाः सत्त्वं द्वाभ्यामुदाहरिष्यन् रूपक-प्रतीतावपि उत्प्रेक्षासम्भवं द्वाभ्यां प्रकटीकर्त्तुमुपक्रमते—तथेत्यादिना। पतत्रिणेति। रुचिरेण सुन्दरेण पतत्रिणा हंसेन वर्जितं रहितं तत् उद्यानसम्बन्धि पल्वलं प्रविहाय सर्वथा त्यक्त्वा प्रयान्त्या गच्छन्त्याः श्रियः शोभायाश्चलयोः पदाम्भोरुहयोः पद्मसदृशपादयोः नूपुराणां सदृशी कलहंसानां मण्डली कूले तटे चुकूजेत्यन्वयः। अत्रोदाहरणे कलहंसमण्डलयकाः शब्दे नूपुरशब्दत्वोत्प्रेक्षणे कलहंसानां नूपुरोपमासादृश्यादुपमाप्रतीतेः पर्यवसानसत्त्वादुपक्रान्तो-पमोत्प्रेक्षा बोध्या।

लोकाश्रय इति। अस्य श्लोकस्योत्तरार्द्धन्तु—'स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिभानि घुण-व्रणद्वारनिभानि भान्ति।' पुराणसृष्टिः ब्रह्माण्डमेव लोकानामाश्रयभूतं मण्डपमस्यानुदिशं प्रतिकाष्ठं प्रतिदारु च, स्वकान्तिरेव रेणूत्करः, तस्य वान्तिरुद्गिरणं निर्गमनञ्च तद्वन्ति भानि नक्षत्राणि घुणव्रणद्वारनिभानि कीटक्षतच्छिद्रमुखसदृशान्याभान्तीत्यन्वयः। मूले खर्ढश्लोकस्य पाठान्तरमेवेति ज्ञेयम्।

(चित्र०)

एवम्—

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम्।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम्॥
स्वधाकृतं यत्तनयैः पितृभ्यः श्रद्धापवित्रं तिलमिश्रमम्भः।
चन्द्रं पितृस्थानतयोपतस्थे तदङ्गरोचिःखचिता सुधैव॥

इत्यादिरूपकप्रतीतिस्थलेऽपि तस्यां पर्यवसानमुपगन्तव्यम्। तादात्म्य-संभावनोपयुक्तविशेषणनिबन्धरूपन्यायसाम्यात्।

(भारती)

जैसे—'मानिनी, अतएव रुष्ट होकर अङ्क अर्थात् क्रोड़ को छोड़कर भूलोक पर आई हुई दिव् अर्थात् स्वर्गरूपिणी जिस कुण्डिनपुरी नगरी को सघन रत्नों से बने हुए किवाड रूप दो पक्षों को धारण करता हुआ सुवर्ण से बने चहारदीवारी रूप सुमेरु पर्वत आलिङ्गन कर प्रसन्न करता हुआ निवास कर रहा है। तात्पर्य यह कि स्वर्गपुरी पहले सुमेरु पर्वत के अङ्क में रहती थी, किन्तु किसी कारणवश मानिनी होने से रुष्ट होकर वह उसके अङ्क को छोड़कर यहाँ पृथ्वी पर आ गयी है। वही कुण्डिनपुरी है। अत एव अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने के लिए सुवर्णमय चहार-दिवारी रूप होकर बहुरत्न रचित कपाट रूप पङ्खों को धारण करता हुआ सुमेरु पर्वत भी पृथ्वी पर आकर अपनी प्रेयसी कुण्डिन नगरी रूपी स्वर्ग का आलिङ्गन कर उसे प्रसन्न करता हुआ यहाँ निवास कर रहा है। कुण्डिन पुरी के सुवर्णमय प्राकार सुमेरु तुल्य हैं। उसके विशाल रत्नमय फाटक उस सुमेरु के पङ्ख तुल्य तथा कुण्डिन नगरी स्वर्ग तुल्य है।'

'जिस प्रकार लोक में पुत्रों द्वारा पितरों को स्वधाकारेण श्रद्धापूर्वक पवित्र तिलतोयाञ्जलि दी जाती है, उसी प्रकार पितर स्थानीय चन्द्रमा को अपनी अङ्गकान्ति से संवलित सुधा ही उसे प्राप्त हुई।'

प्रथम उदाहरण में पर्वत के प्रकारतादात्म्य द्वारा स्वर्गपुरी के तादात्म्य से रूपक की प्रतीति की अनुनयार्थ उसके निवास की उत्प्रेक्षा में निमित्तता है। दूसरे उदाहरण में सुधा तादात्म्य से सिद्धा रूपक की प्रतीति में तिलों का उसकी अङ्गकान्ति की उत्प्रेक्षा में पर्यवसान है। दोनों जगह रूपक प्रतीति की उत्प्रेक्षा के पर्यवसान में हेतु कहते हैं। जैसे उपमा प्रतीति के पर्यवसान में विशेषण निबन्धन का सामर्थ्य है, उसी प्रकार यहाँ भी तादात्म्य संभावना के उपयोगी विशेषण के निबन्धन का सामर्थ्य दोनों जगहों में समान रूप से उक्त सामर्थ्य की प्रतीति है।

(सुधा)

अत्रोपमाप्रतीतेरुत्प्रेक्षायां पर्यवसानम्। एतत्पर्यवसानं रूपकस्यापि तत्र सम्भवतीति द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां प्रतिपादयति—वरण इति। कनकस्य वरणः प्राकार एवामराद्रिः मानिनीं कोपनाम्, अत एवाङ्कं त्यक्त्वा आगतां यां नगरीमेव दिवं परिरभ्यालिङ्ग्या-नुनयन् प्रसादयन्नुवास। कीदृशो मेरुः निविडरत्ने कपाटे एव पत्त्री यस्येत्यन्वयः। अत्रोदाहरणे मेरोः प्राकारतादात्म्येन नगर्या दिवः तादात्म्येनावसिद्धाया रूपकप्रतीते-रनुनयार्थं तन्निवासोत्प्रेक्षणे निमित्तत्वमस्तीति भावः। द्वितीयमुदाहरणमाह—स्वधाकृ-तमिति। लोके पुत्रैः पितृभ्यः स्वधाकृतं स्वधाकारेण दत्तं श्रद्धया पवित्रं तिलैर्मिश्रितं यन्निवापोदकं तदेवाङ्गकान्तिसंवलिता सुधा सती पितृस्थानतया चन्द्रमुपतस्थे प्राप। अत्राम्भसि सुधातादात्म्येन सिद्धा रूपकप्रतीतिस्तिलानां तदङ्गकान्त्युत्प्रेक्षणे पर्यवस्य-तीति। उभयत्र रूपकप्रतीतेरुत्प्रेक्षायां पर्यवसाने हेतुमाह—तादात्म्येति। यथोपमाप्रती-तेरुत्प्रेक्षापर्यवसाने विशेषणनिबन्धनसामर्थ्यं तथात्रापि तादात्म्यसंभावनोपयोगिविशे-षणनिबन्धनसत्त्वेनोभयत्र तुल्यत्वादिति भावः।

(चित्र०)

एवम्—

पूर्णेन्दोः परिवेषकान्तिवपुषः स्फारप्रभाभासुरं
नेदं मण्डलमभ्युपैति गगनाभोगाज्जिगीषोर्जगत्।

कामस्योच्छ्रितमातपत्रमधुना पाण्डुप्रदोषश्रिया
मानोन्नद्धजनाभिमानदलनोद्योगैकहेवाकिनः ॥

इत्यपह्नुत्युदाहरणे इत्यपि द्रष्टव्यम्। अधिकं निदर्शनालङ्कारप्रकरणे चिन्तयिष्यते।

ननु गम्योत्प्रेक्षायाम् अलङ्कारतया परिगणनमयुक्तम्, तस्या अलङ्कारध्वनित्वात्; उच्यते विषयविषयिनिमित्तेषु केवलमिवादिवाचकाप्रयोगमात्रेण यत्रोत्प्रेक्षावगम्यते सात्यन्तं स्फुटत्वाद्वाच्यायमानत्वादलङ्कारतामेवासादयतीति। यथोदाहृतम्। यत्रोत्प्रेक्षणीयस्य विषयिणोऽप्यनुपादानं निबद्धेन वस्तुनालङ्कारेण वा गम्योत्प्रेक्षा गूढा तत्रैवोत्प्रेक्षाध्वनिः।

(भारती)

'परिवेश (चन्द्रमा के चारों ओर बन जाने वाली एक परिधि) की कान्ति रूपी शरीर वाले पूर्ण चन्द्र की फैली हुई प्रभा से प्रदीप्त यह आकाशमण्डल नहीं है। बल्कि दुनियां को जीतने की इच्छा रखने वाले उस कामदेव की प्रदोष कान्ति से पीतवर्ण वसन्त प्रदत्त छाता है; जो मानी व्यक्ति के अभिमान दलन के उद्योग के चिह्न की तरह एक लीला मात्र है।'

यह अपह्नुति के उदाहरण में भी देखना चाहिए। इससे अधिक अर्थात् अन्य अलङ्कार की प्रतीति भी उत्प्रेक्षा में निमित्त है—यह निदर्शनालङ्कार के प्रकरण में कहेंगे।

यहाँ शंका करते हैं कि उत्प्रेक्षाध्वनि की संभावना तो यहाँ है भी नहीं क्योंकि वाच्या और गम्या इत्यादि प्रकार के भेदों को देखने से गम्योत्प्रेक्षा में ही ध्वनि की गतार्थता संभव है। जब गम्योत्प्रेक्षा का कथन ही युक्तिसंगत नहीं है तो फिर इसकी ध्वनि से ही गतार्थता है। उसी ध्वनि रूप की आ शंका कर समाधान करते हैं। विषय और विषयी के निमित्तों के उपादान में केवल संभावना वाचक पद प्रयोग के अभाव से गम्योत्प्रेक्षा में वाच्यायमान अलङ्कारता से ही वैसे उदाहरणों में ध्वनि की स्फुटता नहीं है। जहाँ उदाहरण में उत्प्रेक्षणीय का विषयी भी अनुपादान में निबद्ध से अथवा वस्तु अलङ्कार से प्रकाशित गूढ गम्योत्प्रेक्षा है, वहीं ध्वनित्व की स्वीकृति रहने के कारण किसी प्रकार की आशंका नहीं रह जाती है।

(सुधा)

एवमपह्नुतिप्रतीतेरपि उत्प्रेक्षायां पर्यवसानमुदाहरति—एवमिति। परिवेषस्य परिधेः कान्तिः वपुर्यस्य तस्य पूर्णचन्द्रस्य स्फारप्रभाभिः भासुरमिदं मण्डलमाकाशदेहाल्लोपैति। किन्तु जगज्जिगीषोः कामस्य प्रदोषकान्त्या पाण्डु आतपत्रमधुनोपैति। कीदृशस्य कामस्य मानोन्नद्धजनस्य यदभिमानं तस्य यो दलनोद्योगस्तस्यैका हेला लीला तदङ्कवत इत्यन्वयः। अत्रोदाहरणे नेदं मण्डलं किन्त्वातपत्रमित्यपह्नुतिप्रतीतेश्चन्द्रगताङ्कस्याभिमानदलनोद्योगैकहेलाङ्कतयोत्प्रेक्षणे पर्यवसानं जगज्जयस्वरूपफलोत्प्रेक्षणे वेति भावः। अत्र कथनीयमन्यत्रातिदिशति—शेषमिति। निदर्शनाप्रकरणे वक्ष्यते। अलङ्कारान्तरप्रतीतेरपि उत्प्रेक्षायां निमित्तत्वं दर्शयिष्यते इति तदभिप्रायः। न तूत्प्रेक्षाध्वनिर्न सम्भवति, वाच्या, गम्या इति तद्विभागदर्शनेन गम्योत्प्रेक्षया गतार्थत्वात्। यदा गम्योत्प्रेक्षाकथनमयुक्तमिति तद्ध्वनिनैव गतार्थत्वात्, तस्य एव तद्ध्वनिरूपत्वात् इत्या-

शङ्कस्य निराकारोति—उच्यत इति। विषयविषयिनिमित्तानामुपादाने केवलसम्भावनावाचकपदप्रयोगाभावेन गम्योत्प्रेक्षायां वाच्यायमानत्वेनालङ्कारतया एव स्फुटत्वं न ध्वनेरिति तथोदाहृतम्। यत्रोदाहरणे उत्प्रेक्षणीयस्य विषयिणोऽप्यनुपादाने निबद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारेण वा प्रकाश्य गूढा गम्योत्प्रेक्षा, तत्रैव ध्वनित्वाङ्गीकारसत्त्वादिति न काप्याशंकेति।

(चित्र०)

यथा—

वीररुद्रभटान् दृष्ट्वा जयलक्ष्म्यावृतान् रणे।
कर्षन्त्यरिवधूकेशान् कानने कण्टकिद्रुमाः॥

अत्र वस्तुना कचग्रहणरूपेण जयश्रीसमालिङ्गितभटदर्शनोद्दीपितमन्मथा इवेत्युत्प्रेक्षा ध्वन्यते।

वेलामतिक्रम्य पृथुर्मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः॥

अत्रैकदेशविवर्तिरूपके मज्जनभयादिवेत्युत्प्रेक्षावगम्यते। एवमन्यत्राप्युदाहार्यम्।

इति चित्रमीमांसायामुत्प्रेक्षाप्रकरणम्।

जैसे—'युद्ध में वीर रुद्र के योद्धाओं को विजयलक्ष्मी द्वारा स्वीकृत देखकर जंगल में उसके दुश्मनों की पत्नियों के केशों को कटीले वृक्ष भी खींचने लगे।'

यहाँ केश ग्रहण रूप वस्तु से जयश्री द्वारा समालिङ्गित भटदर्शनोद्दीपित-मदन से उद्दीपित मन्मथत्व वृक्षों में उत्प्रेक्षित है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा ध्वनि हुई।

राजा नल की दृष्टि ने उस दमयन्ती के मुखरूपी चन्द्र के दर्शनरूपी अमृत के रसपान या प्रेम से बढ़ी मर्यादा का उल्लंघन कर, पक्षान्तर में पत कर्मसम्बन्धी मर्यादा का उल्लंघन कर, प्रेमरूपी समुद्र के बढ़ने पर ऊँचे दोनों स्तनों का अवलम्बन किया। तात्पर्य यह कि कोई भी व्यक्ति समुद्र के बढ़ने पर उच्च स्थान का आश्रय ग्रहण करता है। नल दमयन्ती का मुख चन्द्र देख अपने दौत्य कर्त्तव्य को भूल गये और उसके विशाल स्तनों को सानुराग देखने लगे।'

इस उदाहरण में मुखरूपी इन्दु के एक देशवर्त्ती रूपक द्वारा डूबने के भय की तरह हेतूत्प्रेक्षा की ध्वनि है—ऐसा दीक्षित जी मानते हैं। लेकिन दूसरे लोग मुख में चन्द्रत्व के आरोप को अनुराग में समुद्र के आरोप की निमित्तता से परम्परित रूपक से हेतूत्प्रेक्षा ध्वनि मानते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी उदाहरण जानना चाहिए।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दी व्याख्यायामुत्प्रेक्षालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

तत्र वस्तुना निबद्धेनोत्प्रेक्षाध्वनिमुदाहरति—वीररुद्रभटानिति। रणे वीररुद्रभटान् जयलक्ष्म्या स्वीकृतान् दृष्ट्वा वने कण्टकिनो वृक्षा अरिवधूकेशान् कर्षन्तीत्यन्वयः। अत्रो-

दाहणे उत्प्रेक्षाध्वनिं प्रतिपादयति—अत्रेति। कचग्रहणरूपेण वस्तुना जयश्रीसमालिङ्गितभटदर्शनोद्दीपितमदनोद्दीपितमन्मथत्वं वृत्तेषूत्प्रेक्ष्यत इति उत्प्रेक्षाध्वनिः। एवमलङ्कारेणोत्प्रेक्षाध्वनिमुदाहरति-वेलामिति। तस्या भैम्या मुखमेवेन्दुश्चन्द्रः, तस्यालोको दर्शनमुद्द्योतश्च, तत्पीयूषरसेन सुधारसेन पृथुं महतीं वेलां मर्यादामतिक्रम्योल्लङ्घ्य, रागाम्बुनिधौ अनुरागसमुद्रे विवृद्धे सति नलस्य दृष्टिः तुङ्गावुच्चौ कुचावाश्रयति स्म आलम्बितवती। जलवृद्धावुच्चस्थानाश्रयणस्य प्रसिद्धत्वादित्यन्वयः। अत्र मुखेन्दोरित्येकदेशविवर्तिना रूपकेण मज्जनभयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा ध्वन्यत इति दीक्षिताभिप्रायः। मुखे चन्द्रत्वारोपस्यानुरागे समुद्रत्वारोपे निमित्ततया परम्परितरूपकेण हेतूत्प्रेक्षाध्वनिरिति परे वदन्ति। ध्वनिमुपसंहरति—एवमिति। अन्यत्रापीति। अन्यत्र तमुदाहरति —

सहि विरहउण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पियदंसणविहलंखलक्खणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम्॥

(सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम्।
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम्॥)

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन धीरत्वापसरणेन वस्तुना प्रियदर्शनसौभाग्यबलेन धीरतया सोढुं न शक्यत इत्युत्प्रेक्षा ध्वन्यते। इत्यादावन्यत्रेत्यनेन बोधितमिति सर्वं स्वस्थम्।

धरानन्देन रचित साऽथोत्प्रेक्षाप्रबोधिनी।
टीकायां चित्रमीमांसासुधायामप पूर्णताम्॥

इति वाशिष्ठगोत्रीयरामबलस्य सुतेन धरानन्देन रचितायां चित्रमीमांसाटीकायां सुधाभिधानायामुत्प्रेक्षालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ अतिशयोक्तिनिरूपणम्

तस्यास्तावत्—

विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिजीविता ॥

(भारती)

जहाँ विषय (उपमेय) के अनुपादान से (उसके वाचक शब्दशक्ति के ग्रहणाभाव में) विषयी (उपमान मात्र में) चमत्कारकारिता से उपनिबन्धित (प्रतिपादित हो) वहाँ, कवि प्रौढ़ोक्ति से अर्थात् विषय के स्ववाचक शब्दोल्लेख के विना भी उपमानवाचक पद का ही उपनिबन्धन हो, तो अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ।

विमर्श—अतिशयोक्ति सादृश्य गर्भ अभेद प्रधान अध्यवसानमूलक अर्थालङ्कार है । कोषगत इसका अर्थ है अतिशय अर्थात् बढ़ाचढ़ाकर उक्ति अर्थात् कथन । तात्पर्य यह कि इस अलङ्कार में कथ्य को इतना अधिक बढ़ाया जाता है कि वह लोकसीमा पार कर जाय । यही कारण है कि इस अलङ्कार में उपमान के द्वारा ही उपमेय का ज्ञान होता है । तथ्य तो यह है कि उपमान इस में उपमेय को निगल जाता है । उपमान के साथ उपमेय का अभेदत्व या अभिन्नता ही अतिशय है । जिस प्रकार कोई निगली हुई वस्तु अदृश्य रहती है और निगलने वाले का अस्तित्व ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार में उपमान तो उपमान की जगह सुरक्षित रहता ही है—उपमेय की सत्ता भी उसी में लीन हो जाती है । इसके वर्ण्य विषय का लोकातीत वर्णन में चमत्काराधान होता है ।

इस अलङ्कार में कवि के मन का विस्तार निःसीम हो जाता है । वह किन्हीं दो पदार्थों में साम्य प्रदर्शित करते हुए अपनी मानसी वृत्ति को एक पर ही इस प्रकार स्थिर कर देता है कि दूसरी उसके सामने से सर्वथा अन्तर्हित हो जाती है । खुलासा यह कि कवि की मनःस्थिति उपमान पर ही स्थिर रह जाती है । उपमेय तो उसकी आँखों के आगे आता ही नहीं । ऐसी स्थिति में स्वभावतः उसकी आंखें उपमान पर ही टिक जाती हैं और उसी में उसे कल्पना की लोकातिक्रान्त चरम सीमा दिखाई पड़ने लगती है अतः इसमें सम्मानता या उसके तत्त्व गौण पड़ जाते हैं और अतिशयता की प्रधानता हो जाती है । कवि ऐसी स्थिति में लौकिक सीमाओं का बन्धन तोड़कर कल्पना का विस्तार कर कार्य की पूर्वभाविता या कारण की परभाविता का वर्णन कर लोकविरूद्ध कथन करता है । इसमें मुख्यतः किसी भी कवि का मूल उद्देश्य पाठक के मन में कौतूहल जगाकर चमत्कारोत्पत्ति करना होता है ।

(सुधा)

अथेति । उत्प्रेक्षानन्तरमित्यर्थः । अतिशयोक्तिरुच्यत इति शेषः । तस्या लक्षणपूर्वकं भेदानाह—तस्यास्तावदिति । यत्र विषयस्योपमेयस्यानुपादानाव् तद्वाचकशब्दशक्त्या ग्रहणाभावे विषयी उपमानमात्रं चमत्कारकारितयोपनिबध्यते प्रतिपादनविषयीक्रियते

(सुधा)

सातिशयोक्तिरित्यन्वयः । कीदृशी = कविप्रौढोक्तिजीवितेति । विषयस्य स्ववाचकशब्दोल्लेखनं विनाऽप्युपमानवाचकपदस्यवोपनिबन्धनमतिशयोक्तिरिति तल्लक्षणम् ।

(चित्र०)

इति लक्षणमुक्त्वा चातुर्विध्यं वर्णयन्ति । भेदेऽभेदः, अभेदे भेदः, संबन्धेऽसंबन्धः, असंबन्धे संबन्ध इति ।

(भारती)

इस प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार का लक्षण कहकर उसके चार भेदों का वर्णन करते हैं। (१) भेद में अभेद अर्थात उपमान और उपमेय के भेद में अभेद, इसमें उपमान के द्वारा ही उपमेय का उपादान होता है। (२) अभेद में भेद अर्थात् उपमान और उपमेय के अभेन्द में भी अन्य आदि शब्दों से भेद है। (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध का वर्णन । (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन ।

(सुधा)

तस्या भेदानाह—चातुर्विध्यमिति । भेदे = उपमानोपमेययोर्भेदेऽभेदः = उपमानेन तदुपादानम् । उपमानोपमेययोरभेदेऽपि अन्यादिशब्दैर्भेदो द्वितीयः । सम्बन्धेऽसम्बन्धवर्णनं तृतीयः । असम्बन्धे सम्बन्धनं चतुर्थः । प्रकाशकृतस्तु–'निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य समेन यत् । प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥' 'कार्यकारणयोश्चैव पौर्वापर्यविपर्ययः । विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ॥' अयमर्थः प्रकृतस्योपमेयस्य समेनोपमानेन निगीर्याध्यवसानम् प्रढीयसी बुद्धिः, सैका । यच्च तदेव वस्तु अन्येन विविक्ताकारवस्त्वन्तरसाम्येनाध्यवसीयते सा द्वितीया । यच्च चेच्छब्देन यदि शब्देन वा यद्यर्थोक्तौ कल्पनमर्थादसम्भविनोऽर्थस्य सा तृतीया । कार्यकारणयोः प्रसिद्धस्य पौर्वापर्यस्य विपर्ययो वैपरीत्यं कारणस्य शीघ्रकारितया प्रतीयते सा चतुर्थी इत्याहुः ।

(चित्र०)

एतेषामुदाहरणानि ।

कमलमनम्भसि कमले कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥

अन्येयं रूपसंपत्तिरन्या वैदग्ध्यधोरणी ।
नैषा कमलपत्राक्षी सृष्टिः साधारणी विधेः ॥

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

दाहोऽम्भःप्रसृतिम्पचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्तदीपकलिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
किं चान्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥

(भारती)

इन सबों के उदाहरण जैसे—

'विचित्रता की यह बाढ कैसी ! विना जल के कमल अर्थात् नायिका का मुख खिल उठा, कमल पर दो नीलोत्पल अर्थात् नायिका के दोनों नेत्र निकल पड़े, ये कमल और कुवलय-कनकलता अर्थात् नायिका की अङ्गयष्टि पर आ विराजे, और यह कनकलता भी ऐसी वैसी नहीं अपितु सुन्दर और सुकुमार, कोमल और मनोहर !'

'इस सुन्दरी का रूप सौन्दर्य भिन्न सम्पत्ति है और इसकी चतुरता इससे अन्य सम्पत्ति है। यह कमलपत्राक्षी विधि की सामान्य सृष्टि से भिन्न अन्य असाधारण सृष्टि है।'

'क्या इस सुन्दर उर्वशी की सृष्टि का प्रजापति, समस्त प्रभा का पुंज चन्द्रमा है ? अथवा प्रेम का देवता कामदेव है ? या फूलों का आकर वसन्त है ? भला वेदाभ्यास से जड़बुद्धि किंवा विषयों से विरत हृदय वाले ब्रह्मा का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सके।'

'पानी में जिस प्रकार फैलाव वाले वर्द्धिष्णु दाह से वाष्प संचय होता है, उसी प्रकार तुम्हारे वियोग से उत्पन्न जलन से वह बाला साश्रुनयना है, प्रदीप्त कम्पित दीपशिखा की तरह तुम्हारे वियोग में उर्ध्वश्वास लेती है, देह तो ऐसी पीली हो गयी है कि लगता है कि किसी ने उसे पाण्डु-रङ्ग में डुबा दिया है इतना ही नहीं, और कहता हूँ सुनो—तुम्हारे मार्ग के वातायन अर्थात् खिड़की में हाथ से छिपाकर चन्द्रमा की किरणों को सारी रातें रोके रहती हैं, यह स्थिति है इन दिनों तुम्हारी वियोगिनी नायिका की।'

(सुधा)

ग्रन्थकारः पूर्वोक्तभेदप्रतिपादनद्वारा तानुदाहर्तुमारभते—एतेषामिति। तत्रापि भेदेऽभेदकथनमुदाहरति—कमलमिति। अनम्भसि कमलम्, कमले च कुवलये, सा कनकलतायाम्, सा च सुकुमारसुभगा, इतीयमुत्पातपरम्परा केत्यन्वयः। अत्र कमलकुवलयकनकलतानां मुखनेत्रनायिकाभ्योऽभेदवर्णनमाद्यम्। अभेदेऽपि भेद-मुदाहरति—अन्येयमिति। रूपं सौन्दर्यं तस्येयमन्या सम्पत्तिः, वैदग्ध्यं चातुर्यम्, तस्य धोरणी, इयमन्या, एषा नलिनपत्राक्षी विधेः साधारणी सृष्टिर्नेत्यन्वयः। अत्र सौन्दर्या-दीनामभेदेऽपि अन्यादिपदोपग्रहणेन भेदोदाहरणं विधीयत इति द्वितीयम्। अस्या इति। अत्रोदाहरणे रूपस्य पुराणप्रजापतिसृष्टिसम्बन्धेऽपि असम्बन्धवर्णनं तृतीयम्। असम्बन्धे सम्बन्धमुदाहरति—दाह इति। अम्भसां प्रसृतिम्पचो दाहः वृद्धिमान् प्रणालोचितः बाष्पः प्रेङ्खितदीपदीप्तिकलिकाः श्वासाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः, किञ्चान्यत् कथयामि अखिलां रात्रिं सर्वरात्रिपर्यन्तम् 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' द्वितीया, हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहस-स्तस्यास्त्वन्मार्गवातायने स्थितिर्वर्तत इत्यन्वयः। अत्रोदाहरणेऽम्भःप्रसृतिंपचत्वादीनाम-सम्बन्धेऽपि क्रमेण सम्बन्धो निबध्यत इति तुर्यम्।

(चित्र०)

अत्र कमलादीनां मुखादिभेदेऽप्यभेदः। रूपादीनां लोकसिद्धरूपाद्यभेदेऽपि भेदः। रूपस्य पुराणप्रजापतिसृष्टिसंबन्धेऽप्यसंबन्धः। विरहादीनामम्भःप्रसृतिंपचत्वाद्यसंबन्धेऽपि संबन्धश्च क्रमेण निबद्धः।

अत्रेदं विचार्यते। विषयस्यानुपादानादित्यत्र किमनुपादानं सर्वथैव विषयस्य प्रतिपादकाभावः, तद्वाचकाभावो वा।

आद्ये 'कमलमनम्भसि' इत्यादावपि लक्षणं न स्यात्। कमलादिशब्दानां लक्षणया विषयभूतमुखादिप्रतिपादकत्वात्।

द्वितीये 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी' इत्यादिषु मुखशब्दादिश्लेषमूलातिशयोक्तावव्याप्तिः।

(भारती)

प्रथम उदाहरण में कमल, कुवलय और कनकलता के मुख, नेत्र और नायिका से भेद में भी अभेद का वर्णन है। दूसरे उदाहरण में सौन्दर्यादि के अभेद में भी अन्यादि पद के उपग्रहण से भेद के उदाहरण का विधान है। तीसरे उदाहरण में पुराण प्रजापति की सृष्टि के सम्बन्ध में भी असम्बन्ध का वर्णन है। चौथे उदाहरण में पानी का प्रसृतिम्पचत्वादि के असम्बन्ध में भी संबंध का वर्णन है।

अब यहाँ विचार करते हैं कि इस लक्षण में विषय के अनुपादान से यहाँ सर्वथा ही विषय के प्रतिपादकाभाव का अनुपादान है अथवा उसके वाचकाभाव का अनुपादान है? प्रथम पक्ष में दोष बताते हैं—कमलादि शब्दों के साध्यवसाना लक्षण के द्वारा विषयभूत अर्थात् उपमेयभूत मुखादि की प्रतिपादकता से सर्वथा प्रतिपादकाभाव के अभाव से 'कमलमनम्भसि' इत्यादि उदाहृत भेद में भी अभेद रूप अतिशयोक्ति में अव्याप्ति है। दूसरे पक्ष की स्वीकृति में दोष बताते हैं कि 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी' इत्यादि में मुख शब्दादि श्लेषमूला अतिशयोक्ति में उपमेयवाचक पद रहने से तद्वाचक पद के अभाव से अतिव्याप्ति है।

(सुधा)

अथ लक्षणं विचारयितुमारभते—अत्रेति। अत्र लक्षणे इदं विचार्यते-विषयस्यानुपादानादित्यत्र सर्वथैव विषयस्य प्रतिपादकाभावोऽनुपादानम्, तद्वाचकाभावो वाऽनुपादानम्। प्रथमपक्षे दूषणमाह—कमलादिशब्दानां साध्यवसानलक्षणया विषयभूतोपमेयभूतेमुखादिप्रतिपादकतासत्त्वेन सर्वथा प्रतिपादकाभावस्यासत्त्वतया कमलमनम्भसीत्युदाहृतभेदेऽप्यभेदरूपायामतिशयोक्तावव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयपक्षे दूषणमाह—चुम्बतीवेत्यादि। मुखशब्दादिश्लेषमूलायामतिशयोक्तावुपमेयवाचकपदसत्त्वेन तद्वाचकपदाभावाभावतयाऽव्याप्तिः।

(चित्र०)

विषयिवाचकातिरिक्तविषयप्रतिपादकाभावो विवक्षित इति चेत्, तथापि 'उन्मीलितानि नेत्राणि पद्मानीवोदिते रवौ' इत्यादावुन्मीलितशब्दवाच्यलक्ष्यार्थाध्यवसायरूपातिशयोक्तावतिव्याप्तिः, तत्रोन्मीलतशब्दस्य विषयीभूतवि-

कासलक्षकतया तद्वाचकातिरिक्तस्यैव विषयप्रतिपादकत्वात् । विषयिप्रतिपादकातिरिक्तविषयप्रतिपादकाभावविवक्षायामपि—

पल्लवतः कल्पतरोरेष विशेषः करस्य ते वीर !
भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्णं तिरस्कुरुते ॥

इत्यत्र कर्णशब्दश्लेषमूलातिशयोक्तावव्याप्तिः ।

(भारती)

अर्थान्तर की आशंका से दोष बताते हैं—विषयिवाचक अर्थात् उपमानवाचक जो पद है उससे भिन्न जो उपमेय प्रतिपादक पद है—उसका अर्थ अभाव विषयानुपादान मात्र है । ऐसी स्थिति में पूर्वोदाहृत 'कमल मनम्भसि' इत्यादि अतिशयोक्ति में उपमानवाचक पद लक्षणा से उसके प्रतिपादन में भी उपमानवाचकता के अतिरिक्त पद का उस प्रतिपादकत्वाभाव से अतिव्याप्ति नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि **'उन्मीलितानि नेत्राणि पद्मानीवोदिते रवौ'** इत्यादि में उन्मीलित शब्दवाच्य जो लक्ष्यार्थ है उसके अध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति में अव्याप्ति है । उन्मीलित शब्द का जो विषयीभूत विकास है, उसकी लक्षणता से उपमानवाचक जो पद्म पद है उससे भिन्न का हां उसके उपमेय भूत जो पद्म है—इस अर्थ की वहाँ प्रतिपादकता है । अगर आप यह कहें कि वाचक पद छोड़कर विषयिप्रतिपादक से अतिरिक्त विषय प्रतिपादकाभाव ही यहाँ विवक्षा का विषय है, तो यहाँ उन्मीलित पद के विकास की लक्षकता से उसके द्वारा उपमानभूत पद्मादि प्रतिपादकता से उसके अतिरिक्त अभाव से मुखादि प्रतिपादक रहने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है तो—

हे वीर ! तुम्हारे हाथ की यह विशेषता है कि वह कल्पवृक्ष को पल्लवित कर देता है । फलतः एक पल्लव तो कर्ण अर्थात् (कान) को कर्णावतंस रूप में सुशोभित करता है और एक पल्लव कर्ण (अर्थात् राजा कर्ण को भी अपने दान से) तिरस्कृत करता है ।

यहाँ 'कर्ण' शब्द से श्लेषमूलक अतिशयोक्ति में व्याप्ति होगी । क्योंकि यहाँ विषय और विषयी का कर्ण पद से अलग प्रतिपादन है ।

(सुधा)

अर्थान्तरमाशङ्क्य दूषयति—विषयीति । विषयिवाचकमुपमानवाचकं यत्पदं तदतिरिक्तं यदुपमेयप्रतिपादकं पदं तदभावविषयानुपादानमित्यस्यार्थः । तथा च कमलमनम्भसीत्यतिशयोक्तावुपमानवाचकपदेन लक्षणया तत्प्रतिपादनेऽप्युपमानवाचकातिरिक्तपदस्य तत्प्रतिपादकत्वाभावसत्त्वेन नाव्याप्तिरिति चेत्, 'उन्मीलितानि नेत्राणि पद्मानीवोदिते रवौ' इत्यादावुन्मीलितशब्दवाच्यो यो लक्ष्यार्थस्तस्याध्यवसायरूपायामतिशयोक्ताव्याप्तिः । उन्मीलितशब्दस्य विषयीभूतो यो विकासः, तल्लक्षकतयोपमानवाचकं यत्पद्मपदं तदतिरिक्तस्यैव तस्योपमेयभूतं यत्पद्मं तदर्थप्रतिपादकत्वात् । न च वाचकपदं विहाय विषयिप्रतिपादकातिरिक्तविषयप्रतिपादकाभावो विवक्षाविषयः, अत्र तून्मीलितपदस्य विकासलक्षकतया तद्द्वारोपमानभूतपद्मादिप्रतिपादकतया तदतिरिक्तत्वाभावेन मुखादिप्रतिपादकत्वेऽपि नाव्याप्तिरिति वाच्यम् । पल्लवत इति । ते करस्य कल्पवृक्षपल्लवत एष विशेषोऽस्ति—हे वीर ! एकः पल्लवः कर्णं श्रोत्रं विभूषयति=शोभयते, परस्तु कर्णं तिरस्कु-

रुते। अत्र कर्णशब्दश्लेषमूलकातिशयोक्तावव्याप्तिः, विषयविषयिणोः पृथक् कर्णपदेन प्रतिपादनस्य सत्त्वात्।

(चित्र०)

तत्र विषयविषयिणोः पृथक्कर्णपदोपादानाद्विषयिप्रतिपादकविलक्षणविषय-प्रतिपादकाभावो वा विवक्षित इति चेत्, तथापि—

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्॥

इत्यत्र कुचद्वये कुम्भयुगाभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तावव्याप्तिः। तत्रोरः-प्रभवत्वाकारेण विषयप्रतिपादकस्य विषयिप्रतिपादकविलक्षणस्य सद्भावात्।

(भारती)

दूसरे पक्ष की आशंका का निराकरण करते हैं कि यहाँ उपमान की प्रतिपादकता से विलक्षण उपमेय प्रतिपादक पदाभाव की विवक्षा दृष्टिगत है! 'पल्लवतः कल्पतरोः' इत्यादि में तो एक ही कर्णपद का अलग से उपादान है। न कि विलक्षणता के वाचक पद के अनुपादान से अव्याप्ति नहीं है। फिर भी यहाँ दोष दिखाते हैं।

कृशाङ्गी वह दमयन्ती अपनी लज्जारूपी नदी के उच्चतम प्राकार को पार कर जो नल के हृदय में प्रवेश कर गई, वह युवावस्था से किये गये समीप में नये मुक्ताहार से युक्त अथवा नवीन उपहार से युक्त वक्षःस्थलपर उत्पन्न स्तनरूप दो कलशों का प्रभाव था क्या? तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कोई दुर्बल व्यक्ति छाती पर दो कलशों को रखकर उसकी सहायता से नदी पार कर जाता है। उसी प्रकार कृशाङ्गी दमयन्ती भी युवावस्था से सम्पादित नये उपहार स्वरूप या नवीन मोतियों की मालावाले कलशाकार विशाल दोनों स्तनों की सहायता से अपनी लज्जा रूपिणी नदी के उच्चतम प्राकार को पार कर नल के हृदय में प्रविष्ट हुई।'

इस उदाहरण में यहाँ दोनों विशाल स्तनों में दो घड़ों का अभेदाध्यवसायात्मक अतिशयोक्ति में, छाती पर समुत्पन्नरूप से उपमान प्रतिपादक विलक्षण 'उरोभुवा' इस उपमेय प्रतिपादक के रहने के कारण अव्याप्ति दोष हटाया नहीं जा सकता।

(सुधा)

पक्षान्तरमाशङ्क्य निराकरोति—तत्र विषयेति। उपमानप्रतिपादकाद् विलक्षणमुपमेय-प्रतिपादकपदाभावो विवक्षागोचरः। पल्लवतः कल्पतरोरित्यादौ तु एकस्यैव कर्णपदस्य पृथक्त्वेनोपादानम्, न तु विलक्षणस्य तद्वाचकपदस्यानुपादानाद्व्याप्तिरिति भावः। अत्र दूषणमाह—तथापीति। सा दमयन्ती यत् यस्मात् कारणात्, नलस्य नैषधस्य तृणस्य च हृदयं मनो मध्यञ्च विवेश। किं कृत्वा, त्रपैव या सरिन्नदी सैव दुर्गं कोटः, दुःखेन गम्यतेऽस्मिन् दुर्गः 'सुदुरोरधिकरणे' इति डः 'धनं दुर्गं मही दुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा' इति मनुस्मरणात् सरितोऽपि दुर्गत्वमेव, तत् प्रतीर्य तीर्त्वा, उरोभुवा उरःस्थेन कुम्भद्वयेन कुम्भयुगेन कलशद्वयेन विजृम्भितं चेष्टितं तत्कारणं किमु इत्यर्थः। कीदृशेन नवोपहारेण नूतनोपायेन, पुनः कीदृशेन वयस्कृतेन यौवननिवेदितेनेत्यन्वयः। अत्रोदाहरणे कुचद्वये कुम्भयुगाभेदाध्यवसायात्मिकातिशयोक्तावुरःप्रभवत्वरूपेणोपमानप्रतिपादकविलक्षणस्यो-रोभुवेत्युपमेयप्रतिपादकस्य सत्त्वेनाव्याप्त्यापत्तेर्दुःसमाधेयत्वादिति भावः।

(चित्र०)

ननु विषयिप्रतिपादकविलक्षणस्य विषयतावच्छेदकप्रकारेण विषयप्रतिपादकस्याभावो विवक्षितः, उरःप्रभवत्वं तु न पयोधरयोर्विषयतावच्छेदकमनेकसाधारणत्वादिति चेत्, एवमपि—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं यत्
क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ॥

इत्यादावुलूकदर्शनमिति वैशेषिकमते पक्षिविशेषदृष्ट्यभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तावव्याप्तिर्दुर्वारा, तत्र वैशेषिकमतमिति विषयतावच्छेदकप्रकारेण विषयप्रतिपादकस्य सम्भवात्।

अपि चैवम् 'रामरावणयोर्युद्धम्' इत्यनन्वयालङ्कारे चातिव्याप्तिः। तत्र विषयप्रतिपादकविलक्षणविषयप्रतिपादकाभावात्।

ननु यत्र कश्चिदभेदेनाध्यवसीयते स विषयः, यस्तु तथाध्यवसीयते स विषयीति विषयविषयिभावोऽत्र विवक्षित इति नोक्तातिव्याप्तिरिति चेत्, एवमपि 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिश्लिष्टरूपकेऽतिव्याप्तिर्दुर्वारा।

रूपके ताद्रूप्यारोपमात्रम्, अतिशयोक्तावभेदाध्यवसाय इति कल्पना तु रूपकविचारलक्षण एव निरस्ता।

(भारती)

प्रकारान्तर से निवेश की आशंका कर निराकरण करते हैं कि उपमान-प्रतिपादक विलक्षण का विषयतावच्छेदक प्रकार से उपमेयप्रतिपादक का अभाव विषयानुपादान है। इस उदाहरण में 'उरःप्रभवत्व' रूप विषयतावच्छेदक का अनेक साधारण्य से स्तनों की ही उसकी प्रकारता से वृतित्व की संभावना नहीं रहने के कारण अव्याप्ति नहीं है। ऐसा कहने में भी दोष है। जैसे—

हे दमयन्ति! अन्धकार के विचार में न्यायवैशेषिकों के मत अथवा कणाद के मत सुन्दर नहीं हैं। क्योंकि इन मतों में तमस्तत्त्व के निरूपण में 'तम' के द्रव्यत्व के विचार में उलूक विषय को समर्थ कहा है।

इस उदाहरण में 'औलूकदर्शन' यह वैशेषिक मतविषयक पक्षिविशेष की दृष्टिविषयक अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति में अव्याप्ति दोष है। वैशेषिक मत का विषयतावच्छेदक उलूक दर्शन प्रकारेण विषय का प्रतिपादक है।

और भी स्थलान्तर में अतिव्याप्ति बताते हैं—**गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।'** पूर्वव्याख्यात अनन्वय अलङ्कार के इस उदाहरण में स्पष्ट रूप से अतिव्याप्ति दोष होगा। यहाँ उपमान-प्रतिपादक विलक्षण उपमेयप्रतिपादक के अभाव से दोनों की एकरूपता के कारण अतिव्याप्ति है।

यहाँ समाधान की आशंका कर निराकरण करते हैं—जिसका जिसमें अभेद से अध्यवसाय है

जैसे मुखका चन्द्रमा में। जो ऐसे अभेद से निश्चित किये जाते हैं वे विषयी हैं। जैसे मुख का अभेद के अध्यवसाय से चन्द्रमा विषयी है। 'रामरावणयो' इस उदाहरण में अभेदाध्यवसाय का एक शब्द से दोनों की एक प्रकारता से विलक्षण विषय और विषयी भाव के द्वारा वहाँ अतिव्याप्ति नहीं है। यहाँ दोष बताते हैं। ऐसा कहने से 'विद्वन् मानसहंस' इत्यादि श्लिष्ट रूपक में अतिव्याप्ति है। वहाँ अभेद से विषय और विषयी के अभेदाध्यवसाय रहने के कारण विषयी का ही विषय के प्रतिपादन से लक्षण समन्वय है।

अगर आप यह कहें कि रूपक में अभेदाध्यवसान ही नहीं है, किन्तु वहाँ केवल ताद्रूप्य आरोप मात्र की कल्पना है तो यह रूपक के लक्षण के विचार करते समय ही विचार किया जा चुका है। किन्तु—सारूप्य निबन्धन अप्रस्तुत प्रशंसा के इस उदाहरण में—

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति-रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य।'

यहाँ 'श्वा' पद के उपादान से भेदाध्यवसाय रहने पर अतिव्याप्ति है। अतः हमारा यह लक्षण उचित है—

विषयोल्लेखनमृते विषमाध्यवसायाध्यवसानतः।
तन्योक्तिर्व्यङ्ग्यभिन्ना याऽतिशयोक्तिस्तु सा मता॥

(सुधा)

प्रकारान्तरेण निवेशमाशङ्क्य निराकरोति—नन्विति। उपमानप्रतिपादकविलक्षणस्य विषयतावच्छेदकप्रकारेणोपमेयप्रतिपादकस्याभावो विषयानुपादानमित्यस्यार्थः। अत्रोदाहरणे उरःप्रभवत्वरूपविषयतावच्छेदकस्यानेकसाधारण्येन पयोधरयोरेव तत्प्रकारतया वृत्तित्वासम्भवान्नाव्याप्तिरिति। एतस्मिन्नपि दूषणमाह—एवमपीति। हे दमयन्ति! तमसो विचारणायां वैशेषिकमतं काणादमतं नश्चारु शोभनम् यत् तमस्तत्त्वनिरूपणायां तमोद्रव्यत्वविचारे उलूकविषयं समर्थमाहुरित्यन्वयः। अत्रोदाहरणे औलूकदर्शनमिति वैशेषिकमतविषयकपदे विशेषदृष्टयभेदाध्यवसायरूपायामतिशयोक्तावव्याप्तिः। वैशेषिकमतस्य विषयतावच्छेदकमुलूकदर्शनत्वम्, तत्प्रकारेण विषयस्य प्रतिपादकत्वात्। स्थलान्तरेऽतिव्याप्तिमाह—अपि चैवमिति। 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥' इत्यनन्वये उपमानप्रतिपादकविलक्षणोपमेयप्रतिपादकस्याभावेनोभयोरेकरूपत्वेन सत्त्वादतिव्याप्तिः स्यादिति भावः। अत्र समाधानमाशङ्क्य निराकरोति—नन्विति। यस्मिन् यस्याभेदेनाध्यवसायः, यथा मुखस्य चन्द्रे, यस्तु तथा तदभेदेनाध्यवसीयते निश्चीयते स विषयीति। यथा मुखाभेदाध्यवसायेन चन्द्रो विषयी। रामरावणयोरभेदाध्यवसायस्यैकशब्देन द्वयोरेकप्रकारतया विलक्षणविषयविषयित्वाभावेन तत्र नातिव्याप्तिरिति भावः। अत्र दूषणमाह—एवमपीति। 'विद्वन्मानस' इत्यादौ श्लिष्टरूपकेऽतिव्याप्तिः। तत्राभेदेन विषयविषयिणोरभेदाध्यवसायसत्त्वेन विषयिणैव विषयस्य प्रतिपादनात् लक्षणसमन्वयसत्त्वादिति भावः। न च रूपकेऽभेदाध्यवसानमेव नास्ति, किन्तु ताद्रूप्यारोपमात्रमिति कल्पनम्, तत्तु रूपकलक्षणविचार एव निरस्तम्। तत्र हि ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति भेदः। रूपके मुखे चन्द्रताद्रूप्यं प्रतीयते। अतिशयोक्तौ रूपके चन्द्राभेदोऽतिशयोक्तौ तत्ताद्रूप्यमिति वैपरीत्यस्य वक्तुं शक्यत्वादित्यादिना तादृशकल्पनानिरसनं स्पष्टमेव प्रतिपादितम्।

(चित्र०)

सारूप्यनिबन्धनसमासोक्त्युदाहरणेषु चातिव्याप्तिः।

अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥

इति चित्रमीमांसायामतिशयोक्तिप्रकरणम्।

(भारती)

उपमेयवाचक पद के विना ही लक्षण से उपमानवाचक पद का ही अध्यवसाय के व्यङ्ग्य से भिन्न जो उक्ति है—वही अतिशयोक्ति है। यहाँ रूपक में अतिव्याप्ति चरण के लिए उपमेय पद दिया गया है। अप्रस्तुत प्रशंसा में अभेद रहने पर भी सारूप्य के द्वारा उसके विपरीत अध्यवसाय से अतिव्याप्ति नहीं होती है। यहाँ विषय और विषयी के अभेद नहीं ताद्रूप्य है यह नियम संभव नहीं है।

अर्द्धचन्द्र हैं जिनके माथे पर ऐसे भगवान शंकर की तरह, अरुण सारथी वाले भगवान सूर्य की तरह भला यह आधी चित्रमीमांसा किसे प्रसन्नता न देगी? अर्थात् सबों के लिए प्रसन्नतादायक है।

इति चित्रमीमांसायां 'भारती' हिन्दीव्याख्यायामतिशयोक्तिप्रकरणं समाप्तम्।

(सुधा)

किञ्च, दूषणान्तरमाह—सारूप्येति।

'आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति-
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य॥'

इति सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसायां मूर्खाभेदेन श्वपदोपादानादभेदाध्यवसायसत्त्वेऽतिव्याप्तिः। तस्माद् विषयस्यानुपादानादिति पदमसम्भवदुक्तिकमेवेति। एवं विषयिणोऽपि उपनिबन्धनमनेकविकल्पग्रस्तम्। अतोऽस्मल्लक्षणम्—

'विषयोल्लेखनमृते विषयाध्यवसायाध्यवसानतः।
तस्योक्तिर्व्यङ्ग्यभिन्ना याऽतिशयोक्तिस्तु सा मता॥'

अयमर्थः,उपमेयवाचकपदं विनैव लक्षणयोपमानवाचकपदस्यैवाध्यवसितस्य व्यङ्ग्य-
भिन्ना या उक्तिः, सा अतिशयोक्तिरित्यर्थः। रूपकेऽतिव्याप्तिवारणाय–उपमेयेत्यादि। अप्रस्तु-
तप्रशंसायामभेदसत्त्वेऽपि सारूप्येण तद्वैपरीत्याध्यवसनान्नातिव्याप्तिः। अत्र विषयविषयिणो-
रभेद एव न ताद्रूप्यमिति नियमस्तु न सम्भवति। 'सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः' इत्यादा-
वभेदासम्भवेन ताद्रूप्यातिशयोक्तेरङ्गीकारात्। अध्यवसानत्वारोपविषयस्यानाहार्यनिश्चय-
युता, आरोप्यमाणतादात्म्येन विवक्षैव। तादात्म्यशब्देन क्वचिद् भेदो ग्राह्यः, क्वचित्ताद्रूप्य-

ज्ञेति विशेषः, न तु रूपकेऽतिव्याप्तिः, तत्रापि उभयविधानस्य सत्त्वादिति चेत्, न; अत्र मुखादिपदस्यानुपादानेन मुखत्वादिवैधर्म्यानुपपत्त्या भेदबुद्धेरनाहार्यत्वात्। रूपके तु मुखादिपदप्रयोगादाहार्यभेदसत्त्वमिति तयोर्विशेषात्। उत्प्रेक्षावारणाय निश्चितेति। अत्र रूपकभेदप्रतिपादनं तदन्यत्रोक्तम्। यत्तु, चत्वार एव भेदाः, तदपि न, भेदान्तराणामपि सत्त्वात्। कार्यकारणयोः पूर्वापरभावस्य वस्तुतः सत्त्वेऽपि शीघ्रकारित्वविवक्षया वैपरीत्येनोक्तिः। सा पञ्चमी, सा द्वेधा, पूर्वं कार्यस्य पश्चात् कारणस्योक्तिः, द्वयोस्तुल्यकालत्वोक्तिश्च। आद्या यथा—

'कवीन्द्राणामासन् प्रचुतरमेवाङ्गणभुव-
श्चलद्गङ्गासङ्गाकुलकरिमदामोदमधुराः।
अमी पश्चात्तेषामुपरि पतिता रुद्रनृपतेः
कटाक्षाः क्षीरोदप्रसरदुरुवीचीसहचराः॥'

अत्र कारणात् कार्यस्य पूर्वमुक्तिः। द्वितीया यथा—

'मुञ्चति मुञ्चति कोशं भजति च भजति प्रकम्पमरिवर्गः।
हम्मीरवीरखड्गे त्यजति त्यजति क्षमामाशु॥'

अत्र कार्यकारणयोस्तुल्यत्वोक्तिः। अपह्नुतिगर्भत्वे सापह्नवापि यथा—

'मुक्ताविद्रुममन्तरा मधुरसः पुष्पं परं ध्रुवं हं
प्रालेयद्युतिमण्डले खलु तयोरेकासिका नार्णवे।
तच्चोदञ्चति शङ्खमूर्धनि न पुनः पूर्वाचलाभ्यन्तरे
तानीमानि विकल्पयन्ति त इमे येषां न सा दृक्पथे॥'

अत्राधर एव मधुरस इत्यतिशयोक्तिः पुष्परसो न मधुरस इत्यपह्नुतिगर्भा। यत्तु रसगङ्गाधरकृता विषयिवाचकविषये लक्षणायाः शक्यतावच्छेदकमात्रप्रकारकलक्ष्यविशेष्यकबोधनं कार्यतावच्छेदकम्।

एवञ्च निगरणे सर्वत्रापि विषयितावच्छेदकधर्मरूपेणैव विषयस्य भानं न विषयभिन्नत्वेनेति स्थितिः 'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः' इति चन्द्रालोकग्रन्थव्याख्यानेऽतिशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपकप्रदर्शितभेदानामतिशयोक्तौ सम्भवातिदेशप्रदर्शनार्थम्। तेनातिशयोक्तेरप्यभेदताद्रूप्याभ्यां द्वैविध्यं यत्कुवलयानन्दे दीक्षितैरुक्तम्, तत् निरस्तमिति नव्या इत्युक्तम्। तदसत्; शक्यधर्मस्य लक्ष्ये पूर्वमविद्यमानतायामप्रतीतत्वेन तद्विशिष्टतया लक्षणाया असम्भवात्, यद्यद्धर्मविशिष्टे शक्यसम्बन्धग्रहस्तत्तद्धर्मप्रकारकलक्ष्योपस्थितेः समानप्रकारकशाब्दबोधज्ञाने प्रयोजकत्वात्, लक्षणापरिहार्याया अनुपपत्तेस्तदवस्थत्वाच्च। मात्रपदेन विषयतावच्छेदकस्यैव व्यावर्तनात्। तात्पर्यवशात्तादृशबोधाङ्गीकारे तद्वशादेव शक्याभेदप्रकारकबोधेऽपि बाधकाभावादिति तद्व्याख्यातारः। यदपि सापह्नवातिशयोक्तिमुद्दिश्य पर्यस्तापह्नुतेर्न प्रामाणिकसम्मतत्वमिति रसगङ्गाधरे प्रतिपादितम्। तत्र ब्रूमः—किं स्वस्यैव प्रामाणिकत्वमङ्गीकृतम्, अन्यस्यापि वा। नाद्यः, इतरमताभिप्रायाज्ञानेन दूषणस्य कथने तदभावात्। अथ द्वितीये पर्यस्तापह्नुतिगर्भामुत्प्रेक्षां 'जानेऽतिरागात्' इत्यादौ उदाहरता तदङ्गीकारस्य स्पष्टप्रतिपादनात्। यदपि तत्र प्रकाशादिलक्षणानन्तर्गतत्वम्, तदपि न, अलङ्काररत्नाकरोक्तलक्षणस्य तत्र सत्त्वादित्यापह्नुतिव्याख्याने प्रतिपादितमधस्तात्। यदपि सम्बन्धातिशयोक्तिमुद्दिश्य तैरुक्तम्—अत्र

स्पृशन्तीवेन्दुमण्डलम्' इति पाठे को वाऽलङ्कारः ? उत्प्रेक्षां चेदङ्गीकरोषि, तर्हीवादेरसत्त्वे
गम्योत्प्रेक्षेयमुचिता। सम्भावनावाचकपदे वाच्योत्प्रेक्षा, तदसत्त्वे गम्योत्प्रेक्षेति नियमस्य
सर्वसम्मतत्वात्। 'त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्' इति त्वदुदाहृतगम्यो-
त्प्रेक्षातोऽत्र विशेषाभावात्। अत्र यथा बहुदूरगमने स्वर्गगमने वा स्वर्गङ्गाकर्मकप्रवेशता-
दात्म्योत्प्रेक्षेति मते तन्निमित्तकधर्मानुपादानादनुपात्तधर्मनिमित्ता विशेषणीभूतभ्रमणश्रान्त-
त्वरूपहेतूत्प्रेक्षेति मते तु तादृगागमनतादात्म्याध्यवसितस्वर्गङ्गाप्रवेशरूपोपात्तधर्मनिमित्ता।
एवं सौधाग्रणीत्यादावपि परमोर्ध्वदेशसंयोगे चन्द्रमण्डलस्पर्शतादात्म्योत्प्रेक्षायां परमोर्ध्व-
देशरूपनिमित्तस्यानुपादानादनुपात्तधर्मनिमित्ता। तादृशस्पर्शकर्तृत्वोत्प्रेक्षायान्तूपात्तधर्म-
निमित्तैव। तथा च गम्योत्प्रेक्षोदाहरणतासिद्धौ सम्बन्धातिशयोक्त्युदाहरणमसङ्गतमेवेति।
तत्रोच्यते—सम्भावनावाचकपदानुपादाने गम्योत्प्रेक्षेति नियमस्यालङ्कारान्तराविषय एवा-
भ्युपगमात्। अन्यथा 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादावपि नूनपदानुपादाने गम्योत्प्रेक्षापत्तौ
रूपकादेरनुपपत्तौ महाहानिप्रसङ्गः। एवञ्च प्रकृतेऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्य-
लंकारविषये न गम्योत्प्रेक्षावसरः। 'त्वत्कीर्तिः' इत्युदाहरणे तु भ्रमणश्रान्तत्वरूपहेत्वंशे
भवति गम्योत्प्रेक्षेत्युदाहृता स्वर्गङ्गाप्रवेशांशे तु न तद्विषय इत्यलम्। अतिशयोक्तौ
प्रतिपादिता भेदा न सम्भवन्ति, एतादृशातिशस्य रूपकदीपकादिषु सत्त्वात्, यथास्थित-
वस्तूक्तौ विच्छित्तिविशेषाभावात्।

तस्मात्तावत् प्रभेदान्यतमत्वकथनेन सर्वभेदावगमादिति केचित्।

अत्र नव्याः—उपमानोपमेयस्य निगीर्याध्यवसानमेवातिशयोक्तिः। भेदास्तु तदनु-
गतरूपाभावादलङ्कारान्तराण्येव। न चान्यत्वादिभेदेष्वन्यत्वादिभिरभेदादेर्निगरणसम्भ-
वेन लक्षणाक्रान्तत्वेन तेषां सम्भव एवेति वाच्यम्, अन्यत्वादिभिरन्यवस्तुप्रतीतेरेव चम-
त्कारित्वेनानुभवसिद्धतयाऽन्यत्वादिभिरभेदप्रतीत्यङ्गीकारेऽनुभवासङ्गतेः। न चान्यतमत्वस्य
सर्वत्रानुगतत्वं वक्तुं शक्यते, विच्छित्तिवैलक्षण्ये सत्यन्यतमत्वस्याप्रयोजकत्वात्, उपमा-
दिसकलान्यतमत्वस्य तल्लक्षणसत्त्वे उपमाद्यलङ्कारपृथक्कथनवैयर्थ्यापत्तेः। न चातिरिक्ता-
लङ्कारकल्पने गौरवं स्यादिति वाच्यम्, प्रधानोत्कर्षकत्वरूपस्यालङ्कारत्वस्य त्वन्मतेऽप्य-
ङ्गीकारात्, अन्यतमत्वस्य चमत्काराप्रयोजकत्वेनालंकारविभाजकोपाधित्वाभावात्। न
चानेकालंकारविभाजकोपाध्यङ्गीकारे गौरवमिति वाच्यम्, अलंकारविभाजकोपाधिपरिगण-
नस्य पौरुषेयत्वेन तद्दोषाभावादिति वदन्ति। अत्र वदन्ति—रूपकभिन्नत्वे सति चमत्कृति-
जनकाहार्यारोपनिश्चयविषयत्वमतिशयोक्तिलक्षणम्। रूपकवारणाय सत्यन्तोपादानेना-
नाहार्यत्वस्य प्रयोजनसिद्धावाहार्यत्वनिवेशस्य भ्रान्तिवारणाय सार्थकत्वेन न पूर्वापर-
कथनविरोधः। लक्षणालभ्यमुखादौ तद्धर्मस्य सत्त्वेन वैधर्म्यप्राप्त्याहार्यत्वाङ्गीकारे दोषा-
भावात्। एतल्लक्षणस्य सर्वेषु भेदेष्वनुगतत्वम्। अतिशयोक्तावभेदस्य द्वितीयेऽन्यत्वस्य
तृतीये सम्बन्धस्य चतुर्थेऽसम्बन्धस्य पञ्चमे सहत्वस्य षष्ठे पूर्वापरविपर्ययस्य चमत्कृति-
जनकाहार्यारोपनिश्चयविषयत्वरूपतल्लक्षणाक्रान्तत्वात् तद्भेदत्वमस्त्येव। न चैवंविध-
स्यारोपविषयस्य सर्वालंकारे रूपकादिभिन्ने सत्त्वादतिप्रसंग इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः,
अलंकारभावस्य चमत्काराधीनतया चमत्कारस्यैव तत्प्राधान्यप्रतिपादकत्वेन तत्सत्त्वे
तत्तत्प्राधान्ये तदंगत्वेनावस्थिताया अतिशयोक्तेरप्रधानतया व्यपदेशायोग्यत्वात् 'प्रधा-
नतया व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन तत्तदलंकाराणामेव प्रधानतया व्यपदेशार्हत्वात्।
सर्वत्रैवंविधे विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालंकारत्वाभावादिति
विशेषालंकारप्रकरणे मम्मटेनोक्तत्वाच्च।

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥'

इत्यन्यैरुक्तत्वाच्चेत्यलम् । इयं व्यङ्ग्या यथा—

'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥'

अत्रोदाहरणे जन्मसहस्रोपभोग्यानि सुकृतदुष्कृतफलानि वियोगदुःखचिन्ताभ्यां क्षप्यनुभूतानीत्युक्तौ दुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्येनाध्यवसितौ भगवद्वियोगदुःखचिन्ताह्लादौ प्रतीयेते इति निगीर्याध्यवसानरूपातिशयोक्तिद्वयप्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्य सत्त्वात् । इयमतिशयोक्तिः श्रुतिस्मृत्योरपि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

इत्यादौ स्पष्टत्वादिति सर्वं शिवम् ।

धरानन्देन रचिताऽतिशयोक्त्यर्थबोधिनी ।
व्याख्यार्थचित्रमीमांसा'सुधाया'माप पूर्णताम् ॥

वशिष्ठगोत्रजातस्य ठाकुरस्य सुतास्त्रयः ।
पूर्णदासो रामबलो देवीदासश्च विश्रुताः ॥

लब्धजन्मा रामबलो द्वयोरपि कृपायुतः ।
श्रीगुरोः परमानन्दाल्लब्धेष्टो भरते पुरे ॥

आस्ते नाम्ना 'धरानन्दो' मारुतेः पदसंस्थितः ।
तेनेयं 'चित्रमीमांसासुधाव्याख्या' प्रकाशिता ॥

यावद् वेदादिविद्या जगति विजयते सन्मनुष्यप्रचारा
यावद् भागीरथीयं त्रिपुरहरजटाजूटमध्ये चकास्ति ।
यावच्छेषः फणाग्रे वहति वसुमतीं भास्वरेन्दुप्रकाशां
तावद् व्याख्या सुधाख्या विलसतु भुवने प्रीतये सज्जनानाम् ॥

इति श्रीचित्रमीमांसाव्याख्यासुधाख्या पूर्णतामगमत् ।

समाप्तिमङ्गलम्

(१)

सारस्वते निशितकण्टककीर्णमार्गे
सोत्साहसञ्चरणसद्व्रतदीक्षितानाम् ।
विघ्नान् हरन् परमकारुणिको गणेशः
प्राङ्मङ्गलानि ललितानि विजृम्भयेन्नः ॥

(२)

यस्याः सुवर्णघटनाहितकान्तिपूरा-
च्चित्रोपमं स्फुरति सूक्ष्मपदार्थजातम् ।
मन्दस्मितद्युतिसुधाधवलीकृतश्रीः
सा 'भारती' हरतु मानसतामसं नः ॥

इति 'मुंगेर' मण्डलान्तर्गत 'अकबरपुर' ग्रामवासि दैवज्ञप्रवरश्रीमत्कीर्तिनाथमिश्रात्मज-बरौनी-थर्मल-इण्टरकालेजाध्यापक-श्रीजगदीशचन्द्रमिश्रविरचितसविमल-विमर्शोपेत 'भारती' हिन्दीव्याख्यायुतं चित्रमीमांसाग्रन्थस्य सुसंस्कृतं संस्करणं समाप्तम् ।

समाप्तश्चाऽयं समुपलभ्यमानो ग्रन्थः

o

चित्रमीमांसोद्धृतश्लोकानुक्रमणिका

सुधाव्याख्योद्धृतश्लोकानुक्रमणिका